

भारत का आधुनिक इतिहास

प्रो. देवेन्द्र प्रसाद सिंह

भारत का आधुनिक इतिहास

प्रो. देवेन्द्र प्रसाद सिंह

प्रियदर्शी प्रकाशन
दिल्ली-110094

ISBN : 978-81-88728-12-0

प्रकाशक : प्रियदर्शी प्रकाशन
ए-105, द्वितीय फ्लोर गली नं. 3, कवीर नगर,
शाहदरा, दिल्ली-110094

मूल्य : 1000.00

प्रथम संस्करण : 2013

मुद्रक : शिवानी आर्ट प्रेस
शाहदरा, दिल्ली-110032

अपनी बात...

गायन्ति देवा : किलगतिकानि
घन्यास्तु ते भारत भूमि भागे।
स्वर्गापवर्गास्पद हेतु भूते,
भवन्ति भूयः पुरुषः सुखत्वात् ॥

भारत ज्ञान का वह महाकाश है जिसकी नेह-नीहारिका में चेतना का सुरम्य प्रकाश तथा सत्, चित् और आनंद की त्रिवेणी अविरल प्रवहमान है। इसमें अवगाहन करने पर ज्ञान के मानदंडों की अनंत रत्न-राशियाँ प्राप्त होती हैं। संसार की सृष्टि, समस्त जीवों की प्राण-शक्ति के स्रोत सूर्य से हुई, जिसकी प्रथम किरण भारत पर पड़ी। अखिल विश्व की मानवता और इतिहास के पूर्वज आदि मनु, जिसकी संतान होने के कारण हम मानव या मनुष्य कहलाये, इन्हीं सूर्य के वंशज थे, मनु मानवी जीवन-कलाओं के सूत्रधार थे। सामाजिक जीवन की समस्त कलाएँ यथा—काव्य, नाट्य, अभिनय, नृत्य, गीत, वाद्य, वस्तु, मूर्ति, चित्र, पुस्तविधि आदि सभी के निरूपक 'नाट्यशास्त्र' का प्रणयन भारत के मुनि 'भरतमुनि' की देन है।

इतिहास की दृष्टि से भारतीय सभ्यता, भारतीय संस्कृति, विश्व में सबसे प्राचीन है, यह निर्विवाद रूप से पूरे विश्व ने कई-कई बार स्वीकार कर लिया है। ऋग्वेद को आज पश्चिम की सभी प्रभुतावादी सत्ताओं ने विश्व का प्राचीनतम ग्रंथ मान लिया है।

प्रस्तुत ग्रंथ में मैंने उदार वैचारिक दृष्टिकोण अपनाते हुए 'भारत के आधुनिक इतिहास' को वर्णित और विवेचित करने का विनम्र प्रयास किया है। मेरा लेखन आधार पूर्व में प्रकाशित व उपलब्ध इतिहास-ग्रंथ ही रहे हैं, अतः इस ग्रंथ में नवीनता व मौलिकता का दावा तो अर्द्धसत्य ही होगा। उन सभी विद्वानों के प्रति विनम्र आभार। सभी सुधी-पाठक इस ग्रंथ का उदारता से आनन्द लेंगे और कमियों से अवगत करायेंगे, ऐसा विश्वास है।

—लेखक

अनुक्रम

1

अठारहवीं सदी के मध्य में भारत : निरन्तरता एवं परिवर्त्तन की शक्तियाँ

औरंगजेब के शासनकाल में ही विशाल मुगल साम्राज्य के पतन की प्रक्रिया प्रारम्भ हो चुकी थी। एक समय था जब विशाल मुगल साम्राज्य ने समकालीन विश्व को अपने विस्तृत प्रदेश, विशाल सेना और सांस्कृतिक उपलब्धियों से चकाचौंध कर दिया था। वही मुगल साम्राज्य औरंगजेब की मृत्यु के साथ ही अवनति और पतन की ओर अग्रसर हो गया। औरंगजेब के बाद अनेक शासक दिल्ली के सिंहासन पर बैठे, मुगल साम्राज्य को अनेक संकटों ने घेर लिया और वह जर्जित हो गया। स्वार्थी एवं महत्त्वकांक्षी प्रान्तीय शासक अपने-अपने स्वतंत्र राज्य स्थापित करने में संलग्न हो गये। निजाम-उल-मुल्क ने दक्षिण में स्वतंत्र राज्य की स्थापना की और मराठों से मिलकर साम्राज्य के विरुद्ध कुचक्र चलाने लगा। अलीवर्दी खाँ ने बंगाल में और सदाअत खाँ ने अवध में स्वतंत्र राज्यों की स्थापना की। रूहेल अफगानों ने रूहेलखण्ड में अपनी स्वतंत्र सत्ता की स्थापना की और वे साम्राज्य के विरुद्ध विदेशी आक्रमणकारियों की सहायता करने लगे। मुगल साम्राज्य की विशृंखला से लाभ उठाकर सिखों ने पंजाब में और मराठों ने महाराष्ट्र में अपनी शक्ति बढ़ा ली थी। मराठे सम्पूर्ण उत्तर भारत में प्रभावशाली हो गये थे। उत्तर-पश्चिम की ओर से विदेशी आक्रमणों ने मुगल साम्राज्य को शक्तिहीन कर दिया था। इसी बीच अनेक विदेशी शक्तियाँ भारत में आकर व्यापार करने लगीं। इन विदेशी शक्तियों में से कुछ ने मौका पाकर भारत की राजनीति में हस्तक्षेप करना प्रारम्भ कर दिया। अठारहवीं सदी में भारत इंगलैण्ड के अधीन हो गया।

औरंगजेब के शासनकाल में मुगल साम्राज्य अपनी उन्नति के चरम शिखर पर पहुँच चुका था। फिर भी साम्राज्य की एकता और स्थिरता औरंगजेब के लम्बे एवं कठोर शासन के दौरान डगमगा गयी थी। 1707 ई. में औरंगजेब की मृत्यु के बाद मुगल साम्राज्य के पतन की प्रक्रिया और भी तेज हो गई। औरंगजेब की मृत्यु

होने पर उसके तीन पुत्रों में गद्दी के लिए संघर्ष प्रारम्भ हुआ। इस संघर्ष में बहादुर शाह विजयी रहा। उसने समझौते और मेल-मिलाप की नीति अपनायी तथा औरंगजेब की संकीर्णतावादी नीतियों में परिवर्तन आया और हिन्दू सरदारों और राजाओं के प्रति अधिक सहिष्णुतापूर्ण नीति अपनाई। 1712 ई. में बहादुर शाह की मौत ने मुगल साम्राज्य को एक बार पुनः गृह युद्ध में फँसा दिया। बहादुर शाह के निधन से मुगल राजनीति एवं उत्तराधिकार सम्बन्धी युद्धों में एक नवीन तत्व का प्रवेश हुआ। अभी तक सत्ता के लिए संघर्ष केवल शाही राजकुमारों के बीच होता था और सामन्त प्रत्याशियों को गद्दी दिलाने में सहायता करते थे। परन्तु अब महत्त्वाकांक्षी सामन्त सत्ता के दावेदार बन गए और वे गद्दी हथियाने के लिए शाहजादों का इस्तेमाल महज कठपुतली के रूप में करने लगे। बहादुरशाह का अयोग्य पुत्र जहाँदार शाह शक्तिशाली सामन्त जुल्फिकार खाँ की सहायता से गृह-युद्ध में सफल हुआ। लेकिन जहाँदार शाह को सैयद बन्धुओं-अब्दुल्ला खाँ हुसैन अली खाँ ने 1713 ई. में हत्याकर फर्रूखसियर को गद्दी पर बैठा दिया। फर्रूखसियर के षड्यंत्रों से तंग आकर सैयद बन्धुओं ने उसकी भी हत्या कर दी। उसकी जगह दो युवा शाहजादों को गद्दी पर बिठाया गया। ये दोनों भी क्षय रोग से मर गए। तब सैयद बन्धुओं ने मुहम्मद शाह को गद्दी पर बिठया। सैयद बन्धुओं ने बगावतों को दबाने और साम्राज्य को प्रशासनिक बिखराव से बचाने के लिए जोरदार प्रयास किया। किन्तु वे अपने कार्यों में इसलिए असफल रहे कि उन्हें निरन्तर राजनीतिक प्रतिद्वन्द्विता, झगड़ों तथा दरबारी षड्यंत्रों का सामना करना पड़ा। प्रशासनिक क्षेत्र में निरन्तर चलने वाले वैमनस्य ने प्रशासन को सभी स्तरों पर ठप्प कर दिया। राज्य की वित्तीय स्थिति में तेजी से गिरावट आयी क्योंकि जमींदारों तथा बगावती तत्वों ने भू-राजस्व देने से इनकार कर दिया था और अधिकारियों ने राजकीय आमदनी का गबन कर लिया था। इजारा व्यवस्था के प्रसार के कारण केन्द्रीय आय कम हो गयी थी। परिणामस्वरूप अधिकारियों और सैनिकों की तनख्वाहें नियमित रूप से नहीं दी जाती थी और सैनिकों में अनुशासनहीनता फैल गयी थी। वे विद्रोह करने लगे थे।

यद्यपि सैयद बन्धुओं ने सभी प्रकार के सामन्तों से मेल-मिलाप की नीति अपनायी थी, फिर भी उन्हें शीघ्र ही षड्यंत्रों का शिकार होना पड़ा। निजाम-उल-मुल्क और अमीन खाँ के नेतृत्व में सामन्तों का एक शक्तिशाली गुट उनके विरुद्ध षड्यंत्र करने लगा। ये सामन्त सैयद बन्धुओं की बढ़ती हुई शक्ति से भयभीत थे। अनेक सामन्त सैयद बन्धुओं की राजपूत तथा मराठा सरदारों के साथ दोस्ती एवं हिन्दुओं के प्रति उदार नीति से असन्तुष्ट थे। उन्होने घोषणा की कि सैयद बन्धु मुगल-विरोधी और इस्लाम-विरोधी नीतियाँ अपना रहे हैं। इस प्रकार उन्होंने धर्मान्ध मुसलमान सामन्तों को सैयद बन्धुओं के खिलाफ उभारने की कोशिश की। सैयद बन्धु विरोधी

सामन्तों को बादशाह मुहम्मद शाह का समर्थन प्राप्त था। मुहम्मद शाह सैयद बन्धुओं के नयंत्रण से अपने को मुक्त करना चाहता था। 1720 ई. में हुसैन अली खाँ की हत्या कर दी गयी। अब्दुल्ला खाँ ने उनका मुकाबला करने की कोशिश की लेकिन उसे आगरा के पास पराजित कर दिया गया इस प्रकार मुगल साम्राज्य एवं राजनीति पर से सैयद बन्धुओं का आधिपत्य समाप्त हो गया जो भारतीय इतिहास में 'राजा बनने वाले' के नाम से जाने जाते हैं।

मुहम्मद शाह का शासनकाल (1719-1748 ई.) मुगल साम्राज्य को बचाने का आखिरी मौका था। उसके शासनकाल में लोगों के बीच मुगलों की प्रतिष्ठा बनी हुई थी। मुगल सेना, विशेष रूप से मुगल तोपखाने की शक्ति को नजरअन्दाज नहीं किया जा सकता था। यद्यपि उत्तरी भारत में प्रशासन की हालत खराब थी लेकिन वह अभी तक नष्ट नहीं हुआ था। मराठा सरदार अभी तक दक्षिण भारत तक ही सीमित थे और राजपूत राजे अभी मुगलों के प्रति वफादार थे। कोई भी शक्तिशाली और दूरदर्शी शासक अपने ऊपर आनेवाले खतरे के प्रति जागरूक सामन्तशाही के समर्थन से स्थिति को बिगाड़ने से रोक सकता था। लेकिन मुहम्मद शाह में यह दूरदर्शिता नहीं थी। वह भ्रष्ट और नालायक चापलूसों के कुप्रभाव का शिकार बन गया और अपने ही मंत्रियों के खिलाफ साजिशें करने लगा। उसका वजीर निजाम-उल-मुल्क शासन की शिथिलता और दरबारी षड्यंत्रों से परेशान होकर दक्षिण भारत चला गया जहाँ उसने हैदराबाद के स्वतंत्र राज्य की स्थापन की। "उसका प्रस्थान साम्राज्य से निष्ठा और सद्गुण के पलायन का प्रतीक था।" मुगल साम्राज्य का वास्तविक बिखराव यहीं से शुरू हो गया था।

मुगल साम्राज्य का बिखराव प्रारम्भ होते ही अनेक शक्तिशाली एवं महत्त्वाकांक्षी सामन्तों ने अर्द्ध-स्वतंत्र रियासतें कायम करने के लिए अपनी-अपनी ताकत का इस्तेमाल करना प्रारम्भ कर दिया। दिल्ली के बादशाह के प्रति नाममात्र की निष्ठा जाहिर करने वाले खानदानी नवाबों का देश के अनेक भागों में उदय हुआ। जैसे बंगाल, हैदराबाद, अवध तथा पंजाब। प्रत्येक जगह छोटे-छोटे जमींदारों, राजाओं तथा नवाबों ने बगावत और आजादी का झण्डा बुलन्द किया। मराठा सरदारों ने भी उत्तर में अर्द्ध-स्वतंत्र राज्य स्थापित करना प्रारम्भ कर दिया। उन्होंने मालवा, गुजरात और बुन्देलखण्ड को रौंद डाला।

अठारहवीं सदी के आरम्भ में मुगल साम्राज्य का ढाँचा चरमराने लगा था और समय बीतने के साथ-साथ साम्राज्यों में उसकी पत्नी की गतिविधियां भी तीव्र हो गई थीं। केन्द्रीय सत्ता की दुर्बलता का प्रशासन की आर्थिक स्थिति पर दुष्प्रभाव पड़ा। राजस्व में कमी आयी। संचार-साधन लड़खड़ा गया और उद्योग, व्यापार एवं कृषि का स्वरूप क्षेत्रीय हो गया। केन्द्र-विरोधी शक्तियाँ हावी होने लगीं। और न्याय-व्यवस्था

विगड़ गई। वैयक्तिक तथा सार्वजनिक नैतिकता एक प्रकार से समाप्त हो गई। मुगल साम्राज्य के टुकड़े-टुकड़े हो गए तथा विदेशी आक्रमणों एवं आन्तरिक शत्रुओं का मुकावला करने की उसकी शक्ति समाप्त हो गई।

1738-39 ई. में नादिरशाह के आक्रमण ने मुगल साम्राज्य को भारी नुकसान पहुँचाया। मुगल साम्राज्य की प्रतिष्ठा को अपूरणीय क्षति पहुँची और मुगल साम्राज्य की कमजोरी का पता मराठा सरदारों तथा विदेशी कम्पनियों को लगा। थोड़े समय के लिए केन्द्रीव प्रशासन अस्त-व्यस्त हो गया। नादिरशाह के आक्रमण का मुगल साम्राज्य की अर्ध-व्यवस्था पर भी वुरा प्रभाव पड़ा। देश की आर्थिक स्थिति काफी गम्भीर हो गई। कंगाल सामन्त किसानों से निष्ठुरतापुर्वक लगान वसूल करके अपनी आर्थिक दशा सुधारने का प्रयत्न करने लगे। ये सामन्त ऊँचे पदों और अधिक आमदनी वाले जागीरों के लिए आपस में संघर्ष करने लगे। कावुल और सिन्ध नदी के पश्चिम के इलाकों को खोकर मुगल साम्राज्य ने एक वार पुनः उत्तर-पश्चिम से आक्रमणों का खतरा पैदा कर दिया। जिससे सुरक्षा की एक महत्त्वपूर्ण पंक्ति समाप्त हो गई। 1748 ई. में मुहम्मद शाह की मृत्यु के वाद वेईमान और सत्ता के भूखे सामन्तों के वीच गृह-युद्ध छिड़ गया। उत्तर-पश्चिम में असुरक्षित स्थिति के कारण अहमद शाह अव्दाली के लगातार आक्रमणों से मुगल साम्राज्य का विनाश तेजी से प्रारम्भ हुआ। नादिर शाह और अहमद शाह अव्दाली के आक्रमणों तथा मुगल सामन्तों के आत्मघाती आन्तरिक संघर्ष के कारण 1761 ई. तक मुगल साम्राज्य का अस्तित्व एक अखिल भारतीय साम्राज्य के रूप में समाप्त हो गया और मुगल सम्राट का वास्तविक शासन दिल्ली और आगरा के आस-पास के इलाकों तक सीमित हो गया।

वैसे भारत के अधिकांश भाग पर वह अव भी अपनी विधिसम्मत सत्ता का दावा करता था, खिताव देता था और नियुक्तियों की पुष्टि स्ववं करता था। मुगलों के वंशज अव भारतीय साम्राज्य के लिए संघर्ष में सक्रिय रूप से भाग नहीं लेते थे, लेकिन अन्य महत्वाकांक्षी दावेदार उनकी आड़ में उत्तराधिकार हथियाने की कोशिश कर रहे थे।

अठरहवीं शताब्दी का उत्तराधिकार-युद्ध विनाशकारी सिद्ध हुआ, क्योंकि गृह-युद्ध में हजारों लोगों की मृत्यु हुई और सम्पत्ति को भी भारी क्षति पहुँची। हजारों प्रशिक्षित सैनिक, योग्य सेनापति और अधिकारी मारे गये। सामन्त वर्ग, जो मुगल साम्राज्य की आधारशिला था, संघर्ष में उलझ गया। अनेक स्थानीय शासकों और कर्मचारियों ने केन्द्रीय सरकार की अनिश्चित दशा एवं अराजकता का लाभ उठाकर अपनी शक्ति सुदृढ़ करके स्वतंत्र सत्ता की स्थापना की और अपने पद को भी पैतृक वना लिया। अधिकतर सामन्त राज्य और समाज के हित के लिए संघर्ष करने के

वदले अपने स्वार्थों की पूर्त्ति में लगे थे। इस कारण मुगल साम्राज्य एक सुसम्बद्ध इकाई नहीं रह गया और यह विदेशी आक्रमणकारियों का शिकार वन गया। इसके लिए वे ही सामन्त दोषी थे जिन्होंने मुगल साम्राज्य की एकता को अपने निजी राज्यों की स्थापना करके भंग कर दिया था उत्तरकालीन मुगल सामन्तों का पतन निजी चरित्रहीनता के कारण नहीं वल्कि लोकहित की भावना के अभाव तथा अदूरदर्शिता के कारण हुआ था। ये ही कमजोरियाँ मराठा सरदारों, राजपूत राजाओं, जाट, सिख, वुन्देला और नव-स्थापित स्वतंत्र के शासकों में मौजूद थीं तथा इनकी कमजोरियों से ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने पूरा लाभ उठाया। जागीरों की अल्पसंख्या, विद्यमान जागीरों से प्राप्त आमदनी में कटौती होने एवं सामन्तों के खर्च में वृद्धि होने से सामन्तों ने सिपाहियों के कोटे में कमी कर दी जिससे साम्राज्य की सैनिक शक्ति क्षीण हो गई मुगल साम्राज्य का आधार सेना थी। लेकिन प्रशासनिक अव्यवस्था से अठारहवीं सदी में मुगल साम्राज्य की सैनिक शक्ति में ह्रास हुआ। मुगल सेना इस समय अनुशासनहीनता की भावना से प्रभावित थी। वित्तीय साधनों की कमी के कारण विशाल सेना रखना असम्भव हो गया था। मुगल सैनिक वेतन नहीं मिलने के कारण असन्तुष्ट थे। समर्थ सेना के विना मुगल सम्राट असहाय हो गया था, क्योंकि मुगल सेना न तो महत्वाकांक्षी सामन्तों का दमन कर सकी और न विदेशी आक्रमणों का मुकावला। इसी संकट की घड़ी में यूरोपीय राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने भारतीय मामलों में हस्तक्षेप करना प्रारम्भ कर दिया।

पतन के कगार पर खड़ा मुगल साम्राज्य अंगरेजी खतरे की चुनौती का सामना नहीं कर सका। भारत में कोई भी देशी शक्ति मुगलों की वसीयत संभालने योग्य नहीं थी जवकि देशी शक्तियाँ ही मुगल साम्राज्य को कमजोर करने के लिए उत्तरदायी थीं। देश की शक्तियाँ कोई ऐसी सामाजिक व्यवस्था स्थापित नहीं कर सकीं। जो विदेशी शक्तियों का सामना कर सकतीं। देशी शक्तियों में भी वही कमजोरियाँ थीं जो मुगल साम्राज्य की विशेषताएँ थीं। इसलिए भारतीय राज्य भी यूरोपीय लोगों की उच्च आर्थिक व्यवस्था और प्रौद्योगिकी का सामना नहीं कर सके।

मुगल साम्राज्य के अवशेषों पर अनेक स्वतंत्र औरअर्द्ध-स्वतंत्र राज्य स्थपित किये गये थे। इनमें वंगाल, अवध, हैदरावाद, मैसूर और मराठा राज्य प्रमुख थे। इन्हीं राज्यों ने अठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में भारत पर आधिपत्य कायम करने की अंगरेजी शक्ति का विरोध किया, क्योंकि मुगल साम्राज्य की सत्ता अव नाममात्र की रह गई थी। इन राज्यों के शासकों ने कानून और व्यवस्था की स्थापना की तथा अर्थिक और प्रशासनिक दृष्टि से चलने लायक राज्य कायम किए। लेकिन कोई भी राज्य वढ़ते हुए आर्थिक संकट पर कावू पाने में सफल नहीं हो सका। इन नव-स्थापित राज्यों ने आन्तरिक व्यापार को ठप्प नहीं होने दिया और विदेशी व्यापार को प्रोत्साहन दिया

लेकिन अपने यहाँ औद्योगिक तथा व्यापारिक ढाँचे के आधुनिकीकरण का कोई प्रयास नहीं किया।

अठारहवीं सदी में भारत में एकरूप संगठन का विकास नहीं हो सका और भारत का राजनीतिक ढाँचा भी अस्थिर बना रहा। इसका मुख्य कारण भारत की राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक दशा थी। अठारहवीं सदी में भारत में अनेक क्षेत्रीय राज्यों का विकास हुआ जिनमें बंगाल, अवध, मैसूर, हैदराबाद और मराठा राज्य प्रमुख थे। हैदराबाद राज्य की स्थापना निजाम-उल-मुल्क आसफ जाह ने 1724 ई. में की थी। उसने केन्द्रीय सरकार से अपनी स्वतंत्रता की घोषणा कभी भी खुलेआम नहीं की लेकिन उसने व्यवहार में स्वतंत्र शासक के रूप में काम किया। कर्नाटक का नवाब भी लगभग स्वतंत्र ही था। 740 ई. के बाद कर्नाटक की स्थिति नवाबी के लिए निरन्तर संघर्षों के कारण बिगड़ी और इससे यूरोपीय व्यापारिक कम्पनियों को भारतीय राजनीति में हस्तक्षेप करने का मौका मिला। केन्द्रीय सत्ता की बढ़ती हुई कमजोरी का लाभ उठाकर मुर्शिद कुली खाँ ने बंगाल में स्वतंत्र सत्ता की स्थापना की। बंगाल के नवाबों ने विदेशी व्यापारिक कम्पनियों और उनके नौकरों पर कड़ा नियंत्रण रखा तथा उन्हें अपने विशेपाधिकारों का दुरुपयोग नहीं करने दिया। उन्होंने अंगरेजी ईस्ट इण्डिया कम्पनी के नौकरों को देश के कानूनों का पालन करने और अन्य व्यापारियों के बराबर सीमाशुल्क देने के लिए मजबूर किया। अलीवर्दी खाँ ने अंगरेजों और फ्रांसीसियों को कलकत्ता एवं चन्दनगर के कारखानों को किलेबन्दी करने की इजाजत नहीं दी। लेकिन बंगाल के नवाब बड़े नासमझ और लापरवाह साबित हुए। समसामयिक औपनिवेशिक शक्तियों की नीतियों और विश्व की घटनाओं से वे अनभिज्ञ रहे। समयसामयिक विश्व की घटनाओं के बारे में उनका अज्ञान और उससे सम्पर्क का अभाव उनके राज्य के लिए बड़ा मंहगा साबित हुआ। 1707 ई. के बाद अंगरेजी ईस्ट इण्डिया कम्पनी की नीति अपनी माँगों को मनवाने के लिए सैनिक शक्ति का इस्तेमाल करने अथवा उसके इस्तेमाल की धमकी देने की हो गयी थी। बंगाल के नवाबों (अलीवर्दी खाँ को छोड़कर) ने इस प्रवृत्ति को कुचलने का प्रयास नहीं किया। वे विदेशी कम्पनियों की धमकियों का जवाब देने की ताकत रखते थे। लेकिन उनका विश्वास था कि कोई भी मात्र व्यापारिक कम्पनी उनकी सत्ता के लिए कोई खतरा पैदा नहीं कर सकती। वे इस वास्तविकता को समझ नहीं सके कि अंगरेजी ईस्ट इण्डिया कम्पनी मात्र व्यापारियों की कम्पनी नहीं थी, बल्कि उस समय के अत्यन्त आक्रामक और विस्तारवादी उपनिवेशक का प्रतिनिधि थी। बंगाल के नवाबों ने एक और भूल की। उन्होंने शक्तिशाली सेना के संगठन की ओर ध्यान नहीं दिया। इसके लिए उन्हें भारी कीमत चुकानी पड़ी। जब ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने सिराजुद्दौला के विरुद्ध युद्ध की घोपणा

की तव कम्पनी की विजय में शक्तिशाली सेना के अभाव का भी योगदान था। बंगाल के नवाव अपने अधिकारियों के बीच वढ़ते हुए भ्रष्टचार को भी रोकने में असफल रहे। भ्रष्टाचार का माहौल ऐसा था कि न्यायिक अधिकारी भी रिश्वत लेने में हिचकिचाते नहीं थे। विदेशी कम्पनियों ने इस कमजोरी का पूरा लाभ उठाकर सरकारी कानून-कायदों एवं नीतियों की जड़ें खोद दीं। अवध के स्वायत्त राज्य का संस्थापक सआदल खाँ बुरहान-उल-मुलक था जिसे 1722 ई. में अवध का सूवेदार वनाया गया था। उसके समय में जमींदारों ने वगावत की लेकिन उसने जमींदारों को अनुशासित किया। 1723 ई. में उसने नया राजस्व-वन्दोवस्त किया। उसने हिन्दुओं और मुसलमानों के वीच कोई भेदभाव नहीं किया। सआदल खाँ की मृत्यु के वाद सफदर जंग शासक वना। उसने मराठा सरदारों के साथ मित्रता कायम की और बगावती जमींदारों को दवाया। उसने रुहेलों और बंगश पठानों के खिलाफ संघर्ष किया। नवावों की सरकार के अधीन लम्वे समय तक लगातार शान्ति और सामन्तों की आर्थिक समृद्धि के परिणामस्वरूप अवध दरवार के ईर्द-गिर्द एक विशिष्ट लखनवी संस्कृति विकसित हुई।

हैदरावाद के वाद दक्षिण भारत में दूसरी महत्त्वपूर्ण शक्ति के रूप में मैसूर राज्य का उदय हुआ था। उसका नेतृत्व हैदर अली ने किया। हैदर अली एक प्रतिभाशाली सेनापति और चालाक तथा कूटनीतिज्ञ था। उसने अंगरेजों का विराध किया। उसका पुत्र टीपू सुलतान भी अंगरेजों का विरोधी था। उसने उस खतरे को शीघ्र ही पहचान लिया जो अंगरेजों ने दक्षिणी भारत तथा अन्य भारतीय शक्तियों के लिए पैदा कर दिया था। वह उदीयमान अंगरेजी सत्ता के कट्टर दुश्मन के रूप में डटा रहा। अंगरेज भी टीपू तुलतान को अपना खतरनाक दुश्मन मानते थे। अठारहवीं शताव्दी के आरम्भ में केरल अनेक सामन्ती सरदारों तथा राजाओं के बीच विभाजित था। जिसमें चार महत्त्वपूर्ण राज्य थे—जमोरिन के अधीन कालजीकट, चिराक्कल, कोचीन एवं त्रावणकोर। त्रावणकोर राज्य को मार्तण्ड वर्मा के नेतृत्व में प्रमुखता प्राप्त हुई। उसमें दूरदर्शित, दृढ़संकल्प, साहस एवं निर्भीकता का अपूर्व सामंजस्य था। उसने सामन्तों को दवाया, क्विलोन और इलायादाम पर नियंत्रण स्थापित किया तथा डचों को पराजित कर केरल में उनकी राजनीतिक सत्ता समाप्त कर दी। उसने यूरोपीय अधिकारियों की सहायता से पश्चिमी नमूने के आधार पर एक शक्तिशाली सेना का गठन किया और उसे आधुनिक हथियारों से सुसज्जित किया। उसने एक आधुनिक शस्त्रागार भी था। उसने नयी सेना का उपयोग अपने राज्य की सीमा बढ़ाने के लिए किया। शीघ्र ही त्रावणकोर राज्य की सीमाएँ कन्याकुमारी से कोचीन तक विस्तृत हो गईं। उसने सिंचाई की उचित व्यवस्था की, संचार के साधनों (सड़कों तथा नहरों) को विकसित किया और विदेशी व्यापार को

भी बढ़ाने का प्रयास किया। अठारहवीं सदी में मलयाली साहित्य में पुनर्जागरण आया। यह अंशतः केरल के राजाओं और सरदारों के कारण हुआ जो साहित्य के महान संरक्षक थे।

प्रमुख राजपूत राज्यों ने मुगल सत्ता की बढ़ती हुई मजोरी का लाभ उठाकर अपने को केन्द्रीय नियंत्रण से मुक्त कर लिया था। साथ ही उन्होंने मुगल साम्राज्य के शेष भागों में अपना प्रभाव बढ़ाया। अठारहवीं। सदी में आमेर का सवाई जयसिंह एक महत्त्वपूर्ण राजपूत शासक था। उसने जयपुर शहर की स्थापना की और उसे कला एवं विज्ञान का एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र बना दिया। जयपुर का निर्माण वैज्ञानिक सिद्धांतों के आधार पर और नियमित योजनानुसार किया गया था। जयसिंह एक महान खगोलशास्त्री भी था। उसने सारणियों का एक सेट तैयार किया जिससे लोगों को खगोलशास्त्र सम्बन्धी पर्यवेक्षण में सहायता मिली। उसने युक्लिड की 'रेखागणित के तत्व' का अनुवाद संस्कृत भाषा में करवाया। उसने त्रिकोणमिति की अनेक कृतियों एवं लघुगणकों को बनाने तथा उनके इस्तेमाल सम्बन्धी नेपियर की रचना का संस्कृत भाषा में अनुवाद करवाया। मुगल सत्ता के विरुद्ध जाट जाति के लोगों ने भी विद्रोह किया था। भरतपुर के जाट राज्य की स्थापना चूड़ामन और बदन सिंह ने की थी। जाट सत्ता सूरजमल के समय अपनी उच्चतम गरिमा पर पहुँच गयी थी। मुहम्मद खाँ वंगश के फर्रुखाबाद ने आस-पास के क्षेत्रों पर आपना अधिकार कायम कर लिया था। इसी प्रकार अली मुहम्मद खाँ ने रुहेलखण्ड नामक राज्य कायम किया।

सिखों को एक लड़ाकू समुदाय में बदलने का काम गुरु हरगोविन्द ने प्रारम्भ किया था। लेकिन गुरु गोविन्द सिंह के नेतृत्व में सिख एक राजनीतिक और फौजी शक्ति बन गये। गुरु गोविन्द सिंह की मृत्यु के बाद सिखों का नेतृत्व बंदाबहादुर के हाथों में चला आया। उसने मुगलों के सिखाफ आठ वर्षों तक संघर्ष किया। लेकिन 1715 ई. में उसे पकड़ लिया गया और कत्ल कर दिया गया। बंदा बहादुर की मृत्यु से सिखों को अपना अधिकार-क्षेत्र बढ़ाने की महत्त्वाकांक्षा को धक्का लगा और उनकी सत्ता का पतन हुआ। नादिरशाह और अहमदशाह अब्दाली के आक्रमणों से पंजाब में प्रशासनिक अव्यवस्था फैली और इससे सिखों ने लाभ उठाया। अहमदशाह अब्दाली के पंजाब के वापस जाने के बाद सिखों ने राजनीतिक रिक्तता को भरना प्रारम्भ किया। उन्होंने 1765-1800 ई. के बीच पंजाब और जम्मू पर अधिकार कर लिया। सिख बारह मिसलों में संगठित थे। ये मिसल समानता के सिद्धान्त पर आधारित थे। ये मिसलें एक दूसरे के साथ पूरी तरह सहयोग करते थे। किसी मिसल के मामलों पर विचार करने और मिसल के प्रधान तथा अन्य अधिकारियों के चुनाव नें सभी सदस्य समान रूप से भाग लेते थे। लेकिन धीरे-धीरे

इन मिसलों का प्रजातांत्रिक चरित्र लुप्त हो गया और शक्तिशाली प्रधानों ने उन पर अपना दवदबा कायम किया भ्रातृत्व की भवना और खालसा की एकता भी समाप्त हो गयी क्योंकि मिसलों के प्रधान निरन्तर आपसी संघर्ष में उलझे रहते थे और उन्होंने अपने को स्वतंत्र सरदार घोषित कर दिया था।

पतनोन्मुख मुगल सत्ता को सबसे महत्त्वपूर्ण चुनौती मराठों से मिली थी। मराठा राज्य गुगल साम्राज्य के उत्तराधिकारी राज्यों में सबसे शक्तिशाली था। वस्तुतः मुगल साम्राज्य के विघटन से उत्पन्न राजनीतिक रिक्तता को भरने की शक्ति केवल मराठा राज्य में ही थी। मराठा राज्य में अनेक शक्शिाली सेनापति और राजनेता पैदा हुए थे, जो इस कार्य को पूरा कर सकते थे। लेकिन मराठा सरदारों में एकता नहीं थी और उनमें एक अखिल भारतीय साम्राज्य स्थापित करने के लिए आवश्यक दृष्टिकोण और कार्यक्रम नहीं था। इसलिए वे मुगलों के विरुद्ध संघर्ष करते रहे। लेकिन मुगल साम्राज्य को नियंत्रित करने और देश के बड़े हिस्सों में अपना साम्राज्य स्थापित करने में मराठे असफल रहे। अंगरेजों ने अपनी कूटनीति द्वारा मराठा सरदारों को विभाजित कर दिया और उन्हें युद्ध में पराजित किया। मराठों की असफलता का मूल कारण यह था कि मराठा साम्राज्य भी उसी पतनोन्मुख समाज-व्यवस्था का प्रतिनिधित्व करता था जिसका प्रतिनिधित्व मुगल साम्राज्य कर रहा था। दोनों में एक ही प्रकार की अन्तर्भूत कमजोरियाँ मौजूद थीं। मराठा सरदार भी मुगल सामन्त की तरह ही थें। जब तक मुगलों के विरुद्ध पारस्परिक सहयोग करने की कोशिश की उस समय तक मराठा सरदारों ने कोई नयी अर्थ-व्यवस्था विकसित करने का प्रयास नहीं किया। वे विज्ञान और प्राविधिक को बढ़ावा देने में असफल रहे। मराठा शसक भी लाचार किसानों से राजस्व वसूल करने में दिलचस्पी लेते थे। वे भारतीय जनता में मुगलों की तुलना में अधिक निष्ठा नहीं जगा सके। उनका अधिकार-क्षेत्र भी केवल शक्ति पर आधारित था। उदीयमान ब्रिटिश सत्ता का मुकाबला मराठे केवल अपने राज्य को एक आधुनिक राज्य का स्वरूप देकर ही कर सकते थे। लेकिन वे ऐसा करने में असफल रहे।

अठारहवीं सदी का भारत उस गति से आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक प्रगति नहीं कर सका, जो उसे धराशयी होने से बचा पाती। राज्य की बढ़ती हुई राजस्व माँगों, अधिकारियों के अत्याचार, सामन्तों, लगान के ठेकेदारों और जमींदारों की धन-लिप्सा एवं लूट-खसोट, प्रतिद्वन्द्वी सेनाओं के आक्रमण-प्रत्याक्रमण तथा देश में फिरनेवाले अनगिनत दुःसाहसिकों की लूट-पाट ने जन-जीवन को अत्यन्त दयनीय बना दिया था। अठारहवीं सदी का भारत विषमताओं का देश बन गया था। अत्यन्त दरिद्रता, अत्यन्त समृद्धि और धन-सम्पदा साथ-साथ पायी जाती थी। एक ओर भोग-विलास में लिप्त धनी और शक्तिशाली सामन्त थे तो दूसरी ओर पिछड़े,

उत्पीड़ित तथा दरिद्र किसान थे जो किसी तरह अपना जीवन-निर्वाह कर पाते थे और उन्हें सभी प्रकार के अत्याचारों एवं अन्यायों को सहना पड़ता था। भारत की भौगोलिक विषमताओं, देश की विशालता, आवागमन एवं संचार-साधनों की प्राचीनता ने अतीत में भारतीय प्रदेशों में पृथक्करण की प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया और राष्ट्रीयता की भावना को पनपने नहीं दिया। भारत में राजनीतिक एवं सामाजिक एकाता का अभाव था। सांस्कृतिक एकरूपता एवं राजनीतिक प्रभुसत्ता भी भारत को विभाजित करनेवाले अवरोधों—दलों, समाजों, जातियों एवं ग्रामों—को प्रभावित न कर सकी। जाति और ग्राम एकीकरण का अटूट विरोध करती रहीं। जाति एक सामाजिक-धार्मिक संस्था थी, लेकिन इसका आर्थिक महत्व भी था। समाज यदि सामाजिक-धार्मिक दृष्टि से भिन्न रूप से जुड़ी जातियों का समूह था, तो राजनीतिक-आर्थिक दृष्टि से वह उन गाँवों का एक पुंज था जो उनकी आर्थिक और प्रादेशिक इकाइयाँ थे। गाँव आर्थिक यंत्र की धुरी था और कृषि-उद्योग एवं व्यापार उसके चारों ओर घूमते थे। भारत के नगर परोपजीवी थे और राजनीतिक सत्ता एवं धर्म के केन्द्र थे। भारतीय ग्राम ही समाज की सक्रियता का केन्द्रबिन्दु थे। भारतीयों के सामाजिक संगठन में भी विशेष प्रगति नहीं हुई थी। धर्म छोटे-छोटे सम्प्रदायों में विभाजित था। हिन्दुओं और मुसलमानों में एकता और चेतना का अभाव था। मुसलमान वर्गों-उपवर्गों और हिन्दू जातियों-उपजातियों एवं कबीलों में विभाजित थे। मुगल साम्राज्य जिन कारणों से अपनी अखण्डता की रक्षा करने में असफल रहा, इस कारण ही वे अंगरेजों की सफलता के आधार भी थे। मराठों ने, जो भारत में अंगरेजी साम्राज्य के विस्तार पर रोक लगा सकते थे, उन्होंने गलत विदेश नीति का अनुसरण किया और अपने व्यवहार से जाटों, राजपूतों तथा बुन्देलों का अपना शत्रु बना लिया। जिन क्षेत्रों पर मराठों का अधिकार हो जाता था, वहाँ वे राजनीतिज्ञ-सुलभ बुद्धिमत्ता का व्यवहार नहीं करते थे और खेतिहरों का शोषण एवं दमन करते थे। मराठा सरदारों की असफलता ने विदेशियों के लिए भारत में विस्तार का मार्ग प्रशस्त कर दिया।

अपार वैभव-सम्पन्न, देदीप्यमान संस्कृतिवाला भारत अठारहवीं सदी में अपनी ताकत खो चुका था। वह मुगल साम्राज्य के नाममात्र के प्रभुत्व के नीचे गाँवों, जातियों-उपजातियों, कबीलों एवं ताल्लुकों का एक मध्ययुगीन जड़-पिण्ड मात्र रह गया था। भारत की अर्थ-व्यवस्था कृषि-प्रधान थी, उसकी कार्य-प्रणाली अत्यन्त पुरानी थी, उसका संगठन संकुचित था तथा उसका लक्ष्य गुजारे के लायक चीजों का उत्पादन करना था। अठारहवीं सदी के दौरान भारतीय कृषि तकनीकी रूप से पिछड़ी हुई और जड़वत् थी। शताब्दियों से उत्पादन के तकनीक ज्यों-के-त्यों थे। किसान तकनीकी पिछड़ेपन से उत्पादन में होनेवाली कमी को पूरा करने के लिए कठिन परिश्रम करता था, लेकिन उसे अपने परिश्रम का उचित पारितोषिक नहीं मिल पाता

था। यद्यपि उसके उत्पादन पर ही समाज का अन्य वर्ग निर्भर करता था, तथापि उसका अपना पारितोषित अत्यन्त अपर्याप्त था। राज्य, जमींदारों-जागीरदारों तथा लगान के ठेकेदारों ने उससे अधिकतम रकम उगाहने की कोशिश की। भारत का उद्योग छोटे पैमाने पर चलता था और उसका उद्देश्य अमीरों एवं सामन्तों के लिए विलास की चीजें तैयार करना एवं स्थानीय बाजार की मामूली जरूरतों को पूरा करना था। इसमें पूँजी का योगदान नगण्य था। इसके विपरीत यूरोप समुद्रपारीय बाजारों का विकास कर रहा था। वह अमेरिका से सोना-चाँदी का खजाना ला रहा था। इसके विपरीत यूरोप समुद्रपारीय बाजारों का विकास कर रहा था। वह अमेरिका से सोना-चाँदी का खजाना ला रहा था जिससे उद्योग-धन्धों एवं वाणिज्य-व्यवसाय को नंवजीवन प्राप्त हुआ। तेजी से बढ़ती हुई पूँजी के दबाव से विशेषज्ञता का विकास हो रहा था और व्यापारी तथा बैंकर भूस्वामी कुलीन वर्ग पर छाए जा रहे थे। जो क्रान्तिकारी वैज्ञानिक आन्दोलन यूरोप को नई चीजों एवं आविष्कारों के लिए उकसा रहा था, वह भारतीयों की बुद्धि को अभी प्रभावित नहीं कर सका था। यूरोप जिन सशक्त भावनाओं से अनुप्राणित होकर अराजक सामन्तवादी समाज से एक सुसंगठित ठोस राष्ट्र में पदार्पण कर रहा था, भारत उन भावनाओं से अछूता था। यूरोप में धर्म के स्थापना पर तर्क का युग प्रारम्भ हो चुका था, जबकि भारत के मनीषी अभी इस लोक के बजाय परलोक की बात सोचते थे। कृषि में गतिरोध एवं अवनति से व्यापार और उद्योग को हानि पहुँची। यद्यपि भारतीय वस्तुएँ उच्च कोटि की होती थीं और समकालीन मानदण्ड से विकसित भी थीं, तथापि भारतीय उद्योग एवं प्रोघोगीकीरण में वैज्ञानिक रूप से कोई परिवर्तन तथा आधुनिकीकरण नहीं हुआ था। संचार-साधनों की कठिनाइयों और गाँवों के स्वावलम्बी होने का भारत के व्यापार पर विपरीत प्रभाव पड़ा। चूँकि भूमि राजस्व अैर धन का स्रोत मानी जाती थी, इसलिए शासकों ने समुद्रपार-व्यापार एवं जल-सेना की उपेक्षा की।

अठारहवीं सदी में लगातार युद्ध एवं अनेक क्षेत्रों में कानून एवं व्यवस्था के भंग होने से भारत के आन्तरिक व्यापार को हानि पहुँची और कुछ क्षेत्रों में इससे विदेश व्यापार में भी बाधा पड़ी। अनेक व्यापारिक केन्द्रों को सत्ता के दावेदारों और विदेशी आक्रमणकारियों ने लूटा। अनेक व्यापारिक मार्ग डाकुओं के संगठित दलों से प्रभावित थे। अनेक स्वायत्त प्रान्तीय सरकारों तथा असंख्य स्थानीय सरदारों के उदय से चुंगीघरों की संख्या में वृद्धि हुई जिससे व्यापार की हानि हुई। प्रत्येक शासक अपने क्षेत्र में आयात-निर्यात की वस्तुओं पर भारी सीमा-शुल्क लगाकर अपनी आमदनी बढ़ाने की कोशिश करता था। इससे भी व्यापार अधिक प्रभावित हुआ। सामन्तों की बढ़ती हुई भोग विलासिता के कारण गरीबों की उन वस्तुओं के व्यापार पर प्रभाव पड़ा जिनका वे इस्तेमाल करते थे, क्योंकि भोग-विलास की वस्तुओं का

सबसे बड़ा उपभोक्ता सामन्ता ही थे। अनेक समृद्ध शहर, जो उन्नत उद्योग के केन्द्र थे, लूटमार का शिकार होने से उजड़ गए। दिल्ली को नादिरशाह, लाहौर, दिल्ली और मथुरा को अहमद शाह अब्दाली ने लूटा था। आगरा को जाटों ने, सूरत, गुजरात तथा दक्कन के कई नगरों को मराठों ने लूटा था। सरहिन्द सिखों के हाथ तबाह हुआ था। फिर भी कुछ क्षेत्रों में यूरोपीय व्यापारिक कम्पनियों के क्रिया-कलापों के कारण यूरोप के साथ व्यापार बढ़ने के फलस्वरूप कुछ उद्योगों में उन्नति हुई।

प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में अविकसित होने से भारत के भविष्य पर गहरा प्रभाव पड़ा और भारतीय अपने से योग्य एवं कार्यकुशल अंगरेजों के सामने नतमस्तक हो गए। भारतीय अर्थ-व्यवस्था मूलतः ब्रिटिश औपनिवेशिक-शासन की शुरुआत तक वही थी जो मध्यकाल में थी। तकनीक एवं उत्पादन-व्यवस्था में कोई विशेष परिवर्त्तन नहीं हुआ था। चूँकि भारत की अर्थ-व्यवस्था आत्मनिर्भर थी, इसलिए पूँजी का संचय सीमित था। यद्यपि भारतीय व्यापारियों के पास नकद पूँजी थी, तथापि ये न तो पूँजी-निवेश में रुचि रखते थे और न नये क्षेत्रों में व्यापार बढ़ाने का प्रयत्न ही करते थे। पुर्तगालियों के आगमन के पहले भारत में सस्ते वस्त्र का खूब व्यापार होता था और अनेक देश भारत के वस्त्र उत्पादन पर पूर्ण रूप से निर्भर थे। वस्त्र के अलावे भारत काली मिर्च, चीनी, अफीम और औषधि का निर्यात करता था। भारत का मुख्य आयात सोना-चाँदी था। पुर्तगालियों के आने से व्यापारिक मण्डियों का विस्तार हुआ और समुद्री मार्ग से अधिक मात्रा में माल भारत से यूरोप भेजा जाने लगा। अफ्रीका और नई दुनिया के देश भारतीय वस्तुओं के ग्राहक बन गये। भारतीय पूँजी अब अधिक मात्रा में भारतीय व्यापार में लगाई जाने लगी।

भारतीय वाणिज्य-व्यवस्था की अपर्याप्ता से यूरोपीय कम्पनियों की भारंतीय वस्त्रों की माँग पूरी नहीं हो रही थी। कारण यह था कि भारतीय उत्पादन-प्रणाली में कोई नवीनता नहीं आयी थी, जिससे उत्पादन में वृद्धि होती। पुर्तगालियों ने भी भारतीय उत्पादन-प्रणाली में कोई सार्थक परिवर्त्तन नहीं किया था। भारतीय राजनीतिक शक्तियों एवं व्यापारिक वर्गों ने भी पुर्तगाली व्यापारिक चुनौती के प्रति कोई प्रतिक्रिया नहीं व्यक्त की। जब विभिन्न एकाधिकार-प्राप्त यूरोपीय व्यापारिक कम्पनियाँ भारत आयीं तो उन्होंने भारत के विदेशी व्यापार पर अपना-अपना एकाधिकार स्थापित करने के प्रयत्न करने लगी। नयी व्यापारिक कम्पनियाँ भारतीय व्यापार का एकाधिकार भारतीय शासकों से प्राप्त करने का प्रयत्न करने लगीं। कुछ खास क्षेत्रों में कुछ कम्पनियाँ एकाधिकार प्राप्त करने में सफल रहीं, किन्तु अधिकांश क्षेत्रों में स्वतंत्र प्रतिस्पर्द्धा अभी भी प्रचलित थी।

सत्रहवीं शताब्दी में भारतीय व्यापार की मात्रा में काफी वृद्धि हुई। अंगरेज व्यापारी भारत से चीनी, शोरा और वस्त्र ले जाते थे। बाद में डच और अन्य यूरोपीय

व्यापारी भी एशियाई व्यापार के अलावा यूरोप की मण्डियों में रुचि दिखाने लगे। भारतीय वस्त्रों की यूरोप के बाजारों में बहुत अधिक माँग थी। इसलिए यूरोपीय कम्पनियां उत्पादन बढ़ाने के लिए भारतीय उत्पादकों को प्रोत्साहित करती थीं। इसका प्रभाव उत्पादन की मात्रा, उद्योग-व्यवस्था एवं नकदी फसल के उत्पादन पर पड़ा। पहले उत्पादक सामन्तों के लिए कुछ खास फसलें उगाते थे। लेकिन अब उन्होंने व्यापारियों की आवश्यकता को पूरा करने के लिए फसलों में परिवर्त्तन किया। क्षेत्रों की आत्म-निर्भरता पर भी यूरोपीय मांग का प्रभाव पड़ा। यूरोपीय कम्पनियों की बढ़ती हुई माँग के कारण कुछ चीजों के उत्पादन का स्थानीयकरण हो गया। पुलीकट वस्त्र-उद्योग का महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन गया। बंगाल में मालदा में रेशमी तथा सूती वस्त्र-उद्योग का केन्द्रीकरण हो गया। अपने शरीददारों की सुविधा को ध्यान में रखकर कम्पनी अब जुलाहों और अन्य कारीगरों को कारखाने वाले शहरों की ओर आकर्षित करने लगी। भारतीय अर्थ-व्यवस्था में यह एक महत्त्वपूर्ण परिवर्त्तन था क्योंकि अर्द्ध-तैयार माल और उत्पादन की अन्तिम प्रक्रिया जैसे रंगाई एवं रंग भरने का काम, अब कारखानों में कारीगरों को वेतन देकर कराया जाने लगा।

उत्पादन-व्यवस्था में नवीन-परिवर्त्तन के प्रति भारतीय व्यापारियों की तटस्थता का मुख्य कारण यह था कि उत्पादन की मौजूदा प्रणाली बढ़ती हुई माँग की पूर्त्ति कर सकती थी। वैसे यूरोपीय व्यापारियों की गतिविधियों का वाणिज्य के क्षेत्र पर कुछ प्रभाव पड़ा। कम्पनियों की पूँजी के निवेश से स्थानीय व्यापारी और मध्यस्थ लोग धनी हो गये थे और विदेशों में भारतीय माल की माँग बढ़ने से भारतीय व्यापारी भी विदेशी व्यापारा में दिलचस्पी प्रदर्शित करने लगे थे। यह प्रवृत्ति यूरोपीय व्यापारियों के लिए खतरे का संकेत थी, क्योंकि भारतीय व्यापारी कम मुनाफे पर भी व्यापार करने के लिए तैयार थे। भारतीय व्यापारियों की प्रतिक्रिया यूरोपीय कम्पनियों के प्रति अलग-अलग क्षेत्रों में अलग-अलग थी। कोरोमंडल तट में यूरोपीय कम्पनियों की संख्या कम थी, इसलिए वहाँ इनका स्वागत हुआ। बंगाल में यूरोपीय कम्पनियों को सन्देह और ईर्ष्या से देखा जाता था। सूरत में इनके लाल सागर से व्यापार का विरोध किया गया और अंगरेजों को सूरत के निवासियों ने वस्त्र बेचना बन्द कर दिया था। यद्यपि भारतीय व्यापारी वर्ग और औद्योगिक वर्ग धनी थे, वे भारत के सभी क्षेत्रों में फैले हुए थे तथा उनका आर्थिक क्षेत्र पर भी प्रभाव था तथापि उनकी राजनीतिक शक्ति नहीं के बराबर थी। सरकार निरंकुश तथा सामन्ती थी। ऐसे शक्तिशाली मध्यम वर्ग का अभाव था, जो सत्ता की बागडोर अपने हाथ में ले सके। सच तो यह है कि भारतीय जनता निर्जीव, निरुत्साही और चापलूस हो गई थी।

अठारहवीं सदी के पूर्वार्द्ध में जब मुगल साम्राज्य का पतन हो रहा था, उस समय अनेक शक्तियाँ मुगल साम्राज्य का स्थान लेने के लिए संघर्ष कर रही थीं।

इस संघर्ष में अंगरेज सफल हुए और उन्होंने भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की नींव डाली। मुगल साम्राज्य का स्थान पाने के लिए मराठों को छोड़कर सभी शक्तियों को मित्रों की आवश्यकता थी जो विदेशी थे। ये विदेशी शक्तियाँ प्रारम्भ में भारत में राज्य स्थापित करना नहीं चाहती थीं और उनका मुख्य उद्देश्य व्यापार करना था। लेकिन बाद में फ्रांसीसी और अंगरेज भारतीय मामलों में हस्तक्षेप करने लगे जो दोनों कम्पनियों की परस्पर व्यापारिक प्रतिस्पर्धा और यूरोप में दोनों राष्ट्रों की राजनीतिक प्रतिस्पर्धा का परिणाम था। यूरोप में ऑस्ट्रेलिया के उत्तराधिकार-युद्ध के कारण अंगरेजों और फ्रांसीसियों ने भारतीय राजनीति में हस्तक्षेप करना प्रारम्भ किया।

प्रारम्भ में अंगरेजों का उद्देश्य भारतीय राजनीति में हस्तक्षेप करना नहीं था। उनका मुख्य उद्देश्य गरम मशालों का व्यापार करना था जिस पर पहले पुर्तगालियों ने और बाद में डचों ने एकाधिकार स्थापित कर लिया था। अंगरेजों ने सूरत में अपना व्यापारिक अडडा स्थापित किया और वहाँ से पुर्तगालियों को खदेड़ दिया मुगल सम्राट जहाँगीर से विशेष व्यापारिक अधिकार प्राप्त करने के लिए उन्होंने अपना दूतमण्डल भेजा। मुगल सम्राट से अंगरेजों को बहुमूल्य व्यापारिक अधिकार मिला।

अंगरेजी कम्पनी की प्रगति का प्रथम चरण अठारहवीं तदी में मुगल साम्राज्य के विघटन से प्रारम्भ हुआ और वह भारतीय शासकों की ओर उन भारतीय व्यापारियों की इच्छाओं से प्रभावित था जो स्वयं भारत में व्यापारिक क्षेत्र में प्राथमिकता चाहाते थे। मुगल सम्राट और उनके प्रतिनिधियों की किसी खास समुदाय पर कृपादृष्टि नहीं थी। अंगरेजी कम्पनी भारतीय शासकों से अपने यूरोपीय प्रतिद्वन्द्वियों की तुलना में अधिक एकाधिकार और चुंगी में छूट चाहती थी। चापलूसी, उपहार और रिश्वत द्वारा कम्पनी ने भारतीय शासकों से अपने उद्देश्य को प्राप्त करने का प्रयास किया। अंगरेजी कम्पनी ने धीरे-धीरे अपना प्रभाव बढ़ाने का प्रयास किया और अपने उद्देश्य को पूरा करने के लिए युद्ध और कूटनीति का सहारा लिया। जहाँ-जहाँ कम्पनी ने अपनी फैक्टरी स्थापित की थी, उन इलाकों को भी अपने अधीन लाने का प्रयास कम्पनी ने किया। धीरे-धीरे अंगरेजों का उद्देश्य बदलता गया। अब उनका उद्देश्य भारतीय व्यापार पर एकाधिकार स्थापित करने तक ही सीमित नहीं रहा। उन्होंने "विनम्र प्रार्थी" की भूमिका त्यागी और उनमें भारत में राजनीतिक सत्ता स्थापित करने के लिए महत्त्वाकांक्षा जाग उठी। उनकी राजनीतिक महत्त्वाकांक्षा के पीछे उनकी मजबूरी भी थी। इस समय इंगलैण्ड में वणिकवाद अपनी चरम सीमा पर पहुँच रहा था। वणिकवाद के तहत किसी भी देश में सोने एवं चाँदी को एकत्रित करने की होड़ होती है। स्वाभाविक है कि ब्रिटिश सरकार ने अब ईस्ट इण्डिया कम्पनी के मालिकों को स्पष्ट कर दिया कि भविष्य के लिए एक संकट की घड़ी थी। अब कम्पनी के नालिकों एवं अधिकारियों को यह सोचना था कि भारत में जो उन्होंने

इतने बड़े स्तर पर व्यापारिक ढांचा फैला रखा था, उसे किस तरह बरकरार रखा जाय। वस्तुतः उन्हें अब अपने व्यापार के लिए पूंजी भारत में ही उगाहनी थी। यह काम आसान नहीं था। यह काम किसी देशी शक्ति को पराजित करके एवं उससे कर वसूल कर ही पूरा किया जा सकता था। अस्तु, शुरू में महज एक व्यापारिक कम्पनी से शुरू होकर कालान्तर में ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने राजनीतिक स्वरूप अख्तियार किया। अंगरेज राजनीतिक शक्ति प्राप्त कर और उसमें वृद्धि कर मुगलों को व्यापार के क्षेत्र में एकाधिकार एवं स्वतंत्रता देने पर बाध्य कर सकते थे। वे भारतीय कारीगरों को भी कीमत पर माल बेचने के लिए बाध्य कर सकते थे। अंगरेजी ईस्ट इण्डिया कम्पनी अन्य प्रतिद्वन्द्वी यूरोपीय कम्पनियों को तो भारतीय शासकों की राजनीति से स्वतंत्र रखना चाहती थी। राजनीतिक सत्ता प्राप्त करने से भारतीय राजस्व पर भी कम्पनी का नियंत्रण स्थापित हो सकता था और वह भारत पर भारतीय साधनों से विजय प्राप्त कर सकती थी। भारत में गंगरेजों ने विस्तारवादी नीति का अनुसरण किया जिससे ब्रिटिश साम्राज्य भारत में और अधिक विस्तृत हुआ। नेपोलियन की वाटरलू की पराजय के बाद इंगलैण्ड का भारत और भारतीय सागरों पर निर्विवाद आधिपत्य स्थापित हो गया। शताब्दियों से चली आ रही आंग्ल-फ्रांसीसी प्रतिस्पर्धा का अन्त हो गया।

2

कर्नाटक में अंगरेजी सत्ता की स्थापना

भारत में यूरोपीय व्यापारिक कम्पनियों का आगमन

विश्व में प्राचीनकाल से ही भारत की समृद्धि आकर्ष का केन्द्र थी। कहा जाता था कि भारत संसार का सर्वाधिक धनवान देश था। भारतीय वस्त्रों, आभूषणों एवं बरतनों की माँग संसार की प्रमुख मंडियों में सबसे अधिक थी। प्रारम्भ में यूरोप और भारत के बीच व्यापार अरब और ईरानी सौदागरों के माध्यम से होता था। अरब और ईरानी व्यापारी भारतीय वस्तुओं को यूरोप और अफ्रिका के देशों में पहुँचाते थे। व्यापार का यह सिलसिला लगभग चार सौ वर्षों तक अबाध गति से चला। फिर पुनर्जागरणकाल में लाल सागर होते हुए या स्थल-मार्ग से यूरोपीयन भी भारत आने लगे। किन्तु जब रास्ते बन्द कर दिये तो नये समुद्री मार्गों की खोज आरम्भ हुई। ईसा की 15वीं सदी में यूरोपीयनों द्वारा समुद्रमार्ग की खोज प्रारम्भ हुई। इस खोज के दो प्रमुख कारण थे। सर्वप्रथम, स्थल-मार्ग से माल लाने और ले जाने में कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। बहुत-से स्थानों पर चुंगी देनी पड़ती थी और रास्ते में लूटे जाने का भय सदा बना रहता था। स्थल-मार्ग से यूरोप तक माल ले जाने में समय अधिक लगता था। खर्च को देखते हुए वस्तुओं की कीमत भी बढ़ जाती थी। दूसरा कारण यह था कि एशियाई माल के समस्त व्यापार पर इटली के व्यापारियों का एकाधिपत्य था। वे एशियाई व्यापार के कारण धनवान हो चुके थे। अतः उत्तर एवं पश्चिम की यूरोपीय जातियों में स्पर्धा और धनलोलुपता की भावना बढ़ी और वे नये मार्ग की खोज करने का प्रयत्न करने लगे।

समुद्रमार्ग की खोज : भौगोलिक ज्ञान और दिशासम्बन्धी समुचित ज्ञान के अभाव में यूरोपीय नाविकों को लगभग सौ वर्षों तक भारत का पता लगाने में सफलता नहीं मिली। स्पेन के शासक से सहायता प्राप्त कर इटली का कुशल नाविक कोलम्बस भारत की खोज में अमेरिका चला गया और भ्रमवश उसे ही भारत या 'इण्डियन्स' नाम दे डाला। विफलता के बावजूद यूरोप के अनेक देशों के द्वारा भारत

पहुँचने के लिए समुद्रमार्ग खोजने का क्रम जारी रहा। इस दिशा में सर्वप्रथम सफलता पुर्तगाली नाविकों को मिली। 1487-88 ई. में पेडरा-द-कोविल्हम मालावार पहुँचा। वह भारतीय समुद्रमार्ग का पता लगानेवाला पहला पुर्तगाली नाविक था। कई बार समुद्री मार्ग का ज्ञान प्राप्त करने के बाद पुर्तगाली नाविकों का हौसला बढ़ा और 22 मई, 1498, ई. को वास्को-द-गामा -उत्तमाशा अंतरीय' या 'केप ऑफ गुड होप' के रास्ते से कालीकट पहुँचा कालीकट के शासक ने वास्को-द-गामा को व्यापार करने की सुविधा दी परन्तु अरब व्यापारियों के विरोध के कारण 1499 ई. में वासको-द-गामा को स्वदेश लौट जाना पड़ा। समुद्रमार्ग की खोज मध्ययुग की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटना थी।

पुर्तगालियों का प्रवेश : वास्को-द-गामा का प्रयास विफल नहीं हुआ। पुर्तगाली व्यापरी भारत के साथ सम्बन्ध कायम करने में सफल रहे। 1500 ई. में पुर्तगाली व्यापारियों ने कालीकट के पास कोचीन में एक कोठी बनायी। कालीकट के शासक सामुरी या जमोरिन की आज्ञा प्राप्त कर कोठी की किलेबन्दी भी कर ली गयी। शासक का संरक्षण पाकर अरब व्यापारियों के विरोध के बावजूद पुर्तगालियों ने कालीकट, कोचीन और कन्नोर में व्यापारिक केन्द्रों की स्थापना कर ली। अरब और पुर्तगाली व्यापारियों के बीच कई बार संघर्ष हुए, परन्तु पुर्तगालियों ने विरोधियों के सारे प्रयत्न विफल कर दिये। 1506 ई. गोआ नगर पर पुर्तगालियों ने अधिकार कर लिया। पुर्तगाली व्यापारियों की हरकत कालीकट के शासक जमोरिन को पसन्द नहीं आयी। उसने पुर्तगालियों को केवल व्यापार करने की सुविधा दी थी। किन्तु कालीकट राज्य की समृद्धि अरब व्यापारियों पर ही निर्भर थी। अतः जमोरिन पुर्तगालियों को निकाल-बाहर करना चाहता था।

व्यापार बनाम राजनीति : पुर्तगाल-अधिकृत क्षेत्र का पहला वायसराय डी-अल्मीडा था। वह 'नीले पानी' की नीति का समर्थक था। 1505 ई. से 1509 ई. तक डी-अल्मीड के वायसराय-काल में पुर्तगालियों की सामुद्रिक शक्ति को सुरक्षित रखने की चेष्टा की गयी। वह पूरब में साम्राज्य कायम करने के पक्ष में नहीं था। परन्तु डी-अल्मीडा के बाद अल्बूकर्क पुर्तगालियों का नया वायसराय नियुक्त हुआ। जो साम्राज्यवादी था वह भारतीय राजनीति में भाग लेकर पुर्तगालियों के लिए साम्राज्य कायम करना चाहता था। दक्षिण भारत में बहमनी और विजयनगर के राज्यों में आपसी संघर्ष चल रहा था। अल्बूकर्क ने इस प्रतिस्पर्धा का लाभ उठाकर बीजापुर राज्य के प्रसिद्ध बन्दरगाह गोआ पर 1510 ई. में अधिकार कर लिया। इस विजय से अल्बूकर्क की महत्वाकांक्षा पूरी हुई और उसने गोआ को प्रधान कार्यालय का रूप दे डाला। उसी वर्ष कालीकट के शासक नमोरिन के राजमहल को अल्बूकर्क ने लूट लिया और उसमें आग लगा दी। कालीकट के बाद गुजरात के इयू नामक स्थान पर

पुर्तगालियों ने अधिकार कर लिया। भारतीय क्षेत्रों पर अधिकार कर अल्बूकर्क ने कोलम्बो और मलक्का में पुर्तगाली कारखानों की स्थापना की। ये दोनों स्थान पूर्वी क्षेत्र में व्यापार के प्रमुख केन्द्र थे। अहमदनगर और बीजापुर की सम्मिलित सेना ने 1512 ई. में गोआ पर अधिकार करने के लिए आक्रमण किया, परन्तु, उन्हें पराजय ही हाथ लगी। अल्बूकर्क ने फारस की खाड़ी के द्वीप ओर्मज पर अधिकार कर एक दुर्ग की स्थापना की। इस प्रकार अल्बूकर्क प्रथम पुर्तगाली वायसराय था जिसने भारत में पुर्तगालियों के दृढ़ साम्राज्य-निर्माण का स्वप्न पूरा किया।

अल्बूकर्क विजेता के साथ-साथ प्रशासक भी था। उसने अनेक पुर्तगाली अफसरों को नियुक्त-किया और उन्हें भारतीय महिलाओं के साथ विवाह करने के लिए प्रोत्साहित किय, प्रशासनिक कार्यों में हिन्दुओं का सहयोग प्राप्त किया। भारतीय पंचायत-व्यवस्था को पूर्ववत् कायम रखा। लेकिन मुसलमानों के प्रति दमन की नीति अपनायी गई जो आगे चलकर पुर्तगालियों के लिए खतरनाक साबित हुई। अल्बूकर्क की मृत्यु 1515 ई. में हुई। अल्बूकर्क ने पहुर्तगालियों की सामुद्रिक शक्ति बढ़ा दी और पश्चिमी किनारे पर उनका एकाधिपत्य कायम हो गया था।

पुर्तगालियों की बढ़ती शक्ति से चिन्तित होकर बीजापुर, अहमदनगर और कालीकट के शासकों ने सम्मिलित रूप से 1571 ई. पुर्तगालियों को खदेड़कर बाहर करने का प्रयास किया, परन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली। इस आक्रमण के फलस्वरूप पुर्तगाली मुगल साम्राज्य के साथ सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास करने लगे। अकबर की राजधानी फतेहपुर सीकरी में पहला ईसाई मिशन 1580 ई. में भेजा गया। जेसुइट मिशन के लोग अकबर को ईसाई धर्म में दीक्षित करना चाहते थे। परन्तु कई बार दूतों को भेजने के बाद भी वे अकबर को अपने धर्म के अनुकूल बनाने में सफल नहीं हुए। मुगलों के साथ पुर्तगालियों का मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध 1612 ई. तक कायम रहा। जहाँगीर के शासनकाल में पुर्तगालियों ने मुगलों के कुछ जहाजों को लूट लिया इस अपराध के फलस्वरूप पुर्तगालियों और मुगलों के बीच शत्रुता पैदा हो गई और 1612 ई. में जहाँगीर ने दामन पर अधिकार कर मुगल साम्राज्य के अन्दर ईसाई धर्म के प्रचार पर प्रतिबन्ध लगा दिया।

17वीं सदी के प्रारम्भ में पुर्तगालियों की शक्ति धीरें-धीरे क्षीण होने लगी। इसका सबसे बड़ा कारण यह था कि 1580 ई. में पुर्तगाल को स्पेन का एक भाग दिया गया था। स्पेन का शासक फिलिप द्वितीय था। उस समय स्पेन की स्थिति स्वयं डांवांडोल थी। वह पुर्तगाली व्यापारियों के हित की रक्षा करने में असमर्थ था। अपनी सैनिक शक्ति के बल पर पुर्तगाली व्यापारियों के हित की रक्षा करने में असमर्थ था। अपनी सैनिक शक्ति के बल पर पुर्तगाली व्यापारी अधिकृत क्षेत्रों की रक्षा नहीं कर पाये। डचों द्वारा वे एम्बोयना से खदेड़ दिये गये। 1622 ई. में ईरान

की सरकार ने ओमर्ज पर अधिकार कर लिया। 1640 ई. में मलक्का से भी पुर्तगालियों को हाथ धो लेना पड़ा। 1656 ई. में उन्हें सीलोन (श्रीलंका) से निकाल दिया गया। 1739 ई. में मराठों ने बेसिन पर अधिकार कर लिया। केवल गोआ, दमन और इ्यूव पर ही पुर्तगालियों का अधिकार रहा। यह प्रदेश भारत के स्वतंत्र होने के बाद भी 15 वर्षों तक पुर्तगालियों के नियंत्रण में रहा। 1962 ई. में गोआ, दमन और इ्यू भारतीय संघ में सम्मिलित कर लिये गये।

भारत में पुर्तगालियों के पतन के कारण : पुर्तगाली व्यापारियों को भारत में उपनिवेश कायम करने में सफलता मिली थी। इस सफलता का मुख्य कारण भारतीय राज्यों का पारस्परिक संघर्ष था। उस समय योग्य पुर्तगाली सेनानायकों ने विकसित तोपखाने के सहारे भारतीय राज्यों के कुछ अंशों पर अधिकार करने में सफलता प्राप्त कर ली थी, परन्तु अल्बूकर्क की मृत्यु के बाद पुर्तगाली सरकार द्वारा योग्य वायसराय नहीं थे। कमजोर वायसरायों के नेतृत्व में पुर्तगाली साम्राज्य विघटित हो गया।

पुर्तगालियों का भारतीयों के प्रति व्यवहार उनके पतन का मुख्य कारण बना। पुर्तगाली व्यापारी भारतीय जहाजों की लूट लेते थे। वे वमुद्र के किनारेवाली बस्तियों पर आक्रमण कर स्त्री-पुरुषों को बन्दी बनाकर अफ्रीका एवं अन्य देशों में गुलाम के रूप में बेच डालते थे। दूसरे देशों के बन्दी गुलामों को वे भारतीय बाजारों में सस्ते दाम पर बेचते थे। गुलामों के व्यापार ने पुर्तगालियों को भारतीय नगर में गिरा दिया था। उनके व्यवहार से असन्तुष्ट होकर भारतीय नरेशों ने उन्हें खदेड़ दिया।

पुर्तगाली एक हाथ में तलवार और दूसरे में सलीब (क्रास) लेकर भारत आये थे। भारत में आने पर यहाँ के अपार धन-वैभव को देखकर वे मुक्तहस्त से धन बटोरने में लग गये। धनप्राप्ति की चाह ने पुर्तगाली शासन को भ्रष्ट बना दिया। अधिकारी वर्ग रिश्वत के चक्कर में आम लोगों की सुख-सुविधा पर कोई ध्यान नहीं देते थे। परिणामस्वरूप पुर्तगाली प्रशासन कष्टदायक एवं अलोकप्रिय हो गया और ऐसे शासन का पतन आवश्यम्भावी हो जाता है।

पुर्तगाली कट्टर इसाई थे। वे उपनिवेश की स्थापना के साथ ही ईसाई धर्म का प्रचार करना भी अपना प्रमुख कर्त्तव्य समझते थे। राज्य की स्थापना के साथ गोआ में गैर-ईसाई प्रजा के विरुद्ध पुर्तगालियों का अत्याचार प्रारम्भ हो गया। बलपूर्वक लोगों को ईसाई बनाया जाने लगा। विरोधियों को मार डालने या जिन्दा जला देने में पुर्तगालियों को तनिक भी हिचकिचाहट नहीं होती थी। उन्होंने एक धार्मिक न्यायालय की स्थापना की जिसे 'इनक्विजिशन' कहा जाता था। इस न्यायालय की स्थापना 1560 ई. में गोआ में की गयी थी। धार्मिक न्यायालय की स्थापना के फलस्वरूप गोआ की अधिकतर आबादी ने ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया।

1575 ई. में संत फ्रांसिस के आगमन के साथ गोआ में ईसाई धर्म का प्रचार तेजी से होने लगा। बहुत-से हिन्दू मन्दिरों को नष्ट कर डाला गया और उनके स्थान पर चर्च की स्थापन्ना की गयी। पुर्तगालियों के धार्मिक अत्याचार एवं कठोर तथा नृशंस व्यवहार के फलस्वरूप साधारण लोगों में असन्तोष बढ़ा और पुर्तगाली साम्राज्य का विघटन अनिवार्य बन गया।

पुर्तगाली साम्राज्य की स्थापना के समय मुगल साम्राज्य की जड़ स्वयं मजबूत नहीं हो पायी थी। प्रारम्भ में पुर्तगालियों को प्रबल विरोध का सामना करना पड़ा था। परन्तु अकबर के समय मुगल साम्राज्य स्थायी हो गया था और जहाँगीर के साथ पुर्तगालियों का पहला संघर्ष 1612 ई. में हुआ जिसमें दामन पर मुगलों ने अधिकार कर ईसाई धर्म के प्रचार पर प्रतिबन्ध लगा दिया। 17वीं सदी में पुर्तगाली बंगाल की ओर फैलने लगे। बंगाल में पुर्तगालियों ने किसी राज्य की स्थापना नहीं की, परन्तु उनके द्वारा व्यापार के नाम पर लूट-पाट और अत्याचार का सिलसिला प्रारम्भ हो चुका था जहाँगीर के बाद शाहजहाँ मुगल साम्राज्य का नया शासक बना। बंगाल के सूबेदार की आज्ञा की अवमानना कर पुर्तगालियों ने हुगली में कोठी की स्थापना कर ली थी। शाहजहाँ के आदेश पर जुर्तगालियों के विरुद्ध सैनिक कार्रवाई की गयी और उनकी हुगली की कोठियाँ नष्ट कर दी गयीं। उनके जहाज जला डाले गये और अनेक पुर्तगालियों को मार डाला गया। बचे हुए पुर्तगालियों को बन्दी बनाकर आगरा भेज दिया गया। मुगलों की शक्ति का सामना करने में पुर्तगाली असमर्थ रहे। मुगलों के अतिरिक्त मराठों, बीजापुर एवं इककेरी के नायक के विरोध का भी पुर्तगालियों को सामना करना पड़ा जिसके फलस्वरूप उनका नवनिर्मित प्रभाव-क्षेत्र शीघ्र ही नष्ट हो गया।

ब्राजील का पता लग जाने के बाद पुर्तगालियों का ध्यान भारत की ओर से स्वाभाविक रूप से हट गया। भारत एक विशाल देश था। यहाँ साम्राज्य की स्थापना करने में अनेक शक्तियों के साथ पुर्तगालियों को संघर्ष करना पड़ता था। पुर्तगाल स्वयं एक छोटा-सा देश था। उसकी शक्ति सीमित थी। अतः भारत की अपेक्षा ब्राजील में अपनी सारी शक्ति को केन्द्रित कर पुर्तगाली भारत के राजनीतिक मानचित्र से ओझल हो गये।

पुर्तगालियों की व्यापारिक समृद्धि से प्रभावित होकर यूरोप के कई देश भारत में प्रवेश पाने की चेष्टा करने लगे। हॉलैण्ड, फ्रांस, इंगलैण्ड में कई कम्पनियों के बीच जो प्रतिस्पर्धा प्रारम्भ हुई उसमें पुर्तगाली कम्पनी बराबरी करने में असमर्थ रही। प्रतिस्पर्धा के बीच भारत में पुर्तगाली साम्राज्य का अधिक दिनों तक टिका रहना सम्भव नहीं था।

पुर्तगाल और स्पेन का एकीकरण 1580 ई. में हुआ। फिलीफ द्वितीय यूरोपीय

राजनीति में अधिक दिलचस्पी रखता था। स्पेन एक कैथोलिक देश था। इंगलैण्ड और हॉलैण्ड प्रोस्टेंट देश थे। कैथोलिकों और प्रोटेस्टेंटों के बीच धर्मयुद्ध प्रारम्भ हुआ। स्वाभाविक रूप से स्पेन धर्मयुद्ध में व्यस्त हो गया। युद्ध की व्यस्तता के फलस्वरूप व्यापारिक हितों की उपेक्षा कर दी गयी। व्यापारिक अवनति के दौरान लिस्वन का महत्त्व घट गया और स्पेन की सरकार भारतीय पुर्तगाली कम्पनी की रक्षा नहीं कर पायी। स्पेन की सरकार द्वारा जो अधिकारी भारत भेजे गये थे उन्होंने यहाँ की धन-दौलत को लूटने में ही अपना ध्यान केन्द्रित कर लिया। ऐसी अवस्था में पुर्तगाली साम्राज्य को अनेक कठिनाइयों को सामना करना पड़ा और जो कम्पनियाँ उनके बाद आयी थीं वे ही उन पर हावी हो गयीं।

प्रारम्भ में पुर्तगालियों में शौर्य, क्षमता और राष्ट्रीय गौरव की भावना अधिक थी। परन्तु भारत आने के बाद उनमें धन की अधिकता के कारण विलासिता की भावना बढ़ गयी। धनलोलुप पुर्तगाली अधिकारी अधिक क्रूर, हठी और भ्रष्ट हो गये। पुर्तगालियों ने भारतीय समाज के निम्न श्रेणी की स्त्रियों से विवाह करने की प्रथा चलायी। उन्हें यह विश्वास था कि मिश्रित विवाह प्रणाली से वे सैनिकों की संख्या बढ़ा सकेंगे। परन्तु पुर्तगालियों की आशा के विपरीत मिश्रित नस्ल के बच्चे अधिक भ्रष्ट, लोभी और घमंडी निकले। योग्यता का स्थान कुटिलता और अन्याय ने ले लिया। अतः पुर्तगाली शासन भारत में लोकप्रिय नहीं हो सका। लोकप्रियता खोकर आज तक कोई सरकार स्थायी नहीं रह पायी है। पुर्तगाली इसके अपवाद नहीं थे।

डचों का आगमन : पुर्तगालियों की शक्ति को नष्ट कर हॉलैण्ड की डच जाति के लोगों ने भारत में लगभग सौ साल बाद प्रवेश पाया। डच जाति धन प्राप्त करने की अभिलाषा से भारत आयी थी। सर्वप्रथम जलमार्ग से उनका जहाज 1598 ई. में अफ्रीका और जावा के रास्ते से भारत पहुँचा था। भारतीय राजाओं के द्वारा डचों को पुर्तगालियों की तरह ही व्यापार करने की सुविधा दी गयी। डचों और पुर्तगालियों के बीच एक-दूसरे की रोजी-रोटी छीनने का काम प्रारम्भ हो गया। पुर्तगालियों की निन्दा भारतवासियों से करते थे। मुगल सम्राटों को प्रसन्न कर डचों ने व्यापार के लिए कोठियाँ बनाने और अपनी रक्षा के लिए किलेबन्दी की आज्ञा प्राप्त कर ली थी। डच ज़ाति नाविक शक्ति में बढ़ी-चढ़ी थी। व्यापार में अंगरेज और फ्रांसीसी उनकी बराबरी नहीं कर सकते थे।

डचों के द्वारा गुजरात, बंगाल, बिहार में अनेक कारखानों की स्थापना की गयी। डचों द्वारा स्थापित व्यापारिक केन्द्रो में पुलीकट (1610 ई.), सूरत (1616 ई.), चिनसुरा (1653 ई.), कासिम बाजार, बड़ा नगर, पटना, बालसोर, नागापट्टम (1659 ई.) और कोचीन (1663 ई.) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। डच मुख्य रूप से दक्षिण-पूर्वी एशिया के द्वीपों के साथ व्यापार करते थे। भारत इनके व्यापार की

कड़ी मात्र था। डच सूरत से नीच, बंगाल, बिहार, गुजरात और कारोमण्डल के कच्ची रेशम चायल और अफीम का निर्यात करते थे।

डचों का उद्देश्य : प्रारम्भ में डच जाति का मुख्य उद्देश्य व्यापार करना था। वे पुर्तगालियों की तरह भारत और पूर्वी द्वीपसमूहों के साथ व्यापार पर एकाधिपत्य को कायम करना चाहते थे। पुर्तगालियों को निष्कासित किये बिना डचों का कारोबार आगे बढ़ सकता था। अतः डचों और पुर्तगालियों के बीच स्वाभाविक रूप से प्रतिस्पर्धा हॉलैण्ड को राष्ट्रीय सुरक्षा एवं व्यापारिक सुविधा की रक्षा के लिए पूरब से पुर्तगालियों को निकाल-बाहर करना आवश्यक हो गया।

राजनीतिक उद्देश्य : पुर्तगालियों की तरह डच जाति के लोग भी पूर्वी क्षेत्र में राज्य कायम करने की इच्छा रखते थे। द्वीपों के शासकों के साथ विजय एवं युद्ध की नीति अपनाकर डचों ने हॉलैण्ड के प्रभुत्व को स्वीकार करवा लिया था। डच जाति अन्य यूरोपी जातियों का प्रवेश अपने प्रभाव-क्षेत्र में निषिद्ध कर देती थी। ऐसा करने के पीछे उनका एकमात्र उद्देश्य अपने व्यापारिक हितों को अक्षुण्ण बनाये रखना था।

पुर्तगालियों के साथ संघर्ष : व्यापारिक एकाधिपत्य एवं राजनीतिक सुरक्षा प्राप्त करने के लिए डचों को सबसे पहले पुर्तगालियों के साथ संघर्ष करना पड़ा। पहला संघर्ष 1602 ई. में हुआ जिसमें डचों ने पुर्तगालियों को पराजित कर अम्बोयना पर अधिकार कर लिया। यह डचों की सफलता का पहला सोपान था। धीरे-धीरे पूर्वी द्वीप-समूहों पर डचों का अधिकार हो गया। डचों के बढ़ते हुए प्रभाव से पुर्तगाली व्यापार को बड़ी चोट पहुँची । 1616 ई. में बटाबिया को राजधानी बनाकर डचों ने लंका और मलक्का पर अधिकार कर लिया। पुर्तगालियों को कई बार युद्ध में पराजित कर डच 1664 ई. तक उनके अनेक व्यापारिक केन्द्रों पर अधिकार कायम करने में सफल हो गये। भारत में गुजरात, बंगाल, बिहार और उड़ीसा में डचों ने अनेक कोठियों की स्थापना की और भारतीय व्यापार के माध्यम से उन्होंने खूब धन कमाया।

अंगरेजों के साथ संघर्ष : डच जाति को अंगरेजों के साथ भी संघर्ष करना पड़ा। संघर्ष का मुख्य कारण व्यापारिक प्रतिस्पर्धा थी। 17वीं सदी में पूर्वी समुद्र के व्यापार पर डचों का एकाधिपत्य था और वे अंगरेजों या फ्रांसीसियों को अपना प्रभाव नहीं बढ़ाने देना चाहते थे। पहला संघर्ष 1618 ई. में हुआ। जिसमें डचों ने बहुत बड़ी संख्या में अंगरेजों की हत्या कर दी। इस हत्याकाण्ड के कारण डच और अंगरेज दोनों एक-दूसरे के शत्रु बन गये। डच दक्षिण-पूर्वी एशिया में व्यापार करना अधिक उपयुक्त समझते थे। अतः भारत में राजनीतिक प्रभाव बढ़ाने के प्रति वे अधिक सक्रिय नहीं थे। दूसरी ओर अंगरेज भारतीय व्यापार को प्राथमिकता देते थे। भारत में डचों और अंगरेजों के बीच युद्ध हुआ जिसमें अंगरेजों को भारी सफलता मिली और भारतीय व्यापार पर अंगरेजों का एकाधिपत्य स्थापित हो गया। डचों ने भारत में अंगरेजों के साथ गम्भीर प्रतियोगिता नहीं की।

डचों की असफलता के कारण : अंगरेजों के साथ युद्ध में डचों की असफलता के मुख्य कारण निम्नलिखित थे :

सर्वप्रथम डच कम्पनी का सीधा सम्पर्क हॉलैण्ड की सरकार से था। हॉलैण्ड की सरकार इंगलैण्ड और फ्रांस के साथ युद्ध में व्यस्त थी। डच कम्पनी को हॉलैण्ड की सरकार समय पर सहायता नहीं कर पायी। उचित सहायता के अभाव में अंगरेजों के विरुद्ध डचों की पराजय अवश्यम्भावी हो गयी।

दूसरा कारण डच कम्पनी के कर्मचारियों का स्वार्थपूर्ण व्यवहार था। भारत स्थित डच कम्पनी के कर्मचारीगण बड़े स्वार्थी थे। वे व्यक्तिगत व्यापार पर अधिक ध्यान देते थे और कम्पनी के हित की उपेक्षा कर देते थे। ऐसी अवस्था में डच कम्पनी को आर्थिक क्षति उठानी पड़ती थी। स्वाभाविक रूप से हॉलैण्ड की सरकार ने भारत स्थित डच कम्पनी के प्रति उदासीनता की नीति अपना ली।

तीसरा कारण यह था कि डचों की तुलना में अंगरेजों की शक्ति कई गुना अधिक थी। यूरोपीय युद्ध में हॉलैण्ड की पराजय का प्रभाव उनके व्यापार पर भी पड़ा और भारत के साथ-साथ पूर्वी व्यापार से भी डचों का एकाधिपत्य धीरे-धीरे समाप्त हो गया।

अंगरेजों का आगमन : पुर्तगालियों एवं डचों की समृद्धि को देखते हुए भारत के साथ व्यापार करने की लालसा अंगरेजों में भी जाग उठी। इंगलैण्ड में ब्रिस्टल के नाविक कुशल लुटेरे माने जाते थे। सर्वप्रथम ब्रिस्टल के एक सौदागर ने इंगलैण्ड के शासक हेनरी अष्टम को भारत का मार्ग पता लागने की राय दी थी। इंगलैण्ड के नाविकों को लगभग 50 वर्षों तक भारतीय मार्ग की जानकारी प्राप्त नहीं हो सकी। किन्तु 1578 ई. में सर फ्रांसिस ड्रेक नामक एक अंगरेज नाविक को लिस्बन जानेवाले पुर्तगाली जाहाज को लूटने के सिलसिले में कुछ नक्शे मिले जिनसे अंगरेजों को पहली बार भारत आने के लिए जलमार्ग की जानकारी प्राप्त हुई। पूरब के साथ व्यापार करने के लिए एक तुर्की कम्पनी की स्थापना की गयी जिसे आगे चलकर लेवेण्ट कम्पनी का नाम दिया गया। किन्तु पूर्वी समुद्र के साथ व्यापार बढ़ाने में वह कम्पनी आक्षम रही।

1588 ई. में आर्मेडा की लड़ाई में स्पेन पर विजय पाने से अंगरेजों की स्थिति में सुधार हुआ और व्यापार को आगे बढ़ाने के उद्देश्य से लेवेण्ट कम्पनी के सदस्यों ने 68 हजार पौण्ड की रकम जमा कर एक नयी कम्पनी खोलने का एलिजाबेथ के सामने प्रस्ताव रखा। लार्ड मेयर ने इस बैठक की अध्यक्षता की थी। 31 मई, 1600 ई. को महारानी एलिजाबेथ ने लन्दन के व्यापारियों की कम्पनी को पूर्वी देशों के साथ व्यापार करने के लिए 15 वर्षों का अधिकारपत्र प्रदान किया। स्थापना के समय कम्पनी के केवल 217 हिस्सेदार थे तथा एक गवर्नर। 24 सदस्यों की एक प्रबन्ध

कारखाना जेम्स लंकास्टर के नेतृत्व में खोला गया। 1604-1606 ई. में मिडिलटन ने अम्बोयना, टीडन पहुँचकर अंगरेजी व्यापार को बढ़ाने का प्रयास किया। किन्तु इन स्थानों में उसे पुर्तगालियों एवं डचों के शक्तिशाली विरोध का सामना करना पड़ा।

भारत पहुँचनेवाले पहले अंगरेजी जहाज का नाम 'हेक्टर' था। उसका कप्तान हॉकिन्स था। हॉकिन्स सूरत पहुँचने के बाद आगरा जाकर जहाँगीर के दरबार में उपस्थित हुआ। वह अपने साथ इंगलैण्ड के शासक जेम्स प्रथम का पत्र भी लाया था जिसमें सूरत में कोठी खोलने की अनुमति प्राप्त करने की प्रार्थना की गयी थी। जहाँगीर के साम्राज्य, वैभव और शान-शौकत की तुलना में अंगरेजी राज्य ओछा नजर आता था। जहाँगीर के दरबार में उस समय किसी को इस बात का अनुमान भी नहीं हो सकता था कि सुदूर पश्चिम की छोटी, निर्बल, अर्द्धसभ्य अंगरेज जाति का दूत जो भारत में व्यापार करने की अनुमति प्राप्त करने के लिए सम्राट के पैरों को चूम रहा है वही जाति एक दिन मुगल साम्राज्य के विघटन के बाद भारत का भाग्य-विधाता बन जायगी। मुगल शासक एवं दरबारी व्यापार को छोटा काम मानते थे। लेकिन व्यापारी वर्ग की सुरक्षा और व्यापार को प्रोत्साहन देना वे अपना कर्त्तव्य समझते थे। जहाँगीर के दरबार में पुर्तगालियों की धाक पहले से जमी हुई थी। उन्होंने अंगरेजों की बुराइयाँ जहाँगीर से बढ़ा-चढ़ाकर कर दीं। फलस्वरूप हॉकिन्स को 1611 ई. में निराश होकर लौट जाना पड़ा। पुर्तगालियों के विरोध से तंग आकर अंगरेजों ने 1612 ई. में पुर्तगाली बेड़े को थॉमस वेस्ट के नेतृत्व में पराजित किया और सूरत में पुर्तगालियों को प्रभावहीन बना दिया। थॉमस एल्डवर्थ ने जहाँगीर से शाही आज्ञा प्राप्त कर 6 फरवरी, 1613 ई. को सूरत में एक कोठी खोलने तथा मुगल दरबार में एक अंगरेज दूत रखने की अनुमति प्राप्त कर ली। इंगलैण्ड के शासक जेम्स प्रथम ने सर टॉमस रो को राजदूत नियुक्त कर भारत भेजा। टॉमस रो 1615 ई. में जहाँगीर के दरबार में उपस्थित हुआ। हॉकिन्स की तुलना में सर टॉमस रो अधिक विनम्र, मृदुभाषी और धूर्त था। उसने जहाँगीर को प्रसन्न कर कई सुविधाएँ प्राप्त कर लीं। 1616 ई. में कालीकट और मछलीपट्टम में अंगरेजों को कोठियाँ बनाने की अनुमति मिल गयी। 1633 ई. में बालासोर और हरिहरपुर (महानंदी) में कारखाना खोला गया। फ्रांसिस डे ने चन्द्रगिरि के राज्य से मद्रास खरीदकर सेण्ट जॉर्ज नामक किले का निर्माण किया। चन्द्रगिरि का राजा विजयनगर का वंशज था। मद्रास का किला आगे चलकर अंगरेजों की शक्ति का मुख्य केन्द्र बन गया। 1651 ई. में हुगली में कारखाना खोला गया जहाँ पुर्तगाली और डच पहले से ही प्रतिष्ठित थे। 1658 ई. में सभी अंगरेजी कारखानों को सेण्ट जॉर्ज के किले के अधीन कर लिया गया।

शाहजहाँ के शासनकाल में अंगरेजों को बहुत सुविधाएँ मिलीं। पहले अंगरेजों को अपने माल पर चुंगी देनी पड़ती थी। तथा उनके सहाज हुगली के नीचे पिपली

में ठहरते थे। परन्तु शाहजहाँ ने बंगाल में अंगरेजों के माल पर चुंगी माफ कर दी और हुगली तक जहाज लाने की अनुमति उन्हें मिल गयी। शाहजहाँ की आज्ञा प्राप्त कर कलकत्ता में अंगरेजों ने एक कोठी बनायी। उस समय बंगाल का सूबेदार शाहशुजा था। शुजा ने बंगाल में अंगरेजी व्यापार को जमाने में हर तरह की सहायता दी।

1668 ई. में बम्बई का द्वीप अंगरेजों को दस पौण्ड वार्षिक किराये पर प्राप्त हुआ। स्वतंत्र व्यापार की सुविधा पाकर अंगरेज व्यापारी अधिकार का दुरुपयोग करने लगे। सूरत पर शिवाजी का आक्रमण हुआ और मराठा मद्रास तक पहुँच गये। शाहशुजा के वाद बंगाल के सूबेदार शाइस्ता खाँ ने अंगरेजों को तंग करना प्रारम्भ किया। अतः अंगरेजों को मुगलों के प्रति अपनी पुरानी नीति को छोड़कर युद्ध की नीति अपनानी पड़ी। औरंगजेब ने अंगरेज व्यापारियों की ज्यादती से अप्रसन्न होकर उन्हें हुगली, कासिम बाजार, पटना, मछलीपट्टम्, विजगापट्टम तथा बम्बई से निकाल-बाहर कर दिया। अंगरेजों को अपनी भूल का शीघ्र ही पता चल गया और उन्होंने औरंगजेब के साथ 1690 ई. में सन्धि कर ली। अर्थदण्ड चुकाकर तथा नेकचलीन का वादा कर धूर्त एवं बेईमान अंगरेजों ने औरंगजेब से क्षमा-याचना की और नयी कोठियाँ खोलने एवं सुरक्षा के लिए किले का निर्माण करने की आज्ञा प्राप्त कर ली। हुगली के पास सूतानुटी में अंगरेजों ने एक कारखाना खोला जो आगे चलकर कलकत्ता के नाम से प्रसिद्ध हुआ। अंगरेज सैनिक एवं असैनिक शक्तियों को संगठित करने लगे और उन्होंने मुगल सम्राट की उदारता का लाभ उठाकर नयी कोठियों की स्थापना कर ली। भारत में अंगरेजों का व्यापार बढ़ने लगा और औरंगजेब की मृत्यु के बाद अंगरेज व्यापारी भारतीय व्यापार से लाभ उठाकर मालोमाल हो गये। अन्ततः यह व्यापारी कम्पनी राजनीतिक अस्थिरता एवं अव्यवस्था का लाभ उठाकर 50 साल बाद भारत में नये साम्राज्य की स्थापना करने में सफल हो गयी।

फ्रांसीसियों का प्रवेश : भारतीय व्यापार के क्षेत्र में प्रतिस्पर्धा करनेवाली यूरोपीय जातियों में फ्रांसीसियों का प्रवेश सबके बाद हुआ। अन्य यूरोपीय जातियों की तरह पूरब के साथ व्यापारिक सम्बन्ध कायम करने का प्रयास 1529 ई. से ही फ्रांसीसियों ने प्रारम्भ कर दिया था। परन्तु इस क्षेत्र में उन्हें विशेष सफलता नहीं मिल पायी थी। ईस्ट इण्डिया कम्पनी की तरह एक फ्रांसीसी कम्पनी की स्थापना 1611 ई. में की गयी जिसका उद्देश्य मेडागास्कर में उपनिवेश स्थापित करना था। परन्तु कुछ कारणों से फ्रांसीसी कम्पनी को सफलता नहीं मिली। 1664 ई. में फ्रांस के शासक लुई चौदहवें के नेतृत्व में एक फ्रेंच ईस्ट इण्डिया की स्थापना की गयी। कम्पनी का मुख्य कर्त्ता-धर्त्ता कोलबर्त्त फ्रांस का वितमंत्री था। फ्रांसीसी कम्पनी पर स्वाभाविक रूप से सरकार का नियंत्रण अधिक था। फ्रांसीसियों ने 1668 ई. में सूरत, 1669 ई. में मछलीपट्टम् तथा 1674 ई. में पांडिचेरी में कोठियों की स्थापना की।

1690-92 ई. में हुगली के पास चन्दरनगर में फ्रांसीसियों ने अपनी कोठियाँ कायम कीं।

फ्रांसीसियों की नीति शासकों को प्रसन्न रखकर अपना व्यापार बढ़ाने की थी। फ्रांसीसी कम्पनी के प्रधान ड्यूमा ने कर्नाटक के नवाब दोस्तअली खाँ को खुश कर रखा था। औरंगजेब की मृत्यु के बाद दक्षिण भारत में मराठों की शक्ति बढ़ गयी थी। मराठों ने कर्नाटक पर आक्रमण कर दिया। ड्यूमा ने दोस्तअली खाँ की सहमति से पांडिचेरी में किलेबन्दी कर एक सेना तैयार कर ली जिसमें 1200 यूरोपीयन और 5,000 भारतीय थे। ड्यूमा की सैनिक सहायता से मराठों का आक्रमण विफल कर दिया गया। ड्यूमा के व्यवहार से मुगल सम्राज्य और कर्नाटक के नवाब दोनों प्रसन्न हो गये। ड्यूमा को नवाब की उपाधि दी गयी और मुगल साम्राज्य के अधीन से 2000 सवारों की मनसबदारी मिल गयी, पर पांडिचेरी का क्षेत्र फ्रांसीसियों के अधिकार में पूरी तरह आ गया।

प्रारम्भिक अवस्था में फ्रांसीसियों को डचों के विरोध का सामना करना पड़ा और यूरोपीय युद्ध के कारण भारतवर्ष में फ्रांसीसियों की स्थिति दयनीय हो गयी थी। परन्तु 1720 ई. के बाद फ्रांसीसी कम्पनी का पुनर्गठन हुआ और उसमें नयी जान आ गयी। 1721 ई. में मारिशस, 1725 ई. में पाही और 1739 ई. में कारीकल पर अधिकार हो जाने से फ्रांसीसी कम्पनी का व्यापार चमक उठा। 1741 ई. में ड्यूमा के स्थान पर डूप्ले पांडिचेरी का अधिकारी नियुक्त हुआ। डूप्ले एक योग्य एवं चतुर सेनापति था। वह महत्त्वाकांक्षी भी था। ड्यूमा को नवाब की उपाधि मिली थी। परन्तु डूप्ले ने स्वयं को यूँ ही नवाब डूप्ले कहना शुरू किया। वह भारत में फ्रांसीसी साम्राज्य की स्थापना करना चाहता था। वह कुशल कूटनीतिज्ञ था। उस समय भारतीय शासक आपसी द्वेष और प्रतिस्पर्धा के कारण स्वयं एक दूसरे के विरुद्ध लड़ते-झगड़ते रहते थे। विदेशी शक्ति किसी एक का पक्ष लेकर अपना मनोरथ पूरा कर सकती थी। दूसरा कारण भारतीयों में राष्ट्रीयता या स्वदेश की रक्षा की भावना का अभाव था। भारतीय सैनिक योग्य थे। उन्हें यूरोपीय ढंग से प्रशिक्षित कर आसानी से काम निकाला जा सकता था। परन्तु भारत में साम्राज्य स्थापित करने के मार्ग में फ्रांसीसियों के लिए एक बहुत बड़ी बाधा अंगरेजों का विरोध था। फ्रांसीसियों की तरह अंगरेज भी भारतीय राजनीति में भाग लेकर साम्राज्य की स्थापना करना चाहते थे। अतः अंगरेजों और फ्रांसीसियों के बीच संघर्ष होना इतिहास की एक स्वाभाविक घटना थी।

भारत की राजनीतिक अवस्था : प्रारम्भ में यूरोपीय कम्पनियों का एकमात्र उद्देश्य व्यापार था। उस समय मुगल साम्राज्य का अभ्युदयकाल था। अकबर से लेकर औरंगजेब तक मुगलवंश के सभी शासकों ने साम्राज्य-विस्तार के काम को आगे बढ़ाया था। मुगल साम्राज्य इतना अधिक शक्तिशाली था कि यूरोपीय कम्पनियाँ

उससे झगड़ा मोल लेने का साहस स्वप्न में भी नहीं सोच सकती थीं। दूसरा कारण यह था कि पुर्तगाली, डच, अंगरेज और फ्रांसीसी सभी यूरोपीय युद्ध में उलझे हुए थे। यूरोपीय युद्ध में उलझने के फलस्वरूप भारतीय राजनीति में हस्तक्षेप करने का उन्हें अवसर नहीं था।

1707 ई. में औरंगजेब की मृत्यु के बाद विशाल मुगल साम्राज्य धीरे-धीरे विघटित होने लगा। केन्द्रीय शक्ति दुर्बल हो गयी। महत्त्वाकांक्षी सरदारों के द्वारा स्वतंत्र राज्य कायम करने की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गयी। औरंगजेब के दुर्बल, अयोग्य, अदूरदर्शी औरं निकम्मे उत्तराधिकारी विघटन की इस प्रक्रिया पर नियंत्रण रखने में असफल रहे। केन्द्र एवं प्रान्तीय सरदारों के बीच आपसी प्रतिस्पर्धा ईर्ष्या की भावना ने परिस्थिति को और भी अधिक संकटपूर्ण बना दिया। मुगल दरबार षड्यंत्रों का अखाड़ा बन गया। मुगल शासक सरदारों के हाथ के खिलौने बन गये। पंजाब, राजपूताना, बंगाल, हैदराबाद और अवध में स्वतंत्र राजवंश स्थापित हो गये। दक्षिण भारत में मराठों ने एक शक्तिशाली साम्राज्य की स्थापना कर ली थी। वे उत्तर भारत पर भी आक्रमण करने लगे थे। इस समय नादिरशाह और अहमदशाह अब्दाली और उसके स्थान पर विघटनकारी तत्त्वों की प्रधानता हो गयी थी। देश की राजनीतिक स्थिति की अस्त-व्यस्तता का लाभ उठाकर विदेशी शक्तियों को भारतीय राजनीति में हस्तक्षेप करन के सुनहरे अवसर मिल गये।

आन्तरिक दुर्बलता बाह्य शक्तियों को उत्साहित कर रही थी। अंगरेज यूरोपीय जातियों में सबसे अधिक चुस्त और चालाक निकले। उन्होंने अराजकता की स्थिति का लाभ उठाकर कलकत्ता, बम्बई, मद्रास और सूरत में अपना प्रभाव खूब बढ़ा लिया था। अंगरेजों का अनुकरण कर फ्रांसीसियों ने भी पांडिचेरी, माही और चन्दरनगर में प्रभाव बढ़ा लिया था। अंगरेजों और फ्रांसीसियों दोनों ही व्यापारिक नीति का परित्याग कर साम्राज्य कायम करने की दिशा में एक साथ अग्रसर हुए परन्तु दोनों एक-दूसरे के शत्रु थे। अतः यूरोप की तरह भारत में साम्राज्य स्थापित करने के प्रश्न पर दोनों में शत्रुता का भाव उत्पन्न हो गया। दोनों जातियाँ भरतीय नरेशों के कंधों पर बन्दूक रखकर अपने उद्देश्य की पूर्त्ति करना चाहती थीं। अंगरेजी-फ्रांसीसी संघर्ष के फलस्वरूप भारतीय इतिहास में एक नये अध्याय का सूत्रपात हुआ।

भारतवर्ष में सर्वोच्चता के लिए आंग्ल-फ्रांसीसी प्रतिस्पर्धा एवं कर्नाटक के युद्ध : आंग्ल-फ्रांसीसी संघर्ष के पूर्व कर्नाटक की स्थिति : औरंगजेब की मृत्यु के बाद दक्षिण का सूबेदार दाऊद खाँ नियुक्त किया गया था। 1710 ई. से 1732 ई. तक सआदतुल्लह खाँ दक्षिण का सूबेदार था। कृष्णा नदी से लेकर त्रावणकोर और कन्याकुमारी तक के क्षेत्र को कर्नाटक कहा जाता था। 1724 ई. में निजाम-उल-मुल्क ने स्वतंत्रता की घोपणा कर हैदराबाद में निजाम राज्य की स्थापना

की। निजाम-उल-मुल्क का नियंत्रण कर्नाटक पर भी था। निजाम-उल-मुल्क की स्थिति मराठों के विरोध के कारण स्वयं संकटपूर्ण थी। दक्षिण भारत में मराठे अपनी सम्प्रभुता स्थापित करने के लिए बहुत सक्रिय थे। मराठों के साथ निजाम को 1732 ई. में सन्धि करनी पड़ी। परन्तु वह सन्धि अस्थायी थी। और अन्ततः 1738 ई. में मालवा मराठों को देने के लिए निजाम को विवश होना पड़ा।

मराठों की शक्ति के नेतृत्व बाजीराव कर रहा था। परन्तु मराठा-शक्ति स्वयं विभाजित थी। कर्नाटक के हृदयप्रदेश तंजौर में मराठों के वंशज प्रताप सिंह ने एक स्वतंत्र राज्य की स्थापना कर ली थी। प्रताप ने अपने भाई शाहूजी को अपदस्थ कर स्वतंत्र शासक बनने की घोषणा की थी। मराठों के अतिरिक्त दक्षिण भारत में मैसूर एक शक्तिशाली राज्य था। निजाम, मराठा और मैसूर के राज्यों के बीच दक्षिण भारत में सत्ता-संगर्ष प्रारम्भ हुआ अंगरेज और फ्रांसीसी शक्तियों को राजनीति में भाग लेने का अवसर मिल गया।

सआदतुल्लाह खाँ के बाद दोस्तअली खाँ कर्नाटक का नवाब बना। हैदराबाद के निजाम के अधीन कर्नाटक का राज्य था। परन्तु कर्नाटक का राज्य स्वतंत्र रहने का प्रयास कर रहा था। दोस्तअली का दामाद चाँद सहब तंजौर के शासक प्रताप सिंह को तंग करने लगा। प्रताप ने मराठा राजा शाहूजी से सहायता की याचना की। प्रताप के निवेदन पर शाहूजी ने भोंसले के प्रधान को सहायता के लिए भेजा। दोस्तअली ने अपने दामाद चाँद साहब की तरफ से मराठा सैनिकों का सामना किया। 1740 ई. के युद्ध में मराठों के हाथ दोस्तअली मारा गया। पराजय के बाद चाँद साहब त्रिचनापल्ली के दुर्ग में किलाबन्द हो गया। दोस्तअली के पुत्र सफदर अली ने मराठों से सन्धि कर ली और चाँद साहब को त्रिचनापल्ली से भगाने पर वह सहमत हो गया। चाँद साहब के परिवार को फ्रांसीसियों के नियंत्रण से हटाना चाहते थे। परन्तु फ्रांसीसियों को मराठों से सन्धि करने पर विवश हो जाना पड़ा। सफदर अली की स्थिति अत्यन्त खराब हो गयी और 1742 ई. में मुर्तजा अली के द्वारा हत्या कर दी गयी। कर्नाटक में गृह-युद्ध का लाभ उठाकर निजाम ने कर्नाटक पर अधिकार कर लिया और वहाँ से मराठों को निकालकर सफदरअली के अल्पायु पुत्र सईद मुहम्मद को कर्नाटक का नवाब बनाया तथा अनवरुद्दीन को ही कर्नाटक का नवाब घोषित कर दिया गया। परन्तु दोस्तअली के वंशज उसका विरोध करने लगे। अनवरुद्दीन स्वयं दुर्बल था और वह अपनी स्थिति को सुदृढ़ कर सकने में सर्वथा अक्षम था। निजाम और मराठे एक-दूसरे के शत्रु थे। ऐसी स्थिति में कर्नाटक की राजनीतिक और आर्थिक स्थिति अत्यन्त शोचनीय हो गयी। अंगरेज और फ्रांसीसी अव्यवस्था का लाभ उठाकर कर्नाटक की राजनीति में भाग लेने लगे। दोनों में परस्पर प्रतिस्पर्धा थी। फलतः अंगरेज-फ्रांसीसी युद्ध कर्नाटक से प्रारम्भ हुआ।

आंग्ल एवं फ्रांसीसी कम्पनियों की तुलनात्मक स्थिति : आंग्ल-फ्रांसीसी संघर्ष को समझने के पहले दोनों व्यापारिक कम्पनियों की वास्तविक स्थिति की जानकारी प्राप्त करना आवश्यक है। प्रारम्भ में दोनों कम्पनियों की स्थापना पूरब के साथ व्यापार करने के उद्देश्य से की गयी थी। परन्तु दोनों का संगठन भिन्न प्रकार से हुआ था । अंगरेजी कम्पनी व्यक्तिवाद की उपज थी। इसके संस्थापकों में इंगलैण्ड के सामान्य नागरिक थे जो अपनी पूँजी लगाकर अधिक लाभ प्राप्त करने की आशा रखते थे। ब्रिटिश सरकार की ईस्ट इण्डिया कम्पनी में कोई साझेदारी नहीं थी और उसने उसको संरक्षण या सहायता देने का भी आश्वासन नहीं दिया था। दूसरी ओर, फ्रांसीसी कम्पनी की स्थापना सरकारी स्तर पर हुई थी। फ्रांसीसी कम्पनी के संचालक मण्डल में सरकारी अधिकारी थे जो लाभ-हानि में अधिक अभिरुचि नहीं रखते थे। फ्रांसीसियों की तुलना में अंगरेज हमेशा इस बात का ध्यान रखते थे कि उनका व्यापारिक अभियान सदा लाभदायक सिद्ध हो।

इसका दूसरा पक्ष यह था कि फ्रांसीसी कम्पनी का भाग्य फ्रांस सरकार की स्थिति के अनुसार बनता-बिगड़ता रहता था। यदि यूरोपीय युद्ध में फ्रांस उलझ गया तो भारत-स्थित फ्रांसीसी कम्पनी पर उसका तात्कालिक प्रभाव अनिवार्य रूप से पड़ता था। भारत और यूरोप में युद्ध छिड़ जाने पर भारतीय फ्रांसीसी कम्पनी को सैनिक और आर्थिक सहायता मिलने में कठिनाई हो जाती थी। फ्रांस की सरकार की आर्थिक स्थिति के साथ ही भारत स्थित फ्रांसीसी कम्पनी का भाग्य जुड़ा रहता था। अंगरेजी कम्पनी इस दृष्टि से इंगलैण्ड की सरकार की मुहताज नहीं थी। उसमें कुछ ऐसे साहसिक व्यक्ति थे जो अपना सर्वस्व लगाकर कम्पनी के हित की रक्षा करने के लिए तत्पर रहते थे।

तुलनात्मक दृष्टि से अंगरेजी कम्पनी की स्थिति अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थी। मद्रास, बंगाल और बम्बई में अंगरेजों को अधिक सुविधा थी। अंगरेजी माल को पहुँचाने में कोई असुविधा नहीं होती थी। समुद्र के रास्ते से अधिक-से अधिक माल लाने और ले जाने की जितनी सुविधा मद्रास, बम्बई और कलकत्ता में थी उतनी सुविधा पांडिचेरी या चन्दरनगर में नहीं थी। पांडिचेरी का बन्दरगाह अपेक्षाकृत छोटा था और चन्दरनगर पहुँचने के मार्ग पर अंगरेजों का नियंत्रण था। भौगोलिक सुविधा अंगरेजों के पक्ष में थी। फ्रांसीसियों का सारा ध्यान पांडिचेरी की ओर केन्द्रित था। परन्तु अंगरेजों ने पूर्वी एवं पश्चिमी समुद्री तट के साथ-साथ बंगाल को भी अपनी गतिविधि का केन्द्र बना लिया था। अंगरेजी कम्पनी की आर्थिक स्थिति फ्रांसीसियों की कम्पनी की अपेक्षा अधिक अच्छी थी। वे आर्थिक सम्पन्नता के बल पर अधिक दिनों तक संघर्ष चलाने की क्षमता रखते थे तथा समय पर इंगलैण्ड की सरकार से भी सहायता की आशा रखते थे।

इंगलैण्ड 18वीं सदी में एक शक्शिाली राष्ट्र का रूप ले चुका था। फ्रांस की तुलना में इंगलैण्ड की नाविक शक्ति अधिक वढ़ी-चढ़ी थी। संघर्ष में सफलता या असफलता का दायित्व नाविक शक्ति पर निर्भर करता था। इसके अतिरिक्त, यूरोपीय युद्ध के अनुसार भारत में भी अंगरेज और फ्रांसीसियों के बीच युद्ध अनिवार्य रूप से हो जाता था। यूरोपीय युद्ध की समाप्ति के साथ भारत में भी युद्ध समाप्त हो जाता था। भारतीय नरेशों की नाविक शक्ति बहुत कमजोर थी। अतः विदेशी कम्पनियों के द्वारा समुद्री तट पर अनेक बार राज्य की एवं शाही आज्ञाओं की अवहेलना भी कर दी जाती थी। अंगरेजों और फ्रांसीसियों के वीच संघर्ष में सफलता या विफलता नाविक शक्ति के साथ-साथ यूरोप के राजनीतिक घटनाचक्र पर भी निर्भर करती थी।

1740 ई. तक अंगरेजों और फ्रांसीसियों के सम्बन्ध : 18वीं सदी के पूर्वार्द्ध में अंगरेज और फ्रांसीसी कम्पनियों के बीच कोई संघर्ष नहीं हुआ। दोनों का उद्देश्य व्यापार से आर्थिक लाभ प्राप्त करना था। यूरोप में स्पेन के उत्तराधिकार-युद्ध में इंगलैण्ड और फ्रांस एक-दूसरे के विरुद्ध लड़े, परन्तु उसका प्रभाव भारतीय व्यापार पर नहीं पड़ा था, क्योंकि युद्ध के फलस्वरूप उनका व्यापार नष्ट हो सकता था। उस समय इन कम्पनियों की स्थिति स्वयं दुर्बल थी और मुलग साम्राज्य शक्तिशाली था। अतः मुगल साम्राज्य के भय से अंगरेज और फ्रांसीसी भारत में युद्ध करने का खतरा मोल लेना नहीं चाहते थे। दोनों देश के व्यापारी एक-दूसरे के प्रति मैत्रीभाव रखते थे और सुरक्षा की दृष्टि से फ्रांसीसी अपना सामान पांडिचेरी से मद्रास भेजते थे। परन्तु यह मैत्री अधिक दिनों तक कायम नहीं रह सकी। आर्थिक लाभ प्राप्त करने के लोभ में पड़कर दोनों के बीच शत्रुता पैदा हो गयी। आर्थिक प्रतिद्वन्द्विता के फलस्वरूप राजनीतिक प्रतिस्पर्धा तीव्र हो गयी।

फ्रांसीसियों की नाविक शक्ति कमजोर थी। सामुद्रिक किनारे पर ठोस आधार बनाकर ही फ्रांसीसी कम्पनी के गवर्नर ड्यूमा ने सामुद्रिक शक्ति का विस्तार करने के उद्देश्य से कर्नाटक के नवाब दोस्तअली और हैदराबाद के निजाम आसिफ शाह (निजामुल-मुल्क प्रथम) से दोस्ती कायम कर ली। वह पांडिचेरी को फ्रांसीसी शक्ति का केन्द्र बनाना चाहता था। कर्नाटक के नवाब और हैदराबाद के निजाम को दावत एवं उपहार देकर ड्यूमा को मुगल सम्राट से भी स्वीकृति दिलवाने की माँग की थी। सुरक्षा के लिए सेना रखने और किलेबन्दी करने की अनुमति भी मिल गयी थी। ड्यमा के नेतृत्व में फ्रांसीसियों के द्वारा राजनीतिक प्रभुत्व कायम करने की दिशा में पहला प्रयास सफल रहा। तंजौर और मैसूर के राजा उसके नियंत्रण में आ गये। 1739 ई. में तांजौर के शासक को सहायता देने के बदले उसे कारीकल का क्षेत्र प्राप्त हुआ। कर्नाटक के नवाब दोस्तअली के पुत्र सफदरअली को मराठों के विरुद्ध

सहायता देने के फलस्वरूप फ्रांसीसियों को भूमि, आभूषण और धन्यवाद का एक पत्र मिला था। ड्यूमा के वाद डूप्ले फ्रांसीसी कम्पनी का गवर्नर नियुक्त हुआ। वह अत्यधिक महत्त्वाकांक्षी था। उसने फ्रांसीसी राज्य के विस्तार की नीति अपनाकर अंगरेजों के साथ संघर्ष अवश्यम्भावी वना दिया, क्योंकि दोनों भारतीय नरेशों के साथ मिलकर एक-दूसरे के विरुद्ध संघर्ष कर अपने उद्देश्य की पूर्त्ति करना चाहते थे।

प्रथम कर्नाटक युद्ध (1745-48 ई.) : कारण एवं परिणाम : भारत में अंगरेज-फ्रांसीसी संघर्ष का इतिहास चार भागों में बाँटा जाता है—1745 ई. से 1748 ई. तक, 1749-1754 ई. तक, 1758 ई. से 1763 ई. तथा 1778 ई. से 1815 ई. तक। पहले तीन भागों का सम्बन्ध मुख्यतया दक्षिण भारत से था। इन तीनों कालों में दक्षिण भारत से फ्रांसीसी शक्ति नष्ट हो गयी। अन्तिम चरण में भारतीय नरेशों की सहायता से फ्रांसीसियों ने अंगरेजों की शक्ति को नष्ट करने का असफल प्रयास किया।

1740 ई. में ऑस्ट्रिया के उत्तराधिकार का युद्ध यूरोप में प्रारम्भ हुआ। प्रारम्भ में इंगलैण्ड का प्रधानमंत्री वालपोल युद्ध में सम्मिलित नहीं हुआ। वालपोल शान्तिप्रिय नीति का पृष्ठपोषक था। परन्तु 1742 ई. में वालपोल के त्यागपत्र के वाद इंगलैण्ड ऑस्ट्रिया के उत्तराधिकार-युद्ध में सम्मिलित हो गया। यूरोप में इंगलैण्ड और फ्रांस एक-दूसरे के विपक्षी थे। अतः यूरोपीय युद्ध की स्वाभाविक प्रतिक्रिया भारतवर्ष में भी हुई। वोल्तेयर ने लिखा है, "हमारे देश में पहली तोप से निकली हुई आग ने सम्पूर्ण अमेरिका और एशिया की तोपों में आग लगा दी।" वस्तुतः यूरोपीय युद्ध के साथ भारत में भी अंगरेजों और फ्रांसीसियों के बीच युद्ध प्रारम्भ हो गया।

फ्रांसीसी कम्पनी का गवर्नर डूप्ले था। उसने मद्रास में अंगरेज गवर्नर को एक पत्र लिखकर युद्ध रोकने की राय दी थी। उत्तर में अंगरेज गवर्नर के द्वारा भी शान्ति कायम रखने का आश्वासन दिया गया था। दोनों कम्पनियों के अधिकारियों ने अपनी-अपनी सरकार से युद्ध न करने के पक्ष में निवेदन किया था। फ्रांसीसी सरकार ने डूप्ले की वात स्वीकार कर ली, परन्तु इंगलैण्ड की सरकार ने इस पर कोई ध्यान नहीं दिया और कमाण्डर वारनेट के नेतृत्व में एक जहाजी बेड़ा फ्रांसीसियों के विरुद्ध आक्रमण के लिए भेज दिया। 1745 ई. में दोनों कम्पनियों के बीच युद्ध की घोषणा कर दी गयी। अंगरेजी नौसेना पांडिचेरी पर आक्रमण के लिए तैयार थी। परन्तु डूप्ले कर्नाटक के नवाव अनवरुद्दीन के बीच-बचाव से पांडिचेरी की रक्षा करने में सफल रहा। परन्तु अंगरेज कमाण्डर वारनेट ने फ्रांसीसी जहाजों को डुबा दिया जिसमें डूप्ले का भी एक जहाज था। अंगरेज कमाण्डर के व्यवहार पर क्रुद्ध होकर डूप्ले ने मॉरीशस के गवर्नर और फ्रांसीसी नौसेना के सेनापति ला-वर्दिनो से सहायता की मांग की। अंगरेज कमाण्डर बारनेट पांडिचेरी तक पहुँच चुका था। संयोग से अधर में ही बारनेट

की मृत्यु हो गयी और उसके स्थान पर पेटन नया कमाण्डर नियुक्त हुआ। 1746 ई. में मद्रास पर आक्रमण कर उसे अपने अधीन कर लिया।

मद्रास-विजय के बाद ला-बर्दिनो और डूप्ले के बीच मतभेद हो गया। डूप्ले मद्रास पर अधिकार करने के बाद बंगाल पर आक्रमण कर अंगरेजों की शक्ति को सदा के लिए नष्ट कर देना चाहता था। परन्तु ला-बर्दिनो अंगरेजों से सौदेबाजी कर उन्हें मद्रास लौटा देने के पक्ष में था। वह अंगरेज अधिकारियों से बातचीत कर तीन लाख रुपया फ्रांसीसी कम्पनी के लिए तथा एक लाख रुपया अपने लिए लेकर अंगरेजों से समझौता कर लेना चाहता था। अग्रिम धनराशि के रूप में उसने अंगरेजों से 60,000 रुपया प्राप्त कर लिया था। अतः डूप्ले की इच्छा के विरुद्ध ला-बर्दिनो मद्रस अंगरेजों को सौंपकर मॉरिशस की तरफ रवाना हो गया। डूप्ले ने ला-बर्दिनों के समझौते को ठुकरा कर मद्रास पर आक्रमण कर दिया। अंगरेजों ने कर्नाटक के नवाब अनवरुद्दीन से सहायता की याचना की। नवाब अनवरुद्दीन ने फ्रांसीसियों को मद्रास छोड़ने का आदेश दिया। परन्तु डूप्ले राजनीति का एक मंजा हुआ खिलाड़ी था। उसने नवाब अनवरुद्दीन को यह कहकर भुलावे में रखा कि वह नवाब के लिए ही मद्रास-विजय कर रहा है। परन्तु डूप्ले की पोल शीघ्र ही खुल गयी। उसने मद्रास की लूट का सारा धन अपने पास रख लिया। असन्तुष्ट नवाब ने अपने पुत्र को फ्रांसीसियों के विरुद्ध मद्रास पर आक्रमण करने के लिए भेजा। डूप्ले और नवाब की सेना के बीच सेण्ट थोमी नामक स्थान पर भारी युद्ध हुआ। मुट्ठी भर फ्रांसीसी सेना ने डूप्ले के नेतृत्व में नवाब की सेना को पराजित कर दिया।

नवाब की सेना को पराजित करने से डूप्ले का हौसला बढ़ गया। वह भारत में फ्रांसीसी साम्राज्य कायम करने के स्वप्न देखने लगा। इस उद्देश्य से उसने मद्रास स्थित सेण्ट डेविड के अंगरेजी किले पर आक्रमण किया। सेण्ट डेविड का किला मद्रास से केवल 12 मील की दूरी पर था। परन्तु 18 महीने के अथक प्रयत्न के बावजूद सेण्ट डेविड पर डूप्ले अधिकार नहीं कर पाया। इस बीच 6 अगस्त, 1748 ई. को अंगरेजों का एक जहाजी बेड़ा पहुँच गया। अंगरेजों ने पांडिचेरी पर घेरा डाल दिया। परन्तु शीघ्र ही अंगरेजों को पांडिचेरी पर से अपना घेरा उठा लेना पड़ा। पांडिचेरी में अंगरेजों की असफलता से डूप्ले की प्रतिष्ठा बढ़ गयी।

1748 ई. में यूरोप में एक्सला-शैपल की सन्धि से ऑस्ट्रिया के उत्तराधिकार का युद्ध समाप्त हो गया। भारत में भी अंगरेजों और फ्रांसीसियों के बीच युद्ध बन्द हो गया। सन्धि के अनुसार मद्रास अंगरेजों को लौटा देना पड़ा और बदले में फ्रांस को अमेरिका में लूबर का क्षेत्र प्राप्त हुआ।

प्रथम कर्नाटक युद्ध का परिणाम : एक्सला-शैपल की सन्धि ने डूप्ले की आशा पर पानी फेर दिया। भारत में फ्रांसीसी साम्राज्य की स्थापना का स्वप्न पूरा

नहीं हो सका। अंगरेजों की शक्ति नष्ट नहीं हुई। विजय अथवा पराजय का निर्णय नहीं हो सका। बाह्य दृष्टि से कर्नाटक के प्रथम युद्ध का परिणाम भारतीय राजनीति की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं था। मुख्य रूप से यह युद्ध अंगरेज और फ्रांसीसी कम्पनियों के बीच हुआ था। युद्ध यूरोपीय राजनीतिक घटनाचक्र का परिणाम था। अंगरेज और फ्रांसीसी कम्पनियाँ पूर्ववत् कायम रहीं। दोनों के अधिकार और सीमाओं में कोई परिवर्त्तन नहीं हुआ। परन्तु कर्नाटक का प्रथम युद्ध आन्तरिक दृष्टि से भारतीय इतिहास की एक युगान्तकारी घटना माना जाता है। इस युद्ध ने भारतीय राजनीति के खोखलेपन को पूर्णतया स्पष्ट कर दिया। अंगरेज और फ्रांसीसी केवल सामुद्रिक शक्ति के विकास पर ही बल दे रहे थे। परन्तु भारतीय नरेशों की कमजोरी को देखते हुए उनमें राजनीतिक प्रभुत्व कायम करने का हौसला बढ़ गया।

कर्नाटक के नवाब अनवरुद्दीन ने युद्ध रोकने का प्रयास किया था। परन्तु नवाब की विशाल सेना फ्रांसीसियों से युद्ध में पराजित हुई। फ्रांसीसियों की विजय से यह स्पष्ट हो गया कि थोड़ी-सी प्रशिक्षित यूरोपीय सेना बड़ी-से-बड़ी भारतीय सेना को आसानी से मात दे सकती है। इस विजय से फ्रांसीसियों की केवल प्रतिष्ठा ही नहीं बढ़ी, बल्कि कूटनीति में भी फ्रांसीसियों से कर्नाटक का नवाब मात खा गया। भारतीय नरेशों का आपसी संघर्ष, उनकी सेनिक कमजोरी, नौसेना का अभाव, इन सब तत्त्वों ने मिलकर विदेशियों को भारत में साम्राज्य कायम करने की प्रेरणा दी।

प्रो. डॉडवेल के शब्दों में, "यद्यपि बाहर से देखने पर ऑस्ट्रिया के उत्तराधिकार के युद्ध का कोई परिणाम नहीं निकला और भारत की राजनीतिक समस्याएँ ज्यों-की-त्यों बनी रहीं, फिर भी यह भारतीय इतिहस की एक युगातकारी घटना है। इसने स्पष्ट कर दिया कि बुद्धिमानी के साथ प्रयोग किये जाने पर सामुद्रिक शक्ति का कितना अधिक प्रभाव पड़ सकता है और यूरोपीय सामरिक पद्धति भारतीय सेनाओं द्वारा अनुसरण की जानेवली युद्ध-पद्धति से कहीं अधिक श्रेष्ट है। तत्कालीन भारतीय राज्य-व्यवस्था जर्जर होकर किस हद तक राजनीतिक पतन की ओर अग्रसर हो गयी थी, यह भी प्रत्यक्षतः दिखाई पड़ने लगा। युद्ध के अन्त ने यह दिखला दिया कि किस तरह इसके परिणामस्वरूप यूरोपीय व्यापारियों में अब उस क्षेत्र में प्रवेश करने की प्रवृत्ति जागी जिसकी अब तक उनलोगों ने अपेक्षा की थी। संक्षेप में, इसने डूप्ले के प्रयोगों और क्लाइव की विजय के लिए रास्ता साफ कर दिया।"

मैलेसन का यह कथन कि डूप्ले और ला-बर्दिन के बीच मतभेद ने इंगलैण्ड को विनाश से बचाया, अतिशयोक्तिपूर्ण लगता है। वस्तुतः सेण्ट डेविड पर अधिकार हो जाने से भी अंगरेजों की शक्ति नष्ट नहीं होती । पुनः सन्धि के बाद फ्रांसीसियों को मद्रास लौटा ही देना पड़ता। कर्नाटक के प्रथम युद्ध से विदेशी कम्पनियों की जल एवं स्थल शक्ति का विस्तार हुआ भारतीय राजनीति में प्रवेश करने का उन्हें अवसर मिल गया।

द्वितीय कर्नाटक युद्ध (1748-1755 ई.) : कारण एवं परिणाम

युद्ध के कारण : प्रथम कर्नाटक-युद्ध के अवसर पर यह स्पष्ट हो गया था कि अंगरेज और फ्रांसीसी भारतीय राजनीति में हस्तक्षेप कर अपना स्वार्थ सिद्ध करने को तैयार थे। 1748 ई. में युद्ध समाप्त हो जाने के वाद दोनों कम्पनियों के अधिकारी भारतीय राजनीति में प्रवेश पाने का अवसर ढूँढ़ रहे थे। इन दिशा में पहल करने का काम अंगरेजों के द्वारा किया गया अंगरेजों ने तंजौर के शासक प्रताप सिंह के विरुद्ध अपदस्थ शासक शाहजी को सहायता देने का वचन दिया। शाहजी ने अंगरेजों को इन सहायता के बदले युद्ध का खर्च और देवकोटाई का नगर देने का वादा किया। शाहजी और अंगरेजी सेना ने तंजौर पर आक्रमण किया। पहला आक्रमण सफल नहीं रहा। किन्तु दूसरे आक्रमण में अंगरेजों ने देवकोटाई पर अधिकार कर लिया। वस्तुस्थिति को देखते हुए प्रताप सिंह ने अंगरेजों से सन्धि कर ली। सन्धि के अनुसार देवकोटाई तथा उसके पास के क्षेत्र का 36,000 रुपये की वार्षिक आयवाला भाग अंगरेजों को मिल गया। अंगरेजों ने शाहजी के पक्ष में कोई बात नहीं की। लाचार होकर शाहजी को 4,000 रुपये वार्षिक पेंशन स्वीकार कर मद्रास में रहने की बात स्वीकार कर लेनी पड़ी। अंगरेजों को अपना सैनिक खर्च पूरा करने का साधन मिल गया।

अंगरेजों की नीति का अनुकरण कर फ्रांसीसी भारतीय राजनीति में प्रवेश पाने के लिए सचेष्ट हो गये। संयोग से फ्रांसीसियों को भी शीघ्र अवसर मिल गया। 21 मई, 1748 ई. को हैदराबाद के निजाम आसफजाह निजामुल-मुल्क प्रथम की मृत्यु हो गयी। निजामुल-मुल्क के पुख नाजिरजंग और पौत्र मुजफ्फरजंग के बीच गद्दी के लिए गृहयुद्ध प्रारम्भ हो गया। निजामुल-मुल्क के शाही फरमान के आनुसार मुज्फ्फरजंग को दक्षिण के सूबेदार नियुक्त करने की बात नासिरजंग ने ठुकरा दी। अतः मुजफ्फरजंग सतारा जाकर मराठों से सहायता लेना चाहता था। सतारा में ही मुजफ्फरजंग की भेंद चाँद साहब से हुई जो उस समय मराठों की कैद में था। चाँद साहब भी कर्नाटक का नवाब बनने की इच्छा रखता था। अतः मुजफरजंग और चाँद साहब दोनों शरणार्थियों के बीच स्वाभाविक रूप से समझौता हो गया और उन दोनों ने फ्रांसीसियों से सहायता पाने की माँग की। डूप्ले ऐसा सुनहरा अवसर छोड़ना नहीं चाहता था। अतः हैदराबाद और कर्नाटक में अपना प्रभाव बढ़ाने के उद्देश्य से डूप्ले ने सहायता की बात स्वीकार कर ली।

मराठे स्वयं कर्नाटक में युद्ध करना चाहते थे अथवा डूप्ले द्वारा धन पाकर मराठों ने चाँद साहब को मुक्त कर दिया। मुक्त होकर चाँद साहब, मुजफ्फरजंग और फ्रांसीसियों ने सम्मिलित रूप से जुलाई, 1749 ई. में कर्नाटक पर आक्रमण कर दिया। अम्बर के युद्ध में नवाब अनवरुद्दीन मारा गया। उनवरुद्दीन के पुत्र

मुहम्मद अली ने भागकर त्रिचनापल्ली में शरण ली। चाँद साहब ने कर्नाटक की अधिकांश भाग पर अधिकार कर लिया। सहायता के बदले डूप्ले को पांडिचेरी के पास 80 गाँव जागीर के रूप में प्राप्त हुए।

नासिरजंग ने मुहम्मद अली को कर्नाटक का नवाब घोषित किया। नासिरजंग और मुहम्मद अली ने अंगरेजों से सहायता की याचना की। फलतः नासिरजंग, मुहम्मद अली और अंगरेज एक पक्ष में आ गये और दूसरे पक्ष में मुजफ्फरजंग, चाँद साहब और फ्रांसीसी रह गये। भारतीय राजनीतिज्ञ रह गये। भारतीय राजनीति में भाग लेने के फलस्वरूप अंगरेज और फ्रांसीसी दोनों एक-दूसरे के विराधी हो गये।

चाँद साहब तंजौर पर आक्रमण कर अपनी शक्ति का अपव्यय कर रहा था। डूप्ले तंजौर के बदले त्रिचनापल्ली पर आक्रमण करना चाहता था। इसी बीच नासिरजंग ने अंगरेजी सहायता के वल पर कर्नाटक पर आक्रमण कर दिया। स्वाभाविक रूप से तंजौर के बदले चाँद साहब को पांडिचेरी चला आना पड़ा। जिंजी नदी के तट पर दोनों पक्ष के बीच युद्ध हुआ जिसमें चाँद साहब और फ्रांसीसियों की पराजय हुई और मुजफ्फरजंग को आत्मसमर्पण करना पड़ा। यह संघर्ष नासिरजंग और मुजफ्फरजंग के साथ-साथ अंगरेजों और फ्रांसीसियों के बीच अधिक महत्त्वपूर्ण हो गया।

डूप्ले नासिरजंग के साथ सन्धि करना चाहता था। परन्तु उसने मुजफ्फरजंग को छोड़ने तथा चाँद साहब को कर्नाटक का नवाब बनाने की शर्त्त रख दी थी। सन्धि-वार्त्ता के बीच ही फ्रांसीसी सेना ने मछलीपट्टम और जिंजी जैसे सुदृढ़ स्थानों पर आक्रमण किया और दिसम्बर, 1750 ई. में नासिरजंग की हत्या कर दी गयी। डूप्ले ने मुजफ्फरजंग को हैदराबाद का निजाम घोषित कर दिया और चाँद साहब को कर्नाटक का नवाब स्वीकार कर लिया गया। डूप्ले को कृष्णा नदी के दक्षिण की भूमि का सूबेदार, कर्नाटक में सिक्का चलाने का अधिकार तथा बहुत धन भी मिला। डूप्ले ने फ्रांसीसियों की स्थिति दक्षिण भारत में सुरक्षित कर ली थी। हैदराबाद का निजाम फ्रांसीसियों का मित्र था। कर्नाटक के नवाब जागीर और धन भी प्राप्त हुआ था। अतः डूप्ले स्थिति को सुदृढ़ कर मुहम्मद अली के साथ समझौता कर अपने अधिकार को सुरक्षित करना चाहता था।

मुहम्मद अली त्रिचनापल्ली में था। उसे अंगरेजों का संरक्षण प्राप्त था। दक्षिण भारत में फ्रांसीसियों के साथ समझौता करने के पक्ष में नहीं थे। तंजौर और मैसूर के शासकों को अपने पक्ष में लाकर मुहम्मद अली अंगरेजी सेना की सहायता से त्रिचनापल्ली में युद्ध करता रहा। यदि त्रिचनापल्ली पर फ्रांसीसियों का अधिकार हो जाता तो अंगरेजी व्यापार विनाश के कगार पर पहुँच जाता। अतः त्रिचनापल्ली से ध्यान हटाने के लिए अंगरेजों ने एक नयी चाल चलने का प्रयत्न किया।

रावर्ट क्लाइव ने कर्नाटक की राजधानी अर्काट पर घेरा डालने का सुझाव दिया। क्लाइव के सुझाव का समर्थन मुहम्मद अली ने भी किया। अतः अंगरेज गवर्नर साण्डर्स की सहमति से क्लाइव ने अर्काट पर केवल 500 सैनिकों के साथ आक्रमण किया और उस पर अधिकार कर लिया। अर्काट की रक्षा के लिए चाँद साहव को अपने पुत्र राजा साहब के नेतृत्व में आधी सेना भेज देनी पड़ी। स्वाभाविक रूप से त्रिचनापल्ली पर दबाव घट गया। क्लाइव मराठों की सहायता के बल पर 53 दिनों तक अर्काट के किले की रक्षा करता रहा। क्लाइव की सफलता ने अंगरेजों के भाग्य को वदल डाला। 1751 ई. में मुजफ्फरजंग की मृत्यु हो गयी। अतः चाँद साहब को त्रिचनापल्ली का घेरा उठा लेना पड़ा। चाँद साहब और फ्रांसीसियों को अरनी और कावेरीपाक के युद्ध में अंगरेजों ने पराजित किया। 1752 ई. में लॉरेन्स के द्वारा भी चाँद साहव को हरा दिया गया। चाँद साहव ने भागकर तंजौर के राजा के यहाँ शरण ली जहाँ उनकी हत्या कर दी गयी। चाँद साहब की हत्या और मुजफ्फरजंग की मृत्यु ने अंगरेजों के पक्ष में पासा पलट दिया। मुहम्मद अली कर्नाटक का नवाब बन गया और फ्रांसीसी पक्ष स्वाभाविक रूप से कमजोर पड़ गया।

चाँद साहव की हत्या के बाद भी डूप्ले निराश नहीं हुआ। वह अंगरेजों के साथ युद्ध चालू रखकर भारत में फ्रांसीसी साम्राज्य की स्थापना करने के लिए प्रयत्नशील था। अतः 1752-53 ई. तक दोनों शक्तियों के बीच युद्ध चलता रहा। डूप्ले ने फ्रांस की सरकार को इसकी कोई सूचना नहीं दी थी। परन्तु अंगरेजी कम्पनी के संचालकों ने फ्रांस की सरकार को डूप्ले को वापस बुलाने का निश्चय किया। फ्रांस की सरकार भारत की अपेक्षा उत्तरी अमेरिका (कनाडा) में उपनिवेश स्थापित करने के पक्ष में थी। अतः डूप्ले के बदले गोदेहू को भारत भेजा गया।

अंगरेजों और फ्रांसीसियों के बीच समझौते के मार्ग में डूप्ले बाधक था। परन्तु 1754 ई. में डूप्ले के फ्रांस लौट जाने के बाद अंगरेजों और फ्रांसीसियों के बीच दिसम्वर, 1754 ई. में एक समझौता हो गया। समझौते की शर्तें निम्नलिखित थीं :

1. मुगल सम्राट या भारतीय नरेशों द्वारा दी गयी उपाधियों का परित्याग कर अंगरेज और फ्रांसीसी भारतीय राजनीति में हस्तक्षेप न करने पर सहमत हो गये।

2. सेण्ट डेविड, सेण्ट जॉर्ज और देवकोटाई पर अंगरेजों का अधिकार स्वीकार कर लिया गया।

3. मछलीपट्टम से फ्रांसीसियों के हट जाना पड़ा।

4. कुछ नदियों में जहाजरानी और कुछ सीमा सम्बन्धी अन्य समझौते भी हुए।

5. सन्धि की शर्त्तों को गृह-सरकारों द्वारा स्वीकृति प्रदान करने की अवधि के बीच दोनों कम्पनियों ने युद्ध बन्द रखने तथा नयी किलेबन्दी न करने की बात स्वीकार कर ली।

6. युद्ध की क्षतिपूर्ति के सम्बन्ध में भी समझौता हुआ।

7. दोनों कम्पनियों के पास दक्षिण भारत में सहमति हो गयी।

1754 ई. की सन्धि डूप्ले के अनुसार फ्रांसीसियों के लिए विनाशकारी और अपमानजनक थी। मैलसन ने भी इसे अपमानजनक सन्धि की संज्ञा दी है। फ्रांसीसी इतिहासकार कल्त्रू भी इस विचार से सहमत था। मिल के अनुसार, "अंगरेजों ने इस सन्धि के द्वारा वह सब कुछ प्राप्त कर लिया जिसके लिए वे युद्ध कर रहे थे और फ्रांसीसियों ने वह सब कुछ छोड़ दिया जो वे अब तक प्राप्त कर चुके थे।" वस्तुतः ऐसी आलोचना उपयुक्त नहीं मानी जाती है। अर्काट के युद्ध के बाद कर्नाटक में फ्रांसीसियों की स्थिति अत्यन्त दुर्बल हो गयी थी। सरकार युद्ध करने के पक्ष में नहीं थी। इसका मुख्य कारण फ्रांसीसी कम्पनी का धनाभाव था। युद्ध चलाना फ्रांसीसी कम्पनी के लिए असम्भव था। अतः ऐसी अवस्था में युद्ध के बदले समझौते की नीति अपनाकर फ्रांसीसियों ने स्वयं को विनाश से बचा लिया था।

द्वितीय कर्नाटक युद्ध की समाप्ति के समय कर्नाटक में अंगरेजों का प्रभाव बढ़ गया था, क्योंकि मुहम्मद अली उनका पक्षधर था। परन्तु हैदराबाद में मुजफ्फरजंग की मृत्यु के बाद सलाबतजंग को निजाम बनाकर बुसी फ्रांसीसियों के प्रभाव को पूर्वतवत् कायम रखने में सफल रहा था। बुसी फ्रांसीसी अधिकारियों में सर्वाधिक योग्य एवं कुशल था। वह अनेक कठिनाइयों के बीच हैदराबाद के निजाम को अपने पक्ष में रखने में सफल रहा था । सलाबतजंग फ्रांसीसियों की सहायता के बल पर अपनी शक्ति स्थापित कर सका था। हैदराबाद की आन्तरिक समस्याओं में उलझे रहने के कारण ही बुसी त्रिचनापल्ली की लड़ाई में समय पर डूप्ले को सहायता नहीं दे पाया था। हैदराबाद पर मराठों का आक्रमण हुआ। परन्तु बुसी के सहयोग के वल पर मराठों को पारजित कर उन्हें जनवरी, 1752 ई. में सन्धि करनी पड़ी। पेशवा बालाजी बाजीराव बुसी के भय से ही सन्धि करने पर विवश हुए थे। दूसरा संकट आसिफजाह के पुत्र गाजीउद्दीन के हैदरबाद पर दावा करने के कारण उत्पन्न हुआ। गाजीउद्दीन दिल्ली में एक उच्च पद पर आसीन था। परन्तु नासिरजंग की मृत्यु के बाद वह हैदराबाद का निजाम बनना चाहता था। गाजीउद्दीन के साथ सम्भाविक युद्ध में बुसी व्यस्त हो गया। संयोग से गाजीउद्दीन की मृत्यु से संकट टल गया। परन्तु शीघ्र ही बुसी को निजाम के प्रभावशाली अधिकारियों के विरोध का सामना करना पड़ा। दीवान रामदास पंडित और दीवान सैयद लशकर खाँ बुसी और फ्रांसीसियों के प्रभाव को नष्ट करना चाहते थे। सम्भवतः ये अधिकारी अंगरेजों से मिले हुए थे। आन्तरिक विरोध के कारण हैदराबाद की राजनीतिक और आर्थिक स्थिति संकटपूर्ण हो गयी थी। बुसी के प्रयत्न से लशकर खाँ के स्थान पर शाहनवाज खाँ को दीवान के पद पर नियुक्त किया गया और अन्य पदों पर भी फ्रांसीसी समर्थित अधिकारियों

की नियुक्ति की गयी। वस्तुतः हैदराबाद का निजाम सलावतजंग जितना बुसी पर निर्भर करता था, उतना ही फ्रांसीसी गवर्नर गोदेहू भी उस पर करता था। बुसी दृढ़ निश्चयवाला व्यक्ति था। वह शक्ति में विश्वास रखते हुए भी उसका प्रयोग अन्त में ही करना चाहता था। बुसी व्यवहारकुशल और मृदुभाषी था। वह भारतीय राजाओं के चरित्र का अच्छा जानकार था। राजाओं के प्रति अवज्ञा के बदले आदर का भाव प्रदर्शित कर वह उनका विश्वास प्राप्त कर लेता था। बुसी युद्ध के पहले वार्तालाप, कठोरता के पहले सहनशीलता और मृत्यु के पहले जीवन में विश्वास रखता था। यही कारण है कि बुसी को डूप्ले भी अधिक पसन्द करता था। जब तक बुसी हैदराबाद में रहा अंगरेजों के प्रयत्न के बावजूद फ्रांसीसियों का प्रभाव घट नहीं सका।

द्वितीय कर्नाटक युद्ध का परिणाम : प्रथम कर्नाटक युद्ध की तुलना में द्वितीय कर्नाटक युद्ध के समय में भारतीय राज्यों की दयनीय स्थिति और भी अधिक स्पष्ट हो गयी। भारतीय राज्यों की आन्तरिक कमजोरी और परस्पर विरोध का लाभ उठाकर ही डूप्ले ने भारत में फ्रांसीसी साम्राज्य की कल्पना की थी और इस होड़ में अंगरेजों के प्रवेश ने भारत में अंगरेजी राज्य की स्थापना की आधारशिला रख दी। वस्तुतः कर्नाटक युद्ध के फलस्वरूप ही विदेशी 'अधीनस्थ प्रजा' की स्थिति से उठकर 'नरेशों की समता' की स्थिति में पहुँच गये थे। नासिरजंग के विरुद्ध डूप्ले की विजय ने भविष्य में अंगरेजों के लिए पलासी के मैदान में अंगरेजों की अन्तिम विजय का रास्ता साफ कर दिया। संख्या में अधिक रहने पर भी पराजित होना, भारतीय सरदारों का राजाओं के प्रति विश्वासघात तथा सहायता के बदले अपार सम्पत्ति संग्रह करने का तौर-तरीका फ्रांसीसियों और अंगरेजों ने सीख लिया था। डूप्ले नाममात्र का नवाब रखकर फ्रांसीसी प्रभाव को शक्तिशाली बनाये रखना चाहता था। उसका अनुकरण कर क्लाइव ने भी प्लासी के बाद बंगाल में नाममात्र का नवाब मनोनीत कर अंगरेजी साम्राज्य का विस्तार करने में सफलता प्राप्त कर ली। बुसी पर सलाबतजंग जैसे निर्भर करता था, ठीक वैसी ही मीरजाफर भी क्लाइव पर पूर्णतया निर्भर करता था। द्वितीय कर्नाटक युद्ध के बीच डूप्ले को वापस बुला लेने से फ्रांसीसियों ने भारत में जो लाभदायक स्थिति प्राप्त कर ली थी, उससे उन्हें वंचित रह जाना पड़ा और दूसरी ओर अंगरेजों के मन की मुराद पूरी हो गयी। सम्भवतः फ्रांसीसी सरकार यह अन्दाज नहीं लगा पायी कि सप्तवर्षीय युद्ध उसकी आशाओं पर तुषारापात कर देगा। श्री सुन्दर लाल के शब्दों में, "त्रिचनापल्ली वह चटटन मानी जाती है जिससे टकराकर इस देश के अन्दर डूप्ले और फ्रांसीसियों की समस्त आकांक्षाएँ चूर-चूर हो गयी।" इस युद्ध ने यह स्पष्ट कर दिया कि व्यापारिक कम्पनियाँ भारतीय राजनीति में हस्तक्षेप कर भविष्य में साम्राज्य की स्थापना करना चाहती है। प्रश्न यह था कि भारत में प्रभुता किसकी कायम होगी—फ्रांसीसियों की अथवा अंगरेजों की? पलासी के युद्ध

ने अंगरेजों के पक्ष में निर्णय दिया और भारत में भावी अंगरेजी साम्राज्य की नींव डाली गयी।

कर्नाटक का तीसरा युद्ध (1756-1763 ई.) : कारण एवं परिणाम

युद्ध के कारण : तृतीय कर्नाटक युद्ध के प्रारम्भ होने का एकमात्र कारण यूरोप में सप्तवर्षीय युद्ध था। यह युद्ध 1756 ई. में आस्ट्रिया और प्रशा के बीच प्रारम्भ हुआ। फ्रांस आस्ट्रिया के पक्ष में था और इंगलैण्ड प्रशा की तरफ से युद्ध में भाग ले रहा था। यूरोपीय युद्ध के फलस्वरूप भारत में अंगरेजों और फ्रांसीसियों के बीच झगड़ा आरम्भ हो गया। 1756 ई. में कोई महत्त्वपूर्ण घटना नहीं घटी। फ्रांस त्रिचनापल्ली पर आक्रमण की योजना बना रहा था। 1757 ई. में फ्रांसीसी और अंगरेज दोनों ने भारत के एक-दूसरे ठिकाने पर आक्रमण प्रारम्भ किया। सबसे पहले फ्रांसीसियों का आक्रमण पूर्व नियोजित योजना के आधार पर त्रिचनापल्ली पर हुआ किन्तु उसमें उन्हें सफलता नहीं मिली। दक्षिण भारत में अर्काट, बेलोर, कांजीपुरम्, मद्रास और सेण्ट डेविड का किला छोड़कर कर्नाटक के अधिकांश भाग पर फ्रांसीसियों का अधिकार हो गया। दक्षिण भारत की अपेक्षा अंगरेजों को उत्तर भारत में अधिक सफलता मिली तथा चन्दरनगर, बालासोर, कासिम बाजार और पटना से फ्रांसीसियों को निकाल दिया गया।

1758 ई. में फ्रांस की सरकार ने काउण्ट डी-लैली को गवर्नर तथा मुख्य सेनापति के रूप में भारत भेजा। फ्रांस की सरकार भारत तथा अमेरिका में अपने साम्राज्य को सुरक्षित रखना चाहती थी। काउण्ट डी-लैली को दो मुख्य काम सौंपे गये थे सर्वप्रथम भारत से अंगरेजों को बाहर निकालना तथा भारतीय साम्राज्य के शासन में सुधार लाना। लैली को व्यापक अधिकार देकर भारत भेजा गया था। फ्रांसीसी नौसेनापति काउण्ट डी-एचे लैली के अधीन नहीं था और दोनों में पटरी भी नहीं बैठती थी।

लैली योग्य एवं साहसी था। परन्तु बुसी की तरह वह व्यावहारिक और मृदुभाषी नहीं था। क्रोधी और आदर्शवादी होने के कारण वह फ्रांसीसी अधिकारियों को सन्तुष्ट नहीं रख पाया। फ्रांस की सरकार यूरोप और अमेरिका के युद्धों में व्यस्त रहने के कारण लैली को समय पर सैनिक और आर्थिक सहायता नहीं दे पायी। परन्तु लैली ने साहस से काम लेकर सेण्ट डेविड पर अधिकार कर लिया। वह मद्रास पर आक्रमण करना चाहता था। परन्तु पांडिचेरी के गवर्नर ने धन का अभाव बतलाकर तथा काउण्ट डी-एच ने समुद्र के रास्ते से मद्रास पर आक्रमण की नीति को अस्वीकार कर लैली की योजना पर पानी फेर दिया। ऐसी अवस्था में धन के अभाव को पूरा करने के उद्देश्य से लैली ने तंजौर पर आक्रमण कर दिया। परन्तु अंगरेजों के विरोध के कारण तंजौर पर आक्रमण विफल रहा। इस बीच फ्रांसीसी नौसेनापति काउण्ट

डी-एचे को अंगरेज नौसेनापति पोकांक ने पराजित कर उसे पांडिचेरी में शरण पाने के लिए विवश कर दिया। काउण्ट डी-एंचे लैली की इच्छा के विरुद्ध मॉरिशस की तरफ चला गया।

दक्षिण भारत में फ्रांसीसियों की स्थिति कमजोर हो गयी थी। परन्तु लैली फ्रांसीसियों की शक्ति को संगठित कर मद्रास पर आक्रमण करना चाहता था। उसने हैदरावाद से वुसी को वुला लिया। दिसम्वर, 1758 ई. में मद्रास पर आक्रमण किया। अंगरेजों को मदद करने के लिए क्लाइव ने वंगाल से एक सेना भेज दी जिसने मछलीपट्टम पर अधिकार कर लिया। हैदरावाद से वुसी को हटाना लैली की भयंकर भूल थी। निजाम सलावतजंग ने अंगरेजों की विजय से भयभीत होकर उनसे शीघ्र ही सन्धि कर ली। सन्धि के अनुसार उसने मछलीपट्टम और 80 मील लम्बी तथा 20 मील चौड़ी भूमि अंगरेजों को दे दी। इस प्रकार वुसी के हटते ही हैदराबाद से फ्रांसीसियों का प्रभाव समाप्त हो गया। दूसरी ओर बुसी और लैली एक साथ काम नहीं कर सके। दोनों के विचार और स्वभाव में जमीन-आसमान का अन्तर था। लैली शक्ति और युद्ध के आधार पर अंगरेजों को भारत से निकालना चाहता था। लैली की तुलना में वुसी राजनीति, कूटनीति, सन्धियों और वार्तालाप से प्रश्नों का समाधान करना चाहता था। लैली को मद्रास से 1759 ई. में घेरा उठा लेना पड़ा। धनाभाव, रसद की कमी और सैनिक सहायता के अभाव के बावजूद लैली साहस के साथ छिटपुट रूप में अंगरेजों के साथ युद्ध करता रहा। फ्रांसीसी नौसेनापति काउण्ट डी-एचे पुनः अंगरेजों से पराजित होकर वापस चला गया। दसरी ओर अंगरेजों को वंगाल से सदैव सेना और धन की पूर्ति कर दी जाती थी। अंगरेजों और फ्रांसीसियों के वीच निर्णाय युद्ध 22 जनवरी, 1760 ई. को वाण्डीवाश में हुआ। वाण्डीवाश के युद्ध में फ्रांसीसियों की पराजय ने उनकी सारी आशाओं को चकनाचूर कर दिया। डॉडवेल ने लिखा है, "वाण्डीवाश के युद्ध ने पिछले नौ वर्षों के प्रयास को समाप्त कर दिया और डूप्ले तथा बुसी के कार्य को केवल एक पक्ष के लिए यादगार तथा दूसरे पक्ष के लिए आशाएँ बनाकर छोड़ दिया।" मेलसन का यह कथन है कि "इसने उस शक्तिशाली भवन को भूमिसात् कर दिया जिसका निर्माण मार्टिन, ड्यूमा और डूप्ले के सहयोग से हुआ था। इसने लैली की सभी आशाओं को समप्त कर दिया। इससे पांडिचेरी का भाग्य भी सीलवंद हो गया।"

वाण्डीवाश की विजय से अंगरेजों का उत्साह बढ़ा और 1760 ई. में उनका आक्रमण पांडिचेरी पर हुआ। लैली ने मैसूर के शासक हैदरअली से सहायता ली, परन्तु पांडिचेरी की रक्षा करने में वह सफल नहीं हुआ। पांडिचेरी फ्रांसीसियों की शक्ति का केन्द्र था। अंगरेजों ने पांडिचेरी के समृद्ध और सुन्दर नगर को पूर्णतया नष्ट कर डाला। पांडिचेरी के पतन के बाद कारनीकल, माही और अन्य फ्रांसीसी

स्थानों पर भी अंगरेजों का अधिकार हो गया। पांडिचेरी के पतन के बाद लैली बन्दी बनाकर इंगलैण्ड भेजा गया। इंगलैण्ड से मुक्त होने के बाद फ्रांस में उस पर मुकदमा चलाया गया और अन्त में उसे मृत्युदण्ड दिया गया।

सप्तवर्षीय युद्ध 1763 ई. में पेरिस की सन्धि के साथ समाप्त हुआ। पेरिस की सन्धि के अनुसार भारतीय युद्ध को समाप्त करने की घोषणा की गयी। फ्रांसीसियों को चन्दरनगर छोड़कर शेष सभी स्थान लौटा दिये गये, परन्तु तृतीय कर्नाटक युद्ध ने फ्रांसीसी शक्ति के विकास की जड़ काट दी। फ्रांसीसियों के द्वारा न तो किलेबन्दी की जा सकती थी और न वे साम्राज्य-विस्तार करने का ही कोई उपाय ढूंढ़ सकते थे। अधिक-से-अधिक वे भारतीय नरेशों के यहाँ सैनिक प्रशिक्षक का काम कर उन्हें अंगरेजों के विरुद्ध उकसाने का काम कर सकते थे। वस्तुतः तृतीय कर्नाटक-युद्ध के साथ ही भारत से फ्रांसीसियों की शक्ति समाप्त हो गयी और अंगरेजों के लिए भविष्य में विकास का रास्ता साफ हो गया।

तृतीय कर्नाटक-युद्ध का परिणाम : यूरोप में सप्तवर्षीय युद्ध के परिणामस्वरूप भारत में तृतीय कर्नाटक युद्ध हुआ। भारतीय इतिहास में कर्नाटक-युद्ध के परिणाम से एक नया मोड़ आया। इस युद्ध ने फ्रांसीसियों के भाग्य का फैसला कर दिया। फ्रांसीसी कम्पनी की सैनिक कमजोरी एवं धनाभाव पूर्णतया स्पष्ट हो गये। अंगरेजों की तुलना में फ्रांसीसियों की सैनिक शक्ति बहुत कमजोर थी। फ्रांसीसी अधिकारी लैली और बूसी अथवा डी-एचे एक-दूसरे की नीति को पसन्द नहीं करते थे। मत-मतान्तर के कारण उन लोगों ने समय पर एक-दूसरे की सहायता नहीं की। लैली की अदूरदर्शिता के कारण ही हैदराबाद के निजाम सलावतजंग ने अंगरेजों के पक्ष में जाकर सन्धि कर ली और मछलीपट्टम के साथ-साथ अन्य भू-भाग प्राप्त कर लिया। हैदराबाद के निजाम की मित्रता समाप्त हो जाने से दक्षिण भारत में फ्रांसीसियों की स्थिति दयनीय हो गयी। पांडिचेरी का पतन तो फ्रांसीसियों के लिए कब्रगाह ही साबित हुआ। तृतीय कर्नाटक युद्ध से यह स्पष्ट हो गया कि नौसेना के बल पर भारत में नये साम्राज्य की स्थापना की जा सकती है। अंगरेजों की नौसेना फ्रांसीसियों की तुलना में अधिक शक्तिशाली थी। अंगरेजों को बंगाल से सैनिक सहायता और धन की प्राप्ति हो रही थी। अंगरेजी सरकार ईस्ट इण्डिया कम्पनी को सहायता दे रही थी। परन्तु फ्रांसीसी सरकार यूरोप और अमेरिका में युद्ध के कारण फ्रांसीसियों की सहायता भारत में नहीं कर पायी। बंगाल का रास्ता अवरुद्ध हो जाने से फ्रांसीसियों को रसद का भी अभाव हो गया था। फ्रांसीसियों की पराजय से भारत में फ्रांसीसी साम्राज्य की स्थापना का प्रश्न सदा के लिए समाप्त हो गया और कुछ इने-गिने क्षेत्रों से ही उनको सन्तोष कर लेना पड़ा। वस्तुतः तृतीय कर्नाटक युद्ध के बाद फ्रांसीसियों की शक्ति को नष्ट कर अंगरेजों ने नवीन साम्राज्य की स्थापना के

लिए अपना रास्ता साफ कर लिया था। इस दृष्टि से तृतीय कर्नाटक युद्ध भारतीय इतिहास का निर्णायक युद्ध माना जाता है।

फ्रांसीसियों की असफलता एवं अंगरेजों की सफलता के कारण

साम्राज्य की स्थापना परिस्थिति विशेष में की जाती है। अनुकूल अवसर का लाभ उठाकर कोई राष्ट्र नये भू-क्षेत्र में साम्राज्य की स्थापना करता है। भारत का इतिहास इसका अपवाद नहीं है। फ्रांसीसी और अंगरेज दोनों साम्राज्य की सथापना की दिशा में सक्रिय थे। भारत में फ्रांसीसी साम्राज्य की स्थापना का श्रेय डूप्ले को दिया जाता है। डूप्ले की महान योजनाएँ, बुसी की कूटनीति और लैली का साहस अन्ततः असफल रहा और फ्रांसीसी साम्राज्य की स्थापना का स्वप्न पूरा नहीं हो सका। फ्रांसीसियों की असफलता एवं अंगरेजों की सफलता के कारणों की विवेचना कई दृष्टि से की जा सकती है :

1. अंगरेजी कम्पनी की सुदृढ़ स्थिति : ईस्ट इण्डिया कम्पनी एक गैर-सरकारी कम्पनी थी। व्यक्तिगत कम्पनी होने के कारण ईस्ट इण्डिया कम्पनी का संचालकमण्डल तथा उसके अधिकारी अधिक उद्यमी और साहसी थे। इंगलैण्ड की सरकार अंगरेजी कम्पनी के कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करती थी। कम्पनी के अधिकारियों का भविष्य लाभ-हानि से सम्वन्धित था। अधिका लाभ प्राप्त करने के लिए वे अधिक परिश्रम करते थे जिससे थोड़े ही दिनों में अंगरेजी कम्पनी की स्थिति सुदृढ़ हो गयी। परन्तु फ्रांसीसी कम्पनी सरकारी थी। फ्रांसीसी कम्पनी में राज्य और मंत्रियों की पूँजी लगी हुई थी। अतः फ्रांसीसी कम्पनी का संगठन और संचालन राजकीय आदेश के अनुसार होता था। 18वीं सदी में फ्रांस की सरकार स्वयं कमजोर थी। राजनीतिक उथल-पुथल के कारण फ्रांस की सरकार भारत में फ्रांसीसी कम्पनी का संरक्षण नहीं कर पायी। फ्रांस की सरकार कम्पनी का प्रबन्ध अपनी औपनिवेशिक नीति का एक अंग समझकर कर रही थी। भारत की तुलना में वह अमेरिका पर अधिक ध्यान देती थी। अतः ऐसी अवस्था में सरकार की उपेक्षा, धनाभाव, अधिकारियों के परिवर्त्तन आदि के कारण फ्रांसीसी कम्पनी की हालत दयनीय हो गयी। दूसरी ओर, अंगरेजी कम्पनी उत्तरोत्तर विकास कर अपनी स्थिति सुदृढ़ करती गयी। अतः अंगरेजों के साथ साम्राज्य-निर्माण करने की दिशा में फ्रांसीसी बहुत पीछे पड़ गये।

2. भौगोलिक सुविधा : अंगरेजों की तुलना में फ्रांसीसियों के पास भारत में सुविधाजनक स्थानों का अभाव था। फ्रांसीसियों की शक्ति का केन्द्र 'पांडिचेरी' था। पांडिचेरी का वन्दरगाह बहुत छोटा था। वहाँ माल लाने और भेजने की उतनी सुविधा नहीं थी। पांडिचेरी की तुलना में अंगरेजों ने मद्रास में अपना व्यापारिक केन्द्र खोल रखा था जिसका सामुद्रिक महत्त्व कई गुना अधिक था। पुनः पश्चिमी तट पर बम्बई की तरह फ्रांसीसियों के पास कोई महत्त्वपूर्ण नगर नहीं था। वंगाल में कलकत्ता का

जो महत्त्व था वह चन्दरनगर को प्राप्त नहीं था। समुद्र के किनारे वाले शहरों पर नियंत्रण भारत से दूर रहने के कारण अंगरेजों की स्थिति अधिक सुविधाजनक थी। फ्रांसीसियों को कठिनाई हो जाती थी। अतः भौगोलिक सुविधा का लाभ उठाकर अंगरेजों ने अपनी नाविक शक्ति को शक्तिशाली बनाकर फ्रांसीसियों को पराजित करने में सफलता प्राप्त कर ली।

3. आर्थिक स्थिति में अन्तर : ईस्ट इण्डिया कम्पनी की आर्थिक स्थिति अच्छी थी। अंगरेजी जहाजों के द्वारा अधिक बड़े पैमाने पर वस्तुओं का आयात-निर्यात होता रहता था। व्यापारिक विकास के साथ कम्पनी की आर्थिक स्थिति में उत्तरोत्तर विकास होता गया। बंगाल पर अधिकार हो जाने के बाद अंगरेजी कम्पनी की आर्थिक स्थिति बहुत दृढ़ हो गयी थी और वह इंगलैण्ड की सरकार को भी धन देने की स्थिति में आ गयी थी। परन्तु फ्रांसीसी कम्पनी की आर्थिक स्थिति कभी अच्छी नहीं रही। उसे व्यापार में लाभ कम ही होता था और सरकारी सहायता के बल पर ही वह अपना उद्देश्य पूरा करना चाहती थी। अतः संगठन, भैगोलिक सुविधा एवं आर्थिक दृष्टि से फ्रांसीसी अंगरेजों से प्रतिस्पर्धा करने की स्थिति में नहीं थे। प्रारम्भ में योग्य नेतृत्व और परिस्थितिविशेष के कारण उन्हें आंशिक सफलता मिली। परन्तु बाद के वर्षों में बंगाल-विजय के बाद वे अंगरेजों की बराबरी में नहीं आ पाये और उनकी शक्ति धीरे-धीरे नष्ट हो गयी।

4. फ्रांसीसी सरकार की उपेक्षापूर्ण नीति : फ्रांस की सरकार ने भारत के प्रति सर्वदा उपेक्षा की नीति ही अपनायी थी। फ्रांस यूरोप में अपनी धाक जमाने के लिए विशेषतः प्रयत्नशील था। वह भारत की अपेक्षा कनाडा में औपनिवेशिक विस्तार की नीति को प्रश्रय देता था। फलतः भारत की ओर फ्रांसीसी सरकार विशेष ध्यान ही नहीं दे पायी। यूरोप और अमेरिका में एक साथ युद्ध करने के फलस्वरूप फ्रांस सरकार की स्थिति अच्छी नहीं थी। यूरोप में फ्रांस के अनेक शत्रु थे। अतः आन्तरिक सुरक्षा में उलझे रहने के कारण फ्रांस की सरकार समय पर भारतीय फ्रांसीसी कम्पनी को ना तो सैनिक सहायता दे सकी और न आर्थिक मदद। फलतः फ्रांस केवल भारत में ही नहीं बल्कि अन्य स्थानों में भी औपनिवेशिक होड़ में अंगरेजों से पीछे रह गया।

5. अंगरेजों की नाविक शक्ति में श्रेष्ठता : 1743 ई. से 1763 ई. के बीच यूरोपीय कम्पनी के शक्ति-विस्तार का मुख्य आधार नाविक शक्ति था। अंगरेजों ने अपनी नाविक शक्ति को आस्ट्रिया के युद्ध के बाद सुदृढ़ कर लिया था। फ्रांसीसी नाविक शक्ति की तुलना में अंगरेजों ने अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित कर दी थी। प्रारम्भ में डूप्ले की सफलता का मुख्य कारण यह था कि अंगरेजों ने अपनी नाविक शक्ति का प्रयोग नहीं किया था। बाद के युद्धों में फ्रांसीसी नौसेनापति ला-बर्दिनो और काउण्ट डी-एचे दोनों अंगरेजों के हाथों पराजित हुए। सप्तवर्षीय युद्ध में इंगलैण्ड के

प्रधानमंत्री बड़े पिट ने फ्रांस को यूरोप के युद्ध में फँसाये रखा, फलस्वरूप वह भारत या कनाडा में अपने सेनिकों को नहीं भेज सका। इंगलैण्ड की नाविक शक्ति इतनी अधिका वढ़ गयी थी कि आगामी वर्षों में उसने नेपोलियन वोनापार्ट तक को हरा दिया। वस्तुतः वंगाल, वम्वई और मद्रास अंगरेजी की नाविक शक्ति के मुख्य केन्द्र थे और वे सुविधा के साथ फ्रांसीसियों की सहायता पहुँचाने में बाधा डाल सकते थे।

6. फ्रांसीसियों का आपसी संघर्ष : फ्रांसीसी अधिकारी एक-दूसरे का विरोध करते रहते थे। फ्रांसीसी अधिकारियों की नियुक्ति सरकार के द्वारा होती थी। वे किसी प्रश्न पर समान दृष्टिकोण अपनाने में हिचकिचाते थे। उदाहरण के लिए, ला-बर्दिनों और डूप्ले योग्य रहते हुए भी एक-दूसरे से झगड़ते रहते थे। डूप्ले और बुसी भी नीतिगत प्रश्नों पर एकमत नहीं हो पाये थे। काउण्ट डी-लैली काउण्ट डी-एचे जैसे सर्वोच्च अधिकारी रहते हुए भी कठिन परिस्थितियों में भी एकता कायम नहीं रख सके। लैली ने अपने व्यवहार से छोटे-छोटे अधिकारियों को भी अप्रसन्न कर दिया था। फ्रांसीसी अधिकारियों का व्यवहार भारतीयों और मुसलमानों जैसा हो गया था। आपसी मतभेद और झगड़े के फलस्वरूप वे संगठित होकर कभी अंगरेजों का सामना नहीं कर पाये। फ्रांसीसी अधिकारी अंगरेजों की तुलना में अधिक योग्य एवं साहसी थे। परन्तु अंगरेज निम्न स्तर से उठकर श्रेष्ठता की ओर बढ़ रहे थे जवकि फ्रांसीसी श्रेष्ठ रहकर भी निम्न स्तर का व्यवहार करने लगे थे। आपसी संघर्ष फ्रांसीसियों की पराजय के लिए मुख्य रूप से उत्तरदायी था।

7. अंगरेजों की आर्थिक सम्पन्नता : आय की तुलना में अधिक व्यय करनेवाली शक्ति कभी सफल नहीं होती है। फ्रांसीसी इस तथ्य की उपेक्षा कर भारत में साम्राज्य कायम करने का स्वप्न देख रहे थे। फ्रांसीसी व्यापार में सफलता पाने के बाद यदि युद्ध करते तो वे सफलता की आशा रख सकते थे। परन्तु डूप्ले, बुसी अथवा लैली किसी ने युद्ध चलाने के लिए धनसंग्रह का काम नहीं किया। दूसरी ओर, अंगरेजों ने सदा व्यापारिक विकास की ओर अपना ध्यान केन्द्रित रखा और आर्थिक रूप से सम्पन्न बन गये। पालासी के युद्ध के बाद अंगरेजों की आर्थिक स्थिति काफी अच्छी हो गये थी। वस्तुतः बंगाल से प्राप्त धन के सहारे ही वे कर्नाटक में विजय प्राप्त कर सके। क्लाइव ने नौसेना की श्रेष्ठता और धन के बल पर फ्रांसीसियों को भारत के किसी भी भाग में पराजित करने का दावा किया था। वस्तुतः क्लाइव का दावा सही साबित हुआ। अंगरेजों और फ्रांसीसियों में आर्थिक सम्पन्नता की दृष्टि से कोई तुलना नहीं थी। फ्रांसीसी भारतीय धन के सहारे ही भारत में साम्राज्य कायम करना चाहते थे। परन्तु न तो वे धन का संग्रह कर सके, न व्यापार बढ़ा सके और इन दोनों के अभाव में जब डूप्ले ने साम्राज्य-विस्तार की नीति अपना ली, तो उसी समय फ्रांसीसी कम्पनी के पतन का रास्ता खुल गया।

8. सैनिक संगठन : अंगरेजी सेना का संगठन उच्च कोटि का था। वे युद्ध-कला में कुशल और अनुशासनप्रिय थे। फ्रांसीसी सैनिकों में आपसी फूट और भेदभाव था। एकता का अभाव रहने के कारण फ्रांसीसियों की पराजय हुई इसके अतिरिक्त फ्रांसीसी नौसेना और स्थल सेना में आपसी ताल-मेल नहीं था। लैली की आज्ञा की अवहेलना कर फ्रांसीसी नौसेनापति काउण्ट डी-एचे मॉरिशस भाग गया और जब लौटकर आया तो अंगरेजों के द्वारा पराजित हो गया। अंगरेज जल और थल सेना के बीच सम्बन्ध कायम रखते थे। यही कारण है कि सैनिक संगठन का लाभ उठाकर अंगरेज विजयी रहे और फ्रांसीसियों को पराजय का मुँह देखना पड़ा।

9. यूरोप में फ्रांसीसियों की पराजय : यूरोपीय युद्ध में फ्रांसीसी अंगरेजों को जीत नहीं पाते थे, जिसका असर भारत पर भी पड़ा। डूप्ले की दुर्वलताओं और उसकी असफलताओं ने फ्रांसीसी कम्पनी की हार को निश्चित बना दिया था।

उत्तर आंग्ल-फ्रांसीसी संघर्ष : तृतीय कर्नाटक युद्ध के बाद भी आंग्ल-फ्रांसीसी संघर्ष का अन्त नहीं हुआ। पराजित फ्रांसीसी भारत में अपनी शक्ति को पुनः स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील थे। 1777 ई. में नाना फड़नवीस को अंगरेजों के विरुद्ध भड़काने की चेष्टा सेण्ट लूबीन के द्वारा की गयी। अमेरिका में स्वाधीता-संग्राम के अवसर पर मैसूर के शासक हैदरअली को फ्रांसीसियों ने अंगरेजों के विरुद्ध मदद दी थी। बुसी फ्रांसीसी सेना का नेतृत्व कर रहा था। वार्साय की सन्धि के बाद पांडिचेरी जिस पर अंगरेजों ने अधिकार कर रखा था, फ्रांसीसियों को वारेन हेस्टिंग्स के समय लौटा दी गयी। मैसूर के शासक टीपू सुल्तान के साथ फ्रांसीसियों की साँठ-गाँठ थी। परन्तु वेलेस्ली के समय मैसूर के विरुद्ध आक्रमण तथा उसमें अंगरेजों की सफलता के कारण फ्रांसीसियों की सारी योजना अधूरी रह गयी। अंगरेजों ने फ्रांसीसियों की विरोधी हरकतों को ध्यान में रखकर 1803 ई. में पांडिचेरी पर पुनः अधिकार कर लिया। परन्तु 1814 ई. में पांडिचेरी फिर फ्रांसीसियों को दे दिया गया। वस्तुतः आंग्ल-फ्रांसीसी संघर्ष की बागडोर भारत के बदले यूरोपीय अधिकारियों के हाथ में थी। यूरोप में दोनों शक्तियों के बीच युद्ध होने पर भारत में अंगरेज और फ्रांसीसी सक्रिय हो उठते थे और सन्धि के बाद युद्ध-विराम की नीति अपना लेते थे।

डूप्ले का चरित्र, नीति एवं असफलता के कारण

डूप्ले का जन्म 1697 ई. में फ्रांस में हुआ था। वह व्यापार में अभिरुचि नहीं रखता था। परन्तु पिता की आज्ञानुसार उसने फ्रांसीसी कम्पनी की सेवा स्वीकार कर ली। 1720 ई. में वह पांडिचेरी आय और अपनी प्रतिभा के बल पर प्रोन्नति पाकर फ्रांसीसी कम्पनी का एक उच्च अधिकारी बन गया। डूप्ले ने पांडिचेरी को एक सुन्दर नगर और व्यापार का मुख्य केन्द्र बना दिया। फ्रांस की सरकार ने डूप्ले की योग्यता से प्रभावित होकर उसे चन्दरनगर में गवर्नर के पद पर नियुक्त किया। 1742 ई.

में जब ड्यूमा स्वदेश लौटा तो उसके स्थान पर डूप्ले को पदस्थापित कर पुनः पांडिचेरी भेजा गया।

डूप्ले एक योग्य सेनानायक, कुशल कूटनीतिज्ञ और नःस्वार्थ देशभक्त था। कर्नाटक-युद्ध के अवसर पर उसने सर्वोच्च फ्रांसीसी व्यक्ति के रूप में सबका ध्यान आकर्षित किया था। डूप्ले शान्त और स्थिर दिमाग का व्यक्ति था। वह संकट अथवा खतरे की घड़ियों में घवड़ाता नहीं था। राजनीतिक सूझ-बूझ में वह अद्वितीय था। एलिफिन्सटन के शब्दों में, "डूप्ले पहला व्यक्ति था जिसने अनुशासित सैनिक का पूर्ण उपयोग किया। वह पहला व्यक्ति था जिसने समुद्र की बन्दरगाहों को छोड़कर महाद्वीप के भीतर अपनी सेनाओं को प्रवेश करवाया। इन सबसे बढ़कर यह कहना होगा कि वह ऐसा व्यक्ति था जिसने मुगलों की मिथ्या शक्ति का पहले-पहल पता लगाया था।" नेल्सन के अनुसार, "डूप्ले एक महान प्रशासक और कूटनीतिज्ञ था। उसमें संगठन की महान क्षमता और उद्देश्य की पूर्त्ति के प्रति गहरी लगन थी।" डूप्ले महान राष्ट्रवादी था। वह राष्ट्र के हित को प्रधानता देकर व्यक्तिगत स्वार्थपूर्त्ति पर ध्यान नहीं देता था। डूप्ले को अपने सहयोगियों का समर्थन नहीं मिला। फ्रांस की सरकार भी पूर्ण रूप से उसे समर्थन नहीं दे पायी। परन्तु विपरीत स्थिति में भी डूप्ले साधन जुटाकर अंगरेजों से संघर्ष करने से बाज नहीं आया।

डूप्ले को महत्त्वाकांक्षी, दम्भी और दोहरे चरित्र वाला व्यक्ति कहा गया। परन्तु वी. ए. स्मिथ का यह आरोप तर्कसंगत नहीं लगता है। उसने धनसंग्रह कर उसका उपयोग राष्ट्रीय प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए किया था। डूप्ले साहसी और अवसरवादी था। भारत में आनेवाले फ्रांसीसियों में डूप्ले प्रमुख था।

डूप्ले की नीति : भारत की राजनीतिक अव्यवस्था का लाभ उठाकर डूप्ले फ्रांसीसी साम्राज्य की स्थापना करना चाहता था। भारतीय राजाओं के आपसी संघर्ष एवं उनकी सैनिक दुर्बलताओं से वह भली-भाँति प्ररिचित था। यूरोपीय पद्धति से प्रशिक्षित सेना का सामना करने की क्षमता भारतीय शासकों में नहीं थी। ऐसी अवस्था में विदेशी साम्राज्य की स्थापना का कार्य डूप्ले को सरल दिखाई पड़ा। फ्रांसीसी साम्राज्य की स्थापना के मार्ग में अंगरेज बाधा डाल सकते थे। अतः दक्षिण भारत में अंगरेजों के प्रभाव को नष्ट करने के उद्देश्य से डूप्ले ने हैदराबाद के निजाम को अपने पक्ष में मिला लिया तथा कर्नाटक के भगोड़े नवाब चाँद साहब के पक्ष का समर्थन किया डूप्ले ने व्यापार के बदले भारत में फ्रांसीसी साम्राज्य की स्थापना को ही प्रधानता दी थी। डूप्ले भारतीयों को यूरोपीय ढंग से शिक्षा देकर अंगरेजों की शक्ति समाप्त करना चाहता था। डूप्ले ऐसे भारतीय पक्ष का समर्थन करना चाहता था जो सुविधा से उसके नियंत्रण और संरक्षण में रह सके। वह पहला फ्रांसीसी था जिसने मद्रास के राजनीतिक महत्व को पहचानकर उस पर अधिकार करने का सफल प्रयास

किया। डूप्ले मद्रास अंगरेजों को लौटना नहीं चाहता था, परन्तु फ्रांसीसी अधिकारियों की अदूरदर्शिता के कारण डूप्ले की इच्छा के विरुद्ध मद्रास अंगरेजों को लौटा देना पड़ा। डूप्ले की नीति का अनुकरण कर अंगरेजों ने आगे चलकर अंगरेजी साम्राज्य की स्थापना की। इस दृष्टि से डूप्ले को अंगरेजों का पथ-प्रदर्शक कहा जा सकता है। डूप्ले अपनी योजनाओं को कार्यरूप देने में असफल रहा, परन्तु इसमें सन्देह नहीं है कि डूप्ले महान था। वह दृढ़ विचारवाला व्यक्ति था। उसका उद्देश्य स्पष्ट था और उसमें कुशल कूटनीतिज्ञ के सभी गुण मौजूद थे। डूप्ले की असफलता के कई कारण थे। जिनमें फ्रांसीसी कम्पनी की दुर्बलता, आपसी मतभेद, सरकार की उदासीनता आदि प्रधान थे। परन्तु कुछ ऐसे भी कारण थे जिनके लिए डूप्ले स्वयं उत्तरदायी था। ऐसे कारण निम्नलिखित थे :

1. आर्थिक अव्यवस्था : डूप्ले महात्त्वाकांक्षी था। उसने व्यापार की उपेक्षा कर राजनीति के मैदान में छलाँग लगा दी थी। फ्रांसीसी कम्पनी की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी। धन के अभाव में युद्ध करना अव्यावहारिक था। डूप्ले ने कर्नाटक में चाँद साहब और हैदराबाद में मुजफ्फरजंग का पक्ष लेकर धन पाने की आशा पाल रखी थी। परन्तु अंगरेजों के हस्तक्षेप से डूप्ले को धन की प्राप्ति नहीं हो पायी। डूप्ले फ्रांस की सरकार से आर्थिक सहायता के लिए निवेदन करना नहीं चाहता था। वह फ्रांसीसी सरकार से छिपाकर युद्ध चलाना चाहता था। परन्तु बात छिपी नहीं रह सकी। डूप्ले की नीति को फ्रांसीसी सरकार ने पसन्द नहीं किया। दूसरी ओर 1751 ई. के बाद डूप्ले लगातार असफल रहा और व्यक्तिगत रूप से उस पर तीन लाख पचास हजार पौण्ड का कर्ज चढ़ गया। आर्थिक अव्यवस्था के कारण वह फ्रांसीसी सैनिकों को वेतन भी नहीं दे पाता था। धनाभाव के कारण डूप्ले के साथ-साथ फ्रांसीसी सैनिकों का भी नैतिक पतन हो गया। इस आर्थिक अव्यवस्था के लिए डूप्ले स्वयं उत्तरदायी था।

2. उद्देश्य के प्रति विश्वास : डूप्ले को उद्देश्य के प्रति अत्यधिक विश्वास था। वह न्याय का पक्ष लेकर अपने उद्देश्य की पूर्त्ति करना चाहता था। डूप्ले की नजर में मुहम्मद अली के बदले चाँद साहब कर्नाटक की गद्दी का वास्तविक अधिकारी था। उसे यह विश्वास था कि अंगरेज मुहम्मद अली का पक्ष नहीं लेंगे और उसे अपने उद्देश्य में सफलता मिल जाएगी। परन्तु राजनीति में न्याय और अन्याय की उपेक्षा कर स्वार्थपूर्त्ति को प्रधानता दी जाती है। अंगरेजों ने मुहम्मद अली का पक्ष लेकर डूप्ले की योजना को असफल बना दिया। परन्तु डूप्ले अपनी नीति पर अटल रहा और चाँद साहब की हत्या के बाद भी मुहम्मद अली को कर्नाटक का नवाब स्वीकार नहीं किया। 1751 ई. के बाद डूप्ले की स्थिति अत्यन्त दयनीय हो गयी थी। परन्तु उसने उस स्थिति में भी अंगरेजों के साथ सन्धि की बात भी पसन्द नहीं की। बुसी की

सलाह की भी उपेक्षा कर डूप्ले ने एक भयानक भूल की। वस्तुतः अपने लक्ष्य के प्रति अटूट विश्वास रखने के कारण डूप्ले अभिमानी हो गया था और वह वस्तुस्थिति की उपेक्षा कर देता था।

3. फ्रांस की सरकार को वस्तुस्थिति से अनभिज्ञ रखना : डूप्ले की सबसे बड़ी भूल यह थी कि उसने फ्रांस की सरकार को भारतीय राजनीति की वस्तुस्थिति से अनभिज्ञ रखा था। डूप्ले भारतीय नरेशों का पक्ष लेकर धन प्राप्त करना चाहता था और उसी के सहारे अंगरेजों से युद्ध कर उन्हें निकालना चाहता था, परन्तु एक व्यक्ति अपनी सीमित शक्ति और साधन के बल पर युद्ध नहीं कर सकता। युद्ध करने के लिए राष्ट्र का समर्थन एवं सहयोग आवश्यक है। डूप्ले ने इस तथ्य की उपेथा कर फ्रांसीसी सरकार और कम्पनी के प्रबन्धकों को असन्तुष्ट कर दिया। उस समय फ्रांस की सरकार भारत के बदले कनाडा में उपनिवेश की स्थापना के लिए प्रयत्नशील थी। फ्रांसीसी सरकार को डूप्ले यदि अपनी योजना से अवगत करा देता तो सम्भवतः समय पर सहायता पहुँचाएं जाने से युद्ध की रूपरेखा ही बदल जाती। परन्तु इतिहास में ऐसी सम्भावनाओं का कोई महत्व नहीं है। डूप्ले की येजना का पता फ्रांसीसी सरकार को तब लगा जब वह भारत छोड़ चुका था। उस समय तक काफी देर हो चुकी थी और घटनाचक्रे इतनी तेजी से बढ़ने लगा था कि फ्रांस की सरकार चाहकर भी भारत में अंगरेजों को पराजित करने में सफल नहीं होती।

4. डूप्ले ने भगोड़ों का पक्ष लिया : कर्नाटक के नवाब मुहम्मद अली का गद्दी पर वंशपरम्परा के अनुसार वास्तविक अधिकार था। चाँद साहब कर्नाटक के भूतपूर्व नवाब दोस्तअली का दामाद था। अतः कर्नाटक पर चाँद साहब का कोई नैतिक और कानूनी अधिकार नहीं था। परन्तु डूप्ले ने चाँद साहब का पक्ष लिया जो मराठों की कैद में रह चुका था और कर्नाटक की राजनीति पर उसका कोई प्रभाव नहीं था। अंगरेजों ने मुहम्मद अली की सहायता की। मुहम्मद अली को कर्नाटक के नागरिकों का समर्थन प्राप्त था। अतः डूप्ले ने चाँद साहब का पक्ष लेकर लाभ के बदले हानि ही अधिक उठायी।

5. धन का अपव्यय : डूप्ले नवाब की उपाधि पाने के बाद धन का अपव्यय करने लगा था। वह भारतीय नवाबों की तरह शान-शौकत से रहता था। चाँद साहब या हैदराबाद से जो धन प्राप्त हुआ, उसका व्यय उसने कम्पनी के हित में नहीं किया। वस्तुतः नवाब की उपाधि पाकर डूप्ले अहंकारी और विलासी हो गया था। वह स्वयं महत्त्वाकांक्षी था। अतः व्यक्तिगत इच्छा की पूर्त्ति के लिए उसने कम्पनी और फ्रांस के हित की उपेक्षा कर अंगरेजों से युद्ध किया। डूप्ले की नीति को न तो फ्रांस की सरकार ने प्रश्रय दिया और न कम्पनी के प्रबन्धकों ने उसे कोई सहायता दी। धन का अपव्यय कर डूप्ले ने फ्रांसीसियों के पतन का द्वार खोल दिया।

6. डूप्ले का अहंकारी स्वभाव : डूप्ले अहंकारी था। वह अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए दृढ़निश्चय कर लेता था। वह दूसरों के सुझाव को पसन्द नहीं करता था। उसमें व्यावहारिकता का भी अभाव था। डूप्ले अपनी असफलताओं का समय रहते मूल्यांकन नहीं कर पाया। पराजित होने के बाद भी 1753 ई. में वह अंगरेजों से सन्धि करने का विरोध करता रहा और उसने फ्रांसीसी सरकार को भी अन्धकार में रखा। फलतः फ्रांसीसी सरकार का भी उसने विश्वास खो दिया और इच्छा-शक्ति के बावजूद सामयिक सहायता के अभाव में वह असफल रहा।

7. डूप्ले ने अपनी शक्ति का प्रयोग एक स्थान पर नहीं किया : हैदराबाद और कर्नाटक दो में से किसी एक स्थान पर शक्ति का प्रयोग किया जाता तो फ्रांसीसी अपने सीमित साधनों के वल पर सफल हो सकते थे। परन्तु डूप्ले ने दोनों स्थानों में एक ही साथ शक्ति का प्रयोग कर फ्रांसीसियों की हालत दयनीय बना दी। दो स्थानों पर युद्ध करने के पीछे डूप्ले का एक मात्र उद्देश्य यह था कि वह शीघ्रतिशीघ्र फ्रांसीसी साम्राज्य की स्थापना कर लेना चाहता था। परन्तु डूप्ले अपनी सीमा और शक्ति का सही अन्दाज नहीं कर पाया। फलतः डूप्ले की नीति के फलस्वरूप फ्रांसीसी कम्पनी का पतन अवश्यम्भावी हो गया।

डूप्ले अपनी कमजोरियों के बावजूद एक योग्य सेनापति और प्रशासक था। उसकी योजना की असफलता कई कारणों के सम्मिलित परिणामवश हुई। फ्रांस की सरकार ने उसे वापस बुलाकर भूल की थी। उसके स्थान पर गोदेहू को लाया गया, जिसने शीघ्रता में अंगरेजों से सन्धि कर फ्रांसीसियों की आशा पर पानी फेर दिया। परन्तु डूप्ले की नीति का अनुकरण कर ही अंगरेजों ने ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना की। रावर्ट्स के अनुसार, "उसके (डूप्ले) कृत्यों को हम नजरअन्दाज नहीं कर सकते। वहुत थोड़े समय में ही पूरब में उसने फ्रांस की प्रतिष्ठा को बहुत बढ़ाया तथा भारतीय राजाओं एवं नवाबों से काफी प्रतिष्ठा प्राप्त की। समकालीन अंगरेज उसके व्यक्तिगत प्रभाव से आतंकित थे। यह उसकी बुद्धिमत्ता एवं महान चरित्र का एक प्रवल प्रमाण है।" डूप्ले का स्थान भारतीय इतिहास में अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है। उल्फ्रेड लॉयल के अनुसार, "डुप्ले 18वीं शती में अंगरेजों तथा फ्रांसीसियों के बीच समुद्र पार के साम्राज्य के लिए किये गये लम्बे तथा कठिन संघर्ष के संक्षिप्त घटना-चक्र में सबसे अधिक चमत्कारपूर्ण व्यक्ति था।"

डूप्ले और क्लाइव का तुलनात्मक मूल्यांकन : डूप्ले और क्लाइव दोनों क्रमशः भारत में फ्रांसीसी और ब्रिटिश साम्राज्य के संस्थापक माने जाते हैं। डूप्ले अपने उद्देश्य में असफल रहा और क्लाइव ने अपने उद्देश्य की प्राप्ति में सफलता पायी। डूप्ले पहला व्यक्ति था जिसने भारतीय शासकों की कमजोरी, आपसी मतभेद और सैनिक दुर्वलता का सही मूल्यांकन कर भारत में फ्रांसीसी साम्राज्य की स्थापना

उपयुक्त परिस्थिति में की थी। डूप्ले की नीति और प्रयोग का अनुकरण कर ही क्लाइव बंगाल में अंगरेजी साम्राज्य की स्थापना में सफल हुआ। नये साधनों की खोज, कूटनीति और चालबाजी में डूप्ले क्लाइव दोनों अद्वितीय थे। परन्तु सेनानायक के रूप में क्लाइव डूप्ले से अधिक चतुर एवं शक्तिशाली था। क्लाइव में प्रशासक की भी क्षमता थी। दूसरी बार बंगाल के गवर्नर के रूप में उसने जो सुधार किये, वह उसकी क्षमता का एक बहुत बड़ा प्रमाण था। डूप्ले दूरदर्शी या तथा क्लाइव अन्तर्मुखी था। डूप्ले ने पांडिचेरी की शासन-व्यवस्था को सुधारने की चेष्टा की थी। दूसरी बार बंगाल के गवर्नर के रूप में उसने जो सुधार किये, वह उसकी क्षमता का एक बहुत बड़ा प्रमाण था। क्लाइव के प्रशासनिक सुधारों ने कई समस्याओं को जन्म दिया जिनका समाधान आगे चलकर उसके उत्तराधिकारियों को करना पड़ा। व्यक्ति के रूप में डूप्ले और क्लाइव दोनों धन के लालची थे। डूप्ले ने धन प्राप्त कर उसका उपयोग राष्ट्र की प्रतिष्ठा के नाम पर किया परन्तु क्लाइव ने कम्पनी की स्वार्थपूर्त्ति के साथ-साथ अपनी जेब भी भर ली थी। नैतिक दृष्टि से क्लाइव पर इतिहासकारों ने प्रश्नचिन्ह लगा दिये हैं। डूप्ले राष्ट्रीय असहयोग तथा अधिकारियों के बीच मतभेद एवं अर्थाभाव के कारण असफल रहा। परन्तु क्लाइव राष्ट्रीय सहयोग पाकर सफल हुआ। वस्तुतः दोनों अपने क्षेत्र के महान व्यक्तित्व थे।

3

बंगाल में अंगरेजी सत्ता की स्थापना

पुर्तगीज, डच, डेन आदि यूरोपीय जातियों की तरह अंगरेज भी प्रारम्भ में भारत में व्यापार करने आये थे। वे भारतीय राजनीति से दूर थे। उनके उद्देश्य व्यापारिक थे और उनकी कोठियाँ मात्र व्यापारिक कोठियाँ थीं। लेकिन 1707 ई. में भारत की राजनीतिक स्थिति में परिवर्त्तन आया। इस वर्ष महान मुगल बादशाह औरंगजेब की मृत्यु हो गई। उसकी मृत्यु के बाद ज्योंही भारत में राजनीतिक अव्यवस्था फैली, उनका उद्देश्य भी बदल गया।

औरंगजेब की मृत्यु के बाद केन्द्रीय सत्ता दुर्बल हो गयी और बिखराव की शक्तियाँ पुनः सक्रिय हो उठीं। देश की आन्तरिक दुर्बलता ने बाहरी शत्रुओं को सुअवसर प्रदान किया। भारत की राजनीतिक अराजकता से लाभ उठाकर अंगरेजों ने कलकत्ता, बम्बई और सूरत तथा फ्रांसीसियों ने पांडिचेरी, माही, चन्दरनगर पर अपना प्रभाव स्थापित किया। केन्द्रीय शक्ति कमजोर पाकर अंगरेजों और फ्रांसीसियों की खूंख्वार साम्राज्यवादी लिप्सा उमड़ पड़ी और उन्होंने केवल भारतीय व्यापार पर आधिपत्य का प्रयास किया बल्कि वे भारत की राजनीति में सक्रिय भाग लेकर यहाँ के भाग्य-विधाता बनने का स्वप्न देखने लगे। अनुकूल परिस्थिति पाकर उन्होंने व्यावसायिक प्रवृत्ति को धीरे-धीरे साम्राज्यवादी मनोवृत्ति में बदल लिया। भारत में राजनीतिक प्रभुत्व जमाने के प्रश्न पर अंगरेजों और फ्रांसीसियों में संघर्ष शुरू हुआ। भारतीय नरेशों का सहारा लेकर दोनों एक-दूसरे का विनाश करने की इच्छा पालने लगे। कर्नाटक-युद्ध ने स्पष्ट कर दिये कि भारत में अंगरेज ही साम्राज्य स्थापित कर सकते हैं। फ्रांसीसी भारत में साम्राज्य-स्थापना में असफल रहे। सर्वप्रथम बंगाल अंगरेजों की साम्राज्यवादी प्रवृत्ति का शिकार हुआ।

बंगाल की राजनीतिक स्थिति

औरंगजेब की मृत्यु के बाद केन्द्रीय शासन ढीला पड़ गया। उसकी मृत्यु के बाद गद्दी के लिए संघर्ष हुआ और बहादुरशाह मुगल सम्राट घोषित हुआ। 1708 ई. से 1732 ई. तक वह मुगल साम्राज्य की प्रतिष्ठा को पूर्ववत् कायम रखने में

सफल रहा। परन्तु बहादुरशाह की मृत्यु के बाद जहाँदारशाह के समय से मुगलों का पतन आरम्भ हो गया। बाद के मुगल शासक अयोग्य निकले और वे सैयद भाइयों के हाथों के खिलौने बन गये। केन्द्रीय सत्ता की दुर्बलता का लाभ उठाकर प्रान्तीय सरदारों द्वारा स्वाधीनता की घोषण की जाने लगी। बंगाल, बिहार और उड़ीसा को मिलाकर एक सूबे का निर्माण किया गया। जाफर खाँ बंगाल का नवाब बना। जाफर खाँ का दामाद शुजा खाँ उड़ीसा का सूबेदार था। शुजा खाँ और अलीवर्दी खाँ दोनों की वंशपरम्परा एक थी। प्रारम्भ में अलीवर्दी खाँ ने शुजा की सेवा स्वीकार कर ली और अपनी योग्यता के वल पर वह धीरे-धीरे महत्त्वपूर्ण पद प्राप्त करने लगा। अलीवर्दी खाँ की कूटनीति और सहयोग के वल पर शुजा खाँ जाफर खाँ के बाद बंगाल का नवाब हुआ। बंगाल को नवाब केन्द्र सरकार की अधीनता नाममात्र मानता था। वह लगभग स्वतंत्र था। शुजा खाँ के पुत्र का नाम सरफराज खाँ था। सरफराज खाँ की माँ जीनतुन्निसा शुजा खाँ क़ो पसन्द नहीं करती थी। अतः जब बिहार के नायब नाजिम (उपगवर्नर) की नियुक्ति के लिए सरफराज खाँ का नाम आया तो उसकी माँ ने इस पर असहमति प्रकट की। फलतः 1732 ई. में अलीवर्दी खाँ को विहार का नायब नाजिम नियुक्त किया गया। नियुक्ति के कुछ दिन पूर्व अलीवर्दी खाँ की पुत्री आमिना बेगम को एक पुत्र हुआ जिसका नाम मिर्जा मुहम्मद या सिराजुद्दौला रखा गया। अलीवर्दी खाँ को केवल तीन पुत्रियाँ। बालक का जन्म अलीवर्दी के भाग्योदय का सूचक था। अतः स्नेहवश अलीवर्दी खाँ ने उसे अपना उत्तराधिकारी मनोनीत कर लिया। विहार के बागी प्रान्त में शान्ति एवं सुव्यवस्था कायम कर अलीवर्दी ने अपनी धाक जमा ली। भोजपुर, टेकारी, चकवार, बेतिया, तिरहत आदि क्षेत्रों के विद्रोही शासकों को शान्त कर अलीवर्दी खाँ उन्हें अपना समर्थक बना लिया।

1739 ई. में शुजा खाँ की मृत्यु के बाद बंगाल का नवाब सरफराज खाँ हुआ। सरफराज योग्य नवाब नहीं था। वह भोग-विलास में अपना समय व्यतीत करता था। सरफराज खाँ ने अलवर्दी खाँ के भाई हाजी अहमद को तंग और अपमानित करना प्रारम्भ किया। फलस्वरूप हाजी अहमद और अलीवर्दी खाँ दोनों उसके विराधी हो गये और गिरिय के युद्ध में सरफराज की हत्या कर अलीवर्दी स्वयं बंगाल का नवाब बन गया। मुगल साम्राज्य नादिरशाह के आक्रमण के बाद राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से अत्यन्त दुर्बल हो चुका था और वह किसी भी ऐसे व्यक्ति को, जो अधिक धनराशि सरकारी कोष में भेजने पर तैयार हो जाता था, उन्हें मान्यता दे देता था। 1740 ई. में अलीवर्दी खाँ ने बंगाल की सूबेदारी का राजकीय आज्ञा-पत्र प्राप्त कर लिया और उसी वर्ष अप्रैल, 1740 ई. में वह बंगाल का नवाब स्वीकार कर लिया गया।

1740 ई. से 1756 ई. तक अलीवर्दी खाँ बंगाल का नवाब था। इस समय सबसे पहले उसे मराठों के साथ संघर्ष करना पड़ा। मराठे उड़ीसा पर अधिकार कर विहार और बंगाल पर आक्रमण करने लगे थे। 1740 ई. से 1751 ई. के बीच कई बार मराठों का आक्रमण हुआ। अन्ततः 1751 ई. में अलीवर्दी खाँ ने 12 लाख रुपये वार्षिक चौथ देना स्वीकार कर लिया तथा सुवर्ण रेखा नदी को बंगाल की दक्षिण-पश्चिम सीमा मानकर मराठों से समझौता कर लिया। मराठों के आक्रमण से त्रस्त पश्चिम एवं दक्षिण बंगाल की आबादी का बहुत बड़ा भाग पूर्वी और उत्तर बंगाल में आ गया। लगातार मराठों के आक्रमण से बंगाल की कृषि, उद्योग एवं व्यापार को भारी क्षति पहुँची।

डॉ. के. के. दत्त के अनुसार 18 वीं सदी के उत्तरार्द्ध में बंगाल के उद्योगों के विनाश के लिए कम्पनी के गुमाश्तों और के. सिन्हा सहमत नहीं हैं। उसके अनुसार, पलासी के पूर्व बंगाल का उद्योग उन्नत अवस्था में था। अलीवर्दी खाँ व्यापारियों एवं उद्योगपतियों को संरक्षण देता था तथा उसने शान्ति और व्यवस्था की भरपूर चेष्टा की। मराठों के आक्रमण का प्रभाव हानिकारक नहीं था। अलीवर्दी खाँ के शासनकाल में कम्पनी के अधिकारियों को मनमानी का अवसर नहीं दिया गया। वे उससे डरते थे। भारतीय बन्दरगाहों पर अंगरेजों से अधिक चुंगी ली जाती थी और बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा से अंगरेजों को व्यापार में इच्छित लाभांश प्राप्त नहीं होता था।

अलीवर्दी खाँ ने यूरोपीय व्यापारियों को बंगाल की राजनीति में हस्तक्षेप करने का कोई अवसर नहीं दिया। वह इन व्यापारिक कम्पनियों के प्रति अधिक सचेष्ट रहता था। यही कारण था कि अलीवर्दी खाँ के शासनकाल में प्रथम एवं द्वितीय कर्नाटक-युद्ध के अवसर पर बंगाल में अंगरेजों और फ्रांसीसियों के बीच कोई युद्ध नहीं हुआ। उसने यूरोपीय कम्पनीयों पर बंगाल में पूर्ण नियंत्रण बनाए रखा था। उसने व्यापारिक कम्पनियों को कोठियाँ बनाने की आज्ञा नहीं दी। यही कारण है कि होलवेल ने एक मनगढ़ंत और बनावटी वसीयतनामे की चर्चा अलीवर्दी खाँ के सम्बन्ध में की है जिसमें यूरोपीय कम्पनियों को नष्ट करने की सलाह सिराजुद्दौला को उसके द्वारा दिये जाने की चर्चा है। वस्तुतः ऐसा कोई वसीयतनामा था या नहीं, यह केवल होलवेल के फितूरी मस्तिष्क की उपज है। अलीवर्दी खाँ ने अंगरेजों की बढ़ती हुई शक्ति के प्रति चिन्ता प्रकट की थी और सिरजुद्दौला को उन्हें किला बनाने या सेना रखने की आज्ञा न देने की सलाह दी थी।

अलीवर्दी खाँ ने मराठों से सन्धि कर ली तथा यूरोपीय कम्पनियों पर भी नियंत्रण रखा। लेकिन घर में, बंगाल की गद्दी पर अधिकार करने के लिए परिवार के बीच जो शत्रुता फैल गयी, उस पर नियंत्रण रखना उससे बुढ़ापे में सम्भव न हो सका।

अलीवर्दी खाँ को तीन पुत्रियाँ थीं। उसके तीन दामाद क्रमशः ढ़ाका, पूर्णिया, और पटना के नवाव थे। अलीवर्दी खाँ के जीवनकाल में ही उसके तीनों दामादों की मृत्यु हो चुकी थी। बड़ी बेटी मेहरुन्निसा या घसीटी बेगम स्वयं निःसन्तान थीं। दूसरी बेटी के पुत्र का नाम शौकतजंग था जो पूर्णिया का नवाव था। घसीटी बेगम को ढाका के प्रभावशाली दीवान राजा राजवल्लभ का समर्थन प्राप्त था। घसीटी बेगम शौकतजंग का पक्ष लेना चाहती थी। अलीवर्दी खाँ की छोटी पुत्री आमिना बेगम के सिराजुद्दौला और मिर्जा मेहदी नामक दो पुत्र थे। अलीवर्दी खाँ ने सिराजुद्दौला को अपना उत्तराधिकारी मनोनीत करना निश्चित कर लिया था, परन्तु शौकतजंग और घसीटी बेगम दोनों को सिराजुद्दौला का नवाब बनना पसन्द नहीं था। अतः बंगाल के मसनद पर अधिकार के लिए षड्यंत्र का जो ताना-वाना बुना जा रहा था उसे अलीवर्दी का जर्जर शरीर बर्दाशत नहीं कर सका और 9 अप्रैल, 1756 ई. को उसकी मृत्यु हो गयी।

अलीवर्दी खाँ एक योग्य शासक था। उसके समय में किसानों की हालत फ्रांस या जर्मनी के किसानों से अच्छी थी। मुर्शिदाबाद एक लम्बा-चौड़ा आवाद और समृद्ध शहर था। हिन्दुओं और मुस्लमानों के प्रति अलीवर्दी खाँ का व्यवहार अच्छा था। उस समय अधिकतर रियासतें हिन्दू राजाओं के हाथ में थीं। अनेक हिन्दुओं को दरवार में उच्च पद पर नियुक्त किया गया। एस. सी. हिल के अनुसार, 'देश के व्यापार और दस्तकारियां करीव-करीब सब हिन्दुओं के हाथ में थी।' अलीवर्दी खां के पास चालीस करोड़ रुपये का खजाना था। परन्तु बंगाल का प्रान्त समुद्र की ओर खुला था। उसके पास नौसेना नहीं थी। बंगाल एक उपजाऊ और धनवान क्षेत्र था। अतः विदेशियों के प्रवेश के लिए बंगाल का दरवाजा खुला था।

सिराजुद्दौला का नवाब बनना : अलीवर्दी खां की मृत्यु के बाद सिराजुद्दौला 34 वर्ष से भी कम की आयु में बंगाल का नवाब बना। परन्तु सिराजुद्दौला के लिए बंगाल की गद्दी कभी फूलों की सेज सावित नहीं हुई। सिराजुद्दौला को दो बंगाल षड्यंत्र का केन्द्र वन गया था। षड्यंत्र के माध्यम से ही बंगाल, विहार और उड़ीसा में अंगरेजी कम्पनी अपना प्रभाव बढ़ाकर साम्राज्य कायम करने में सफल हुई।

आन्तरिक विरोध का सामना सिराजुद्दौला को सबसे पहले करना पड़ा। पूर्णिया का शासक शौकतजंग गद्दी का दावेदार था। घसीटी बेगम का स्वयं का कोई पुत्र नहीं था। उसने सिराजुद्दौला के छोटे भाई मुरादुद्दौला को गोद लिया, परन्तु मुरादुद्दौला की मृत्यु के बाद वह शौकतजंग का पक्ष लेने लगी। घसीटी बेगम की सहायता दीवान राजवल्लभ कर रहा था। अलीवर्दी खां का जीजा मीरजाफर स्वयं नवाव बनाना चाहता था। अथवा ऐसे व्यक्ति का समर्थन करना चाहता था जिसके नाम पर वह स्वयं शासन कर सके। ऐसी स्थिति में सिराजुद्दौला को पहले घर की फूट को संभालना ही उपयुक्त जान पड़ा।

आन्तरिक विद्रोह में पहल करने का काम घसीटी बेगम ने किया था। उसने शौकतजंग को मुर्शिदाबाद पर आक्रमण करने का नियंत्रण दिया। अतः सिराजुद्दौला ने सबसे पहले घसीटी बेगम से निपटना श्रेयस्कर समझा। घसीटी बेगम अलीवर्दी खां की बड़ी पुत्री थी। उसके पास अपार धन-सम्पत्ति थी। वह ढाका के मोतीमहल में रहती थी। सिराजुद्दौला ने मोतीमहल पर अधिकार कर घसीटी बेगम को बन्दी बना लिया और सारा धन अपने कब्जे में कर लिया। घसीटी बेगम का प्रेमी और सेनापति नजरअली युद्ध में मारा गया। घसीटी बेगम से मुक्त होकर सिराजुद्दौला ने प्रशासनिक सेवा में हेर-फेर किया। उसने मीरजाफर को सेनापति के पद से हटाकर मीरमर्दान को सेनापति नियुक्त किया। दीवान का पद कश्मीर के मोहनलाल को दिया गया। मोहनलाल को 'महाराजा' की उपाधि भी दी गई और बाद में उसे प्रधानमंत्री नियुक्त किया गया।

सिराजुद्दौला शौकतजंग को दबाने के लिए मई, 1756 ई. में पूर्णिया की तरफ बढ़ा। राजमहल पहुंचने पर शौकतजंग का एक पत्र सिराजुद्दौला को मिला जिसमें उसने सिराजुद्दौला के प्रति वफादारी की शपथ ली थी। शौकतजंग द्वारा अधीनता स्वीकार कर लेने के बाद सिराजुद्दौला मुर्शिदाबाद लौट आया। इस प्रकार प्रारंभिक षड्यंत्र शान्त करने में सिराजुद्दौला ने अपनी योग्यता और सूझ-बूझ का परिचय दिया।

सिराजुद्दौला और अंगरेजों के बीच संघर्ष के कारण

सिराजुद्दौला को अंगरेज प्रारम्भ से ही अपना शत्रु समझते थे और उसके विरुद्ध जो षड्यंत्र चल रहा था उसमें सक्रिया भाग ले रहे थे। वस्तुतः सिराजुद्दौला उन अन्य भारतीय शासकों की तरह था जो विदेशी शक्तियों के प्रचार-प्रसार के विरोधी थे। सिराजुद्दौला और अंगरेजों के बीच संघर्ष के निम्नलिखित कारण थे—

(क) राजनीतिक कारण : सिराजुद्दौला अलीवर्दी खां की तरह अपनी शक्ति का व्यावहारिक प्रयोग करना चाहता था। वह बंगाल को षड्यंत्र का केन्द्र बनाना नहीं चाहता था। बंगाल की गद्दी कम दावेदारों को अन्य भारतीय शासकों की तरह सिराजुद्दौला भी प्रारम्भ में ही नष्ट कर देना चाहता था। इसी उद्देश्य से उसने घसीटी बेगम और शौकतजंग के खिलाफ सैनिक कार्रवाई कर उनके विरोध को शांत कर दिया। परन्तु सिराजुद्दौलना को षड्यंत्र में उलझा देखकर अंगरेज उसकी आज्ञा की अवहेलना करने लगे और षड्यंत्रकारियों के साथ सांठ-गांठ कर सिराजुद्दौला को अपदस्त करने के लिए प्रयत्नशील हो गये। वस्तुतः उसके राजनीतिक प्रभुत्व के विस्तार के मार्ग में सिराजुद्दौला बाधा उत्पन्न कर सकता था। सिराजुद्दौला के बीच संघर्ष होना स्वाभाविक था।

(ख) अंगरेजों के प्रति सन्देह की नीति : भारत में अंगरेजों और फ्रांसीसियों के व्यवहार ने भारतीय नरेशों को शंकालु बना दिया। दक्षिण भारत में कर्नाटक के युद्ध के अवसर पर भारतीय राजनीति में हस्तक्षेप कर अंग्रेज और फ्रांसीसी अपना प्रभाव बढ़ाने का प्रयास कर रहे थे। दक्षिण भारत का उदाहरण बंगाल में भी दुहराया जा सकता था। अतः अलीवर्दी खां ने अपने शासनकाल में अंगरेजों और फ्रांसिसियों को प्रथम दो कर्नाटक युद्ध के अवसर पर बंगाल की भूमि पर युद्ध की आज्ञा नहीं दी थी। बंगाल ने नवाब अलीवर्दी खां की शक्ति का विरोध करने की क्षमता अंगरेजों में नहीं थी। मरने से पहले अलीवर्दी खां ने सिराजुद्दौला को नसीहत दी थी, *'मुल्क के अन्दर यूरोपीय कौमों पर नजर रखना। यदि खुदा मेरी उम्र बढ़ा देता तो मैं तुम्हें इस डर से आजाद कर देता। अब मेरे बेटे, यह काम तुम्हें करना होगा। तैलंग देश में उनकी लड़ाइयों और उनकी कूटनीति की ओर से तुम्हें होशियार रहना चाहिए. ...इन तीनों यूरोपीयन कौमों को एक साथ निर्बल करने का ख्याल न करना। अंगरेजों की ताकत बढ़ गयी। पहले उन्हें समाप्त करना। उन अंगरेजों का समाप्त कर लेने तक बाकी दोनों कौमें तुम्हें अधिक कष्ट नहीं देंगी। मेरे बेटे, उन्हें किले बनाने या सेना रखने की आज्ञा न देगा। यदि तुमने यह गलती की तो यह देश तुम्हारे हाथ से निकल जाएगा।'* इसमें सन्देह नहीं कि अलीवर्दी की नसीहत का असर सिराजुद्दौला पर पड़ा। वह अंगरेजों के व्यवहार और उनके उपेक्षापूर्ण आचरण के प्रति प्रारम्भ से ही शंकालु था और उनकी शक्ति बंगाल में नष्ट करना चाहता था।

(ग) नवाब के प्रति अंगरेजों का व्यवहार : बंगाल के नये नवाब सिराजुद्दौला के प्रति अंगरेजों का व्यवहार भी उपेक्षा एवं अवज्ञा का था। प्रारम्भ में अंगरेज विनीत और आज्ञाकारी प्रजा जैसा व्यवहार करते थे। परन्तु सिराजुद्दौला के साथ वे प्रारम्भ से ही छेड़-छाड़ करने का अवसर ढूंढ़ रहे थे। वे सिराजुद्दौला को अपमानित करना चाहते हैं। प्राचीन परम्परा के अनुसार प्रत्येक नवाब के गद्दी पर बैठने के समय सभी मातहत राजाओं, अमीरों और विदेशी वकीलों को दरबार में उपस्थित होकर उपहार भेंट करना पड़ता था। अंगरेजों ने सिराजुदौला के राज्याभिषेका के अवसर पर कोई उपहार भेंट नहीं किया और न उनका कोई प्रतिनिधि ही दरबार में उपस्थित हुआ। अंगरेज सिराजुद्दौला के दरबारियों के माध्यम से अपना काम चला लेते थे। सिराजुद्दौला के साथ पत्राचार करना उन्हें पसन्द नहीं था। अंगरेजों ने सिराजुद्दौला को कासिम बाजार की कोठी में आने तक से रोक दिया था। अपने ही राज्य में एक विदेशी शक्ति के अपेक्षापूर्ण व्यवहार को सहना किसी भी स्वाभिमानी शासक के लिए सम्भव नहीं था। अतः प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए अंगरेजों से युद्ध करना आवश्यक था। दूसरी ओर अंगरेज सिराजुद्दौला के विरोधी शौकतजंग से पत्राचार कर उसे नवाब के विरुद्ध संघर्ष के लिए उत्साहित कर रहे थे।

(घ) अंगरेजों के द्वारा अधिकारों का दुरुपयोग : साम्राज्य के कानून और नवाव की आज्ञाओं के अनुसार अंगरेजों को किलेबन्दी करने का अधिकार नहीं था। बंगाल में कलकत्ता एवं अन्य स्थानों में अंगरेजों ने कानून की अवज्ञा कर किलों का निर्माण किया और सुरक्षा की दृष्टि से कलकत्ता के किले के चारों तरफ एक बड़ी खंदक खोद डाली। अंगरेजों ने फ्रांसीसियों के आक्रमण की आशंका को ध्यान में रखकर यह खाई खोदी। जब सिराजुद्दौला को इस बात की जानकारी मिली तो उसने किले की मरम्मत बन्द करने तथा खाई को पाट देने का आदेश दिया। परन्तु अंगरेजों का हौसला दक्षिण के युद्ध में सफलता से बढ़ चुका था और एक अंग्रेज अधिकारी ने यहां तक कह डाला कि ''यह खाई भर दी जाएगी परन्तु मुसलमानों के सिरों से।' ऐसा अपमानजनक उत्तर पाने के बाद सिराजुद्दौला को अंगरेजों से संघर्ष की नीति अपनाने पर बाध्य हो जाना पड़ा।

(च) व्यापारिक सुविधा की अवहेलना : मुगल सम्राट फर्रुखसियर की आज्ञानुसार अंगरेजों को व्यापार करने के लिए चुंगी नहीं देनी पड़ती थी। यह सुविधा बंगाल के अन्दर ईस्ट इण्डिया कम्पनी को प्राप्त थी। कम्पनी के दस्तखती पास से, जिसे दस्तक कहा जाता था, माल बंगाल प्रान्त में कहीं भी आ जा सकता था। कम्पनी के अधिकारी दस्तक का दुरुपयोग करने लगे। वे भारतीय व्यापारियों के हाथ दस्तक बेच देते थे और भारतीय व्यापारियों का माल भी करमुक्त करा लेते थे। नवाब के अधिकारियों के द्वारा विरोध प्रकट करने पर वे भारतीय व्यापारियों को संरक्षण देते थे। इस प्रथा से राज्या को आर्थिक हानि हो रही थी। दूसरी ओर अंगरेजों की कोठी या नगरों में जब भारतीय व्यापारियों का माल पहुंचता था तो उस पर बिना किसी राजकीय आज्ञा के वे चुंगी वसूल लेते थे। सिराजुद्दौला दस्तक प्रथा से उत्पन्न दोष दूर करने के लिए अंगरेजों से समझौता करना चाहता था। परन्तु अंगरेज अपने विशेषाधिकार छोड़ने के लिए तैयार नहीं थे। अतः अंगरेजों और सिराजुद्दौला के विरुद्ध भड़काया। मुर्शिदाबाद के दीवान राजा राजवल्लभ को अंगरेजों ने अपने पक्ष में मिला लिया। राजा राजवल्लभ ने घसीटी बेगम की सहायता कर अपार सम्पत्ति एकत्र कर ली थी। सिराजुद्दौला राजवल्लभ का धन प्राप्त करना चाहता था। परन्तु राजवल्लभ ने अपने पुत्र किसनदास को सम्पत्ति के साथ कलकत्ता भेज दिया तो किसनदास को सिराजुद्दौला ने जब वापस भेजने का आदेश अंगरेजों को दिया तो अंगरेजों ने साफ इनकार कछ दिया। अंगरेजों ने नवाब के शत्रुओं को संरक्षण देकर संघर्ष की स्थिति उत्पन्न कर दी। सिराजुद्दौला ने अंगरेजी कोठी के प्रधान वाट्स को बुलाकर समझाया और उसे शासक की अनुमति के बिना तैयार किए हुए किलों को ध्वस्त करने का आदेश दिया। परन्तु अंगरेजों ने नवाब की आज्ञा अनसुनी कर किलेबन्दी का काम चालू रखा। यह खुले विद्रोह की घोषणा थी। अतः ऐसी अवस्था

में दण्ड देने के उद्देश्य से सिराजुद्दौला को अंगरेजों के खिलाफ आक्रमण की नीति अख्तियार करनी पड़ी।

(छ) कलकत्ता पर आक्रमण : कलकत्ता स्थित फोर्ट विलियम के गवर्नर ड्रेक ने सिराजुद्दौला की आज्ञा की अवहेलना की। फ्रांसीसियों ने नवाब के आदेश का पालन किया। अतः अंगरेजों के विरुद्ध अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए सिराजुद्दौला को आक्रमण की नीति विवशता में अपनानी पड़ी। शौकतजंग से निपटने के पश्चात् सिराजुद्दौला कलकत्ता पहुँचा और 4 जून को उसने कासिम बाजार की कोठी पर आक्रमण कर दिया। कासिम बाजार पर अधिकार कर उसने कलकत्ता पर भी अधिकार कर लिया। अंगरेज गवर्नर ड्रेक और अधिकतर अंगरेज एक जहाज पर बैठकर फुल्टा के टापू पर भाग गये। 20 जून, 1756 ई. को फोर्ड विलियम पर सिराजुद्दौला का अधिकार हो गया। कुछ अंगरेजों को बन्दी बना लिया गया और उन्होंने आत्मसमर्पण कर दिया।

कालकोठरी का हत्याकाण्ड : 20 जून, 1756 ई. को सिराजुद्दौला का फोर्ट विलियम पर अधिकर हो गया। पराजित अंगरेजों का नायक हॉलवेल था। 20 जून रविवार था। गर्मी की रात में 146 अंगरेजों को एक कोठरी में बन्द कर दिया गया जो 18 फीट लम्बी और 14 फीट चौड़ी थी। हॉलवेल के विवरण के अनुसार बन्दियों में से 123 की मृत्यु हो गयी और केवल 23 व्यक्ति जिन्दा बच सके। यह घटना 'कालकोठरी का हत्याकाण्ड' के नाम से प्रसिद्ध है।

कालकोठरी की घटना की वास्तविकता सन्देहास्पद है। एक तंग कमरे में 146 अंगरेजों को बन्द करने की बात व्यावहारिक नहीं लगती। 18 × 14 फीट वाले कमरे का क्षेत्रफल 252 वर्गफीट होता है। 252 वर्गफीट में 146 व्यक्तियों को बन्द रखना असम्भव है। डॉ. ब्रिजेन गुप्ता, भोलानाथ चन्द्र जैसे लेखकों ने विभिन्न तथ्यों का मूल्यांकन कर यह निष्कर्ष निकाला है कि इस कोठरी में अधिक-से-अधिक 39 व्यक्तियों को बन्द किया जा सकता था। एक अन्य विवरण के अनुसार उसमें 69 व्यक्तियों को रखा जा सकता था। दोनों तथ्य सामने रखकर निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कालकोठरी की घटना वस्तुतः कपोल कल्पित है। इस घटना का विवरण किसी समकालीन ऐतिहासिक ग्रन्थ अथवा साहित्यिक रचना में नहीं मिलता। उदाहरण के लिए 'सियरुलमुताखिरीन' और सियासतुस्सलातीन' जैसे ग्रन्थों में इसका कोई उल्लेख नहीं है जबकि इनके लेखक अंगरेजों के प्रति सहानुभूति रखते थे। इस घटना के लिए सिराजुद्दौला व्यक्तिगत रूप से उत्तरदायी नहीं था। वस्तुतः कालकोठरी की घटना हॉलवेल के दिमाग की अपज थी। हॉलवेल के विवरण की सत्यता पर अंगरेज इतिहासकार एस. सी. हील ने भी सन्देह प्रकट किया है। हॉलवेल ने सिराजुद्दौला के विरुद्ध अंगरेजों को भड़काने के उद्देश्य से एक मनगढंत

कहानी की रचना कर ली। वास्तविकता तो यह थी कि सिराजुद्दौला बन्दी अंगरेजों से भद्रता से पेश आया था और पराजित अंगरेजों को फुल्टा में भोजन-सामग्री देने के लिए बाजार खोलने का आदेश दिया था। परन्तु अंगरेजों ने इस भद्रता का भी उत्तर षड्यंत्र से दिया।

पूर्णिया की विजय : पूर्णिया का नवाब शौकतजंग अत्यधिक महत्त्वाकांक्षी था। वह बंगाल के मसनद पर अधिकार करने के लिए प्रयत्न करने लगा। योग्य एवं अनुभवी सरदारों की राय की उपेक्षा कर शौकतजंग ने सिराजुद्दौला के विरुद्ध असन्तुष्ट व्यक्तियों को अपने पक्ष में लाना प्रारम्भ कर दिया। दिल्ली के बादशाह से बंगाल की सूबेदारी प्राप्त करने के लिए उसने उपहार एवं अधिक रकम भेजने का वादा भी किया। दिल्ली की हालत स्वयं दयनीय थी। सनद प्राप्त होने के बाद शौकतजंग ने जगतसेठ और मीरजाफर से सहायता की अपील की। उसने आलमपनाह की उपाधि धारण कर खुद स्वतंत्र शासक होने की घोषणा कर दी। अतः शौकतजंग को सबक सिखाने के उद्देश्य से सिराजुद्दौला ने 16 अक्तूबर, 1756 ई. को मनीहारी के युद्ध में शौकतजंग को पराजित कर उसकी हत्या कर दी। शौकतजंग के विरुद्ध युद्ध में बिहार के नायब नाजिम रामनारायण एवं अन्य जमींदारों ने सिराजुद्दौला को यह समझने की भूल की कि उसके संकट के दिन टल गये। फुल्आ द्वीप में बैठे अंगरेज उसके विरुद्ध षड्यंत्र का जाल बुन रहे थे। वे सरलता से अपनी पराजय स्वीकार करने को तैयार न थे। अपने दुर्व्यवहार के लिए वे क्षमायाचना भी नहीं करना चाहते थे। सिराज अंगरेजों के प्रति आश्वस्त हो गया था। वह इतना नहीं सोच सका कि अंगरेज शीघ्र उससे युद्ध कर पाएँगे। उसने जलशक्ति के विकास या समुद्री तट की रक्षा का प्रबन्ध न कर एक भयानक भूल की। सिराजुद्दौला यदि अंरगरेजों को फुल्टा द्वीप से निकालने का प्रयास कर समुद्री तट की रक्षा का प्रयास कर लेता तो भारतीय इतिहास की रूपरेखा दूसरे ढंग की होती। इस छोटी-सी भूल का भयानक परिणाम अंगरेजी साम्राज्य की स्थापना के रूप में हुआ।

अंगरेजों और सिराजुद्दौला के बीच संघर्ष : कलकत्ता-विजय के बाद सिराजुद्दौला ने कलकत्ता का नाम अलीनगर रखा और उसका प्रबन्ध राजा मानिकचन्द के हाथ सौंप दिया। उसने हुगली में राजदरबार किया जहाँ फ्रांसीसी और डच कम्पनियों के प्रतिनिधियों ने उसे नजराना भेंट किया। फ्रांसीसियों ने साढ़े तीन लाख और डचों ने साढ़े चार लाख रुपये उपहार स्वरूप भेंट दिये और सिराजुद्दौला ने उन्हें व्यापार करने की आज्ञा दी। फ्रांसीसियों और डचों की तरह अंगरेज व्यापारियों से भी सिराजुद्दौला वैसे ही सलूक की आशा रखता था। सिराजूद्दौला 11 जुलाई, 1756 ई. को मुर्शिदाबाद लौट गया। दिल्ली के सम्राट से सिराजुद्दौला को बिहार, बंगाल और उड़ीसा की सूबेदारी की सनद भी प्राप्त हो गयी। प्रारम्भिक कठिनाइयों पर विजय

पाकर सिराजुद्दौला ने अपनी स्थिति सुदृढ़ बना ली। परन्तु शान्ति उसके भाग्य में लिखी ही नहीं थी।

अंगरेजों की पराजय और फुल्टा में उनके ठहरने की सूचना पाकर मद्रास में अंगरेजों की कोठी में खलबली मच गयी। मद्रास से सेना भेजने का आग्रह किया गया। मद्रास से 800 यूरोपियन और 1300 भारतीय सैनिकों का दल रवाना हुआ। जलसेना का नेतृत्व एडमिरल वाटसन और स्थल सेना का नेतृत्व कर्नल क्लाइव को दिया गया। अंगरेज अच्छी तरह जानते थे कि इतनी छोटी सेना के बल पर सिराजुद्दौला को हराना असम्भव है। अतः मद्रास काउन्सिल के सदस्यों द्वारा यह स्पष्ट आदेश दिया गया कि नवाब के दरबारियों को फोड़कर तथा किसी दूसरे को नवाब बनाने का प्रलोभन देकर सिराजुद्दौला को अपदस्थ करने की चेष्टा की जाए।

फुल्टा के अंगरेजों की जान में जान आयी जब मद्रास की सेना वहाँ पहुँच गयी। वाटसन और क्लाइव ने कलकत्ता के राजा मानिकचन्द को लालच देकर अपने पक्ष में करा लिया था। 29 दिसम्बर, 1756 ई. को अंगरेजी सेना बजबज पहुँची। बजबज में राजा मानिकचन्द के अधीन एक शक्तिशाली दुर्ग था। मानिकचन्द ने दिखावे की लड़ाई की और मात्र 263 अंगरेजों ने क्लाइव के नेतृत्व में बजबज पर अधिकार कर लिया। बजवज के बाद अंगरेजों ने बिना किसी विरोध के 2 जनवरी, 1757 ई. को कलकत्ता पर अधिकार कर लिया। मानिकचन्द विरोध करने के बदले हुगली चला गया और उसने सिराजुद्दौला के पास अपनी हार की सूचना भेज दी। कलकत्ता के बाद तन्नाह का किला भी सुविधा से अंगरेजों के हाथ में आ गया। 3 जनवरी, 1757 ई. को कलकत्ता का किला डैक और उसकी काउन्सिल को सुपुर्द कर दिया गया तथा अंगरेजों ने नवाब के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर सैनिक व्यय और क्षतिपूर्ति की मांग की।

प्रारम्भिक अभियान में सफलता पाने से अंगरेजों का हौसला बढ़ा और उन्होंने 11 जनवरी, 1757 ई. को हुगली पर आक्रमण कर दिया। हुगली का किला आरक्षित था। वहाँ अनाज के बड़े-बड़े भंडार थे। अंगरेजों के छल दिनों तक हुगली और पास-पड़ोस के क्षेत्र को लूटा और बहुत-से निर्दोष व्यक्तियों की हत्या कर दी। क्लाइव युद्ध के साथ-साथ नवाब के दरबारियों से गुप्त पत्राचार भी कर रहा था। सम्भवतः सिराजुद्दौला को दरबारियों के साथ पत्र-व्यवहार की भनक मिल गयी। अतः उसने मुर्शिदाबाद से कलकत्ता के लिए प्रस्थान किया। हुगली में ठहरकर उसने वाटसन को एक पत्र लिखा जिसमें अंगरेज व्यापारियों को पहले जैसी व्यापारिक सुविधा देने की बात स्वीकार कर ली गयी।

अंगरेज सिराजुद्दौला को सन्धि के लिए उत्सुक पाकर उसे कलकत्ता बुलाकर छल से पराजित करने का षड्यंत्र रचा चुके थे। सिराजुद्दौला और अंगरेजों के बीच

सन्धि-वार्ता चल रही थी कि चुपके से अंगरेजों ने उसकी सेना पर आक्रमण कर दिया। सिराजुद्दौला के प्रायः सभी प्रमुख अधिकारियों को अंगरेज अपनी तरफ मिला चुके थे। विश्वासघात के वातावरण में भी सिराजुद्दौला की सेना ने युद्ध में दो सौ अंगरेजों को मौत के घाट उतार दिया। सिराजुद्दौला के मंत्रियों को अंगरेज लालच पहले ही दे चुके थे। ऐसी स्थिति में सेनापति मीरजाफर-जैसे व्यक्ति की सलाह पर नवाब अंगरेजों के साथ 9 फरवरी, 1757 ई. को अलीनगर की सन्धि करनी पड़ी।

अलीनगर की सन्धि : सन्धि की शर्तें निम्नलिखित थीं

1. मुगल सम्राट द्वारा अंगरेजों को दी गयी सभी सुविधाओं को सिराजुद्दौला ने स्वीकार कर लिया।

2. अंगरेजों के 'दस्तक' से जो सामान आएगा उस पर बंगाल, बिहार और उड़ीसा की सीमाओं के अन्दर कोई कर नहीं लिया जाएगा।

3. कम्पनी या उसके कर्मचारियों की वे सभी वस्तुएँ लौटा दी जाएँगी जिन्हें नवाब ने जब्त कर लिया था और कम्पनी को जो क्षति उठानी पड़ी थी उसकी पूर्त्ति नवाब के द्वारा की जाएगी।

4. अंगरेजों को इच्छानुसार कलकत्ता की किलेबन्दी करने की आज्ञा मिल गयी।

5. अंगरेजों को सिक्के बनाने का भी अधिकार दिया गया।

6. नवाब और उसके मुख्य पदाधिकारी एवं मंत्री सन्धि पर हस्ताक्षर करेंगे।

8. अंगरेजों की ओर से एडमिरल वाटसन और कर्नल क्लाइव इस बात का वादा करेंगे कि जब तक नवाब की ओर से सन्धि की शर्तों की अवहेलना न की जाएगी तब तक वे शान्ति के साथ रहेंगे।

अलीनगर की सन्धि का मुख्य उद्देश्य नवाब और कम्पनी के बीच सद्भावना स्थापित करना था। अंगरेजों ने तत्कालीन उपचार के रूप में नवाब के साथ अलीनगर की सन्धि की थी। दोनों पक्षों ने वस्तुस्थिति को देखते हुए सन्धि की शर्तें स्वीकार कर ली थीं। वस्तुतः कोई पक्ष सन्धि की शर्तों के पालन के पक्ष में मन से नहीं था। अंगरेजों को यह भय था कि नवाब और फ्रांसीसी एक मत होकर उनको बंगाल से निष्कासित करने में सफल हो जायेंगे। इस समय यूरोप में सप्तवर्षीय युद्ध की सूचना भी अंगरेजों को प्राप्त हो चुकी थी। स्वाभाविक रूप से नवाब और फ्रांसीसियों का सहमत हो जाना अंगरेजों के लिए बड़ा खतरा था। दूसरी बात यह थी कि एडमिरल वाटसन और कलकत्ता के काउन्सिल से क्लाइव का सम्बन्ध अच्छा नहीं था। वाटसन क्लाइव के असीमित अधिकारों से असन्तुष्ट था। अलीनगर की सन्धि से अंगरेजों की प्रतिष्ठा बढ़ी और वे सुतवधाजनक स्थिति में आ गए। लाभदायक समझकर ही अंगरेजों ने नवाब के साथ सन्धि कर अपनी स्थिति सुदृढ़ बनाना श्रेयस्कर समझा।

दूसरी ओर सिराजुद्दौला भी विवशता में सन्धि करने के लिए सहमत हुआ। सिराजुद्दौला के दरबारी, मुख्य सरदार और उसके ससुर मुहम्मद इराज खाँ के पक्ष में थे। अलीनगर की सन्धि पर सहमत हो गया था। अतः दोनों पक्ष सन्धि के प्रति उपेक्षा की नीति से काम ले रहे थे। ऐसी अवस्था में युद्ध की सम्भावना अधिक थी। अंगरेज कूटनीति एवं सैनिक शक्ति के बल पर अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहते थे।

पलासी का युद्ध : कारण और परिणाम

कारण : अलीनगर की सन्धि की स्याही सूख भी नहीं पायी थी कि अंगरेजों ने उसकी अवहेलना प्रारम्भ कर दी। वस्तुतः सन्धि की शर्त्तें पूरी करने के प्रति दोनों पक्ष उदासीन थे। वे अपने उद्देश्य की प्राप्ति चाहते थे। सिराजुद्दौला ने अंगरेजों को तीन लाख रुपये क्षतिपूर्ति के रूप में देने के वादा किया था, परन्तु उसने पूरा रुपया नहीं किया। रैमजे म्योर का कथन है कि "नवाब सन्धि की शर्त्तें पूरी करने के लिए तैयार न था, इस कारण युद्ध आवश्यक हो गया।" परन्तु यह आक्षेप वस्तुतः उचित नहीं जान पड़ता है, क्योंकि अंगरेजों द्वारा ही सन्धि की शर्तों की उपेक्षा कर पहले युद्ध प्रारम्भ किया गया।

युद्ध का मुख्य कारण था अंगरेजों की महत्त्वाकांक्षा। अंगरेज फ्रांसीसियों का प्रभाव समाप्त करना चाहते थे। अलीनगर की सन्धि में फ्रांसीसियों के निष्कासन की बात सिराजुद्दौला ने स्वीकार नहीं की। सिराजुद्दौला ने केवल अंगरेजों के शत्रुओं से मित्रता न रखने का आश्वासन दिया था। सन्धि की शर्त्तों के बावजूद चन्दरनगर पर अंगरेजों ने मार्च, 1757 ई. में आक्रमण कर दिया। नवाब फ्रांसीसियों पर आक्रमण के पक्ष में नहीं था। उसने फ्रांसीसियों को सैनिक सहायता दी जिसे अंगरेजों ने 'सन्धि की अवहेलना' का नाम दिया। बंगाल में अंगरेजों और फ्रांसीसियों के बीच कभी युद्ध नहीं हुआ था। अतः बंगाल में फ्रांसीसियों को अंगरेजों का शत्रु मानने के लिए नवाब तैयार नहीं था।

सिराजुद्दौला फ्रांसीसियों को अंगरेजों की तरह सुविधा देकर उन्हें अंगरेजों के विरुद्ध खड़ा करने की योजना बना रहा था। वह अंगरेजों और फ्रांसीसियों को एक-दूसरे के विरुद्ध कर स्वयं मध्यस्थता की निर्णायक भूमिका अदा करना चाहता था। परन्तु सिराजुद्दौला की नीति का पता चलने पर अंगरेज उससे नाराज होकर युद्ध पर उतर आये।

अहमदशाह अब्दाली के आक्रमण ने सिराजुद्दौला को अत्यधिक भयभीत कर दिया था। मुगल सम्राट के बाद अवध के नवाब और बिहार पर आक्रमण का खतरा उपस्थित हो गया था। अब्दाली का सम्भावित आक्रमण रोकने के उद्देश्य से सिराजुद्दौला अपनी सेना का एक अच्छा भाग बिहार की सीमा पर भेज चुका था। अंगरेजों को सिराजुद्दौला की हर गतिविधि की सूचना उसके वश्वासघाती दरबारियों

के माध्यम से मिल जाती थी। अतः उपयुक्त अवसर देखकर अंगरेजों ने सिराजुद्दौला के विरुद्ध षड्यंत्र की रचना की।

सिराजुद्दौला के व्यवहार से कुछ अधिकारी और प्रमुख व्यापारी असन्तुष्ट थे। राजा राजवल्लभ को ढाका के दीवान के पद से हटाकर और उसकी सम्पत्ति पर अधिकार करने की चेष्टा कर सिराजुद्दौला ने उसे पहले ही असन्तुष्ट कर दिया था। बंगाल का सबसे अधिक धनी व्यापारी जगतसेठ भी सिराजुद्दौला का विरोधी था। माणिकचन्द, अमीचन्द, राजा नन्दकुमार जैसे प्रमुख हिन्दू राजा भी सिराज के साथ विश्वासघात कर अंगरेजों का समर्थन कर रहे थे। राजवल्लभ का पुत्र किसनचन्द भी अंगरेजों के संरक्षण में था। हिन्दुओं और अंगरेजों का व्यापारिक उद्देश्य समान था। अतः हिन्दू व्यापारियों एवं विश्वासघाती सेनापति मीरजाफर को मिलाकर शीघ्र ही अंगरेजों ने सिराजुद्दौला के विरुद्ध षड्यंत्र की रचना कर ली।

षड्यंत्र में शामिल होने के पीछे अंगरेजों का दोहरा उद्देश्य था। वे सिराजुद्दौला को अपदस्थ कर एक ऐसे व्यक्ति को बंगाल की गद्दी पर बैठाना चाहते थे जो उनकी इच्छानुसार काम कर सके। दूसरे, सत्ता-परिवर्त्तन से अंगरेजों को आर्थिक लाभ की सम्भावना थी। अतः अंगरेजों और षड्यंत्रकारियों के बीच एक समझौता हुआ। षड्यंत्रकारियों में अमीचन्द अधिक लालची था। वह तीस लाख रुपये और नवाब के खजाने का पाँच प्रतिशत हिस्से के रूप में लेना चाहता था। उसने धमकी दी कि यदि उसे निर्धारित रकम देने की बात स्वीकार नहीं की गयी तो वह षड्यंत्र का भण्डाफोड़ कर देगा। परन्तु क्लाइव की कूटनीति और छल के सामने अमीचन्द भी मात खा गया। एक ओर क्लाइव सिराजुद्दौला को सांत्वना भरा पत्र लिख रहा था और दूसरी ओर मीरजाफर को बंगाल के नवाब का आश्वासन दे चुका था। बदले में मीरजाफर ने अंगरेजों को एक करोड़ रुपये, हुगली से लेकर कालपी तक की जमींदारी, फ्रांसीसियों को निकालने तथा अंगरेज सेना का खर्च उठाने आदि का वादा किया।

षड्यंत्र पूरा हो जाने पर क्लाइव ने दो सन्धिपत्र तैयार किये। एक सफेद कागज पर था और दूसरा लाल कागज पर। सफेद कागज पर सच्ची बातें लिखी गयीं और लाल कागज पर अमीचन्द को ठगने के लिए झूठी क्षर्त्तें लिख दी गयीं। झूठी सन्धि के पत्र पर वाटसन ने हस्ताक्षर करने से इनकार कर दिया परन्तु क्लाइव ने वाटसन का जाली हस्ताक्षर कर अमीचन्द को सन्तुष्ट कर दिया।

अंगरेजों की तुलना में सिराजुद्दौला को अंगरेजों की वास्तविक स्थिति से अनभिज्ञ रखा था। राजा नन्दकुमार के असहयोग के कारण चन्दरनगर में फ्रांसीसियों की हार हो गयी थी। मीरजाफर और राय दुर्लभ धोखा देने के लिए तैयार थे। अंगरेजों को धन से मदद देने के लिए जगतसेठ बन्धु तैयार थे। सिराजुद्दौला असहाय अवस्था में था। वह भी स्वयं कुशल सेनानायक नहीं था। दृढ़ता के साथ किसी नीति को

कार्यान्वित करने की शक्ति भी उसमें नहीं थी। वस्तुस्थिति का मूल्यांकन कर अंगरेजों ने सिराजुद्दौला पर अलीनगर की सन्धि भंग करने का आरोप लगाया और फ्रांसिसियों को बंगाल, बिहार और उड़ीसा के सारे ठिकानों से निकालने की माँग की। नवाब का उत्तर मिलने के पहले ही क्लाइव के नेतृत्व में अंगरेजों ने कटवा की ओर प्रस्थान किया। 19 जून, 1757 ई. को कटवा पर अंगरेजों का अधिकार हो गया जिसे 'मुर्शिदाबाद का द्वार' कहा जाता था।

अंगरेजों द्वारा युद्ध की शुरुआत करने के बाद सिराजुद्दौला के सामने कोई विकल्प नहीं रह गया। सिराजुद्दौला को विश्वासघात का आभास मिल चुका था तथा उसके पास एक विशाल सेना थी। फिर भी सिराजुद्दौला ने स्वयं मीरजाफर के महल में पहुँचकर अपने पिछले अपराधों के लिए क्षमा याचना की और अलीवर्दी खाँ की प्रतिष्ठा की रक्षा की अपील की। मीरजाफर ने कुरान हाथ में लेकर सिराजुद्दौला को साथ देने का वचन दिया। मीरजाफर के प्रति सिराजुद्दौला ने आश्वस्त होकर युद्ध के लिए प्रस्थान किया।

बंगाल की राजधानी मुर्शिदाबाद से 20 मील की दूरी पर पलाश वृक्षों के वन को 'पलासी' कहा जाता था। वृहस्पतिवार, 23 जून, 1757 ई. को अंगरेजों और सिराजुद्दौला की सेनाओं के बीच युद्ध हुआ। युद्ध 9 बजे प्रातःकाल प्रारम्भ हुआ। सिराजुद्दौला का प्रधान सेनापति मीरजाफर था तथा उसकी सहायता के लिए यारलुत्फ खाँ, राय दुर्लभ और मीरमदन तीन मुख्य सेनापति थे। सेना का मुख्य भाग, जिसमें 45000 सैनिक थे, मीरजाफर, यारलुत्फ खाँ और राय दुर्लभ के अधीन था। दूसरी टुकड़ी, जिसमें 82000 सैनिक थे, मीरमदन के नेतृत्व में थी। मीरमदन के साथ मोहन लाल था जो सिराजुद्दौला का विशेष कृपापात्र था। सिराजुद्दौला की सेना की एक छोटी टुकड़ी ने पहले आक्रमण किया और आधे घंटे की लड़ाई में ही क्लाइव की कायरता और अकुशलता नजर आने लगी। क्लाइव पराजय की सम्भावना को देखते हुए पीछे लौट गया। परन्तु मीरजाफर, यारलुत्फ खाँ और राय दुर्लभ अपनी पूरी सेनाओं के साथ अंगरेजों से मिल गये। अकेले मीरमदन और मोहनलाल अंगरेजों एवं विश्वासघाती सेनानायकों का सामना वीरतापूर्वक करते रहे। जब तक मीरमदन जिन्दा रहा, अंगरेजों को अपना पैर जमाने का अवसर उसने नहीं दिया। परन्तु मीरमदन की मृत्यु के बाद सिराजुद्दौला के सैनिकों का मनोबल टूट गया। वे मैदान छोड़कर भाग निकले । क्लाइव, बिना किसी बाधा के आगे बढ़ा। युद्ध में थोड़े-से रक्तपात के बाद सिराजुद्दौला को भाग जाना पड़ा और विजय क्लाइव तथा अंगरेजों के पक्ष में हुई।

सिराजुद्दौला मुर्शिदाबाद पहुँचा। परन्तु मुर्शिदाबाद को असुरक्षित पाकर वह भाग निकला। उसके साथ उसकी बेगम लुत्फुन्निसा थी। भाग्य का मारा नवाब

पकड़ा गया और मीरजाफर के पुत्र मीरन के द्वारा मार डाला गया। बंगाल का नवाब मीरजाफर बने। उसे अंगरेजों का पर्याप्त धन मिला। मीरजाफर ने कम्पनी के सभी विशेषाधिकारों को स्वीकार कर चौबीस परगने की जागीरदारी भी कम्पनी को दी। कम्पनी को एक करोड़ सतहत्तर लाख रुपये मिले। जिसमें कम्पनी के सेवकों को अलग से बारह लाख रुपये मिले। स्वयं क्लाइव को दो लाख चौबीस हजार पौण्ड प्राप्त हुए। इतनी मोटी रकम पूरी करने के लिए मीरजाफर को महल के सोना-चाँदी के बरतन भी बेच देने पड़े।

युद्ध के परिणाम : भारत के निर्णायक युद्धों में पलासी के युद्ध का विशिष्ट स्थान है। पलासी की घटना साधारण नहीं थी। इससे केवल पूर्वी भारत में ही नहीं बल्कि पूरे देश के इतिहास में एक नया मोड़ आया। पलासी का युद्ध सैनिक-प्रदर्शन था और उसे कुछ घंटों का व्यायाम भी कहा जा सकता है। वस्तुतः यह विद्रोह था अथवा एक क्रान्ति थी, यह विवाद का विषय है। पलासी के बाद बंगाल का नवाब मीरजाफर बनाया गया जो कम्पनी के हाथ की कठपुतली, शून्य और काठ का घोड़ा था। वह अंगरेजों की इच्छानुसार बंगाल का शासन चलाने लगा। बंगाल की गद्दी पर कौन-सा शासक बैठे—इसका निर्णय दिल्ली के सम्राट के बदले अब कलकत्ता के अंगरेज व्यापारी ही करने लगे अतः पलासी के युद्ध के बाद यद्यपि अंगरेजी शासन बंगाल में प्रारम्भ नहीं हुआ, परन्तु अंगरेज नवाब-निर्माता अवश्य बन गये।

पलासी के युद्ध के परिणाम की विवेचना कई दृष्टिकोणों से की जा सकती है। सर्वप्रथम इसका मूल्यांकन युद्ध की दृष्टि से करना उचित जान पड़ता है। पलासी में वस्तुतः कोई युद्ध नहीं हुआ था। सरदार के. एम. पणिक्कर के शब्दों में, "पलासी की घटना एक हुल्लड़ और भगदड़ थी युद्ध नहीं।" सैनिक दृष्टि से पलासी को एक सैनिक झड़प की संज्ञा दी जा सकती है। इसमें युद्ध का स्वांग रचा गया था। सैनिक शक्ति का वास्तविक प्रदर्शन नहीं हुआ। अंगरेजी सेना की रणकुशलता भी प्रमाणित नहीं हो पायी थी। युद्ध का रुख देखकर क्लाइव स्वयं भयभीत होकर युद्ध छोड़ने का विचार कर चुका था। परन्तु अधिकतर अंगरेज युद्ध बन्द करने के पक्ष में नहीं थे। क्लाइव मेजर किलपेट्रिक को लड़ाई का आदेश देने के लिए दोषी मानकर दण्डित करना चाहता था। परन्तु मीरजाफर, यारलुत्फ खाँ और राय दुर्लभ की विशाल सैनिक टुकड़ी जब अंगरेजों की तरफ आ गयी तो क्लाइव का साहस बढ़ा और लगभग सूना मैदान पाकर उसने विजय भी हासिल की। सिराजुद्दौला की सेना के केवल एक छोटे-से अंग ने युद्ध में भाग लिया था जिसका नेतृत्व मीरमदन कर रहा था। अतः पलासी के युद्ध में बंगाल के नवाब को अपनी सैनिक शक्ति का परिचय देने का उसके विश्वासघाती सेनापतियों ने अवसर ही नहीं दिया था। वस्तुतः पलासी के युद्ध को षड्यंत्र कहना अधिक उपयुक्त होगा। सैनिक शक्ति के बदले अंगरेजों ने

विश्वासघात का सहारा लेकर विजय प्राप्त की थी। सरदार के. एम. पणिक्कर के अनुसार, "पलासी का युद्ध एक ऐसा व्यापारिक युद्ध था जिसमें बंगाल के धनसेठों और मीरजाफर ने नवाब को अंगरेजों के हाथ बेच डाला था।"

सैनिक दृष्टि की अपेक्षा पलासी के युद्ध का राजनीतिक और आर्थिक परिणाम विशेष महत्त्वपूर्ण था। पलासी के युद्ध के बाद भारतीय राजनीति में अंगरेजों की प्रधानता कायम हो गयी। पलासी के युद्ध ने बंगाल की भूमि पर अंगरेजों को पैर जमाने का अवसर दिया जिसके सहारे बंगाल और बाद में भारत की विजय का रास्ताा प्रशस्त हो गया। पलासी-युद्ध के फलस्वरूप अंगरेजों को लूट-खसो के लिए बंगाल का धनी प्रान्त मिल गया। सिराजुद्दौला की पराजय से अंगरेजों को यह विश्वास हो गया कि उनके लिए देशी रियासतों को जीतना कोई असम्भव कार्य नहीं है। इससे अंगरेजों की भारत-विजय की कल्पना ने साकार रूप लिया।

सिराजुद्दौला अंगरेजों के विकास के रास्ते में एक वड़ी वाधा का काम कर रहा था। दृश्यपटल से सिराजुद्दौला के हट जाने पर अंगरेजों को राजनीतिक प्रभुत्व वढ़ाने का अवसर मिल गया। मीरजाफर नाममात्र का नवाव था। 1757 ई. से 1760 ई. के मध्य तक की घटनाएँ इस तथ्य का प्रमाण हैं। मीरजाफर ने अंगरेजों के बल पर बंगाल की मसनद प्राप्त की थी। वह बंगाल एवं बिहार में शान्ति-व्यवस्था कायम रखने के लिए अंगरेजों की सहायता पर निर्भर था। अंगरेजों ने 6,000 सैनिक मीरजाफर की सहायता के लिए रख छोड़े थे। अंगरेजी सेना का सारा खर्च नवाव मीरजाफर को पूरा करना पड़ता था। स्वविवेक के अनुसार मीरजाफर कोई काम नहीं कर पाता था। मीरजाफर राय दुर्लभ और बिहार के दीवान राजा रामनारायण को दण्ड देना चाहता था। परन्तु ये दोनों अंगरेजों से मिले हुए थे। अतः मीरजाफर चाहते हुए भी इन दोनों विरोधियों को दण्ड नहीं दे पाया। अंगरेजों का कृपापात्र राजा सिताबराय ऊँचे पद पर आसीन हो गया। मीरजाफर की स्थिति असहाय शासक की थी। अंगरेजों के बढ़ते हुए राजनीतिक प्रभुत्व का अन्दाज केवल इस बात से लगाया जा सकता है कि जब मीरजाफर जब स्वतंत्र रूप से कुछ काम करना चाहता तो अंगरेजों ने मीरजाफर के बदले उसके दामाद मीरकासिम को नवाब बना दिया और मीरकासिम से मतभेद होने पर बूढ़े नवाब मीरजाफर को बंगाल की गद्दी पुनः दे दी। गद्दी-परिवर्तन करने के लिए अंगरेजों को युद्ध अथवा रक्तपात की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती थी। मैलसन ने लिखा है, "इतने शीघ्र, स्थायी और प्रभावशाली परिणामों वाला कोई युद्ध नहीं हुआ।"

मुगल साम्राज्य के लिए पलासी के युद्ध का परिणाम अत्यधिक घातक साबित हुआ। बंगाल के धनी प्रान्त से मुगल सम्राट को प्रतिवर्ष निश्चित रकम प्राप्त होती थी। नवाब को पदच्युत करने की घटना के प्रति मुगल सम्राट के द्वारा कोई कार्यवाही

नहीं की गयी। मुगल सम्राट की आय का मुख्य स्रोत बन्द हो गया और उसकी राजनीतिक दुर्वलता की जानकारी मिल जाने से अंगरेजों का उत्तर भारत-विजय का हौसला बढ़ गया। उल्फ्रेड लॉयल ने लिखा है—"पलासी में क्लाइव की विजय ने बंगाल में युद्ध तथा राजनीति का एक अत्यन्त विस्तृत क्षेत्र अंगरेजों के लिए खोल दिया।"

आर्थिक दृष्टि से पलासी का युद्ध अंगरेजों के लिए अधिक लाभकारी सिद्ध हुआ। सर्वप्रथम, बंगाल, विहार और उड़ीसा में स्वतंत्र व्यापार करने की सुविधा अंगरेजों को मिली । बिना चुंगी दिये उन्होंने व्यापार प्रारम्भ कर दिया और बंगाल प्रान्त के कई स्थानों में अंगरेजों के द्वारा नये-नये कारखानों की स्थापना की गयी। व्यापारिक विकास के साथ-साथ अंगरेजों ने बंगाल के धनी प्रान्त की लूट प्रारम्भ की। 1757-60 ई. में मीरजाफर ने कम्पनी को तीन करोड़ रुपये रिश्वत के तौर पर दिये। अगले साठ वर्षों में कम्पनी के कर्मचारियों को शुद्ध 15 करोड़ रुपये का व्यापारिक लाभ हुआ। 1757 ई. के पहले अंगरेज व्यापारियों को भारत से माल खरीदने के लिए इंगलैण्ड से सोना-चाँदी मंगानी पड़ती थी। परन्तु बंगाल के धनी प्रान्त की लूट से अव अंगरेजों को अपने देश से धन लेना नहीं पड़ता था। भारतीय धन के सहारे ही कम्पनी के अधिकारी अपना व्यापार बढ़ाने लगे और इसी पूँजी के बल पर उन्होंने चीन में भी व्यापार प्रारम्भ कर दिया। कम्पनी की माली हालत में सुधार हुआ। व्यक्तिगत लाभ की दृष्टि से पलासी का युद्ध कम्पनी के कर्मचारियों के लिए वरदान सावित हुआ। जो व्यक्ति इंगलैण्ड में पैसों के लिए मुहताज था वह कम्पनी की सेवा में आकर वर्ष-दो-वर्ष के अन्दर लखपति हो जाता था। आर्थिक शोषण की इस प्रक्रिया के कारण बंगाल का धनी प्रान्त कंगाल हो गया। भारत में आर्थिक शोषण का नवयुग अंगरेजों के द्वारा पलासी के युद्ध के बाद प्रारम्भ हुआ। पलासी के परिणामस्वरूप ईस्ट इण्डिया कम्पनी को जो आर्थिक लाभ मिला उसके सहारे तृतीय कर्नाटक-युद्ध में अंगरेजों ने दक्षिण भारत की राजनीति से फ्रांसीसियों को पराजित करने में सफलता प्राप्त की। 1757 ई. में अंगरेजों ने कलकत्ता में अपनी टकसाल खोली और अपना सिक्का जारी किया। चौबीस पर गाने की जागीरदारी ने कम्पनी की आर्थिक हालत सुधार दी। एक व्यापारी संस्था ने राजनीतिक शक्ति का रूप धारण कर भारत में नये सम्राज्य की स्थापना कर ली, इसका मुख्य श्रेय पलासी-युद्ध को दिया जा सकता है।

नैतिक दृष्टि से पलासी का युद्ध विश्वासघात की विजय थी। मीरजाफर ने सिराजुद्दौला से अपमान का बदला लिया। हिन्दू व्यापारियों ने आर्थिक लाभ प्राप्त करने के उद्देश्य से अंगरेजों को धन-जन से सहायता दी। हिन्दू राजाओं का व्यवहार भी सिराजुद्दौल के प्रतिकूल था। स्वार्थी षड्यंत्रकारियों की जमात बंगाल में इकट्ठी

हो गयी थी। सबसे घोर निराशा अमीचन्द को हुई जिसे बंगाल की लूट से कोई भाग नहीं मिला। वस्तुतः अठारहवीं सदी का उत्तरार्द्ध भारतीय इतिहास का एक ऐसा संक्रमणकाल था जिसमें व्यक्तिगत स्वार्थ की प्रधानता थी, भ्रष्टाचार का बोलबाला था। छल-कपट से लोगों का नैतिक पतन हो चुका था, साधारण जनता असहाय थी। बंगाल के नवाब और अंगरेज दोनों ने प्रजा को भरपूर लूटना शुरू कर दिया। ऐसी अवस्था में अमानुषिक कृत्यों की संख्या बढ़ी और जनता तबाह हो गयी। डॉ. के. के. दत्त का कथन है कि गिरिया के युद्ध के प्रत्युत्तर के रूप में पलासी का युद्ध इतिहास का न्याय था। परन्तु इन दोनों मतों में पक्षपात की झलक दिखाई पड़ती है। पलासी की लड़ाई के बाद भारत में दासता का युग प्रारम्भ हुआ जिसमें इस देश का आर्थिक शोषण और नैतिक पतन भी हुआ।

मीरजापफर और अंगरेज (1757 ई. से 1760 ई.)

अलीवर्दी खाँ की वंशपरम्परा को समाप्त कर मीरजाफर बंगाल का नवाब बना। एक शक्तिशाली प्रशासन-व्यवस्था के स्थान पर बंगाल का शासन आन्तरिक षड्यंत्र और भ्रष्टाचार से पतनोन्तुख था। बंगाल की राजनीति का नियंत्रण अंगरेजों के हाथ आ गया। मीरजाफर अयोग्य एवं साहसहीन व्यक्ति था। नवाब बनने के बाद ही मीरजाफर को अनेक आन्तरिक एवं बाहय संकटों का सामना करना पड़ा। स्वयं मीरजाफर में शासन चलाने की क्षमता नहीं थी। उसे अंगरेजों के सहयोग पर निर्भर रहना पड़ता था। सिद्धान्त में मीरजाफर बंगाल का नवाब था, किन्तु व्यवहार में क्लाइव के हाथ शासन का सारा सूत्र था। मीरजाफर को 'करनल क्लाइव का गधा- की संज्ञा दी जाती थी। गद्दी प्राप्त करने के बदले उसे कम्पनी और उसके कर्मचारियों को एक मोटी रकम देनी पड़ती थी। धन का लालच बढ़ता गया और अंगरेजों को सन्तुष्ट रखने के नाम पर मीरजाफर को राजकोष खाली कर देना पड़ा। मीरजाफर की स्थिति इतनी दयनीय हो गयी थी कि वह अपने सैनिकों को वेतन भी नहीं दे सकता था। फलस्वरूप उसकी सेना ने विद्रोह कर दिया।

मीरजाफर संकीर्ण विचार का आदमी था। वह अलीवर्दी खाँ और सिराजुद्दौला की तरह धार्मिक मामलों में उदार नहीं था। अलीवर्दी के समय हिन्दुओं को ऊँचे-ऊँचे पदों पर नियुक्त किया गया। हिन्दुओं की सद्भावना स्वाभाविक रूप से अलीवर्दी खां के वंशजों के प्रति अधिक थी। किन्तु मीरजाफर को नवाब के रूप में स्वीकार करने के लिए बहुत से हिन्दू राजा तैयार नहीं थे। मीरजाफर ने क्लाइव के सुझाव पर वैसे बागी राजाओं को दण्ड देने की नीति अपनाकर हिन्दुओं से समर्थन पाने की आशा खो दी। मीरजाफर हिन्दुओं के स्थान पर मुसलमान अधिकारियों की नियुक्ति करना चाहता था। हिन्दू-मुस्लिम विरोध की स्थिति उत्पन्न कर मीरजाफर ने स्वयं आन्तरिक संकट पैदा कर लिया।

सर्वप्रथम बिहार के गवर्नर राजा नामनारायण का मीरजाफर को कोपभाजन बनना पड़ा। रामनारायण की सहानुभूति सिराजुद्दौला के प्रति थी। मीरजाफर रामनारायण के बदले बिहार का गवर्नर अपने निकट के सम्बन्धी को बनाना चाहता था। बिहार के जमींदारों का नेतृत्व राजा रामनारायण कर रहा था और फ्रांसीसी अधिकारी जियन लॉ से मिलकर वह मीरजाफर और अंग्रेजों की शक्ति का विरोध करना चाहता था। क्लाइव ने राजा रामनारायण के विरुद्ध मेजर कूट को एक सेना के साथ भेजा। राम रामनारायण ने मीरजाफर के प्रति स्वामिभक्ति की शपथ लेकर मेजर कूट को लौटा दिया। नामनारायण और नवाब के बीच मध्यस्थता करने का काम जगतसेठ के एजेण्ट गोविन्दमल ने किया था। परन्तु क्लाइव ने इन दोनों में मेल कराना पसन्द नहीं किया। उसने मीरजाफर को नामनारायण के विरुद्ध भड़काने का प्रयास किया। क्लाइव के बहकावे में आकर मीरजाफर रामनारायण से युद्ध के लिए तैयार हो गया। परन्तु मीरजाफर के पास धन का अभाव था। अतः बर्द्धमान और हुगली की मालगुजारी वसूलने की सुविधा अंगरेजों को देकर उसने क्लाइव के नेतृत्व में एक सेना रामनारायण के विरुद्ध भेजी। क्लाइव और जगतसेठ दोनों का उद्देश्य एक समान था। क्लाइव व्यापारिक सुविधा प्राप्त करने के लिए रामनारायण पर दबाव डालना चाहता था। अतः चार महीने तक पटना में अंगरेज सेना पड़ी रही और उसका खर्च नवाब को देना पड़ा। क्लाइव ने रामनारायण को बिहार का उप गवर्नर स्वीकार कर लिया और नाम भर लिए मीरजाफर के पुत्र मीरन को गवर्नर। रामनारायण ने क्लाइव को सात लाख रुपये उपहार में दिये तथा शोरा तैयार करने का ठीका कम्पनी को दिया। रामनारायण के अधिकार सीमित कर ही मीरजाफर को संतोष करना पड़ा।

उड़ीसा के शासक रामसिंह के भाई और भतीजों को मीरजाफर ने बंदी बना लिया, परन्तु क्लाइव ने रामसिंह को मीरजाफर से युद्ध नहीं करने दिया और बन्दियों को मुक्त कर नवाब को उसकी सन्धि करवा दी।

मीरजाफर की वक्रदृष्टि का शिकार पूर्णिया के राजा जुगलसिंह को भी बनना पड़ा। जुगलसिंह युद्ध में पराजित हुआ और पूर्णिया का शासक खादिम हुसैन बनाया गया।

मुर्शिदाबार के दीवान राजा दुर्लभ राय को भी क्लाइव और मीरजाफर ने मिलकर नष्ट करने की योजना बनायी। दुर्लभ राय शक्तिशाली था। वह युद्ध के लिए तैयार हो गया। परन्तु वाटसन ने मध्यस्थता कर नवाब और दुर्लभ राय के बीच सन्धि करवा दी।

मुगल सम्राट आलमगीर का पुत्र अली गौहर अपने को बिहार और बंगाल का अधिपति मानता था। पलासी के युद्ध के बाद बंगाल की राजनीतिक अस्तव्यस्तता

को देखते हुए उसने बिहार पर आक्रमण कर दिया। अली गौहर को अवध के नवाव के भाई मुहम्मद कुली खां और इलाहाबाद के सूवेदार से सहायता मिली थी। अली गौहर पटना तक वढ़ आया परन्तु राजा रामनारायण ने अपनी कुटनीति से उसे उलझा रखा और मीरजाफर से सैनिक सहायता की मांग की। क्लाइव ने समय पर सैनिकों के साथ पहुंचकर पटना की रक्षा की और अली गौहर के आक्रमण को विफल कर दिया। सैनिक सहायता के बदले क्लाइव को नवाव द्वारा कलकत्ता के दक्षिण की जागीरदारी सौंप दी गयी। 1760 ई. में अली गौहर ने दूसरी बार विहार पर आक्रमण किया। वह अव शाहआलम द्वितीय के नाम से मुगम सम्राट कहलाने लगा था। परन्तु धन एवं साधन के अभाव में अली गौहर या शाहआलम द्वितीय का आक्रमण बेकार हुआ। शाहआलम द्वितीय को अंगरेजों से दया की याचना करनी पड़ी।

आन्तरिक विरोध की स्थिति पर नियंत्रण के लिए मीरजाफर को अंगरेजों से ही सहायता लेनी पड़ी। परन्तु अंगरेजों के व्यवहार और नीति से मीरजाफर संतुष्ट नहीं था। वह स्वतंत्र रूप से शासन चलाना चाहता था। अंगरेजों के नियंत्रण से मुक्त होने के लिए उसने चिनसुरा को डचों से वातचीत शुरू की। डच अंगरेजों के विरोधी थे और वे अंगरेजों के बदले अपना प्रभाव बढ़ाना चाहते थे। मीरजाफर और डचों का के अपना व्यापारिक स्वार्थ था। वे अंगरेजों को बढ़ते हुए व्यापार से क्षुब्ध थे। अतः डचों का आक्रमण मात्र मीरजाफर के उकसाने पर ही नहीं था। बेदरा के युद्ध में डचों की हार हो गयी और डचों ने अंग्रेजों को क्षतिपूर्त्ति के रूप में धन भी दिया। बेदरा युद्ध के वाद मीरजाफर के पुत्र मीरन ने डचों को एक सन्धि करने के लिए विवश किया। सन्धि के अनुसार नवाब के डचों को व्यापारिक सुविधा देना स्वीकार किया। डचों के नवाव के विरुद्ध युद्ध न करने तथा किलेबन्दी एवं सैनिक एकत्र न करने का आश्वासन दिया। पटना, चिनसुरा, कासिमबाजार के कारखानों में सुरक्षा के लिए मात्र 125 सैनिकों को रखने की बात डचों ने स्वीकार कर ली। डच अपने जहाज और सैनिक जवानों के साथ राज्य की सीमा से बाहर ले जाने के लिए राजी हो गये। उनमें तय हुआ कि सन्धि की शर्तें भंग करने पर नवाब डचों को बाहर निकाल देगा।

बेदरा को सन्धि के फलस्वरूप डचों की महत्त्वाकांक्षा सदा के लिए समाप्त हो गयी। वे अंगरेजों की कृपा पर निर्भर रहे। सरकार एवं दत्त के शब्दों में, 'बेदरा का युद्ध अंगरेजी सत्ता को बंगाल में स्थापित करने की दिशा में पलासी के युद्ध का अगला कदम था।'

डचों की पराजित करने के बाद बंगाल की राजनीति में अंगरेजों की प्रभुता का विरोध करने वाली कोई शक्ति नहीं रही। क्लाइव, फरवरी, 1760 ई. में इंगलैण्ड लौट गया। क्लाइव के स्थान पर हॉलवेल कार्यवाहक गवर्नर नियुक्त हुआ। इस बीच मीरजाफर के पुत्र मीरन की मृत्यु हो गयी। मीरन के सामने मरने से मीरजाफर के

उत्तराधिकारी का प्रश्न आया। अंगरेज मीरजाफर को गद्दी से हटाना चाहते थे। मीरजाफर का पक्ष क्लाइव के न रहने से कमजोर पड़ गया था। हॉलवेल के बाद वैन्सिटार्ट कम्पनी का नया गवर्नर नियुक्त हुआ। हॉलवेल और वैन्सिटार्ट दोनों मीरजाफर के विरोधी थे। मीरजाफर को हटाने के पीछे अग्रलिखित कारण थे–

(क) मीरजाफर की अयोग्यता : मीरजाफर एक अयोग्य शासक था। वह आन्तरिक एवं बाह्य आक्रमण से बंगाल प्रान्त की सुरक्षा एवं शांति व्यवस्था कायम रखने में अक्षम साबित हो चुका था। मीरजाफर का अपने सैनिकों पर कोई नियंत्रण नहीं रहा था। उसके सैनिक विद्रोह कर बैठते थे। शासन एवं कानून से सम्बद्ध प्रश्नों के लिए वह पूर्णतया अंगरेजों के समर्थन पर निर्भर था। मीरजाफर की असहाय अवस्था का लाभ उठाकर अंगरेज अधिकारी, खासकर क्लाइव, उससे अनुचित लाभ उठाने लगे। कम्पनी के अधिकारियों से सैनिक सहायता लेने के एवज में मीरजाफर को धन का अपव्यय करना पड़ा। अंगरेजों को लालच बढ़ता गया और उनकी मांगें पूरी करने में ही मीरजाफर ने राज्य की आर्थिक स्थिति दयनीय बना दी। तंग आकर जब मीरजाफर ने अंगरेजों का विरोध करना चाहा तो स्वाभाविक रूप से अंगरेजो उसे हटाने के लिए व्यग्र हो उठे।

(ख) जनसमर्थन का अभाव : मीरजाफर को नवाब के रूप में अधिकतर लोगों ने पसन्द नहीं किया था। हिन्दुओं को प्रति उसका व्यवहार सहिष्णु नहीं था। बिहार के अधिकतर शासक उसके विरोधी थे। हार्दिक शोषण की प्रक्रिया से आम जनता तबाह थी। नवाब कमजोर था। अंगरेजों का विरोध करने का उसमें साहस नहीं था। अतः नवाब की दुर्बलता का लाभ उठाकर अंगरेज व्यापारी मनमाना अत्याचार करने लगे। प्रजा के समर्थन के अभाव में मीरजाफर का शासन असफल रहा और उसे हटाने का कोई विरोध नहीं हुआ।

(ग) सन्धि की शर्तों को पूरा नहीं करना : मीरजाफर ने नवाब बनने के लोभ में पड़कर कम्पनी को जितना धन देने का वादा किया था उसकी पूर्ति संचित कोश से नहीं हो पायी। सोने-चांदी के बरतन बेचकर भी रकम की पूर्ति नहीं की जा सकी। नवाब आय का स्रोत बढ़ाने के प्रति सचेष्ट नहीं था। कम्पनी के अधिकारी दस्तक का दुरुपयोग कर रहे थे जिससे राज्य की आय घट गयी। नवाब कम्पनी के अधिकारियों को उपहार देकर सन्तुष्ट रखना चहाता था। परन्तु धन का लालच अंगरेजो के बीच दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही गया। आर्थिक दृष्टि से राज्य का दिवाला निकल गया। सैनिकों को वेतन नहीं दिया जाता था। आन्तरिक विद्रोह को दबाने के नाम पर नावाब को लूटने की चेष्टा कम्पनी के अधिकारियों ने की। फलतः सन्धि के अनुसार पूरी रकम देने में जब नवाब ने असमर्थता प्रकट की और उसे माफ करने का निवेदन किया तो असन्तुष्ट अंग्रेज अधिक धन पाने की लालसा से दूसरे को नवाब बनाने की बात सोचने लगे।

(घ) हॉलवेल का विरोध : मीरजाफर क्लाइव की सहायता के बल पर नवाब बना था। क्लाइव मीरजाफर का संरक्षक था। अनेक कठिन परिस्थितियों में क्लाइव ही मीरजाफर का सहायक सिद्ध हुआ। अतः मीरजाफर क्लाइव को विशेष सम्मान देता था। परन्तु कार्यवाहक गवर्नर हॉलवेल के प्रति वह सम्मान प्रदर्शित नहीं कर सका। हॉलवेल खुराफाती और दम्भी था। अपमान का बदला लेने के उद्देश्य से उसने नये गवर्नर बैन्सिटार्ट को मीरजाफर को अयोग्यता, क्रूरता, विलासिता एवं अत्याचार आदि दोष आरोपित कर उसे पद से हटाने पर राजी कर लिया।

(च) डचों के साथ सांठ-गांठ : मीरजाफर अंगरेजों के नियंत्रण से मुक्त होना चाहता था। चिनसुरा में डचों की कोठियां थीं। हॉलवेल ने मीरजाफर पर यह आरोप लगाया कि वह डचों के साथ गुप्त समझौता कर अंगरेजों से युद्ध करना चाहता था। यह आरोप प्रमाणित नहीं होता है। सम्भवतः मीरजाफर डचों से सहायता लेकर स्वतंत्र रहने का प्रयास करना चाहता था। अंगरेजों को मीरजाफर द्वारा डचों को प्रोत्साहन देना नागवार लगा और वे मीरजाफर के विरोधी हो गये।

(छ) नवाब बदलने के पीछे धन एवं धरती की लालसा : मीरजाफर को नवाब बनाकर अंगरेजों ने धन प्राप्त किया था। तब तक मीरजाफर धन देता रहा, अंगरेज उसके पक्ष में बने रहे। परन्तु मीरजाफर ने धन देने में असमर्थता प्रकट की तो अधिक धन पाने की लालसा में नवाब को बदलने की योजना बनायी गयी, क्योंकि नये नवाब से वे अधिक धन और सुविधा पा सकते थे।

मीरजाफर पर दोष लगाकर अंगरेज हॉलवेल और बैन्सिटार्ट मीरकासिम से गुप्त सन्धि करने लगे। मीरकासिम से बैन्सिटार्ट और दुर्लभ राय से हॉलवेल ने अलग-अलग बात की। राजा दुर्लभ राय के माध्यम से मुगल सम्राट शाहआलम द्वितीय को भी अपने पक्ष में मिलाने की योजना बनायी गयी। 27 दिसम्बर, 1760 ई. को वकालत की काउन्सिल और मीरकासिम के बीच एक गुप्त सन्धि हुई जिसमें मीरकासिम को मुर्शिदाबाद का मुख्य वजीर बनाकर उसे वास्तविक नवाब का अधिकार देने की बात स्वीकार की गयी। बदले में मीरकासिम ने बर्द्धमान, मेदनीपुर और चटगांव के तीन जिले कम्पनी को देना स्वीकार किया। मीरजाफर को पेंशन देने तथा उसके द्वारा अंगरेजों के पास गिरवी रखे जवाहरात को नकद रुपये देकर छुड़ाने की बात मीरकासिम ने मान ली। अंगरेज और मीरकासिम एक-दूसरे की राय लेकर ही सम्राट शाहआलम से कोई समझौता करें तथा बंगाल, बिहार और उड़ीसा में उसे पैर जमाने का मौका न दिया जाय, यह तय हुआ। गुप्त सन्धि के अनुसार बैन्सिटार्ट को पांच लाख, हॉलवेल को दो लाख सत्तर हजार एवं काउन्सिल के अन्य सदस्यों को दो या ढाई लाख रुपये देने की बात तय की गयी। कुल मिलकार मीरकासिम को बीस लाख रुपये काउन्सिल के सदस्यों को तथा पांच लाख रुपये कम्पनी को

देने पड़े। सन्धि की शर्तों को तय करने के बाद मीरकासिम कलकत्ता से मुर्शिदाबाद चला गया।

गवर्नर वैन्सिटार्ट ने पूर्वनिश्चित योजना के अनुसार मीरजाफर से मुरादाबाद में 15, 16 और 18 अक्टूबर, 1760 ई. को बातचीत की तथा मीरकासिम के पक्ष में गद्दी छोड़ने का आग्रह किया। मीरजाफर मीरकासिम को नवाब का अधिकार देने के पक्ष में नहीं था। ऐसी अवस्था में मीरजाफर के महल पर घेरा डाल दिया गया। अचानक घेराबन्दी से मीरजाफर घबरा गया और उसने पिछले कारणों के लिए उसे पछतावा हुआ। अंगरेजों की चालबाजी के कारण उसे सिराजुद्दौला के साथ दगाबाजी की थी। उसे जीवन के अन्तिम क्षण में उसका परिणाम स्वयं भुगतना पड़ा। ईंट का जवाब मीरजाफर को पत्थर से मिला। 60 वर्ष का वृद्धा नवाब अपने दामाद मीरकासिम के पक्ष में गद्दी छोड़कर कलकत्ता चला गया तथा पेंशन पर पलने लगा। इस घटना को बंगाल की दूसरी क्रान्ति का नाम दिया गया।

मीरजाफर के समय अंगरेजों की राजनीतिक और व्यापारिक स्थिति : पलासी की लड़ाई के बाद क्लाइव ने कूटनीति के सहारे बंगाल में अंगरेजों का प्रभाव बढ़ा लिया। वह बंगाल का सबसे अधिक प्रभावशाली व्यक्ति बन गया। नवाब मीरजाफर उसके हाथ की कठपुलती था। क्लाइव को कलकत्ता की काउन्सिल द्वारा गवर्नर का पद दिया गया। 1759 ई. में डचों के पराजित होने के बाद बंगाल में अंगरेजों का विरोध करने वाला कोई नहीं था। सैनिक सहायता के नाम पर क्लाइव ने स्वयं जागीरदार बनने के साथ-साथ कम्पनी की आर्थिक स्थिति भी बदल डाली। अंगरेजों को पलासी के पूर्व की सभी सुविधाएं प्राप्त हो चुकी थीं। अंगरेज दस्तक का प्रयोग आन्तरिक एवं निजी व्यापार के लिए करने लगे। अंगरेजों को निजी व्यापार में अपार धन प्राप्त हुआ। सोना-चांदी के रूप में यूरोप में धन भेजने की अपेक्षा वस्तुएं भेजना अधिक लाभदायक था। अंगरेज कर्मचारियों द्वारा कम्पनी के सार्वजनिक व्यापार की उपेक्षा की जाने लगी। निजी व्यापार का सामान अंगरेजी जहाज में भेजना सम्भव नहीं था। अतः फ्रांसीसी और डेनमार्क के जहाजों से वे अपना सामान यूरोप के बाजारों में भेजकर अत्यधिक लाभ पाने लगे। बंगाल का धन बाहर जाने लगा। नवाब और मुगल सम्राट को इससे अधिक हानि हुई। कारीगरों एवं कृषकों पर इसका बुरा प्रभाव नहीं, पड़ा क्योंकि उन्हें अपने सामान का मूल्य प्राप्त हो जाता था। अंगरेजों को टकसाल खोलने की सुविधा मिल गयी थी। अतः पलासी युद्ध के बाद अंग्रेजों की राजनीतिक एंव व्यापारिक स्थिति बहुत सुदृढ़ हो गयी थी। अंगरेजों द्वारा धन निष्कासन की जो प्रक्रिया पलासी युद्ध के बाद जारी हुई वह भारत के स्वतंत्रता पाने के पहले तक चलती रही। भारत की आर्थिक स्थिति इस शोषण की प्रक्रिया द्वारा सोचनीया हो गयी।

मीरकासिम और अंगरेज : संघर्ष का आरम्भ

रक्तहीन क्रान्ति के मध्यम से 1760 ई. में मीरकासिम बंगाल का नवाव हुआ। परन्तु बंगाल की नवावी उसके लिए फूलों की सेज के बदले कांटों का ताज सावित हुई। 1757 ई. के वाद बंगाल की गद्दी पर वैठनेवाले व्यक्तियों में मीरकासिम सबसे अधिक योग्य एवं दूरदर्शी था। गद्दी पाने के वदले उसने अंगरेजों को वर्द्धवान, मेदिनीपुर और चटगांव का क्षेत्र पहले ही दे दिया था। दक्षिण में फ्रांसीसियों से युद्ध के लिए मीरकासिम पांच लाख रुपये की कम्पनी को दे चुका था। काउन्सिल के प्रत्येक सदस्य को अलग-अलग बीस लाख रुपये उसे उपहार रूप में देने पड़े थे। सन्धि की शर्तों के अनुसार रकम पूरी करने तथा अंगरेजों की नित्य नयी मांगें पूरी करने के लिए मीरकासिम को जमींदारों एवं रईसों से बलपूर्वक रुपये वसूल करने पड़ा जगतसेठा से कर्ज लेना पड़ा। मूल्यवान जवाहराता एवं बरतन गलवाकर शर्त के अनुसार सारी रकम चुकाने की चेष्टा की गयी।

बंगाल की स्थिति वहुत विषम थी। कम्पनी की टकसाल कलकत्ता में खुल चुकी थी। परन्तु कम्पनी के खोटे सिक्के लेने के लिए व्यापारी तैयार न थे। बट्टा मांगनेवालों एवं कम्पनी के सिक्के से इनकार करने वालों को मीरकासिम ने अंगरेजों को प्रसन्न रखने के लिए दण्ड देना शुरू किया। परिणामस्वरूप अनेक जमींदार मीरकासिम से असन्तुष्ट होकर विद्रोह की तैयारी करने लगे। अंगरेजों ने बर्दवान की लूट प्रारम्भ की। बर्दवान के राजा तिलकचंद की शिकायत की उपेक्षा कर अंगरेजों ने बर्दवान और वीरभूम पर अधिकार कर लिया। अंगरेजों ने दस्तक का दुरुपयोग कर राज्य की आया। का स्रोत बन्द कर दिया। नगक, छलिया, तम्बाकू, इमारती लकड़ी और सूखी मछली का व्यापार भारतीय नहीं कर सकते थे। परन्तु मीरजाफर के समय में ही अंगरेज इन चीजों का व्यापार बिना कर चुकाये करते थे। कम्पनी के नाम पर कम्पनी के नौकर सुविधाओं का अनुचित लाभ उठा रहे थे। और नवाब के अधिकारियों के द्वारा जब उन्हें रोका जाता था तो वे अधिकतर को बन्दी बनाकर अंगरेजों की कोठी में भेज देते। अंगरेजों का व्यापार चमक उठा, परन्तु नवाब की आर्थिक स्थिति शोचनीय हो गयी। मीरकासिम ने अर्थ-व्यवस्था की ओर अंगरेजों का ध्यान आकृष्ट करने की चेष्टा अनेक बार की, परंतु अंगरेजों ने उसका निवेदन ठुकरा दिया।

मीरकासिम ने विपरीत परिस्थिति में भी साहस से काम लिया। उसने अंगरेजों की रकम पूरी कर सही अर्थ में अपनी सत्ता स्थापित करने की चेष्टा की। 1757 ई. के बाद वस्तुतः नवाब के रूप में मीरजाफर अपने अधिकार का प्रयोग कभी नहीं कर पाया था। मीरकासिम स्वतंत्र प्रकृति का व्यक्ति था। वह अंगरेजों की कठपुतली वनकर रहना नहीं चाहता था। प्रारम्भ में उसने अपनी योग्यता का परिचय देने के

लिए वागी जमींदारों का विद्रोह दवाया, सरकारी अधिकारियों द्वारा अनुचित ढंग से अर्जित धन पर कब्जा किया, अबवाब नामक नया कर लगाया और सैनिकों का वेतन चुका दिया।

प्रारंभिक सुधार के वाद मीरकासिम अंगरेजों से मुक्त होने के उद्देश्य से अपनी राजधानी मुर्शिदाबाद के वदले मुंगेर ले गया। मुंगेर के किले को फिर से मरम्मत करवाकर उसे सुदृढ़ बना लिया। उस किले में चालीस हजार सैनिकों को यूरोपीय पद्धति पर प्रशिक्षित कर उन्हें नये-नये अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित कर दिया। सेना से विश्वासघाती एवं अंगरेज भक्त अधिकारियों को बर्खास्त कर दिया। प्रशासनिक व्यय में कटौती लाकर उसने आय एवं व्यय के बीच सन्तुलन लाने की चेष्टा की।

बिहार के नायब दीवान राजा रामनारायण के विरुद्ध आरोप लगाकर मीरकासिम उसे बन्दी बनाना चाहता था। परन्तु रामनारायण भागकर अंगरेजों की शरण में चला गया। अंगरेज गवर्नर बैन्सिटार्ट को पत्र लिखकर मीरकासिम ने रामनारायण को लौटाने की मांग की। बैन्सिटार्ट क्लाइव की तरह कूटनीतिज्ञ नहीं था। उसने मीरकासिम का हाथ मजबूत करने के उद्देश्य से रामनारायण को सौंप दिया। मीरकासिम ने रामनारायण की हत्या करवा दी। अन्य असन्तुष्ट जागीरदारों को समझाकर मीरकासिम ने अपने पक्ष में मिला लिया। अयोग्य अधिकारियों के स्थान पर योग्य पदाधिकारियों की नियुक्ति की गयी। वस्तुतः मीरकासिम योग्य शासक था। परन्तु उसकी योग्यता ही उसके पतन का मुख्य कारण बनी। अंगरेज योग्य नवाब के पक्ष में नहीं थे। वे हाँ में हाँ मिलानेवाला व्यक्ति चाहते थे ताकि वे अपने स्वार्थों की निर्विरोध पूर्त्ति कर सकें।

अंगरेजों और मीरकासिम के बीच संघर्ष के कारण

1. सत्ता का प्रश्न : पलासी युद्ध के बाद अंगरेज सत्ता का स्वाद चख चुके थे। मीरजाफर नाममात्र का शासक था। वास्तविक सत्ता अंग्रेजों के हाथ में थी। मीरकासिम के साथ अंगरेज अपने बनाये नवाबों जैसे व्यवहार की आशा रखते थे। परन्तु मीरकासिम इनकी कुठपुलती वनने के बदले बंगाल का वास्तविक नवाब बनना चाहता था। वह प्रशासनिक सुधार के माध्यम से बंगाल की प्रजा का कल्याण चाहता था। परन्तु अंगरेजों का हौसला भी बढ़ा हुआ था। मीरकासिम बंगाल का वास्तविक शासक रहा अथवा नहीं इस प्रश्न पर अंगरेज कोई समझौता करने के लिए तैयार नहीं थे। बंगाल में सत्ता का प्रश्न ईस्ट इण्डिया कम्पनी और मीरकासिम के बीच संघर्ष का एक कारण वन गया।

2. शाहजादा शाहआलम का प्रश्न : 1760 ई. में मुगल सम्राट आलमगीर द्वितीय की हत्या कर दी गयी। अलीगौहर बिहार पर आक्रमण करने में व्यस्त था। आलमगीर की मृत्यु की सूचना पाकर वह शाहआलम द्वितीय के नाम से अपने को

मुगल सम्राट घोषित कर चुका था। बिहार का असन्तुष्ट दीवान रामनाराण उसे सम्राट के रूप में मान्यता दे चुका था। अंगरेज नये सम्राट को पटना आने का निमंत्रण दे चुके थे। अंगरेज शाहआलम से मित्रता कायम कर कुछ सुविधा पाने की आशा रखते थे। अतः मीरकासिम और शाहआलम के बीच प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित होने के पक्ष में अंगरेज नहीं थे। अंगरेजों को भय था कि शाहआलम यदि स्वीकार कर लेगा कि बंगाल का सूबेदार मीरकासिम है तो दोनों का संयोग अंग्रेजों के लिए खतरनाक साबित हो सकता है। अंगरेज शाहआलम को प्रसन्न करने के लिए मीरकासिम द्वारा नये मुगल सम्राट को पहले मान्यता दिलवाना चाहते थे। परन्तु मीरकासिम शाहआलम द्वितीय को बिहार से हट जाने के बाद ही मान्यता दे सका। अंगरेजों के व्यवहार से मीरकासिम असन्तुष्ट हो गया और दोनों के बीच शत्रुता की भावना घर कर गयी।

3. राजा रामनायाण का प्रश्न : राजा रामनायारण बिहार का नायब दीवान था। मीरजाफर चाहते हुए भी राजा रामनारायण को दीवान के पद से क्लाइव के कारण नहीं हटा पाया। मीरकासिम राजा रामनारायण को गबन के आरोप में दण्ड देना चाहता था। रामनारायण प्राण रक्षा के लिए अंगरेजों की शरण में चला गया। अंगरेज पहले भी नबाब के विरोधियों को शरण दे चुके थे और उन्हें लौटाना नहीं चाहते थे। परन्तु वैन्सिटार्ट ने नबाब की प्रतिष्ठा को ध्यान में रखकर रामनारायण को मीरकासिम के हाथ सौंप दिया। इससे मीरकासिम का मनोबल बढ़ा और वह अंगरेजों से युद्ध करने का साहस कर सका।

4. व्यापार का प्रश्न : अंगरेजों और मीरकासिम के बीच झगड़े का मुख्य कारण व्यापार था। मुगल सम्राट की आज्ञानुसार बंगाल, बिहार और उड़ीसा में अंगरेजों को निःशुल्क व्यापार करने की सुविधा प्राप्त थी। कम्पनी की वस्तुओं के आयात-निर्यात पर कोई चुंगी नहीं देनी पड़ती थी। यह सुविधा कम्पनी को प्राप्त थी, न कि कम्पनी के कर्मचारियों को। परन्तु मीरकासिम के पहले ही कम्पनी के कर्मचारी निजी व्यापार पर कुछ चुंगी नहीं देते थे। अंगरेजों के गुमाशते और एजेण्ट मनमाने ढंग से काम करते थे। वे स्वयं तो अधिकार का दुरुपयोग करते ही थे, साथ ही देनेवाला अपने भारतीय व्यापारियों से धन लेकर दस्तक बेच देते थे। दस्तक प्राप्त कर भारतीय व्यापारी भी कुछ कर नहीं देते थे। दस्तक के दुरुपयोग से राज्य को आर्थिक क्षति होती थी। जो भारतीय व्यापारी दस्तक नहीं प्राप्त करते थे उन्हें कर देना पड़ता था। भारतीय व्यापारियों से अंगरेजों का व्यवहार अच्छा नहीं था। किसानों की फसल अंगरेज व्यापारी कम कीमत देकर खरीद लेते थे और स्वयं अत्यधिक दाम वसूल कर उसे बाजारों से खरीदने के लिए लोगों को विवश कर देते थे। मीरकासिम ने व्यापारिक सुविधा के दुरुपयोग तथा अंगरेज गुमाश्तों और एजेण्टों के अमानुषिक

अत्याचार की ओर कई बार कलकत्ता काउन्सिल का ध्यान आकृष्ट किया। परन्तु वैन्सिटार्ट जब भी इस प्रश्न को काउन्सिल में उपस्थित करता तो इसके सदस्या हल्ला मचाकर कोई निर्णय नहीं लेते थे। मीरकासिम ने वैन्सिटार्ट और वारेन हेस्टिंग्स से मुंगेर में भेंट कर समझौते के माध्यम से व्यापारिक अनियमितता दूर करने की चेष्टा की। समझौते के अनुसार कम्पनी के कर्मचारियों से आन्तरिक व्यापारिक स्तर पर एक प्रतिशत कर देने की बात स्वीकार की गयी। परन्तु कलकत्ता काउन्सिल ने समझौते की शर्त स्वीकार नहीं की। फलतः अंगरेजों और मीरकासिम के बीच युद्ध की सम्भावना बढ़ गयी।

कलकत्ता काउन्सिल के सदस्य निजी व्यापार और विशेषाधिकार की रक्षा को ध्यान में रखकर मीरकासिम का सुझाव अस्वीकार कर चुके थे। ऐसी अवस्था में भारतीय व्यापारियों की रक्षा तथा अपनी शक्ति प्रदर्शित करने के लिए नवाब के सामने एक ही विकल्प रह गया था। उसने भारतीय व्यापार को सुदृढ़ करने के उद्देश्य से तथा प्रजा को सस्ती दर पर वस्तुएं उपलब्ध कराने के लिए मुक्त व्यापार की नीति अपनाने की घोषण की। इस घोषणा से नवाब की आय में कमी हुई। परन्तु भारतीय व्यापारियों को जब अंगरेजों की तरह चुंगी नहीं देनी पड़ती थी। अंगरेज और भारतीय व्यापारी समान हो गये। परन्तु अंगरेजों को समानता की बात पसन्द नहीं आयी। वे विशेषाधिकार प्राप्त कर चुके थे और इसी के बल पर भारतीय व्यापार को नष्ट कर रहे थे। नवाब ने राज्य और प्रजा के हित की दृष्टि से अंगरेजों का विशेषाधिकार महत्त्वहीन कर दिया था। अतः अंगरेजों ने मुक्त व्यापार की नीति का विरोध किया। कलकत्ता काउन्सिल में भारतीयों पर व्यापार कर लगाने की मांग स्वीकार नहीं की। अतः व्यापारिक नीति के प्रश्न पर जो मतभेद हुआ, वह युद्ध का मुख्य कारण बना।

मीरकासिम के विरुद्ध षड्यंत्र : कलकत्ता काउन्सिल ने ऐमयाट और हेनामक अंग्रेज अधिकारियों को नवाब के साथ नये सिरे से बात करने के लिए मुंगेर भेजा। एक तरफ बातचीत और दूसरी ओर सैनिक कार्यवाही के माध्यम से मीरकासिम को गद्दी से हटाने का षड्यंत्र अंगरेजों ने रच रखा था। दिल्ली के सम्राट के साथ गवर्नर वैन्सिटार्ट गुप्त पत्रव्यवहार कर स्वयं बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी प्राप्त करना चाहता था। मीरकासिम अंगरेजों की दोहरी चाल को समझता था। वह अंगरेजों के प्रति आश्वस्त नहीं था। अंगरेजों के व्यवहार की आलोचना करते हुए मेलसन ने लिखा है, 'मीरकासिम का एकमात्र कसूर यह था कि उसने यूरोप निवासियों की लूट से अपनी प्रजा की रक्षा का प्रयत्न किया था।' वैन्सिटार्ट ने मीरकासिम को भुलावे में रखने के लिए लिखा कि दूसरा नाजिम खड़ा करने की बात कुछ लोगों की मनगढ़ंत कहानी है।

मीरकासिम के षड्यंत्र का पता चलने के बाद जगतसेठ और उसके भाई

स्वरूपचंद को मुंगेर बुलाकर नजरवन्द कर दिया। धनी सेठों का हाथ इस षड्यंत्र से पहले भी सिराजुद्दौला को गद्दी से अपदस्थ करने में था। अंगरेजों ने जगतसेठ एवं स्वरूपचंद को बन्दी बनाये जाने पर भी आपत्ति प्रकट की। ऐमयाटा और हे ने मुंगेर पहुंचकर नवाब के सामने ग्यारह मांगें पेश कीं जिनमें भारतीय व्यापारियों पर कर लगाना, अंगरेजों की क्षतिपूर्ति एवं अंगरेजों के कहने पर ही दोषी भारतीय अधिकारियों को दण्ड देने की वात मुख्य थी। मीरकासिम और ऐमयाट के बीच सन्धि की वार्ता असफल रही। ऐमयाट का व्यवहार धृष्टतापूर्ण था। सन्धिवार्ता के बीच अस्त्र-शस्त्रों से भरा हुआ एक जहाज पटना की ओर जाता मुंगेर के पास देखा गया। नवाब ने जहाज को रोके रखा और वैन्सिटार्ट से पटना में अंगरेजी सेना वापस बुलाने की मांग की। परन्तु कलकत्ता काउन्सिल द्वारा पटना के अंगरेज एजेंट एलिस को नगर पर आक्रमण का आदेश दिया गया। एलिस ने 24 जून, 1763 ई. को पटना पर अधिकार कर लूटपाट किया और नागरिकों की हत्या की। लाचारी में मीरकासिम को एलिस के खिलाफ सैनिक कार्यवाही करनी पड़ी और पटना विजय में उसे विशेष कठिनाई नहीं हुई। मीरकासिम की सेना ने कम्पनी के 300 यूरोनियम और 2500 हिन्दुस्तानी सिपाहियों को मार डाला। एलिस एवं अन्य यूरोपियनों को बन्दी बनाकर मुंगेर पहुंचाया गया। इस घटना को पटना का हत्याकाण्ड कहा जाता है।

ऐमयाट चुपके से कलकत्ता की ओर भाग गया किन्तु हे को मीरकासिम ने मुंगेर में ही रोके रखा। ऐमयाट को मुहम्मद तकी खां ने कासिमबाजार के निकट मार डाला। 9 जुलाई को कलकत्ता काउन्सिल द्वारा मीरकासिम के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की गयी और यह आदेश निकाला गया कि मीरकासिम के बदले पुनः मीरजाफर बंगाल का नवाब बने। नवाब की गद्दी पर बैठाने या अपदस्थ करने का अंगरेजों को कोई अधिकार नहीं था।

अंगरेजी सेना कटवा, मुर्शिदाबाद, गोरिया पर अधिकार का उदवानाला के पास पहुंच गयी। उदवानाला एक सुरक्षित और अभेद्य दुर्ग था। मीरकासिम की सेना ने एक महीने तक दुर्गा पर अंगरेजी सेना को अधिकार नहीं करने दिया। परन्तु कुछ देशद्रोही और कुछ विदेशी अफसरों की धोखेबाजी से उदवानाला के युद्ध में मीरकासिम की सेना हार गयी। सिराजुद्दौला के लिए पलासी और मीरकासिम के लिए उदवानाला समानरूप से घातक युद्ध साबित हुए। उदवानाला की पराजय मीरकासिम की बर्बादी की सूचक थी। परन्तु मीरकासिम साहस के साथ अंगरेजों का मुकाबला मुंगेर में करना चाहता था। वह मुंगेर के दुर्ग को अच्छी तरह सुरक्षित कर स्वयं पटना की ओर बढ़ गया। मुंगेर के किलेदार अरब अली खां ने युद्ध के वदले चुपचाप अंगरेजों के हाथ दुर्ग सौंप दिया। अंगरेजी सेना मीरकासिम का पीछा करती हुई पटना पहुंची। पटना के किलेदार मुहम्मद अली खां ने भी दगाबाजी की

और मात्र पांच सौ रुपये मासिक पेंशन पाने के नाम पर अंगरेजों के हाथ किले को सौंप दिया। मीरकासिम को बन्दी बनाने में अंगरेजों को सफलता नहीं मिली। अंगरेजी सेना के पटना आगमन के पूर्व ही मीरकासिम 4 दिसम्बर, 1763 ई. को कर्मनाशा नदी को पार कर अवध राज्य की सीमा में प्रवेश पा चुका था।

मीरकासिम केवल तीन वर्ष तक बंगाल का सूबेदार रहा। वह योग्य, सतर्क, दूरदर्शी और नियमनिष्ठ शासक था। अल्पकाल में प्रशासनिक दोप दूर कर तथा सैनिकों को संगठित कर उसने भारतीय प्रशासकों की श्रेणी में अपना स्थान महत्वपूर्ण वना लिया। वह बंगाल के भू-राजस्व एव लगान व्यवस्था को व्यवस्थित कर आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ करना चाहता था। वह अग्रेजों की चालवाजी को शीघ्र भांप कर उनसे मुक्त होकर स्वतंत्र नीति अपनाना चाहता था। मीरकासिम एक योग्य सेनापति नहीं था। उसने अपनी देख-रेख में कहीं भी कटवा से लेकर पटना तक अंगरेजों से युद्ध नहीं किया था। मीरकासिम की यह कमजोरी उसके पतन का मुख्य कारण वनी।

मीरजाफर जुलाई, 1763 ई. में पुनः बंगाल की मसनद पर बैठा। अंगरेज पिछली परंपरा के अनुसार गद्दी पर बैठाने के बदले नवाब से अनुचित सुविधा प्राप्त करने में वाज नहीं आये। मीरकासिम जिन सुविधाओं को अस्वीकार कर चुका था उन्हें मीरजाफर ने पुनः अंगरेजों को दे दिया। स्क्रैफ्टन ने लिखा है, "नवाब केवल एक बैंक की तरह रह गया जिससे कम्पनी के कर्मचारी कितनी बार और जितनी रकम चाहें, ले सकते थे।" एक वर्ष के अन्दर अंगरेजों के प्रति शिकायतों आ अम्बार लग गया। पटना में करनलगंज और मारूफगंज की मण्डियों से प्रतिवर्ष एक लाख रुपये की आय होती थी। अंगरेजों ने दोनों मण्डियों पर अधिकार कर भारतीय व्यापारियों को मार भगाया। पटना और मुर्शिदाबाद में अंगरेजों से साँठ-गाँठ कर ने अधिकार कर लिया। पटना और मुंगेर के किलों में अंगरेज जबरदस्ती घुस गये थे और छोड़ने के लिए तैयार नहीं थे। पूर्णिया की लकड़मंडी पर अधिकार कर अंगरेजों ने नवाब को प्राप्त होनेवाली पचास हजार रुपये की वार्षिक आय जब्त कर ली। अंगरेजों के अत्याचार से कई गाँव उजड़ गये। भारतीय व्यापारियों की रोजी छीनकर अंगरेज नमक, तम्बाकू, छालिया आदि का व्यापार निजी लाभ के लिए करने लगे थे। वस्तुतः मीरकासिम के हटने के बाद अंगरेज बंगाल के नवाब को कंगाल बना चुके थे। अव वहाँ की प्रजा का भी वे आर्थिक शोषण प्रारम्भ कर उसकी दशा दयनीय वना रहे थे।

मरकासिम पटना की पराजय के बाद अवध के नवाब शुजाउद्दौला के पास पहुँचा। उस समय मुगल सम्राट शहआलम द्वितीय फाफामऊ (इलाहाबाद) में था। शुजाउद्दौला मुगल सम्राट का प्रधानमंत्री था। अवध पूर्वी भारत का सर्वाधिक

शक्तिशाली राज्य था। मीरकासिम मुगल सम्राट शाहआलम और शुजाउद्दौला के साथ मिलकर बंगाल पर पुनः अधिकार करना चाहता था। मीरकासिम के पास अपार सम्पत्ति और तोपें थीं। शुजाउद्दौला स्वयं बिहार पर अधिकार चाहता था। अतः मीरकासिम को सहायता देने में शुजाउद्दौला ने कोई हिचकिचाहट नहीं की। डॉ. नंदलाल चटर्जी ने युद्ध के लिए मीरकासिम को दोषी ठहराया है और मराठों की ओर मीरकासिम को न बढ़ने देने के उद्देश्य से ही शुजाउद्दौला द्वारा सैनिक सहायता देने की बात की पुष्टि की है परन्तु तथ्यों के आधार पर डॉ. नंदलाल चटर्जी का विचार तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता है। पानीपत की तीसरी लड़ाई मराठों की रीढ़ तोड़ चुकी थी। ऐसी अवस्था में वे उत्तर भारत पर आक्रमण करने की स्थिति में नहीं थे। वस्तुतः अठारहवीं सदी का उत्तरार्द्ध स्वार्थी लोगों के समूह से भरा पड़ा था। मुगल सम्राट शाहआलम शुजाउद्दौला को प्रधानमंत्री बनाने के बाद भी सन्तुष्ट नहीं था। वह शुजाउद्दौला की बढ़ती हुई शक्ति से स्वयं भयभीत था। दूसरी बात यह थी कि अंग्रेज फूट डालो नीति के पृष्ठपोषक थे। वे शाहआलम और शुजाउद्दौला के बीच वैमनस्य का लाभ उठाना चाहते थे। सियरूल-मुताख्खिरीन नामक ग्रन्थ के लेखक गुलाम हुसैन को मिलाकर अंगरेजों ने सम्राट शाहआलम को युद्ध के प्रति उदासीन बनाने में सफलता प्राप्त कर ली।

प्रधानमंत्री शुजाउद्दौला के कहने पर मुगल सम्राट शाहआलम मीरकासिम की तरफ से युद्ध के लिए तैयार हुआ था। शुजाउद्दौला ने प्रधानमंत्री की हैसियत से एक पत्र अंगरेजों को लिखा जिसमें अधिकारों के दुरुपयोग, नवाब की इच्छानुसार गद्दी से उतारने के कारनामों का उल्लेख करते हुए उन्हें चेतावनी दी गयी तथा उत्तर नहीं पाने पर आक्रमण की धमकी दी गयी थी। एक तरफ धमकी तो दूसरी तरफ मित्रता की प्रतिज्ञा की गयी थी। दूसरी ओर शुजाउद्दौला और मुगल सम्राट 28 लाख वार्षिक खिराज देने पर मीरजाफर को बंगाल का सूबेदार मानने के लिए तैयार थे। शुजाउद्दौला को न तो अंगरेजों ने कोई उत्तर दिया और न बिहार सौंपने को वे तैयार हुए। अतः अप्रैल, 1764 ई. में अंगरेजों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करनी पड़ी।

बक्सर का युद्ध : कारण एवं महत्व

मीरकासिम अवध के नवाब शुजाउद्दौला तथा सम्राट शाहआलम से सन्धि कर बंगाल पर अधिकार करने के लिए पटना पहुँचा। सम्मिलित सेना के आगमन की सूचना पाकर अंगरेजी सेना का प्रधान कार्नक घबरा गया। शुजाउद्दौला के सैनिकों की संख्या 1,50,000 थी जिसमें 40,000 लड़ाई के योग्य थे। शेष संख्या एक भीड़ थी। सम्राट शाहआलम और मीरकासिम के पास अपनी कोई सेना नहीं थी। कार्नक ने बक्सर के बदले पटना लौटने का सन्देश अंगरेज सेना को दिया। फलतः पटना की घेराबन्दी की गयी। परन्तु शुजाउद्दौल की सेना में भी अनेक विश्वासघाती व्यक्ति

थे। उदाहरण के लिए, सितावराय का पुत्र महाराजा कल्याण सिंह अवध की सेना में एक ऊँचे पद पर था। सितावराय अंगरेजों का मित्र था और उसका मुंशी साधोराम शुजाउद्दौला की सैनिक गतिविधियों की जानकारी प्राप्त कर अंगरेजों को भेज देता था। जैनुल आवदीन भी अंगरेजों से पत्राचार कर रहा था। पटना की घेरावन्दी कारगर नहीं हुई। वरसात का मौसम था। अतः पटना के बदले शुजाउद्दौला ने बक्सर में ही वरसात विताने का निश्चय किया।

इस बीच कार्नक के बदले मेजर हेक्टर मुनरो को अंगरेजों ने सेनापति नियुक्त कर पटना भेजा। मुनरो जुलाई, 1764 ई. में पटना पहुँचा। उसे भय था कि देर होने पर मराठों एवं अफगानों का सहयोग पाकर शुजाउद्दौला अंगरेजों को पराजित कर सकता है। अतः मुनरो ने शीघ्र युद्ध का निर्णय लिया। मुनरो के आगमन के बाद कुछ भारतीय सैनिकों ने विद्रोह किया जिसे मुनरो ने शान्त कर दिया और सभी विद्रोहियों को तोप से उड़ा दिया। मुनरो ने रोहतास के किलेदार साहूमल को प्रलोभन देकर अपने पक्ष में मिला लिया और रोहतास पर अंगरेजों का अधिकार हो गया।

मुनरो सोन नदी पार कर बक्सर पहुँच गया। 23 अक्तूबर, 1764 ई. को अंगरेज और तथाकथित तीन शक्तियों की सम्मिलित सेना के बीच युद्ध प्रारम्भ हुआ। शुजाउद्दौल ने प्रतिदिन सैनिक खर्च के नाम पर मीरकासिम से 11 लाख रुपये की माँग की, परन्तु उतनी रकम पूरी नहीं करने पर वह मीरकासिम से असन्तुष्ट हो गया। शुजाउद्दौला ने मीरकासिम की सारी सम्पत्ति छीन ली। वह स्वयं बिहार पर अधिकार करना चाहता था। दूसरी ओर सम्राट शाहआलम के पास अपनी कोई सेना नहीं थी। वह स्वयं दिल्ली की गद्दी पाने के लिए सहायता का इच्छुक था तथा अंगरेजों का आश्वासन पाकर युद्ध के प्रति उदासीन हो चुका था। ऐसी परिस्थिति में बक्सर का युद्ध प्रातः 9 बजे से आरम्भ हुआ और दोपहर 12 बजे के पूर्व ही समाप्त हो गया था। युद्ध में भयंकर गोलाबारी हुई। शुजाउद्दौला की सेना मात्र भीड़ के समान थी। अंगरेजी तोपों के सम्मुख अवध की घुड़सवार फौज कोई काम नहीं कर सकी। विजय अंगरेजों की हुई। दोनों पक्षों की ओर से काफी सैनिक हताहत हुए, परन्तु नवाब की सेना में मरनेवालों की संख्या अधिक थी। शुजाउद्दौला को अपनी सेना पीछे हटा लेनी पड़ी।

बक्सर की पराजय के बाद सम्राट शाहआलम ने अंगरेजी सेना के साथ डेरा डाला। अंगरेजों ने बादशाह का स्वागत किया और शुजाउद्दौला के दीवान राजा बेनीबहादुर के माध्यम से शुजाउद्दौला से सन्धि करनी चाही। परन्तु शुजाउद्दौला ने सन्धि की बात अस्वीकार कर दी। अतः नवाब शुजाउद्दौला और अंगरेजों के बीच चुनार तथा कड़ा (इलाहाबाद) के पास लड़ाइयाँ हुई। युद्ध में पराजित होकर शुजाउद्दौला को अंगरेजों के साथ सन्धि करनी पड़ी। अंगरेजों और शुजाउद्दौला के

वीच सन्धि कराने में राजा सितावराय की भूमिका बहुत महत्त्वपूर्ण थी। शुजाउद्दौला को 60 लाख रुपये क्षतिपूर्ति के रूप में अंगरेजों को देने पड़े। इलाहाबाद का किला और कड़ा का क्षेत्र मुगल वादशाह शाहआलम के लिए छोड़ देने पड़ा। गाजीपुर और पड़ोस के क्षेत्र अंगरेजों को देना पड़ा। एक अंगरेज वकील को अवध के दरवार में रहने की आज्ञा दी गयी तथा दोनों पक्षों ने एक-दूसरे के शत्रु को अपना शत्रु समझने का आश्वासन दिया।

मीरकासिम का स्वप्न चकनाचूर हो गया। सम्पत्ति छिन जाने के साथ-साथ शुजाउद्दौला ने उसे अपमानित भी किया। मीरकासिम दिल्ली चला गया जहाँ शरणार्थी के रूप में अपना शेष जीवन अत्यन्त कठिनाई में व्यतीत किया।

बक्सर के युद्ध के परिणाम

भारत के निर्णायक युद्धों में बक्सर के युद्ध का परिणाम अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है। वक्सर का युद्ध बंगाल में तीसरी क्रान्ति का प्रतीक था। पहली क्रान्ति पलासी के युद्ध से प्रारम्भ हुई और 1760 ई. में मीरजाफर को हटाकर मीरकासिम को नवाव वनाने के साथ दूसरी क्रान्ति पूरी हुई। अंगरेजों द्वारा बंगाल में जो नाटक खेला जा रहा था उसके तृतीय एवं अन्तिम दृश्य का पटाक्षेप वक्सर के युद्ध के रूप में हुआ। बंगाल पर अंगरेजों का वास्तविक रूप से अधिकार हो गया और उत्तर भारत की राजनीति पर उनका प्रभाव बढ़ गया। बक्सर के युद्ध में अवध के नवाब शुजाउद्दौला ने अंगरेजों से मित्रता कर ली और दिल्ली का सम्राट शाहआलम बंगाल के नवाब की तरह अंगरेजों की सैनिक सहायता पर निर्भर रहने लगा। शाहआलम अंगरेजों का वास्तविक अधिकार बंगाल और विहार में स्वीकार करने को तैयार था। मुगल सम्राट नाममात्र का अपना अधिकार सुरक्षित रखकर अंगरेजों से किसी प्रकार का समझौता करना चाहता था। बंगाल के नवाब के अधिकार को समाप्त कर दिया गया। बंगाल के नवाब को सीमित संख्या में सेना रखने की इजाजत दी गयी ताकि भविष्य में वह मीरकासिम की तरह अंगरेजों का विरोध न कर सके। बंगाल के नवाब के यहाँ एक अंगरेज प्रतिनिधि रहने लगा ताकि अंगरेजों के खिलाफ कोई षड्यंत्र न रचा जाय।

बक्सर के युद्ध में अंगरेजों को जितनी हानि उठानी पड़ी उसकी क्षतिपूर्ति मीरजाफर को करनी पड़ी। इस प्रकार बंगाल का नवाब मीरजाफर, अवध का नवाब शुजाउद्दौला और दिल्ली सम्राट शाहआलम तीनों अंगरेजों की दया पर निर्भर थे। स्वाभाविक रूप से बक्सर के युद्ध के बाद भारतीय राजनीति में अंगरेजों के प्रभुत्व एवं प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई। बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी मिल जाने से अंगरेजों की माली हालत अच्छी हो गयी। उत्तर में सत्ता-विस्तार का द्वार खुल गया। मराठों के साथ संघर्ष करने के लिए अंगरेज तत्पर हो गये और अन्ततः भारत-विजय

करने में वे सफल रहे। इस दृष्टि से विसेण्ट स्मिथ का विचार उपयुक्त जान पड़ता है, "यह विजय पूर्णरूप से निर्णयात्मक थी और इसने पलासी के अधूरे काम को पूरा किया।" डॉ. सरकार और दत्त के अनुसार, "पलासी के युद्ध की अपेक्षा वक्सर के युद्ध का परिणाम अधिक निर्णायक सिद्ध हुआ।"

बक्सर का युद्ध सैनिक दृष्टि से भी अधिक महत्त्वपूर्ण था। बक्सर के मैदान में अवध के नवाब की विशाल सेना का पहली वार अंगरेजों को सामना करना पड़ा था। अंगरेजों के पास केवल 8,000 सैनिक थे। उनकी तुलना में नवाब की फौज कई गुनी अधिक थी। युद्ध सही अर्थ में लड़ा गया था और दोनों पक्षों के हताहतों की संख्या भी अधिक थी। वस्तुतः बक्सर के युद्ध में शक्ति-प्रदर्शन का काम अंगरेजों ने पहली वार किया था और उसने सैनिक श्रेष्ठता और कुशलता को प्रमाणित कर दिखाया था। आमतौर पर यह कहा जाता है कि वक्सर के युद्ध में भारत की तीन वड़ी शक्तियों को पराजित किया गया। परन्तु वास्तविक रूप में बादशाह शाहआलम और मीरकासिम के पास अपनी कोई सेना नहीं थी। इसमें सन्देह नहीं है कि शुजाउद्दौला काफी शक्तिशाली था। बक्सर की पराजय भारतीय सैनिक संगठन की त्रुटियों को व्यक्त करती है। कुछ विश्वासघात करनेवाले बक्सर के मैदान में भी मौजूद थे। परन्तु इसमें सैनिकों के द्वारा जो युद्धनीति अपनायी गयी, उसकी असफलता को देखकर अन्य भारतीय शासकों की आँखें खुलीं और उन्होंने अंगरेजों की युद्ध-प्रणाली अपना ली।

आर्थिक दृष्टि से ईस्ट इण्डिया कम्पनी को 1765 ई. में बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी बक्सर के युद्ध के फलस्वरूप ही मिली। दीवानी प्राप्त कर अंगरेजों ने बंगाल और विहार की लूट प्रारम्भ कर दी और दोहरे शासन की मार से बंगाल प्रान्त की लगान-व्यवस्था, उद्योग-धन्धे एवं व्यापार को हानि पहुँची। बंगाल की प्रजा दोहरे शासन का शिकार बनी। नवाब नाममात्र का शासक रह गया था। उसके हाथ केवल फौजदारी न्याय और पुलिस व्यवस्था थी। बंगाल की आय पर अंगरेजों के एकाधिकार ने ही भविष्य में अंगरेजी साम्राज्य की स्थापना का रास्ता प्रशस्त कर दिया।

पलासी और बक्सर के युद्धों का तुलनात्मक विवेचन

दो युद्धों की तुलानात्मक विवेचना के लिए युद्ध के स्वरूप, युद्ध में लड़नेवाली शक्तियों और युद्ध के परिणाम की व्याख्या आवश्यक है। सर्वप्रथम पलासी का युद्ध वस्तुतः युद्ध नहीं था। सिराजुद्दौला की विशाल सेना युद्ध के मैदान में खड़ी थी। केवल एक छोटी टुकड़ी के कुछ घंटों के लिए युद्ध किया था। इसमें बेईमानी, दगाबाजी और षड्यंत्र का हाथ था। परन्तु बक्सर के युद्ध में सैनिक शक्ति का प्रदर्शन हुआ था। बक्सर की लड़ाई मात्र तीन घंटे की थी। परन्तु इन तीन घंटों में

जो भीषण युद्ध हुआ उसका हताहतों की संख्या से ही अनुमान लगाया जा सकता है। अनुमानतः 8 या 9 सैनिकों में एक की हत्या हुई थी। अतः बक्सर का युद्ध सही सही अर्थों में लड़ा गया एक युद्ध था।

पलासी की लड़ाई बंगाल के नवाब सिराजुद्दौला के साथ हुई थी। नवाब के विश्वासघाती सेनापति मीरजाफर और यारलुत्फ खाँ पहले ही अंगरेजों से मिले हुए थे। यदि षड्यंत्र और धोखेबाजी का सहारा न लिया जाता तो सिराजुद्दौल को पराजित करना अंगरेजों के लिए सरल नहीं था। परन्तु बक्सर का युद्ध एक पूर्व नियोजित घटना थी। बंगाल के भगोड़े नवाब मीरकासिम ने अपार सम्पत्ति के सहारे अवध के नवाब शुजाउद्दौला को अपने पक्ष में मिला लिया था। शुजाउद्दौला मुगल सम्राट शाहआलम का प्रधानमंत्री था। शाहआलम शुजाउद्दौला की कृपा पर आश्रित था। शुजाउद्दौल को स्वयं बिहार पर अधिकार करने की चाह थी। शाहआलम भी बंगाल और बिहार पर अधिकार करना चाहता था। अतः बक्सर के युद्ध में मीरकासिम, शुजाउद्दौला और शाहआलम तीनों अपने-अपने उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए सम्मिलित हुए थे। इन तीनों की मिली-जुली शक्ति अंगरेजों को बंगाल एवं बिहार से उखाड़ फेंकना चाहती थी। अतः पलासी के मैदान में अंगरेजों को केवल बंगाल के नवाब का सामना करना पड़ा; तो बक्सर के मैदान में उन्हें तीन शक्तियों के संयुक्त मोर्चे का सामना करना पड़ा। इस दृष्टि से 'पलासी की तुलना में बक्सर का युद्ध अधिक विस्तृत एवं महत्त्वपूर्ण था।

परिणाम की दृष्टि से बक्सर का युद्ध पलासी के युद्ध की तुलना में अधिक महत्त्वपूर्ण था। पलासी के युद्ध से अंगरेजों को बंगाल में खड़ा होने के लिए स्थान मिला था। परन्तु "बक्सर के युद्ध ने कम्पनी के शासन की बेड़ियों में बंगाल को जकड़ दिया।" पलासी के युद्ध में अंगरेजों की इच्छानुसार चलनेवाला नवाब बंगाल की गद्दी पर बैठा था। परन्तु बक्सर के बाद वे बंगाल से लेकर इलाहाबाद के स्वामी बन गये। पलासी के युद्ध ने यदि नवाब-परिवर्त्तन करने का अवसर दिया तो बक्सर के युद्ध ने अंगरेजों को वास्तविक सत्ता का अधिकारी बना दिया। अब अंगरेज ही बंगाल के नवाब के अधिकार को सीमित कर उसे अपनी मुट्ठी में ले आये थे। उत्तर भारत की राजनीति में एक महान परिवर्त्तन आया। अवध के नवाब ने अंगरेजों की शर्त्तों को स्वीकार कर मित्रता कर ली। शाहआलम द्वितीय भी अंगरेजों से पेंशन पाने लगा। कम्पनी की सेना ने बनारस और इलाहाबाद पहुँचकर उत्तर एवं पश्चिम भारत की राजनीति में एक नया मोड़ ला दिया। आर्थिक परिणाम की दृष्टि से पलासी के युद्ध में बंगाल के नवाब के संचित कोष को लूटने का काम अंगरेजों ने किया था। परन्तु बक्सर के युद्ध के बाद दीवानी प्राप्त हो जाने से बंगाल, बिहार और उड़ीसा के उपजाऊ क्षेत्र को वैधानिक रूप से लूटने की छूट अंगरेजों को मिल गयी। वस्तुतः

दीवानी प्राप्त होने से कम्पनी वास्तविक अधिकारी बन गयी और बंगाल का नवाब नाममात्र के शासक के रूप में अंगरेजों का मुहताज हो गया।

दोनों युद्धों का मनोवैज्ञानिक पक्ष कम महत्त्वपूर्ण नहीं था। पलासी के युद्ध के बाद नवाब को बदल देने से अंगरेजों का हौसला बढ़ा। वे व्यापार के बदले राजनीतिक प्रश्नों में गुप्त रूप से हस्तक्षेप ही करते थे। प्रत्यक्षतः वे भारत की बड़ी शक्तियों के साथ संघर्ष में उलझना नहीं चाहते थे। परन्तु बक्सर के युद्ध के बाद अंगरेजों का भय जाता रहा। मुगल सम्राट शाहआलम पेंशन की रकम पाकर अंगरेजों के प्रति कृतज्ञता अनुभव करने लगा था। अवध का नवाब आनेवाले वर्षों में संघर्ष करने की स्थिति में नहीं आ सका। मुगल सम्राट और उसके वजीर की रही-सही प्रतिष्ठा भी जाती रही। मुगलों का दबदबा समाप्त हो गया और बड़ी शक्तियां के साथ संघर्ष करने के लिए अंगरेजों का मनोबल बढ़ गया।

पलासी के युद्ध की तुलना में बक्सर का युद्ध अधिक निर्णायक था—इसकी पुष्टि कई प्रसिद्ध इतिहासकारों के कथन से की जा सकती है। मेलसन के शब्दों में, "बक्सर की विजय ने अंगरेजी सीमा का विस्तार इलाहाबाद तक कर दिया... ....बक्सर के युद्ध को चाहे देशी शक्तियां के बीच संघर्ष के रूप में देखा जाए अथवा ऐसी घटना के रूप में जिसका स्थायी परिणाम होता है, उसका स्थान निर्णायक युद्धों की श्रेणी में आता है।" ब्रूम का विचार है कि—"बक्सर के महत्त्वपूर्ण युद्ध के साथ भारत का भाग्य सम्बन्धित था और इसमें बहादुरी के साथ युद्ध हुआ तथा उसका परिणाम अत्यन्त महत्पूर्ण था। वस्तुतः पलासी के युद्ध में अंगरेजी साम्राज्य की स्थापना की जो प्रक्रिया प्रारम्भ हुई उसे बक्सर के युद्ध ने पूरा किया। पलासी में यदि ब्रिटिश साम्राज्य की नींव डाली गयी तो बक्सर ने उसे दृढ़ता प्रदान की। अतः बक्सर के बाद अंगरेज भारत के भाग्यविधाता बन गये। प्रभुत्व की दृष्टि से भी बक्सर का युद्ध पलासी के युद्ध की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण था। हेस्टिंग्स के अनुसार, "कम्पनी ने भारत में जो युद्ध किये उनमें बक्सर का युद्ध सर्वाधिक महान था।" निःसन्देह पलासी के युद्ध की तुलना में बक्सर का युद्ध अधिक निर्णायक सिद्ध हुआ।

बंगाल में दूसरी बार मीरजाफर का नवाब बनना

मीरजाफर को दूसरी बार जुलाई, 1763 ई. में बंगाल का नवाब बनाया गया। पिछले अनुभवों के आधार पर वह अंगरेजों के प्रति अधिक सतर्क था। उसने राजा नंदकुमार को अपना दीवान नियुक्त किया। राजा नंदकुमार ने सिराजुद्दौला के साथ विश्वासघात कर अंगरेजों से मित्रता की थी, परन्तु शीघ्र ही अंगरेजों के व्यवहार से उसका मोह भंग हो गया। उसने पिछले पाप का प्रायश्चित करने के उद्देश्य से मीरजाफर को मुगल सम्राट शाहआलम और वजीर शुजाउद्दौला से शाही फरमान प्राप्त करने की राय दी। परन्तु अंगरेज मीरजाफर और शाहआलम की मित्रता अपने लिए

खतरनाक समझते थे। इसलिए नंदकुमार को दीवान के पद से हटाकर मीरजाफर को पटना से कलकत्ता बुला लिया। मीरजाफर को अंगरेजों की इच्छानुसार काम करना पड़ा।

भारतीय व्यापारियों से पुनः कर वसूल किया जाने लगा। गद्दी पाने के बदले मीरजाफर को उपहार के रूप में अपार सम्पत्ति देनी पड़ी। नंदकुमार के हट जाने से बंगाल का प्रशासन अव्यवस्थित हो गया। बक्सर के युद्ध का खर्च भी मीरजाफर को ही देना पड़ा। अंगरेजों को पाँच लाख रुपये प्रतिमाह देना पड़ता था। फलस्वरूप अक्तूबर, 1764 ई. से ही मीरजाफर तंगी की हालत में आ गया था। नियमित रकम के अतिरिक्त भी नवाब को अंगरेज अधिकारियों की नयी मांगों की पूर्ति करनी पड़ती थी। हरजाने की मांग भी अंगरेज मीरजाफर से करने लगे। बूढ़े नवाब ने कर्ज के बोझ से परेशान होकर जीवन के अन्तिम दिन कष्ट में व्यतीत किये। 5 फरवरी 1765 ई. को मीरजाफर की मृत्यु मुर्शिदाबाद के महल में हुई। मरने के समय उसकी आयु 65 वर्ष की थी। मीरजाफर का प्रयोग अंगरेजों ने अपनी महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए सीढ़ी के रूप में किया था। जब अंगरेज महत्त्वाकांक्षा के अन्तिम शिखर पर पहुँच गये तो उन्होंने मीरजाफर को लात मारकर अलग कर दिया। मीरजाफर की मृत्यु से अंगरेजों को सत्ता बढ़ाने का एक और अवसर मिल गया।

नजमुद्दौला और अंगरेज

मीरजाफर के ज्येष्ठ पुत्र मीरन की मृत्यु पहले ही हो चुकी थी। मीरजाफर के दूसरे पुत्र नजमुद्दौला को अंगरेजों ने बंगाल की गद्दी पर बैठाया। पिछली परम्परा के अनुसार नजमुद्दौला के साथ भी अंगरेजों ने फरवरी, 1765 ई. में एक सन्धि की। नयी सन्धि की शर्तें निम्नलिखित थीं :

1. नवाब नजमुद्दौला एक 'नायब नाजिम' के पद की सृष्टि करे और उस पद पर अंगरेजों की इच्छानुसार मुर्शिदाबाद में मुहम्मद रजा खाँ को नियुक्त किया जाए।
2. वित्त विभाग में कलकत्ता काउन्सिल की राय के बिना नवाब न किसी अधिकारी को नियुक्त करे और न उसे पदच्युत करे।
3. कम्पनी के सैनिक व्यय के लिए पाँच लाख रुपये प्रति मास नवाब के खजाने से दिए जायँ।
4. मालगुजारी वसूलने अथवा दरबार की प्रतिष्ठा के लिए नवाब आवश्यकतानुसार सेना रखे और शेष सेना हटा दी जाए।
5. अंगरेजों को निःशुल्क व्यापार की सुविधा दी जाए।

नजमुद्दौला उम्र और अनुभव में छोटा एवं अयोग्य था। उसने सन्धि की शर्तों को स्वीकार कर लिया। इस सन्धि के द्वारा सुरक्षा, वित्त, सेना एवं बाह्य सम्बन्धों पर अंगरेजों का नियंत्रण हो गया। कम्पनी के द्वारा नवाब को 53 लाख रुपये वार्षिक

कर देना स्वीकार किया गया। सन्धि के अनुसार बंगाल का नवाब नाममात्र का शासक रह गया था। कम्पनी को सैनिक खर्च के लिए नवाब पर निर्भर नहीं रहना पड़ता था। कम्पनी अब अन्य क्षेत्रों की तलाश में थी। मुगल सम्राट शाहआलम 1759 ई., 1762 ई. और 1764 ई. में स्वयं कम्पनी को दीवानी देने का प्रस्ताव कर चुका था। अतः अगस्त, 1765 ई. में कम्पनी को जो दीवानी मिली उसकी पृष्ठभूमि फरवरी, 1765 ई. की सन्धि में ही तैयार कर ली गयी थी। डॉ. के. के. दत्त का विचार है, "फरवरी 1765 ई. की सन्धि ने कम्पनी को बंगाल का वास्तविक मालिक बना बना दिया था तथा अगस्त, 1765 ई. की दीवानी उसका तर्कसंगत परिणाम थी।"

नजमुद्दौला महाराजा नंदकुमार को दीवान नियुक्त करना चाहता था। परन्तु अंगरेज नंदकुमार की नियुक्ति का विरोध करते थे। नजमुद्दौला की इच्छा के विरुद्ध नंदकुमार पर दोषारोपण कर मुर्शिदाबाद से कलकत्ता लाया गया। नंदकुमार के रास्ते से हटाने के लिए उसे फाँसी की सजा दी गयी थी। नजमुद्दौला के समय बंगाल की हालत पतली हो गयी। कम्पनी के कर्मचारियों के द्वारा बेईमानी और अत्याचार को जो सिलसिला प्रारम्भ हुआ उससे बंगाल के साथ-साथ कम्पनी की हालत भी शोचनीय हो गयी। हालत में कम्पनी की स्थिति में सुधार लाने के लिए क्लाइव को दूसरी बार गवर्नर बनाकर भेजा गया। क्लाइव के आगमन के कुछ ही दिनों बाद नजमुद्दौला की मृत्यु हो गयी। उसकी मृत्यु पर शंका की जाती है, उसे षड्यंत्र समझा जाता है। मुहम्मद रजा खाँ क्लाइव को नजमुद्दौला की मृत्यु के लिए उत्तरदायी माना जाता है। नाजमुद्दौला की मृत्यु के बाद बंगाल के नवाब का वार्षिक पेंशन 41 लाख 81 हजार रुपये निर्धारित कर दिया गया। नजमुद्दौला के छोटे भाई को बंगाल की गद्दी पर बैठाया गया। नया नवाब शून्य मात्र था। बंगाल में नवाब की वास्तविक सत्ता की इतिश्री नजमुद्दौला की मृत्यु के साथ हो गयी। अंगरेजों ने बंगाल प्रान्त के तीन भागों में नायबों की नियुक्ति की और शासनसूत्र पर अंगरेजों का वास्तविक नियंत्रण स्थापित हो गया। इस प्रकार 1757 ई. में जो प्रक्रिया प्रारम्भ हुई उसकी पूर्णाहुति 1765 ई. में हुई और अंगरेजी साम्राज्य की जड़ भारत में सुदृढ़ हो गयी।

क्लाइव का द्वितीय गवर्नर काल (मार्च 1765 ई. से फरवरी, 1772 ई.)

क्लाइव के आगमन के समय की स्थिति : क्लाइव ब्रिटिश भारत के इतिहास का एक प्रमुख नायक था। क्लाइव का महत्व पलासी के बाद बढ़ा। वह मीरजाफर के साथ सम्बन्ध बढ़ाकर अंगरेजों के प्रभुत्व को प्रभावशाली बना चुका था। परन्तु क्लाइव के इंगलैण्ड लौट जाने के बाद बंगाल में कम्पनी की हालत दयनीय हो गयी। निजी व्यापार में व्यस्त कम्पनी के कर्मचारी भ्रष्ट हो चुके थे। धन कमाने की लिप्सा उनमें इतनी अधिक हो गयी थी कि कम्पनी के सार्वजनिक हित की रक्षा नहीं हो पा रही थी। धन अर्जित करने के फलस्वरूप कम्पनी के सैनिकों में अनुशासन का

अभाव था। व्यक्तिगत लाभ की नीति के फलस्वरूप कम्पनी की आर्थिक स्थिति में कोई सुधार नहीं हो पाता था।

कम्पनी की स्थिति के साथ-साथ तात्कालिक उत्तर भारत की प्रमुख शक्तियां के साथ कम्पनी का कोई स्थायी समझौता नहीं हो पाया था। वक्सर की विजय से अंगरेजों की प्रतिष्ठा वढ़ी थी। परन्तु मुगल सम्राट शाहआलम या अवध के नवाव शुजाउद्दौला के साथ अंगरेजों की कोई सन्धि नहीं हुई थी। वंगाल का नवाव भी अल्पायु था और शासन का दायित्व कम्पनी के हाथ में ही आ गया था। वस्तुतः क्लाइव के आगमन के पहले ईस्ट इण्डिया कम्पनी के सामने अनेक तरह के प्रश्न थे जिनका समाधान ढूँढ़ने के लिए क्लाइव जैसे मंजे हुए राजनीति के खिलाड़ी को भारत भेजना कम्पनी के संचालक मण्डल को आवश्यक दिखाई पड़ा। सरकार एवं दत्त के अनुसार, "उसने एजीयन के अस्तवल को साफ करने का निश्चय किया।"

क्लाइव ने उपयुक्त अवसर पर आकर सभी कार्यों का सम्पादन सफलतापूर्वक किया और ईस्ट इण्डिया कम्पनी की लड़खड़ाती हालत को पुनः सुदृढ़ वनाकर स्वदेश लौटा। क्लाइव की सहायता के लिए 16 सदस्यों की एक समिति बनाई गई। विशेष परिस्थिति के लिए चार सदस्यों की एक सिलेक्ट कमिटि भी बनाई गई जो प्रशासनिक कार्यों में क्लाइव को सहायता देती थी। क्लाइव 10 अप्रैल, 1765 ई. को पहले मद्रस पहुँचा और पुनः मद्रास से कलकत्ता आकर 3 मई, 1765 ई. को नये पद का कार्यभार स्वीकार किया। सर्वप्रथम क्लाइव ने बंगाल में सिलेक्ट कमिटी का गठन कर मुगल सम्राट शाहआलम, अवध के नवाब शुजाउद्दौला और वंगाल के नवाव के साथ समझौता किया।

राजनीतिक समझौता

सम्राट शाहआलम के साथ : वक्सर के बाद सम्राट शाहआलम दिल्ली की गद्दी पर अधिकार सुरक्षित रखने के लिए अंगरेजों की सहायता चाह रहा था। तथाकथित मुगल सम्राट नाममात्र का शासक था। उसके पास सेना और साधन का अभाव था। दिल्ली पर अधिकार दिलवाने में अंगरेजों को मराठों के विरोध की आशंका थी। अंगरेज मराठों का विरोध कर बंगाल, बिहार और उड़ीसा में संकट की स्थिति उत्पन्न करना नहीं चाहते थे। यदि सम्राट शाहआलम को स्वतंत्र रूप से दिल्ली जाने के लिए छोड़ दिया जाता तो वह मराठों से मिलकर अंगरेजों के शिकंजे से मुक्त हो जाता। वैन्सिटार्ट शाहआलम को अवध का राज्य सौंपने का वचन दे चुका था। परन्तु क्लाइव शाहआलम को न अवध देने के पक्ष में था और न ही उसे स्वतंत्र छोड़ना चाहता था। क्लाइव एक कूटनीतिज्ञ की तरह मध्यम मार्ग का अवलम्बन कर शाहआलम के साथ सन्धि की जिसमें निम्नलिखित बातें प्रमुख थीं :

1. कड़ा और इलाहाबाद का क्षेत्र शाहआलम को दिया गया।

2. शाहआलम ने बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी अंगरेजों को दी।

3. दीवानी के बदले अंगरेजों ने शाहआलम को प्रतिवर्ष 26 लाख रुपए देना स्वीकार किया।

4. शाहआलम हैदराबाद के उत्तरी क्षेत्र को, जिसे उत्तरी सरकार कहा जाता था, अंगरेजों को जागीर के रूप में प्रदान किया।

शाहआलम सन्धि के जाल में फँस गया था। वह अब स्वतंत्र रूप से दिल्ली नहीं जा सकता था। मराठों के हाथ बादशाह के फंसने का कोई प्रश्न पैदा नहीं होता था और अवध के राज्य की सीमा में रहने के लिए शाहआलम का प्रयोग करना चाहता था। अंगरेजों के जाल में फँसकर शाहआलम उनके हित की पूर्त्ति का साधन मात्र रह गया था।

शुजाउद्दौला के साथ : सम्राट शाहआलम की तरह अवध के नवाब शुजाउद्दौला ने भी अंगरेजों के साथ मित्रता रखना ही कल्याणकारी समझा। अवध का नवाब अंगरेजों के द्वारा बक्सर और चुनार में पराजित हो चुका था। मुगल सम्राट शाहआलम स्वयं अवध प्राप्त करना चाहता था। परन्तु शुजाउद्दौला के हाथ से अवध छीनकर अंगरेज शाहआलम को उपकृत करने के पक्ष में नहीं थे। शुजाउद्दौला और मराठों का संयोग अवध पर आक्रमण कर शाहआलम और अंगरेज दोनों के लिए संकट उत्पन्न कर सकता था। अतः क्लइव ने कूटनीत से काम लेकर 16 अगस्त, 1765 ई. को शुजाउद्दौला के साथ एक सन्धि की जिसकी शर्त्तें क्रमशः इस प्रकार थीं :

1. अवध के नवाब शुजाउद्दौला को उसका समस्त राज्य क्षेत्र लौटा दिया गया।

2. क्षतिपूर्त्ति के रूप में शुजाउद्दौला ने अंगरेजों को 50 लाख रुपये देनी स्वीकार की।

3. कड़ा और इलाहाबाद के जिले मुगल सम्राट शाहआलम को दिये गये।

4. चुनार पर अंगरेजों के अधिकार को मान्यता दी गयी।

5. राजा बलवंत सिंह को बनारस और गाजीपुर की जागीरदारी दी गयी और उसने अंगरेजी संरक्षण स्वीकार कर लिया।

6. अवध राज्य की सीमा में अंगरेजों को निःशुल्क व्यापार करने की सुविधा दी गयी।

7. अवध राज्य की सुरक्षा के लिए कम्पनी ने सैनिक सहायता देना स्वीकार कर लिया और उसका खर्च अवध के नवाब को उठाना पड़ता था।

इन सन्धियों के फलस्वरूप कम्पनी का राज्य सुरक्षित हो गया। बिहार की सीमा पर सम्राट शाहआलम को स्थापित कर बंगाल में शान्ति-व्यवस्था की कोई समस्या अंगरेजों के लिए नहीं रही। अवध का नवाब शुजाउद्दौला अंगरेजों का मित्र

बन चुका था। वह न तो स्वयं बिहार पर आक्रमण कर सकता था और न मराठों को आक्रमण करने के लिए उत्साहित कर सकता था। अवध का नवाब शुजाउद्दौला अब सैनिक सहायता के लिए अंगरेजों पर निर्भर रहने लगा। मराठों के आक्रमण से सुरक्षा के लिए अवध को एक अंतस्थ राज्य के रूप में अंगरेज रखना चाहते थे। वे इलाहाबाद पर नियंत्रण रखकर अपने सैनिकों की सुरक्षा चाहते थे। इतिहसकार रैमजे म्योर ने लिखा है, "अब से अवध के राज्य के साथ निकट सम्बन्ध रखना अंगरेजों की स्थायी नीति हो गयी। क्योंकि मराठों की आक्रामक शक्ति के मार्ग में वह एक लाभदायक बाधा थी।" यदि शुजाउद्दौला शाहआलम को अपनी शक्ति के बल पर दिल्ली में स्थापित करना चाहता तो अंगरेज उसमें बाधा उत्पन्न करना नहीं चाहते, क्योंकि उन्हें कष्टदायक अतिथि से स्वयं मुक्ति मिल जाती।

बंगाल के नवाब के साथ : नवाब नजमुद्दौला के साथ अंगरेजों की जो सन्धि हुई उसमें बंगाल का नवाब नामधारी शासक रह गया था। दीवानी प्राप्ति के बाद वित्त-व्यवस्था का दायित्व कम्पनी के हाथ में आ गया। नवाब के सैनिकों की संख्या घटा दी गयी। नवाब पेंशन पाकर ही सन्तुष्ट था। नजमुद्दौला की मृत्यु के बाद वार्षिक पेंशन की रकम में भी कटौती कर दी गयी। शासक के हाथ में सत्ता थी, परन्तु धन पर वास्तविक अधिकार अंगरेजों का हो गया। वस्तुतः नजमुद्दौला के मरने के बाद बंगाल का नवाब नाममात्र का ही अधिकारी रह गया था। बंगाल में द्वैध-शासन प्रारम्भ हुआ जिसमें एक तरफ नवाब और उसके अधिकारी तथा दूसरी तरफ कम्पनी और उसके कर्मचारियों के द्वारा बंगाल में लूट की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गयी।

बक्सर के युद्ध के बाद उत्पन्न समस्याओं का निदान क्लाइव की सफल कूटनीति का परिचायक है। उसने मराठों के सम्भावित आक्रमण से अंगरेजी राज्य की रक्षा की। अवध के शक्तिशाली नवाब को मित्र बनाकर रखा। सम्राट शाहआलम और बंगाल के नवाब को पेंशन देकर अपने नियंत्रण में ले आया। अनावश्यक युद्ध से बचने के लिए क्लाइव की नीति कारगर साबित हुई बंगाल और उड़ीसा में कम्पनी की स्थिति को सुदृढ़ बनाकर क्लाइव ने भविष्य में ब्रिटिश साम्राज्य की आधारशिला का निर्माण कर दिया था।

क्लाइव के प्रशासनिक सुधार

कम्पनी का प्रशासन यंत्र लचर हो गया था। बड़े एवं छोटे अधिकारियों में भ्रष्टाचार का बोलाबाला था। सभी कम समय में धनवान बनना चाहते थे। उपहार, रिश्वत के अतिरिक्त निजी व्यापार के माध्यम से कम्पनी के अधिकारी मालामाल हो गये। स्वयं क्लाइव इसका अपवाद नहीं था। वह असैनिक और सैनिक विभाग में व्याप्त भ्रष्टाचार को समाप्त करना चाहता था। सर्वप्रथम असैनिक सेवा के क्षेत्र में क्लाइव के सुधारों का मूल्यांकन किया जायेगा :

1. असैनिक सेवा : असैनिक सेवा में अनेक प्रकार की अनियमितताएँ आ गयी थीं। आन्तरिक प्रशासन व्यवस्था में अराजक स्थिति उत्पन्न हो चुकी थी। गृह सरकार के आदेशों की उपेक्षा कर कम्पनी के असैनिक अधिकारी धन के लालच में उपहार, रिश्वत और निजी व्यापार को प्रोत्साहन देकर कम्पनी के सार्वजनिक स्वार्थ की उपेक्षा करने लगे थे। कम्पनी के अधिकारी विशेषाधिकार का खुलकर दुरुपयोग करते थे। धन की बढ़ती हुई लालसा ने उन्हें भ्रष्ट और उत्तरदायित्वहीन बना दिया था। बंगाल में योग्य कर्मचारियों का अभाव था। अतः प्रचलित व्यवस्था को समाप्त करने के लिए क्लाइव ने असैनिक सेवा के क्षेत्र में निम्नलिखित सुधार किये :

1. सर्वप्रथम क्लाइव ने कम्पनी के असैनिक कर्मचारियों को उपहार लेने की प्रथा से वंचित कर दिया। उसने प्रत्येक कम्पनी के कर्मचारी को उपहार, रिश्वत नहीं लेने तथा ईमानदारी से काम करने के लिए प्रतिज्ञापत्र पर हस्ताक्षर करवा लिए।

2. कम्पनी के कर्मचारियों को कम वेतन मिलता था। कम वेतन के कारण ईमानदारी के साथ जीवन-निर्वाह करना सम्भव नहीं था। निजी व्यापार को बन्द करने के पहले कम्पनी के कर्मचारियों की आय में वृद्धि करना आवश्यक था। व्यक्तिगत स्वार्थ की पूर्त्ति किये बिना लोकनीति को सन्तुलित रखना असम्भव है। अतः क्लाइव ने एक व्यापार सोसाइटी की स्थापना की जिसे पान, तम्बाकू और नमक के व्यापार का एकाधिकार दिया गया। इस समिति में 56 हिस्से थे। 35 हिस्से बड़े पदाधिकारियों के लिए सुरक्षित थे तथा शेष हिस्से छोटे-छोटे कर्मचारियों के लिए सुरक्षित थे। व्यापार समिति का लाभ सैनिक एवं असैनिक अधिकारियों के बीच पद के अनुसार बाँट दिया जाता था। क्लाइव की यह योजना 1768 ई. तक चलती रही व्यापार समिति एवं निजी व्यापार के गठन में केवल नाम का ही अन्तर था। अतः डायरेक्टारों के द्वारा इसे 1768 ई. में समाप्त कर दिया गया।

3. क्लाइव ने प्रशासनिक व्यय पर नियंत्रण रखने के उद्देश्य से बंगाल के पुराने कर्मचारियों को मद्रास तथा मद्रास के कर्मचारियों को बंगाल भेजने का आदेश निकाला। बंगाल के अधिकारियों ने इसका विरोध किया, परन्तु क्लाइव ने उनके पत्राचार को एक स्थान से दूसरे स्थान में नहीं जाने दिया। उसे मद्रास से कर्मचारियों को बंगाल बुला लिया और बंगाल के बागी कर्मचारियों को लन्दन भेजकर उपद्रव शान्त कर दिया।

2. सैनिक सेवा में सुधार : प्रारम्भ में अंगरेजों को सैनिक खर्च की पूर्त्ति नवाब के द्वारा कर दी जाती थी। परन्तु दीवानी की प्राप्ति के बाद सैनिकों का खर्च स्वयं कम्पनी को वहन करना पड़ता था। अतः डायरेक्टारों ने कम्पनी के सैनिकों को विशेष सुविधा बन्द करने का आदेश दिया। आदेश को व्यावहारिक रूप से कार्यान्वित करना सरल काम नहीं था। अंगरेजी सेना को युद्ध के समय दोहरा भत्ता

दिया जाता था। कर्नाटक-युद्ध के समय से ही दोहरे भत्ते की प्रथा प्रारम्भ हुई थी और अब तक वह वेतन का एक अंग बन चुकी थी। क्लाइव ने इस प्रश्न का समाधान करने के लिए निम्नलिखित नियमों का निर्माण किया :

1. मुंगेर एवं पटना की छावनियों में रहने वाले सैनिक अधिकारियों को आधा भत्ता दिया जायगा।

2. छावनी के बाहर बिहार, बंगाल और उड़ीसा की सीमा के अन्तर्गत काम करनेवाले सैनिकों को पूरा भत्ता मिलेगा। यह भत्ता नवाब की ओर से दिया जाता था।

3. बिहार, बंगाल और उड़ीसा की सीमा से बाहर काम करनेवाले सैनिकों को दोहरा भत्ता दिया जायगा क्योंकि वे किसी अन्य नरेश के लिए काम करते थे और उनका पूरा खर्च सम्बन्धित राज्य को देना पड़ता था।

क्लाइव ने 1766 ई. में दोहरे भत्ते को बन्द करने का आदेश निकाला। आदेश के विरोध में बंगाल के सैनिकों ने विरोध किया। विरोध का मुख्य कारण यह था कि वे मीरजाफर और मीरकासिम के समय से दोहरे भत्ते का उपभोग कर रहे थे। क्लाइव ने श्वेत विद्रोह को सुविधापूर्वक शान्त कर दिया। लगभग दो सौ अधिकारियों के त्यागपत्र को उसने स्वीकार कर लिया। विद्रोह पन्द्रह दिनों के बाद स्वतः खत्म हो गया। कुछ अधिकारियों को स्वदेश भेज दिया गया। कुछ के द्वारा माफी मांग ली गयी और अगले तीन वर्षों के अन्दर विद्रोह न करने का आश्वासन पाने पर पुनः उन्हें नियुक्त कर लिया गया।

3. अवकाशप्राप्त कर्मचारियों के लिए पेंशन की व्यवस्था : अवकाशप्राप्त कर्मचारियों के लिए कम्पनी के द्वारा पेंशन की कोई व्यवस्था नहीं थी। क्लाइव ने आवकाशप्राप्त कर्मचारियों की असुविधाओं को ध्यान में रखकर अपने नाम एक फंड की स्थापना की। आमतौर पर उसे 'क्लाव फंड' कहा जाता है। मीरजाफर ने मरने के पहले पाँच लाख रुपये का दान निजी तौर पर क्लाइव को दिया था। क्लाइव ने उस रुपये को व्यापार में लगा दिया और उससे प्राप्त आय से अवकाशप्राप्त कर्मचारियों को पेंशन देने की व्यवस्था प्रारम्भ की।

4. क्लइव के अन्य सुधार : डॉ. नंदलाल चटर्जी के अनुसार क्लाइव ने भारत में नियमित डाक-व्यवस्था प्रारम्भ की थी। घुड़सवार और दौड़ाहे एक-दूसरे स्थान में डाक पहुँचाने का काम करते थे। यह व्यवस्था मध्यकाल में भी प्रचलित थी। योग्य दौड़ाहों या हरकारों का एक स्थायी कर्मचारी वर्ग संगठित किया गया। 'डाक-मार्ग' पर जमींदारों का नियंत्रण था। यह व्यवस्था केवल सरकारी कार्यों का सम्पादन करने के लिए प्रारम्भ की गयी थी। आम लोगों के लिए डाक की कोई नियमित व्यवस्था नहीं थी।

क्लाइव के सुधारों का मूल्यांकन : क्लाइव ने कम्पनी की प्रशासन-व्यवस्था को सुधारने की चेष्टा की थी। दोहरे भत्ता को बन्द करने से कम्पनी को आर्थिक लाभ हुआ। प्रशासनिक व्यय में भी कमी आयी। आवकाशप्राप्त कर्मचारियों को पेंशन मिलेन लगी। परन्तु उपहार, रिश्वत या निजी व्यापार को बन्द करने में क्लाइव को विशेष सफलता नहीं मिली। वस्तुतः भ्रष्टाचार, उपहार और निजी व्यापार पर प्रतिबन्ध लगाने की बात को कम्पनी के अधिकारियों ने गम्भीरता से नहीं लिया। ये सभी चीजें पूर्ववत् चलती रहीं। व्यापार समिति की स्थापना का परिणाम यह हुआ कि बंगाल में इसका प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है। क्लाइव का चरित्र स्वयं आकर्षित नहीं था। वह धनलोलुप व्यक्ति था और धन की प्राप्ति के लिए नैतिकता और अनैतिकता का कोई ख्याल नहीं रखता था। वस्तुतः क्लाइव को व्यापक अधिकार प्राप्त था। यदि वह चाहता तो प्रचलित बुराइयों को दूर करना कोई कठिन काम नहीं था। परन्तु प्रशासक के रूप में क्लाइव असफल रहा। अतः क्लाइव की सुधार-योजना से कम्पनी के स्वरूप में कोई मौलिक परिवर्त्तन नहीं हुआ। उसका सुधान विशेष रूप से कागज तक सीमित रह गया।

बंगाल में द्वैध शासन (1765-1772 ई.)

बंगाल का नवाब दिल्ली सम्राट के प्रतिनिधि के रूप में शासन करता था। मुगल सम्राट नामधारी शासक था। वस्तुतः नवाब निजामत और दीवानी दोनों विभाग का प्रधान होता था। परन्तु बक्सर के युद्ध के बाद बंगाल की राजनीति में एक महत्त्वपूर्ण परिवर्त्तन हुआ। अंगरेजों ने मीरजाफर की मृत्यु के बाद नजमुद्दौला को नवाब नियुक्त कर वास्तविक शक्ति अपने हाथ में ले ली थी। मुगल सम्राट शाहआलम अंगरेजों की सैनिक सहायता के बल पर दिल्ली की गद्दी पर बैठने के लिए उत्सुक था। इससे पूर्व भारत की सबसे बड़ी शक्ति अवध का नवाब शुजाउद्दौला था। बक्सर के युद्ध में पराजित होकर शुजाउद्दौला अंगरेजों के साथ शत्रुता के बदले मित्रता का सम्बन्ध कायम रखना चाहता था। बंगाल और अवध के नवाब अंगरेजों का विरोध नहीं कर सकते थे। सम्राट शाहआलम कई बार अंगरेजों को बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी देने के लिए प्रस्ताव रख चुका था। प्रारम्भ में अंगरेज दीवान बनने के प्रति उतने उत्सुक नहीं थे। परन्तु बक्सर के युद्ध के बाद राजनीतिक स्थिति स्पष्ट हो गयी। सम्राट और अवध के नवाब से अंगरेजों को कोई भय नहीं रहा। अतः मुगल सम्राट एवं उसके वजीर शुजाउद्दौला की कमजोरी का लाभ उठाकर अंगरेजों ने फरवरी, 1765 ई. में पहले निजामत का अधिकार प्राप्त किया और पुनः अगस्त, 1765 ई. में मुगल सम्राट शाहआलम द्वितीय से बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी प्राप्त की। इस प्रकार कम्पनी ने निजामत और दीवानी दोनों का अधिकार प्राप्त कर लिया।

द्वैध शासन की परिभाषा : दीवानी मिल जाने से कम्पनी को लगान वसूलने का अधिकार तथा असैनिक न्याय करने की सुविधा प्राप्त हो गयी। बंगाल के नवाब को शासन एवं फौजदारी सम्बन्धी कार्यों की देखभाल करने का अधिकार दिया गया। इस प्रकार शासन को दो भागों में पृथक् कर दो शक्तियाँ कायम की गयीं। एक शक्ति कम्पनी की थी। और दूसरी बंगाल के नवाब की थी। इस तरह की शासन-व्यवस्था को द्वैध शासन कहा जाता है।

क्लाइव ने वस्तुस्थिति का सही मूल्यांकन कर दीवानी प्राप्त की थी। दीवानी मुगल सम्राट शाहआलम द्वारा दी गयी थी। अतः उसका विरोध न भारतीय नवब कर सकते थे अैर न इंगलैण्ड की सरकार ही। यूरोप की अन्य शक्तियों के द्वारा भारत में विरोध करने की सम्भावना नहीं थी। दीवानी के अधिकार का प्रयोग करने में सक्षम थी। अतः परिस्थिति का मूल्यांकन कर क्लाइव ने 1765 ई. में द्वैध शासन की व्यवस्था लागू की थी।

दीवानी प्राप्त करने से कम्पनी बंगाल सूबा में सर्वेसर्वा हो गयी थी। परन्तु कम्पनी शासन का प्रतयक्ष उत्तरदायित्व संभालने के पक्ष में नहीं थी। क्लाइव की दृष्टि से शासन का दायित्व लेने पर कम्पनी के व्यापार पर धक्का लग सकता था। अतः बंगाल के शासन को दो भागों में बाँट दिया गया। वैदेशिक सम्बन्ध, सैनिक और राजस्व का उत्तरदायित्व कम्पनी ने अपने जिम्मे ले लिया और न्याय एवं लगान सम्बन्धी कार्यों की देखभाल के लिए दो नायब नाजिम की नियुक्ति की गयी। नायब नाजिम की नियुक्ति और बर्खास्तगी का अधिकार कम्पनी के हाथ में था। बंगाल के नवब को 53 लाख रुपये वार्षिक वेतन दिया गया। प्रस्तावित योजना के अनुसार बंगाल के नायब नाजिम मुहम्मद रजा खाँ और बिहार का नायव नाजिम सिताब राय को नियुक्त किया गयां बंगाल के नायब नाजिम का कार्यकेन्द्र मुर्शिदाबाद में तथा बिहार के नायव नाजिम का कार्यकेन्द्र पटना में रखा गया। नायबों को लगान वसूलने एवं निजामत का खर्च तथा मुगल सम्राट को 26 लाख वार्षिक एवं बंगाल के नवाव को 53 लाख-रुपये प्रतिवर्ष देने के बाद जो रकत शेष रह जाती उसे कम्पनी के कोष में जमा करना पड़ता था। दीवानी का कार्य भारतीय अधिकारियों को सौंप देने से कम्पनी प्रत्यक्ष उत्तरदायित्व से मुक्त हो गयी और उसका सारा ध्यान केवल इस बात पर था कि कम्पनी को अधिक-से-अधिक आय की प्राप्ति हो। आय में वृद्धि लाना नायब नाजिम का उत्तरदायित्व था। दोहरे शासन की यह व्यवस्था 1766 ई. में 1772 ई. तक चली और इन पाँच वर्षों में कम्पनी बंगाल में सर्वशक्ति-सम्पन्न हो गयी।

बंगाल के नवाब के हाथ में निजामत का अधिकार था। परन्तु प्रशासनिक व्यय के लिए उसे कम्पनी पर निर्भर रहना पड़ता था। नवाब को शान्ति-व्यवस्था

कायम रखने के लिए कम्पनी की सेना पर आश्रित रहना पड़ता था। वस्तुतः नवाव स्वयं किसी प्रश्न पर निर्णय लेने की स्थिति में नहीं था। कारण बंगाल का नवाव नाबालिग था और उसे एक संरक्षक की आवश्यकता थी। ऐसी अवस्था में कम्पनी की ओर से मुहम्मद रजा खाँ को ही नयाब दीवान के अतिरिक्त नायब नाजिम का पद दिया गया। मुहम्मद रजा खाँ अंगरेजों का विश्वासपात्र व्यक्ति था। अतः अप्रत्यक्ष रूप से मुहम्मद उत्तरदायित्व से मुक्त हो गया था।

द्वैध शासन के दोष

1. भारतीय अधिकारियों के हाथ में शासन-सत्ता सौंप देने पर भी कम्पनी वास्तविक सत्ता का स्वामी वन गयी थी। भारतीय अधिकारी कम्पनी के हाथ के कठपुतले थे जो उसके इशारों पर नाचते थे। दोष कर्मचारियों पर था परन्तु लाभ कम्पनी को होता था। वस्तुतः कम्पनी के पास योग्य प्रशासकों का उस समय अभाव था। परन्तु अधिकार और उत्तरदायित्व नवाब के कर्मचारियों पर था। नवाब और उसके कर्मचारियों के पास स्वयं कोई शक्ति नहीं थी। अतः अत्याचारी और गैरउत्तरदायी शासकों के बीच बंगाल की जनता पीसी जाने लगी।

2. द्वैध शासन एक दोषपूर्ण व्यवस्था थी। कम्पनी के कर्मचारी मनमाना अत्याचार करने लगे। उनका निजी व्यापार चरम सीमा पर पहुँच गया। निजी व्यापार पर प्रतिवन्ध की देखभाल करनेवाला कोई नहीं था। कम्पनी के कर्मचारी स्वयं अपने को मालिक समझने लगे। दस्तक का दुरुपयोग करने से राज्य की आय में कमी आ गयी और भारतीय व्यापारियों के लिए प्रतियोगिता करना कठिन हो गया। बंगाल, बिहार और उड़ीसा के आन्तरिक व्यापार पर कम्पनी का एकाधिकार स्थापित हो गया। भारतीय व्यापारियों की रोजी-रोटी छीन ली गयी। हजारों व्यापारी दाने-दाने के लिए मुँहताज रहने लगे। भारतीय व्यापारी समृद्ध और धनी थे। परन्तु कम्पनी के कर्मचारियों के द्वारा उन पर इतना उत्याचार किया जाने लगा कि वे व्यापार बन्द कर देने में ही अपनी भलाई समझने लगे।

3. द्वैध शासन के फलस्वरूप भू-राजस्व में वृद्धि हुई। पुरानी प्रथा के अनुसार नियमित रूप से लगान देनेवाले जमींदारों को हटाया नहीं जाता था। परन्तु क्लाइव ने लगान देने के लिए नीलामी की प्रथा प्रारम्भ की। अधिक लगान देनेवाले ठीकेदारों को एक वर्ष के लिए भूमि दी जाने लगी। इससे वंशानुगत जमींदारी की परम्परा समाप्त हो गयी और एक ऐसे वर्ग का जन्म हुआ जो ऊँची बोली बोलकर जमीन का ठीका लेते थे। ऐसे लोगों को कृषकों के हित का कोई ध्यान नहीं रहता था। लगान की मात्रा में तीन गुनी वृद्धि हुई और ठीकेदारों के द्वारा अधिक-से-अधिक लगान वसूल की जाने लगी। दीवानी प्राप्त करने के पहले भू-राजस्व से वार्षिक आय 8,000,000 रुपये थी जो 1766-67 ई. में बढ़कर 22,467500 रुपये हो गयी।

ठीकेदारी की प्रथा से कम्पनी की आय में वृद्धि हुई और कृपकों को ठीकेदारों के मनमाने अत्याचार का शिकार होना पड़ा। कृपकों को प्रतिवर्ष लगान अधिक देना पड़ता था। कम्पनी का संचालक मण्डल लगान में वृद्धि करना चाहते थे क्योंकि वे भारत से अधिक आयात कर अधिकाधिक लाभ कमाना चाहते थे। परन्तु बढ़ती हुई लगान का भार प्रतिवर्ष किसानों पर पड़ता था। कृषि के विकास के प्रति कम्पनी और ठीकेदार दोनों उदासीन थे। ऐसी अवस्था में कृषि का निरन्तर ह्रास होता गया और दुर्नीति एवं कम्पनी के कर्मचारियों के अत्याचार से तंग आकर किसानों ने खेती करना छोड़ दिया। भूमि परती रहने लगी। किसान घर छोड़कर भागने लगे। कृषि योग्य भूमि जंगल में परिवर्तित हो जाने से भू-राजस्व से आय कम होने लगी।

4. दीवानी के पहले बंगाल में कृषि एवं उद्योगों के बीच अच्छा समन्वय था। बंगाल का उद्योग विश्व के किसी भी देश से टक्कर ले सकता था। ढाका का मलमत विश्व में प्रसिद्ध था। धातु, चर्म एवं लकड़ी का उद्योग विकसित अवस्था में था। बंगाल से रेशमी, सूती वस्त्र, चीनी, नील, शौरा, और नमक का निर्यात होता था। परन्तु द्वैध शासन के समय रेशमी एवं सूती वस्त्रोद्योग को नष्ट करना कम्पनी का एक राजनीतिक उद्देश्य बन गया। कम्पनी के कर्मचारियों एवं गुमाश्तों पर नवाब का कोई नियंत्रण नहीं था। कम्पनी के गुमश्ते साप्ताहिक बाजारों में सामान खरीदने जाते थे। वहाँ अधिक खरीददार रहने से मूल्य बढ़ जाता था। कम्पनी के गुमाश्ते कम दाम देकर कारीगरों को पेशगी रुपया देकर घर पर सामान तैयार करवाने लगे। सामान तैयार होने पर गुमाश्तों कम दाम देकर कारीगरों को तंग करने लगे। कारीगर जब वस्तुओं का स्तर गिराने लगे तो कारीगरों को गुमाश्तों के कोप का भाजन बनना पड़ा। बुनकर और जुलाहे कपड़ा बुनना छोड़कर खेती का काम करने लगे अथवा मजदूरों की श्रेणी में आ गये। इच्छानुसार काम नहीं करने वाले कारीगारों के अंगूठे काट लिए गये। फलतः कृषि के साथ बंगाल का उद्योग-धन्धा भी नष्ट हो गया। भारतीय उद्योग को नष्ट करने का मुख्य कारण इंगलैण्ड के नवविकसित उद्योगों का संरक्षण था। इंगलैण्ड का वस्त्रोद्योग प्रगति करने लगा था परन्तु, बंगाल के वस्त्रोद्योग के सामने वह प्रतिस्पर्धा में टिक नहीं पाया था। अतः मनमाने अत्याचार की नीति अपनाकर बंगाल की अर्थ-व्यवस्था एवं व्यापार तथा उद्योग को नष्ट किया गया।

5. द्वैध शासन के फलस्वरूप कम्पनी की आय में कमी हो गयी। भू-राजस्व, व्यापार और उद्योग-धन्धों में गिरावट के प्रश्न ने कम्पनी के लिए गम्भीर समस्या पैदा कर दी। अतः क्लाइव के स्वदेश लौटने के बाद 1769 ई. में कम्पनी के द्वारा प्रबन्धकों की नियुक्ति की गयी। बंगाल का विभाजन बीस जिलों में कर दिया गया। प्रत्येक जिले में एक अंगरेज प्रबन्धक की नियुक्ति की गयी। प्रबन्धकों के द्वारा कोई लाभदायक काम नहीं हो सका। प्रबन्धक स्वयं निजी व्यापार करने लगे। किसानों

को न्याय देने या अत्याचार से बचाने के बदले स्वयं शोषक बन गये। 1770 ई. में बंगाल में भीषण काल पड़ा। हजारों-हजार व्यक्ति मर गये। अकाल की स्थिति में कम्पनी के द्वारा राहत की व्यवस्था सन्तोषजनक नहीं थी। अकाल-पीड़ित क्षेत्र में भी लगान की दर में कोई कटौती नहीं की गयी। 1770 ई. में एक लगान समिति की स्थापना की गयी जिसका कार्यालय मुर्शिदाबाद और पटना में खोला गया। लगान समिति रेजीडेण्ट की सहायता के लिए बनायी गयी थी। परन्तु यह समिति कलकत्ता के काउन्सिल के अधीन नहीं थी। अतः समिति के सदस्य कलकत्ता काउन्सिल की उपेक्षा करने लगे और प्रबन्धकों की तरह लगान समिति का परिणाम भी असन्तोषजनक ही रहा।

द्वैध शासन के परिणाम : द्वैध शासन का परिणाम कम्पनी और बंगाल दोनों के लिए हानिकारक था। कम्पनी के कर्मचारी कम ही दिनों में धनवान हो गये। निजी व्यापार द्वैध शासन में चरम सीमा पर पहुँच गया। धन-संग्रह करने का लालच अंगरेज कर्मचारियों को अनैतिक काम करने के लिए विवश कर देता था। परन्तु व्यक्तिगत लाभ की तुलना में कम्पनी की आय में कमी आ गयी। पाँच वर्षों के अन्दर कम्पनी स्वयं दिवालिये की स्थिति में पहुँच गयी। कम्पनी इंगलैण्ड की सरकार को 4,00,000 पौण्ड कर्ज के रूप में नहीं दे पायी। बंगाल में कृषि, व्यापार एवं उद्योग-धन्धा नष्ट हो गया। भयंकर लूट से आम जनता तबाह हो गयी। किसानों में लगान देने की क्षमता नहीं रही। कारीगरों की रोजी-रोटी मारी गयी। व्यापारियों को व्यापार बन्द कर देना पड़ा। बंगाल का नवाब पीड़ित प्रजा को अंगरेजों के अत्याचार के विरुद्ध न्याय देने में असमर्थ रहा था। कम्पनी के एक कर्मचारी रिचर्ड बेचर ने लिखा है, "यह देश जो निरंकुश एवं स्वेच्छाचारी शासकों के अधीन फलता-फूलता रहा, अब बर्बादी की ओर जा रहा है।" वस्तुतः द्वैध शासनकाल बंगाल के लिए अभिशाप था। बंगाल में 1770 ई. का भीषण अकाल द्वैध शासन का वीभत्स रूप स्पष्ट कर देता है। द्वैध शासन पूर्णतः असफल था। 1772 ई. में वारेन हेस्टिंग्स ने द्वैध शासन को समाप्त कर दिया।

राबर्ट क्लाइब का जीवन-वृत्त

राबर्ट क्लाइव का जन्म 29 सितम्बर, 1725 ई. को श्रावशायर में हुआ था। बचपन से क्लाइव चंचल और नटखट स्वाभाव का व्यक्ति था। अध्ययन में विशेष रुचि नहीं रहने के कारण उसे कई विद्यालयों से अनुशासनहीनता एवं अवज्ञा के आरोप में निकाला गया। पढ़ने-लिखने में उदासीनता देखते हुए क्लाइव के पिता ने उसे ईस्ट इण्डिया कम्पनी में सेवा करने के लिए भारत भेज दिया। क्लाइव 29 वर्ष की आयु में 1744 ई. में मद्रास पहुंचा और कम्पनी में एक लिपिक के रूप में नियुक्त हुआ। कलम का काम उसे रास नहीं आया। यह साहसी, अध्यवसायी और

निर्भीक था। उसमें असीम महत्त्वाकांक्षा थी। वह अपने पद से सन्तुष्ट नहीं था। कलम के बदले शक्ति प्रदर्शन करने के लिए वह बेताब था। क्लाइव ने वर्तमान जीवन से असन्तुष्ट होकर आत्महत्या करने की भी चेष्टा की। पिस्तौल का निशाना चूक गया और क्लाइव सौभाग्य से बच गया। क्लाइव को अपनी प्रतिभा एवं योग्यता प्रदर्शित करने का अवसर कर्नाटक के युद्ध में मिला। पांडिचेरी के घेरे में उसके रण-कौशलता का परिचय प्राप्त हुआ। कर्नाटक के दूसरे युद्ध में अर्काट का घेरा डालकर क्लाइव ने अपने सामरिक कौशल का अद्वितीय परिचय देकर सैनिक सेवा में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया। काजीवरम, फतेहाबाद आदि युद्धों में क्लाइव का साहस और सूझ-बूझ प्रशंसनीय थी। क्लाइव की कुशलता से अंगरेज फ्रांसीसियों के कुशल सेनानायकों को पराजित करने में सफलता रहे। स्वास्थ्य गिर जाने के कारण क्लाइव को स्वदेश लौट जाना पड़ा जहाँ सोने की मुठ्यावाली एक तलवार क्लाइव को सम्मानित करने के लिए उपहारस्वरूप दी गयी।

1755 ई. में क्लाइव मद्रास के सेंट डेविड किले का गवर्नर नियुक्त होकर भारत पहुँचने पर उसे मराठों के साथ युद्ध में भाग लेना पड़ा। क्लाइव ने मराठों के किले का घेरा कर लिया और उनकी नौसेना को नष्ट कर डाला। इस समय नवाब सिराजुद्दौला ने कलकत्ता पर आक्रमण किया और तथाकथित काली कोठरी की दुर्घटना की सूचना मद्रास पहुँची। बंगाल से अंगरेजी सेना भेजने का आग्रह किया गया था। क्लाइव मद्रास से फुल्टा पहुँचा और स्थिति का मूल्यांकन कर नवाब के विश्वासपात्र अधिकारियों को फोड़कर अपने पक्ष में मिला लिया। क्लाइव की कूटनीति के कारण ही कलकत्ता एवं फोर्ट विलियम पर अधिकार करने में अंगरेजों को विशेष कठिनाई नहीं हुई। हुगली की लूट में वह सफल रहा। सिराजुद्दौल को अलीनगर की सन्धि के लिए 1756 ई. में विवश हो जाना पड़ा। अलीनगर की सन्धि से अंगरेजों को वे सारी सुविधाएं प्राप्त हो गयीं जो उन्हें पहले से प्राप्त थीं। बंगाल की विभाजित स्थिति का लाभ उठाकर क्लाइव ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना करने का स्वप्न देखने लगा। नवाब सिराजुद्दौला के विरुद्ध षड्यंत्र की रचना करने में उसने मुख्य नायक की भूमिका अदा की और पलासी के मैदान में विजय प्राप्त कर बंगाल में अंगरेजों को पैर जमाने का अवसर दिया। मीरजाफर की स्थिति स्वयं दयनीय थी। ऐसी अवस्था में मीरजाफर को पसन्द नहीं करते थे। भगोड़े सम्राट अली गौहर ने बिहार पर आक्रमण को विफल कर दिया। फ्रांसीसियों से चन्दरनगर का किला छीनकर तथा डचों को बेदार के युद्ध में पराजित कर बंगाल में अंगरेजी सत्ता का एकाधिपत्य कायम करने में क्लाइव को आशतीत सफलता मिली। क्लाइव की सेवाओं में और सफलता मिली। क्लाइव की सेवाओं और सफलता से प्रभावित होकर उसे स्वदेश लौटने पर 1761 ई. में संसद का सदस्य बनाया गया एवं लार्ड की उपाधि दी गयी।

क्लाइव को दूसरी बार 1765 ई. में बंगाल का गवर्नर बनाकर भारत भेजा गया। क्लाइव ने दो वर्षों तक गवर्नर के रूप में रहकर कम्पनी के भ्रष्ट प्रशासन और आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ करने की चेष्टा की। अवध के नवाब शुजाउद्दौला और सम्राट शाहआलम के साथ सन्धि कर उसने बंगाल और बिहार में कम्पनी की राजनीतिक स्थिति मजबूत बना दी। कम्पनी के नवनिर्मित क्षेत्र पर अब न मराठों के आक्रमण की आशंका रही और न मुगल सम्राट या उसके सचिव बिहार की सीमा में प्रवेश कर सकते थे। सन्धि के माध्यम से क्लाइव ने सम्राट और सचिव दोनों को अपना मित्र बना लिया था। परन्तु प्रशासनिक सुधार एवं दोहरे शासन की व्यवस्था प्रचलित कर क्लाइव कम्पनी की आर्थिक स्थित को सुधारने में सफल रहा। स्वास्थ्य गिर जाने के कारण क्लाइव 1767 ई. में इंगलैण्ड लौट गया। क्लाइव का जीवन का अन्तिम समय संकटपूर्ण रहा। उस पर मुकदमा चला। मुकदमे में वह निर्दोष साबित हुआ। परन्तु अपने काले-कारनामों से दुखी होकर उसने 1774 ई. में आत्महत्या कर ली।

क्लाइव के कार्यों का मूल्यांकन

क्लाइव एक साधारण पद से गवर्नर का पद प्राप्त कर ब्रिटिश भारत के इतिहास में अनोखे चरित्र वाले व्यक्ति के रूप में प्रकट हुआ था। क्लाइव के समय भारत में अंगरेजों की स्थिति अच्छी नहीं थी। उनके विरोध में फ्रांसीसी थे। फ्रांसीसियों की नीति अपनाकर क्लाइव ने दक्षिण भारत में कर्नाटक के दो युद्धों में सफलता दिलाकर अंगरेजों की स्थिति को पहले की अपेक्षा अधिक सुरक्षित बना दिया और बंगाल पर अपना प्रभुत्व कायम कर ब्रिटिश भारत की नींव डाली। वर्क ने क्लाइव के कार्यों की समीक्षा करते हुए लिखा है कि "उसने स्वयं अज्ञात गहराई वाली नदी को अत्यन्त कठिनाई से किसी प्रकार पैदल पार किया, परन्तु अपने उत्तराधिकारियों के लिए एक ऐसे सेतु का निर्माण किया जिस पर लंगड़े और अंधे भी रास्ता टटोल कर चल सकते थे।" क्लाइव का चरित्र आकर्षक था। वह साहसी, कर्मठ, परिश्रमी और राष्ट्रभक्त था। अंगरेजी साम्राज्य की स्थापना के स्वप्न को साकार रूप रूप देकर उसने अपनी राष्ट्रभक्ति का परिचय दिया था। उसमें अद्वितीय तार्किक शक्ति और अथक उत्साह था। अपने चरित्र के विशिष्ट गुणों के कारण ही उसे साम्राज्य का संस्थापक बनने का गौरव प्राप्त है। अंगरेज इतिहासकारों ने क्लाइव की प्रशंसा की है। अर्ल ऑफ चेथम ने उसकी 'ईश्वर द्वारा भेजा गया सेनापति' तथा मैकाले ने उसे 'अद्वितीय व्यक्तित्व एवं विचार-विमर्श वाला व्यक्ति' के रूप में प्रशंसा की है। स्टैपन होप के अनुसार, "कोई भी चीज उसे आतंकित न कर पाती थी, उसका विवेक किसी बात से मंद नहीं पड़ता था और वह तत्काल सही निर्णय लेता था।" लार्ड कर्जन ने क्लाइव को अंगरेज जाति के बीच महान आत्मा की संज्ञा दी है। वस्तुतः क्लाइव

के सम्बन्ध में जिन विशेषणों का प्रयोग किया गया है, उनमें अतिशयोक्ति की मात्रा अधिक दिखाई पड़ती है। क्लाइव के व्यक्तित्व में गुण के साथ दोष भी थे। वह एक नम्बर का झूठा, धोखेबाज और रिश्वतखोर था। धन-लोलुपता में वह अद्वितीय था। क्लाइव के व्यक्तित्त्व में गुण-दोषों का सम्मिश्रण था। उसके कार्यों का मूल्यांकन कई दृष्टिकोणों से किया जा सकता है :

सेनापति के रूप में : क्लाइव को कुशल सेनानायक मानने के सम्बन्ध में इतिहासकारों के बीच मतभेद है। क्लाइव में अद्वितीय सेनापति की कोई क्षमता नहीं थी। वह साहस और विश्वास के सहारे युद्ध में सफल होता था। अधिकांश युद्ध उसने छल-कपट से जीते थे। पलासी का मैदान क्लाइव की कायरता प्रकट करता है। वह युद्ध बन्द करने का आदेश दे चुका था। परन्तु विश्वासघातियों के सहयोग के सहारे उसने पलासी के युद्ध में विजय प्राप्त कर जो गौरव प्राप्त किया उससे उसकी युद्ध-संचालन या योजना की कोई विशिष्ट पहचान प्रकट नहीं होती है। वस्तुतः क्लाइव योग्य सेनापति के बदले वस्तुस्थिति का मूल्यांकन करने वाला एक कुशल व्यापारी था। वह आर्थिक लाभ को ही विजयी बनने के बाद भी प्रधानता देता था। अतः क्लाइव को योग्य सेनापति की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता है। अधिक-से-अधिक उसे चालबाज या कुशल कूटनीतिज्ञ कहा जा सकता है। परन्तु डा. नंदलाल चटर्जी ने उसे कूटनीतिज्ञ के रूप में असफल माना है।

शासक के रूप में : सेनापति की तरह क्लाइव को योग्य प्रशासक के रूप में स्वीकार करना विवादपूर्ण है। द्वितीय गवर्नर काल में उसने कम्पनी के प्रशासन को सुधारने की कई योजनाएँ लागू कीं। परन्तु उसकी सभी योजनाओं ने अच्छे उद्देश्य के बावजूद भ्रष्ट व्यवस्था को और भी अधिक भ्रष्ट बना दिया। क्लाइव की सुधार-योजना अदूरदर्शिता और अवसरवादिता से प्रभावित थी। क्लाइव ने दोहरे (द्वैध) शासन की स्थापना कर कम्पनी के छोटे-बड़े सभी कार्मचारियों को लूट की छूट दे दी। कम्पनी के कोष में कोई वृद्धि नहीं हुई परन्तु कर्मचारियों की जेबें भर गयीं। कम्पनी दिवालिया बन गयी और कर्मचारीगण मालामाल हो गये। बंगाल की कृषि, अर्थ-व्यवस्था को नष्ट करने का श्रेय क्लाइव को ही दिया जाता है। शासन का प्रत्यक्ष उत्तरदायित्व स्वीकार नहीं कर क्लाइव स्थिति को और भी अधिक भयावह बनाने में सहायक सिद्ध हुआ। क्लाइव स्वयं कोई अनुकरणीय उदाहारण पेश नहीं कर सका। वह स्वयं रिश्वतखोर और भ्रष्ट चरित्र वाला व्यक्ति था। अतः कर्मचारियों के बीच उसकी कोई प्रतिष्ठा नहीं थी। बंगाल के प्रशासन में दोहरे शासन के समय अराजकता और अत्याचार के लिए उत्तरदायी क्लाइव को ही माना जाता है। सरदार के. के. पणिक्कर ने कम्पनी के शासन को डाकू राज्य की संज्ञा दी है। अमीचन्द, सिराजुद्दौला, मीरजाफर के साथ क्लाइव का व्यवहार नैतिक दृष्टिकोण से उचित नहीं

कहा जा सकता है। वस्तुतः क्लाइव ने प्रशासन के क्षेत्र में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं किया था। अतः क्लाइव को योग्य प्रशासक के रूप में मान्यता नहीं दी जाती है।

साम्राज्य-संस्थापक के रूप में : क्लाइव को भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का संस्थापक कहा गया है। 18वीं सदी के उत्तरार्द्ध में अंगरेज और फ्रांसीसी दोनों भारत में समान रूप में साम्राज्य-स्थापना की चाह रखते थे। क्लाइव और डूप्ले अपने-अपने पक्ष के मुख्य सूत्रधार थे। साम्राज्य-निर्माण करने की दिशा में डूप्ले द्वारा पहल की गयी थी। डूप्ले ने कृष्णा नदी के दक्षिण के भूक्षेत्र में दीवानी का अधिकार प्राप्त कर लिया था तथा हैदराबाद और कर्नाटक में निजाम और नवाब बनाने की राजनीति में सफलता प्राप्त कर निराशा को आशा में परिणत कर दिखाया। अर्काट की विजय ने फ्रांसीसियों की शक्ति पर प्रतिबन्ध लगा दिया दक्षिण भारत की राजनीति में अंगरेजों का प्रभाव बढ़ने लगा। क्लाइव संकट की स्थिति में ही बंगाल आया था। सिराजुद्दौला ने कलकत्ता-विजिय कर अंगरेजों को फुल्टा द्वीप भेज दिया था। परन्तु क्लाइव ने अपनी कूटनीति से कलकत्ता पर अधिकार किया और अलीनगर की सन्धि द्वारा अंगरेजों को पुनः स्थापित करने की चेष्टा की। पलासी के युद्ध में सिराजुद्दौला को पराजित कर क्लाइव ने अंगरेजों की स्थिति में क्रान्तिकारी परिवर्तन [illegible] दिया था। पलासी के युद्ध के बाद बंगाल का नवाब अंगरेजों के हाथ का खिलौना बन गया। मीरजाफर से अनेक तरह की सुविधाएं और क्षेत्र प्राप्त कर क्लाइव ने कम्पनी के राजनीतिक क्षेत्र का विस्तार और आर्थिक साधनों को उन्नत बनाने की चेष्टा की। क्लाइव जब तक बंगाल में रहा मीरजाफर उसकी कृपा पर निर्भर था। मीरजाफर के बाद बंगाल का नवाब मीरकासिम हुआ। मीरकासिम ने अंगरेजों के नियंत्रण से मुक्त होने का प्रयास किया तो अंगरेजों के द्वारा विरोध करने के फलस्वरूप उसे गद्दी छोड़कर बंगाल से भाग जाना पड़ा। बक्सर के युद्ध के बाद कम्पनी की राजनीतिक अवस्था को सुदृढ़ बनाने का श्रेय क्लाइव को ही प्राप्त है। सम्राट शाहआलम और अवध के नवाब शुजाउद्दौला ने अंगरेजों से मित्रता कर ली। क्लाइव ने इन दोनों के साथ रानजीतिक सुरक्षा को ध्यान में रखकर सन्धि की थी। वस्तुतः बंगाल बिहार और उड़ीसा की सुरक्षा के लिए तथा कथित सम्राट और अवध के नवाब को अपने पक्ष में लाकर ही कम्पनी अपने स्वार्थ की रक्षा कर सकती थी। मराठों के साथ दोनों का संयोग नहीं होने देने से क्लाइव की कूटनीतिज्ञता ही प्रकट हाती है। उसने राजनीतिक क्षेत्र में कम्पनी को सर्वाधिक शक्तिशाली बनाकर भावी ब्रिटिश साम्राज्य की आधारशिला रख दी थी। बंगाल में अंगरेजों का विरोध करने की शक्ति किसी में नहीं थी। अल्फ्रेड लयल ने लिखा है, "भारत में साम्राज्य की स्थापना के लिए अंगरेज अधिक उत्साही, साहसी और कभी भी पराजय स्वीकार न करनेवालों की श्रेणी

में है।" वस्तुतः क्लाइव में साहस और विश्वास का सुन्दर संयोग था। उसने भारतीय राजनीति की आन्तरिक कमजोरी का लाभ उठाया था। डूप्ले की नीति का उसने अनुकरण अवश्य किया था, परन्तु परिस्थिति भिन्न प्रकार की थी। क्लाइव ने राष्ट्रीय प्रेम के नाम पर अनैतिक काम के सहारे ब्रिटिश साम्राज्य की नींव डाली थी। अतः क्लाइव को निःसंदेह भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का संस्थापक कहा जा सकता है। क्लाइव की तुलना बाबर के साथ की जा सकती है। बाबर ने मुगल वंश की नींव डाली थी और उसे सुदृढ़ बनाने का काम अकबर ने पूरा किया था। उसी प्रकार क्लाइव ने जिस साम्राज्य की आधारशिला रखी उसको सुदृढ़ बनाने का काम आगे के गवर्नर-जनरलों के द्वारा पूरा किया गया।

4

1857 ई. तक भारत में अंगरेजी साम्राज्य का विस्तार और सुदृढ़ीकरण

अठारहवीं शताब्दी के अन्त और उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में प्रमुख भारतीय शक्तियों का पतन तथा नई ब्रिटिश शक्ति का उत्थान हुआ। बंगाल, विहार तथा उड़ीसा में अपनी सत्ता स्थापित करने के वाद अंगरेजों की दिलचस्पी भारतीय राजनीति में और अधिक बढ़ गई। बम्वई, मद्रास और कलकत्ता में अंगरेजों की विशेष दिलचस्पी थी। बम्वई के आसपास मराठों का प्रभाव था। दक्षिण में मैसूर का राज्य अंगरेजों को चुनौती दे रहा था। हैदराबाद के निजाम पर विश्वास नहीं किया जा सकता था। अतएव अंगरेजों को दक्षिण में मराठों, मैसूर के शासकों और हैदराबाद के निजाम की गतिविधियों पर नजर रखनी पड़ती थी ताकि दक्षिण में अंगेरजों का प्रभाव सुरक्षित रहे। फ्रांसीसियों के साथ इन भरतीय शक्तियों की मित्रता अंगरेज तथा उनके साम्राज्य के लिए घातक हो सकती थी।

कम्पनी के इतिहास में वारेन हेस्टिंग्स का शासनकाल संकटकालीन युग था। मराठों, हैदरअली और टीपू सुलतान द्वारा पैदा किये गये खतरों के खिलाफ उसे कई वर्षो तक संघर्ष करना पड़ा। उसने केवल उनके साथ सन्धियाँ कीं, परन्तु उनकी महत्त्वाकांक्षाएँ नई दिशाओं में प्रवाहित होने की प्रतीक्षा कर रही थीं। यद्यपि मराठे और टीपू दोनों आपस में संयुक्त मोर्चा कायम न कर सके, परन्तु उन्होंने अनुभव किया कि अंगरेज "भारवर्ष को घेरने की यथाशक्ति चेष्टा" कर रहे थे। यद्यपि मराठे विरोधी दलों में विभाजित थे और उनमें पारस्परिक ईर्ष्या थी, परन्तु मध्य भारत में उनका प्रधान स्थान था। कम्पनी के विरोधियों में सबसे अधिक समझौता-विरोधी टीपू सुल्तान अपनी रियासत का विस्तार करने तथा कम्पनी की शक्ति को तोड़ने की योजना बनाने में व्यस्त था। वह फ्रांसीसियों की सहायता से अंगरेजों का प्रभाव समाप्त करना चाहता था। हैदराबद का निजाम दुलमुल नीति अपनाता था और कभी इस शक्ति के साथ सन्धि करता था। कर्नाटक में अशान्ति फैली हुई थी और कम्पनी के साथ कर्नाटक के नवाब का सम्बन्ध पेचीदगी से भरा था। नवाब आसफउद्दौला

के अधीन अवध कुशासन एवं भ्रष्टाचार का दृश्य बन गया था। शाहआलम "दिल्ली के प्राचीन गौरव के अवशेष पर सिंहासनारूढ़ होकर अभी भी यहाँ राज्य कर रहा था। यद्यपि शाही सत्ता की सारी वास्तविकता समाप्त हो गई थी, उसके नाम की छाया अभी भी आस-पास के जिलों पर इतनी फैली हुई थी कि वे एक नये राज्य के अधीन नहीं आ सकते थे।" राजपूत सरदारों की पुरानी शूरता, स्वदेशप्रेम तथा चरित्रबल लोप हो चुका था। उनके देश पर विदेशी आक्रमण होता रहता था। सिन्ध सैद्धन्तिक रूप से 1757 ई. से अफगानिस्तान के अधीन था। पंजाब पर से अफगानों का प्रभुत्व घटने लगा था और उनके हटने से जो स्थान खाली हुआ, उसकी पूर्ति सिखों के पुनर्जागरण तथा संगठन के कारण हुई। नेपाल में गुरखों ने अपने को स्थापित कर लिया था और उनकी शक्ति धीरे-धीरे बढ़ रही थी। वर्मा में 1750 ई. के लगभग अलोम्परा का राजवंश स्थापित हुआ था। यह कई दिशाओं में अपनी शक्ति का प्रसार कर रहा था। 1754 ई. में उसने अराकन को जीत लिया और अब वह असम को धमकी दे रहा था।

भारतवर्ष की यही राजनीतिक अवस्था थी, जब वारेन हेस्टिंग्स यहाँ से चला गया। इतना स्पष्ट था कि भारतवर्ष में अंगरेजी शक्ति को अपने पुराने विरोधी मराठों और टीपू के विरोध का सामना करना था तथा पंजाब, नेपाल और बर्मा में उठते हुए राज्यों की कार्रवाइयों से बचना था। अंगरेजों को इन सभी शक्तियों के साथ संघर्ष करना पड़ा। अंगरेज कम्पनी साम्राज्यवादी विचारों से प्रभावित थी। कम्पनी की नीतियों का उद्देश्य भारतीय राज्यों को ब्रिटिश साम्राज्य के अधीन लाना था जिसमें इंगलैण्ड के राजनीतिक एवं आर्थिक हितों की वृद्धि हो। कम्पनी ने घेरे की नीति, तटस्थता तथा हस्तक्षेप की नीति, सहायक सन्धि-प्रणाली, साम्राज्य-विस्तार की नीति, युद्ध द्वारा तथा बिना युद्ध के राज्य-अपहरण (विलय) की नीति के द्वारा भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना की। कम्पनी की नीतियों का मुख्य उद्देश्य ब्रिटिश साम्राज्य का विस्तार और भारत का आर्थिक शोषण था तथा ब्रिटिश साम्राज्य की सुरक्षा के लिए वह कोई भी तरीका अपनाने के लिए तैयार थी। वारेन हेसिंटग्स से लेकर डलहौजी तक सभी ने सैनिक शक्ति और कूटनीति का सहारा लेकर अपने भारतीय प्रतिद्वन्द्वियों को परास्त किया और भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का विस्तार एवं सुदृढ़ीकरण किया।

1. आंग्ल-मैसूर सम्बन्ध

मैसूर का नवोदित राज्य ब्रिटिश साम्राज्य के दक्षिणी विस्तार में सबसे बड़ा रोड़ा था। इसलिए बंगाल में ब्रिटिश सत्ता की स्थापना के बाद मैसूर राज्य पर विजय प्राप्त करना कम्पनी के अधिकारियों का प्रमुख उद्देश्य बन गया था। चार युद्धों के पश्चात् अंगरेज मैसूर राज्य पर अपना अधिपत्य स्थापिज करने में सफल हो सके।

आंग्ल-मैसूर सम्बन्ध का प्रारम्भ हैदरअली के उत्कर्ष से होता है। उसने थोड़े ही दिनों में मैसूर को एक संगठित और शक्तिशाली राज्य का रूप दे दिया। फलस्वरूप अंगरेजी की प्रगति दक्षिण में धीमी हो गई।

हैदरअली का उत्कर्ष : हैदरअली का जन्म मैसूर राज्य के बुदीकोटा नामक स्थान में 1721 ई. में हुआ था। उसका पिता फतह मुहम्मद मैसूर के राजा के यहाँ सेना के उच्च पद पर नियुक्त था। हैदरअली में वीरोचित गुण, सैनिक प्रतिभा और कूटनीतिज्ञता भरी हुई थी। उसे शीघ्र ही अपनी प्रतिभा के प्रदर्शन का मौका मिल गया। जिस समय हैदरअली ने अपना सैनिक जीवन प्रारम्भ किया, उस समय मैसूर का राजा कृष्णराजा था। लेकिन वह नाममात्र का ही राजा था। वास्तविक शक्ति नन्दराज के हाथ में थी। हैदरअली की योग्यता और प्रतिभा से प्रभावित होकर नन्दराज ने उसे सेना में नियुक्त कर लिया। शीघ्र ही अपनी प्रतिभा के बल पर हैदरअली डिंडिगल का फौजदार बन गया। उसने फ्रांसीसियों की सहायता से अपनी सेना को यूरोपीय ढंग पर पुनर्गठित किया। थोड़े ही दिनों के बाद हैदरअली अपनी सैनिक शक्ति बढ़ाने में सफल हुआ और 1760 ई. में उसने मैसूर राज्य को अपने हाथ में कर लिया। 1761 ई. में उसने मैसूर राज्य की सम्पूर्ण शक्ति को हथिया लिया और राज्य का सर्वेसर्वा बन गया। अपने सभी विद्रोहियों को उसने कुचल दिया।

हैदराबाद और कर्नाटक के उत्तराधिकार-युद्धों, पानीपत की तीसरी लड़ाई की पराजय और दक्षिण में अंगरेजों तथा फ्रांसीसियों की कट्टर शत्रुता ने हैदरअली को अपनी शक्ति तथा राज्य विस्तार में मदद की। धीरे-धीरे उसने बेदनूर और कनारा पर अधिकार कर लिया। कोचीन तथा पालघाट के राजाओं ने भी हैदरअली के प्रभुत्व को स्वीकार कर लिया। उसने बल्लापुर, रायदुर्ग, चित्तलदुर्ग आदि के सरदारों को आधिपत्य स्वीकार करने के लिए बाध्य किया। इस प्रकार योग्यता और साहस से हैदरअली एक साधारण स्थिति से उठकर मैसूर राज्य का प्रधान बन गया।

हैदरअली की बढ़ती शक्ति से मराठे और हैदराबाद के निजाम चिन्तित थे। मराठों ने उसे परास्त करने की योजना बनायी। 1764 ई. में पेशवा माधवराव ने मैसूर पर आक्रमण कर दिया और हैदरअली को परास्त कर दिया। विवश होकर 1765 ई. में हैदर ने मराठों को 28 लाख रुपये देकर सन्धि कर ली। 1766 ई. में हैदर के विरुद्ध मराठों, निजाम तथा अंगरेजों का त्रिगुट बन गया। इस अवसर पर हैदर ने कूटनीति से काम लिया। 1769 ई. में मराठों ने पुनः मैसूर पर आक्रमण कर दिया। अंगरेजों ने मराठों के विरुद्ध हैदरअली को सहायता करने का वचन दिया था, किन्तु उन्होंने अपना वचन नहीं निभाया। फलतः हैदर ने पुनः धन और धरती देकर मराठों से सन्धि कर ली। इस समय पेशवा नारायण राव की हत्या के पश्चात् मराठों में गृहयुद्ध शुरू हो गया। इस अवसर का लाभ उठाकर हैदर ने टीपू को भेजकर उन

समस्त प्रदेशों पर अधिकार स्थापित कर लिया जिस विवश होकर उसने मराठों को दे दिया था। इसके पश्चात् 1772 ई. में हैदरअली तथा मराठों के बीच 6 वर्ष के लिए सन्धि हो गयी। पेशवा माधवराव की मृत्यु के बाद दैहर पुनः अपनी शक्ति बढ़ाने लगा। उसने बेलारी, गूटी, चित्तलदुर्ग तथा तुंगभद्रा और कृष्णा नदी के बीच स्थित मराठों के प्रदेशों पर अधिकार कर लिया। 1776-78 ई. में मराठों ने उसकी शक्ति को रोकने का असफल प्रयत्न किया। नाना फड़नवीस ने अब हैदरअली के साथ मेलजोल बढ़ाने का प्रयत्न किया और अपने दूत गणेश राय को हैदरअली के पास भेजा। 1780 ई. में हैदरअली और नाना फड़नवीस के बीच एक सन्धि हो गयी। सन्धि के अनुसार हैदरअली से वसूल होने वाली चौथ में बहुत कमी कर दी गयी और हैदरअली ने यह वचन दिया कि वह भारत से अंगरेजों को निकाल बाहर करने में मराठों की सहायता करेगा। अंग्रेजों को जब इस सन्धि की सूचना मिली तो अंगरेजों ने हैदर के पास कई बार दूत भेजे, परन्तु हैदर उनके चंगुल से बाहर ही रहा।

प्रथम आंग्ल-मैसूर युद्ध : हैदरअली और अंगरेजों में अच्छा सम्बन्ध नहीं था। इसके कई कारण थे। प्रथम, अर्काट का नवाब मुहम्मद अली अंगरेजों के संरक्षण तथा नियंत्रण में था। हैदरअली और मुहम्मद अली में घोर शत्रुता थी। अतः यह स्वाभाविक था कि अंगरेज हैदर से बिगड़े रहें। द्वितीय, हैदर ने मालावार के नायक सामन्तों को, जो अंगरेजों के मित्र थे, परास्त कर दिया था और उनके प्रदेशों को हड़प लिया था। तृतीय, हैदरअली की बढ़ती हुई शक्ति अंगरेजों की ईर्ष्या का प्रमुख कारण थी। वे भली-भांति समझ गये थे कि यदि हैदर को परास्त नहीं किया गया तो दक्षिण भारत में शीघ्र ही वह कम्पनी के प्रभाव को कम कर देगा।

अतः अंगरेजों ने षड्यंत्र और कुचक्र का सहारा लिया। शीघ्र ही अंगरेजों, मराठों तथा हैदाराबाद के निजाम का संयुक्त मोर्चा हैदर के विरुद्ध तैयार हो गया। हैदर ने बड़े धैर्य एवं कूटनीति से काम लिया। उसने मराठों को 35 लाख रुपये देने का वचन देकर उन्हें त्रिगुट से अलग कर दिया। अब निजाम तथा अंगरेज रह गये। अप्रैल, 1767 ई. में निजाम ने जनरल जोसेफ स्मिथ के सेनापतित्व में मैसूर पर आक्रमण कर दिया। इसी समय कर्नाटक के नवाब मुहम्मद अली का भाई महफूज खाँ हैदरअली से मिल गया और उसने निजाम को भी गुट से अलग कर दिया। निजाम हैदरअली से जा मिला। अब अंगरेज अकेले रह गये । फिर भी जनरल स्मिथ ने सितम्बर 1767 ई. में चैगामा घाट एवं त्रिनोमाली में हैदर तथा निजाम की संयुक्त सेना को पराजित किया। निजाम ने पुनः हैदर का साथ छोड़ दिया और अंगरेजों से जा मिला। उसने अंगरेजों के साथ सन्धि के अनुसार अंगरेजों एवं कर्नाटक के नवाब को हैदर के विरुद्ध सहायता देने का वचन दिया। निजाम ने हैदर को 'विद्रोही एवं

अपाहर्त्ता' तक कह डाला।

परन्तु निजाम के इस विश्वाघात से हैदर का धैर्य न टूटा और उसने अदम्य उत्साह से शत्रु का सामना किया। उसने बम्बई की सेनाओं को पराजित कर मंगलोर ले लिया। उसने अपनी सेनाओं को तीन भागों में बाँटकर मार्च, 1769 ई. में तीन ओर से मद्रास पर आक्रमण कर दिया। आतंकित होकर अंगरेजों ने 5 अप्रैल, 1769 ई. को हैदर के साथ सन्धि कर ली। सन्धि के अनुसार दोनों पक्षों ने एक-दूसरे के जीते हुए नये प्रदेशों को लौटा दिया, कम्पनी ने युद्ध-क्षतिपूर्त्ति देने का वचन दिया और दोनों ने यह वादा किया कि यदि किसी के ऊपर बाहरी शत्रु का आक्रमण हुआ तो वे एक-दूसरे की सैनिक सहायता करेंगे। मुहम्मद अली के विषय में यह तय किया गया कि वह मैसूर का एक सामन्त समझा जाए और छह लाख प्रतिवर्ष खिराज के रूप में मैसूर दरबार को दे।

इस प्रकार मैसूर के प्रथम युद्ध में अंगरेजों की करारी हार हुई। उनकी प्रतिष्ठा जाती रही। उन्हें वाध्य होकर हैदर से एक सुरक्षात्मक सन्धि करनी पड़ी। इंगलैण्ड में इसकी सूचना मिलते ही कम्पनी के शेयरों के भाव गिरने लगे। डायरेक्टर घबरा गये। वे कम्पनी के नौकरों को भारत में ब्रिटिश प्रभाव-क्षेत्र बढ़ाने से रोकने लगे।

द्वितीय आंग्ल-मैसूर युद्ध : किन्तु इसे अन्त कहना गलत होगा। इस सन्धि में सत्य तथा सद्‌भावना का सर्वथा अभाव था। अंगरेजों के लिए यह सन्धि अत्यन्त ही अपमानजनक थी। अतः मद्रास-सरकार ने इसकी अवेहलना करनी शुरू की। 1771 ई. में मराठों ने मैसूर पर आक्रमण किया। सन्धि के अनुसार हैदर ने अंगरेजों से सहायता माँगी किन्तु अंगरेजों ने उसे सहायता नहीं दी। हैदर को बहुत क्रोध आया और उसने अंगरेजों के विरुद्ध एक वृहत संघ स्थापित किया। उस समय भारत में अंगरेजों की स्थिति बहुत ही गम्भीर थी। हेस्टिंग्स के शब्दों में भारत के प्रायः सभी हिस्सों में अंगरेज या तो युद्ध लड़ रहे थे अथवा युद्ध की आशंका से घिरे थे। भारत के बाहर अमेरिका में आजादी की लड़ाई चल रही थी जिसमें फ्रांस, स्पेन और हॉलैण्ड अंगरेजों के विरुद्ध लड़ रहे थे। इस परिस्थिति से लाभ उठाकर फ्रांसीसी भारत में पुनः अपनी खोयी शक्ति को लौटाने के लिए प्रयत्नशील थे। ऐसी स्थिति में अंगरेजों ने माही पर अधिकार कर लिया, जहाँ फ्रांसीसियों की कोठियाँ थीं और जो हैदर के राज्य के भीतर था। इस तरह अंगरेजों ने हैदर के राज्य की निष्पक्षता भंग की। क्रोधावेश में आकर हैदर ने युद्ध की घोषणा कर दी। इस प्रकार द्वितीय आंग्ल-मैसूर-युद्ध का आरम्भ हुआ। शीघ्र ही हैदर ने एक बड़ी सेना लेकर कर्नाटक पर "बर्फ के गिरते हुए ढेर के समान अपने साथ सत्यानाश लाता हुआ' टूट पड़ा और अंगरेजी सेना को हराकर अर्काट पर अधिकार कर लिया। इस पराजय से कम्पनी राज्य की स्थिति अत्यन्त चिंताजनक हो गयी। सर अल्फ्रेड लोयल का कथन बहुत ही ठीक है कि

"उस समय भारत में अंगरेजों की स्थिति अन्तिम अवस्था को पहुँच गयी थी।" इस सत्यानाश की खबर पाते ही हेस्टिंग्स ने वाण्डीवाश के प्रसिद्ध विजेता साठ वर्ष के बूढ़े सर आयर कूट को एक बड़ी सेना के साथ हैदर के विरुद्ध भेजा। इसके अतिरिक्त अपनी कूटनीति से निजाम ने बरार के राजा तथा शाहजी सिंधिया को हैदर से अलग कर दिया; किन्तु हैदर जरा भी न घबराया। वह उसी बहादुरी तथा दृढ़ता के साथ युद्ध करता रहा। पोर्टोनोवो के युद्ध में उसकी हार हुई और उसे क्षति उठानी पड़ी। फिर भी छिट-फुट लड़ाई चलती रही। 7 दिसमबर, 1782 ई. को हैदर का अप्रैल, 1783 ई. में सर आयर कूट का देहान्त हो गया; किन्तु उससे युद्ध का अन्त नहीं हुआ। हैदर के बेटे टीपू ने, जो अपने पिता की भाँति ही युद्धप्रिय तथा महत्त्वाकांक्षी था; काफी जोश-खरोश के साथ युद्ध जारी रखा। इसी बीच यूरोप में अंगरेजों और फ्रांसीसियों में सन्धि हो गयी। मार्च, 1784 ई. में अंगरेजों तथा टीपू में मंगलोर की सन्धि के साथ द्वितीय आंग्ल-मैसूर युद्ध का अन्त हुआ। इस सन्धि के अनुसार दोनों पक्षों ने एक-दूसरे के जीते हुए इलाके लौटा दिये तथा कैदियों को रिहा कर दिया। इस सन्धि की शर्ते हेस्टिंग्स को पसन्द न थीं, किन्तु कोई दूसरा उपाय भी नहीं था।

मंगलोर की सन्धि : टीपू और अंगरेजों में मार्च, 1784 ई. में मंगलोर की सन्धि के अनुसार यह तय हुआ कि दोनों पक्ष एक-दूसरे के जीते हुए प्रदेश तथा युद्धबन्दियों को लौटा दें। अंगरेज संकट पड़ने पर मैसूर के मामले में हस्तक्षेप न करेंगे। लार्ड मैकार्टन ने यह भी आश्वासन दिया कि अंगरेज संकट पड़ने पर मैसूर की सहायता करेंगे। इस सन्धि से अंगरेजों की प्रतिष्ठा को बड़ा धक्का पहुँचा। वारेन हेस्टिंग्स इस सन्धि से अप्रसन्न था। उसने लार्ड मैकार्टन की भर्त्सना करते हुए लिखा कि इस सन्धि के परिणामस्वरूप अंगरेजों को कर्नाटक से हाथ धोना पड़ेगा।

हैदरअली के चरित्र का मूल्यांकन : भारत के इतिहास में हैदरअली का विशिष्ट स्थान है। अपनी प्रतिभा तथा योग्यता से ही वह एक साधारण सैनिक से एक विशाल साम्राज्य का स्वामी बन सका था। यद्यपि वह निरक्षर था, फिर भी उसकी सूझ-बूझ अच्छी थी और वह जटिलतम राजनीतिक समस्याओं को सहज ही सुलझा लेता था। उसकी स्मरणशक्ति तीव्र थी और उसे गणित तथा पाँच भाषाओं का ज्ञान था। उसकी सूक्ष्म बुद्धि का परिचय तो इसी बात से लगता है कि उसने मृत्यु-शेय्या पर अपने ब्राह्मण-मंत्री से तत्कालीन राजनीतिक स्थिति पर प्रकाश डालते हुए कहा था कि "अनेक बलियों और ब्रेथबेटों की पराजय से अंगरेज नष्ट नहीं किये जा सकते। मैं उनकी स्थल शक्ति को नष्ट कर सकता हूँ, परन्तु समुद्र को नहीं सुखा सकता।" वह एक कुशल सेनानायक था। उसने विशाल सेना संगठित की थी और यूरोपीय अफसर नियुक्त किये थे। सैनिक मामलों में वह दक्ष था। कठोर परिश्रमी

होने के कारण वह राज्यकार्य का स्वयं निरीक्षण करता था। वह मनुष्यों का सफल पारखी था तथा योग्यतम व्यक्तियों को चुनकर नियुक्त करता था।

कुशल योद्धा के साथ-साथ वह एक चतुर शासक भी था। अनुशासनप्रिय होने के नाते उसने अपनी सेना को यूरोपीय ढंग का प्रशिक्षण देकर सुनियंत्रित किया जिससे अंगरेज, मराठे और निजाम उससे सदा भयभीत रहते थे। उसके राज्य में शान्ति और सुव्यवस्था थी; व्यापार और उद्योग उन्नत थे। धार्मिक बातों में वह सहिष्णु था। उसका कोई धर्म न था और उसके राज्य में सभी मनुष्यों को पूर्ण धार्मिक स्वतंत्रता थी। अंगरेजों की तरह ही वह कूटनीति में कुशल तथा दाँव-पेंच में दक्ष था। निर्भीकता उसका सबसे बड़ा गुण था। अकेला रहने पर भी बहादुरी तथा दृढ़ता के साथ अंगरेजों के विरुद्ध डटा रहा। वह महान देशभक्त था। नाना फड़नवीस के प्रयत्न से जीवन के अन्तिम भाग में अंगरेजों का कट्टर शत्रु बन गया और उन्हें भारत से निकाल भगाने का बीड़ा उठाया। वस्तुतः अठारहवीं शताब्दी में वह पहला व्यक्ति था जिसने अंगरेजों को देश से निकाल देने का संकल्प लिया था। उस समय देश में राष्ट्रीयता का विकास नहीं हो पाया था। अतः उसके प्रयत्न असफल रहे। उसकी मृत्यु से कम्पनी राज्य का बहुत बड़ा खतरा टल गया।

तृतीय आंग्ल-मैसूर युद्ध : मंगलोर की सन्धि से आंग्ल-मैसूर संघर्ष के नाटक का अन्त हुआ। दोनों पक्ष इस सन्धि को चिरस्थायी नहीं मानते थे और इसकी अवहेलना करने पर तुले हुए थे। 1786 ई. में लॉर्ड कॉर्नवालिस गवर्नर-जनरल होकर भारत आया, परन्तु अपने सिर पर पिट्स इंडिया ऐक्ट का बोझ भी ढोता आया। इस ऐक्ट के अनुसार यह घोषणा की गयी थी कि भारत पर विजय तथा साम्राज्य-विस्तार की योजनाएँ ब्रिटिश राष्ट्र की इच्छा, प्रतिष्ठा एवं नीति के विरुद्ध है। परन्तु तत्कालीन अन्तरराष्ट्रीय तथा आन्तरिक स्थिति को देखकर कॉर्नवालिस को यह विश्वास हो गया कि पार्लियामेंट के उपर्युक्त आदेश का अक्षरशः पालन सम्भव नहीं है। इस समय हैदरअली का पुत्र टीपू सुल्तान दक्षिण में अपना प्रभुत्व स्थापित करने में प्रयत्नशील था। वह अन्तरराष्ट्रीय परिस्थिति से लाभ उठाना चाहता था। इसी उद्देश्य से उसने फ्रांस के पास सहायता के लिए राजदूत भेजे थे। नेपोलियन बोनापार्ट के साथ उसका वार्तालाप भी शुरू हो गया था। कॉर्नवालिस का विश्वास था कि टीपू के साथ युद्ध अनिवार्य है। कॉर्नवालिस ने मैलेट को लिखा कि "मैं समझता हूँ कि फ्रांस के साथ युद्ध का निश्चित एवं तात्कालिक फल होगा- टीपू के साथ युद्ध और इस अवस्था में इस देश में मराठों का शक्तिशाली सहयोग हमारे हितों के लिए बड़ा ही महत्त्वपूर्ण होगा।"

इसके अतिरिक्त टीपू ने अपनी आक्रमणात्मक नीति से हैदराबाद के निजाम की सम्पत्ति को छीनना आरम्भ कर दिया था। उसने गुण्टूर पर अधिकार कर लिया

जिसे निजाम अपना प्रदेश समझता था। निजाम ने गुण्टूर की पुनः प्राप्ति के लिए अंगरेजों के पास सहायता के लिए प्रार्थना की। पिट्स इण्डिया ऐक्ट के अनुसार हस्तक्षेप न करने की नीति का अनुसरण करते हुए कॉर्नवालिस किसी देशी शासक की सहायता नहीं कर सकता था। उसने निजाम को अंगरेजी सेनाएँ इस शर्त पर देना स्वीकार किया कि वह इन्हें किसी ऐसे देशी राजा के विरुद्ध प्रयुक्त नहीं करेगा जो अंगरेजों का मित्र हो। टीपू का नाम जान-बूझकर छोड़ दिया गया। टीपू के विरुद्ध निजाम को सहायता देने की इस प्रतिज्ञा ने मैसूर-युद्ध को अनिवार्य बना दिया। ऐसी स्थिति में टीपू एवं अंगरेजों में युद्ध अनिवार्य हो गया। युद्ध का तात्कालिक कारण 1789 ई. में टीपू द्वारा ट्रावनकोर के राजा पर आक्रमण करना था। ट्रावनकोर का राजा अंगरेजों का मित्र था और उनके संरक्षण में था। कॉर्नवालिस ने ट्रावनकोर के राजा के पक्ष में टीपू के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। निजाम भी अंगरेजों के पक्ष में युद्ध में कूद पड़ा। कॉर्नवालिस ने मराठों को भी विजय प्राप्त होन के उपरांत विजित प्रदेशों के आधे भाग का प्रलोभन देकर अपनी ओर मिला लिया। टीपू अकेला पड़ गया और उसे त्रिगुट (अंगरेज, मराठे एवं निजाम) के प्रबल आक्रमण का सामना करना पड़ा। दो वर्ष तक वह बड़ी बहादुरी के साथ युद्ध में जूझता रहा। युद्ध के प्रथम वर्ष में कम्पनी की सेना का संचालन जनरल मीडोज कर रहा था। जब वह असफल रहा तो कॉर्नवालिस ने स्वयं युद्ध का नेतृत्व किया। टीपू बाहदुरी तथा दृढ़ता से युद्ध करता रहा, किन्तु अन्त में उसकी हार हो गयी।

श्रीरंगपट्टम की सन्धि (मार्च, 1972 ई.) के साथ तृतीय आंग्ल-मैसूर युद्ध का अन्त हो गया। सन्धि के अनुसार टीपू को अपने राज्य का आधा भाग तथा तीस लाख पौण्ड विजेताओं को देने पड़े। इसे अंगरेज, निजाम तथा मराठों ने आपस में बाँट लिया। कृष्णा और पन्ना नदी के बीच का प्रदेश निजाम को मिला। मराठों को कृष्णा तथा तुंगभद्रा नदियों के बीच का भू-भाग प्राप्त हुआ। मालाबार, डिंडीगुल, बाड़ामहल आदि पर अंगरेजों का अधिकार हो गया। टीपू ने जमानत के रूप में अपने दो पुत्रों को कॉर्नवालिस को सुपुर्द कर दिया।

तृतीय आंग्ल-मैसूर युद्ध की पराजय से टीपू को धन-धरती की बड़ी क्षति उठानी पड़ी। उसका राज्य कम्पनी-राज्य से घिर गया तथा समुद्र से उसका सम्पर्क टूट गया। युद्ध-क्षति-पूर्ति के रूप में तीस लाख पौण्ड विजेताओं को देने पड़े। यदि कॉर्नवालिस चाहता तो टीपू का सम्पूर्ण राज्य छीन सकता था, लेकिन कई कारणों से उसने इसे अच्छा नहीं समझा। प्रथम, यदि टीपू का सम्पूर्ण राज्य ले लिया जाता तो उसे मित्र-राज्यों (मराठे एवं निजाम) के बीच बाँटने में कठिनाई उत्पन्न हो सकती थी। कॉर्नवालिस यह नहीं चाहता था कि मराठे एवं निजाम शक्तिशाली बनें। द्वितीय, इसी समय क्रान्तिकारी फ्रांस के साथ युद्ध आरम्भ हो गया था। अतएव

कम्पनी के संचालकों को यह भय था कि कहीं फ्रांस टीपू की सहायता न कर बैठे। तृतीय, अंगरेजी सेना में रोग का प्रकोप, मित्र-राज्यों से विश्वासघात का भय, संचालकों से युद्ध न करने का आदेश, मैसूर का शासन-भार न लेने की प्रकृति आदि टीपू से समझौता कर लेने के अन्य कारण बताये जाते हैं।

अंगरेजों की सफलता के कारण : इस युद्ध में अंगरेजों की सफलता उनके सैनिक संगठन अथवा कुशल सेनापतित्व के कारण नहीं हुई। वास्तव में, उनकी सफलता का एक कारण निजाम और मराठों का अंगरेजों के साथ सम्मिलित होना था। यदि टीपू को केवल अंगरेजों का सामना करना होता तो वह उनको पराजित करने में अवश्य सफल होता, किन्तु तीनों की सम्मिलित सेनाओं का सामना करने की शक्ति उसमें नहीं थी। इसके अतिरिक्त, उसको फ्रांस आदि से भी किसी प्रकार की सहायता प्राप्त नहीं हो पायी।

लॉर्ड कॉर्नवालिस के चले जाने के बाद लॉर्ड वेलेजली 1798 ई. में बंगाल का गवर्नर-जनरल बनकर आया। उस समय कम्पनी की राजनीतिक स्थिति बड़ी गम्भीर थी। निजाम अंगरेजों से क्षुब्ध था। उसके दरबार में 'जैकोबिनवाद' के अत्यन्त विषैले सिद्धान्तों को मानने वाले फ्रांसीसी थे। टीपू दुर्भाग्य के बोझ से पस्त होने वाला व्यक्ति नहीं था। वह अंगरेजों से बदला लेने की भरपूर चेष्टा कर रहा था। उसने अरब, काबुल, कुस्तुनतुनिया, मारीशस इत्यादि के शासकों के पास सहायता के लिए अपने राजदूत भेजे थे। वह स्वयं फ्रांस के जैकोबिन दल का सदस्य बना और उसने अपनी राजधानी में फ्रांसीसियों को प्रेम तथा सहयोग का आश्वासन देकर 'स्वतंत्रता का वृक्ष' लगाने की अनुमति दी। अपने सैनिकों के संगठन के लिए उसने फ्रांसीसी अफसर नियुक्त किये। उसने नेपोलियन के साथ पत्र-व्यवहार करने का भी यत्न किया। उस समय नेपोलियन फ्रांस में था और भारत पर हमला करने की योजना बना रहा था। टीपू के सैनिक फ्रांसीसी अफसरों की अधीनता में प्रशिक्षण भी लेने लगे। फ्रांसीसियों की बढ़ती हुई शक्ति तथा टीपू के षड्यंत्र के कारण अंगरेज तथा टीपू में संघर्ष अवश्यम्भावी हो गया। 12 अगस्त, 1978 ई. के विवरण में वेलेजली ने लिखा था, "टीपू के राजदूतों के कार्य, जिन्हें उसने स्वयं पक्का किया है, साथ-साथ उसके देश में जो फ्रांसीसी सेना उतरी है, से प्रकट होता है कि यह खुलेआम युद्ध की स्पष्ट घोषणा है। इस स्वीकारोक्ति से युद्ध का उदेश्य न तो राज्य-विस्तार है, न क्षतिपूर्ति और न सुरक्षा, बल्कि उसका उदेश्य भारत में ब्रिटिश सरकार का पूर्ण विनाश है– स्थिति और गम्भीर हो गयी है। इस प्रकार के अपमान तथा हानि को गलत समझने का आर्थ होगा–दुर्बलता या भय की भावना।"

चतुर्थ आंग्ल-मैसूर युद्ध (फरवरी, 1799 ई. से मई, 1799 ई.) : वेलेजली ने टीपू के विरुद्ध युद्ध की तैयारी का आदेश दिया। युद्ध को सफल बनाने के लिए

तृतीय आंग्ल-मैसूर-युद्ध के बाद निजाम और मराठों से की गयी सन्धि को फिर दुहराने की चेष्टा की। निजाम तैयार हो गया, परन्तु मराठे साथ देने के लिए राजी नहीं हुए। फिर भी अंगरेजों की उदारता प्रदर्शित करने के लिए वेलेजी ने इस बात की घोषणा की कि टीपू के जीते हुए क्षेत्रों में से कुछ भाग पेशवा को भी दिये जाएँगे। युद्ध का फैसला शीघ्र हो गया। आरम्भ से ही टीपू की पराजय होती गयी। अपनी राजधानी में टीपू बहादुरी के साथ युद्ध करता हुआ मारा गया और मैसूर पर अंगरेजों का अधिकार हो गया। इस प्रकार तैंतीस वर्ष पूर्व मैसूर में जिस मुस्लिम शक्ति का उदय हुआ था, केवल उसी का अन्त नहीं हुआ, आंग्ल-मैसूर-संघर्ष के नाटक का भी अन्त हो गया।

मैसूर का बँटवारा : टीपू के पतन के साथ ही ब्रिटिश शक्ति के विनाश के भय का अन्त हो गया। मैसूर, जो तीस वर्षों से बराबर अंगरेजों के रास्ते का बड़ा रोड़ा था, अब अंगरेजों के अधिकार में आ गया। अंगरेजों तथा निजाम ने मैसूर का बँटवारा किया। पश्चिम में कनारा, दक्षिण-पश्चिम में बाईनाद, कोयम्बटूर तथा दारापुरम जिले, पूरब में श्रीरंगपट्टम और दो अन्य जिले अंगरेजों को मिले, जिससे "अंगरेजी राज्य प्रायद्वीप के आर-पार समुद्रपर्यंत विस्तृत हो गया।" गूटी, गुमरकोंडा और चित्तलदुर्ग का हिस्सा निजाम को प्राप्त हुआ। उत्तर-पश्चिम के कुछ प्रदेश पेशवा को दिये गये, किन्तु उसने लेना अस्वीकार कर दिया। शेष भाग मैसूर के पुराने हिन्दू राजवंश के एक नाबालिग लड़के को दिया गया और उसके साथ अंगरेजों की एक सन्धि हुई। नये राजा ने सहायक सन्धि स्वीकार की, जिसमें ये शर्त्तें प्रमुख थीं।

1. मैसूर की रक्षा के लिए सारी सेना अंगरेजी रहेगी।
2. सेना के खर्च के लिए मैसूर राज्य 7 लाख पौण्ड देगा;
3. युद्ध के समय गवर्नर-जनरल अपनी इच्छानुसार मैसूर राज्य के साधनों के अनुरूप खर्च लेगा। और
4. कम्पनी-सरकार की अन्तिम शर्त का प्रयोग लॉर्ड विलियम बैन्टिंक के शासनकाल में किया गया जब कुशासन के नाम पर कम्पनी-सरकार ने मैसूर का शासन अपने हाथों में ले लिया।

चतुर्थ आंग्ल-मैसूर युद्ध का महत्व : वेलेजली की मैसूर-नीति के परिणाम अत्यन्त प्रभावोत्पादक सिद्ध हुए। मैसूर राज्य छोटा पड़ गया और कम्पनी के कट्टर शत्रु का अन्त हो गया। "सामरिक, आर्थिक-शान्ति-स्थापना, सम्बन्धी व्यवस्था के दृष्टिकोण से क्लाइव के बाद मैसूर की विजय ब्रिटिश शक्ति के लिए अत्यन्त शानदार सफलता थी, "यह घटना वास्तव में चमत्कारपूर्ण, यशस्वी और मेरी बड़ी-से-बड़ी आशापूर्ण सम्भावनाओं से वास्तविक रूप में अधिका लाभदायक है।"

वेलेजली की मैसूर-नीति से कम्पनी को महत्त्वपूर्ण लाभ हुआ। कम्पनी के

साम्राज्य, शक्ति तथा प्रतिष्ठा में चारचाँद लग गये। 1800 ई. में निजाम ने मैसूर के अपने क्षेत्रों को कम्पनी को सुपुर्द कर दिया। इससे कम्पनी का राज्य मालावार से कारोमण्डल-तट तक फैल गया। मद्रास को मैसूर की ओर से कोई खतरा न रहा। कम्पनी की आय वढ़ गयी। मैसूर तथा मद्रास के वीच व्यापार स्वतंत्र रूप से होने लगा। अव कम्पनी को फ्रांसीसियों से किसी प्रकार का भय नहीं रहा। डीन हटन के शब्दों में, 'सामरिक, आर्थिक शान्ति-स्थापना-सम्वन्धी व्यवस्था के दृष्टिकोण से क्लाइव के वाद मैसूर की विजय ब्रिटिश-शक्ति की अत्यन्त शानदार सफलता थी।''

टीपू के विनाश को इंगलैण्ड और भारत में वड़ा महत्व दिया गये। दोनों देशों के गिरजाघरों में इसके लिए ईश्वर को विशेष धन्यवाद दिया गया। अंगरेजी राज्य के बड़े-वड़े शत्रु को नष्ट करने के उपलक्ष्य में भगवान को धन्यवाद दिया।

टीपू का चरित्र और मूल्यांकन : भारतीय इतिहास के प्रमुख व्यक्तियों की श्रेणी में टीपू सुल्तान की गणना होती है। वह एक कुशल योद्धा तथा उच्चकोटि का राजनीतिज्ञ था। शूरता एवं आत्मगौरव उसके चरित्र के सबसे बड़े गुण थे। हैदरअली की तरह वह अंगरेजों का कट्टर शत्रु था और अन्तरराष्ट्रीय परिस्थिति तथा यूरोप में अंगरेजों एवं फ्रांसीसियों के बुरे सम्बन्ध से लाभ उठाने के लिए प्रयत्नशील था। वस्तुतः वह एक परिश्रमी शासक, मैलिक सुधारक एवं महान योद्धा था। मिल के कथानानुसार, "टीपू की तुलना पूरब के महान शासकों के साथ की जा सकती है।" उसके शासन काल में मैसूर की कृषि-व्यवस्था अच्छी थी और जनता खुशहाल थी। डिरोम के अनुसर, "उसकी सरकार कड़ी और निरंकुश थी, किन्तु वह एक नीतिज्ञ एवं योग्य राजा की निरंकुश सरकार थी।" सूर के कथनानुसार, "जव कोई व्यक्ति एक नवीन देश की यात्रा करता हुआ उसे अच्छी कृषि से सम्पन्न, परिश्रमी निवासियों से पूर्ण, नये बने हुए नगर, फैलते हुए व्यापार, वढ़ते हुए कस्वे तथा प्रत्येक वस्तु को इस प्रकार समृद्ध, जिससे प्रसन्न्ता प्रकट हो, देखे तो वह स्वाभाविक रूप से यह परिणाम निकालेगा कि वह देश ऐसी सरकार के अधीन हो जो जनता के मन के अनुकूल है। यह टीपू के देश का चित्र है। यही हमारा निष्कर्ष है तथा उसकी सरकार के प्रति आदर की भावना है।" वस्तुतः टीपू सुल्तान स्वतंत्रता की रक्षा के लिए सर्वस्व निछावर करने को तैयार था। इसी निमित्त वह लड़ता हुआ मारा गया।

कुछ अंगरेज विद्वानों ने टीपू को अत्याचारी और धर्मान्ध शासक कहकर उसकी आलोचना की है। करपैट्रिक के विचारानुसार, 'टीपू क्रूर तथा कठोर शत्रु था, दमनशील तथा अन्यायी शासक था।'' परन्तु, यह धारणा पूर्णतः भ्रममूलक है। वह शत्रुओं के लिए भी क्रूर एवं कठोर था। वह धर्मान्ध भी नहीं था। वह अपनी प्रजा में काफी प्रिय था और किसानों तथा गरीबों की रक्षा के लिए सतत तैयार रहता था।

वह धर्मान्ध नहीं था। वह अपनी प्रजा में काफी प्रिय था और किसानों तथा गरीबों की रक्षा के लिए सतत तैयार रहता था। उसने अपने राज्य में सभी धर्म के लोगों को ऊँचे-ऊँचे पद दिये; हिन्दू मन्दिरों के लिए आर्थिक सहायता दी।

टीपू की असफलता के कारण : यद्यपि टीपू हैदरअली के अनुरूप ही वीर तथा साहसी था, फिर भी वह अपने प्रयत्नों में असफल रहा। हैदरअली ने जिस महान राज्य की स्थापना की थी, वह टीपू के शासनकाल में समाप्त हो गया। इसके प्रधानतः तीन कारण थे।

1. टीपू ने अपने उदेश्य की पूर्ति के लिए फ्रांसीसियों का दामन पकड़ा था, परन्तु वे उसकी कोई क्रियात्मक सहायता नहीं कर सके। दूसरी ओर, अंगरेजों के साधन असीम थे।

2. टीपू देशी राज्यों को मिलाकर कोई मोर्चा कायम करने में असफल रहा। इसके विपरीत, अंगरेजों ने कूटनीति के सहारे संयुक्त मोर्चा कायम कर लिया था और निजाम तथा मराठों को अपनी ओर मिला लिया था।

3. टीपू हैदरअली की तरह कूटनीतिज्ञ नहीं था। विल्कस के कथनानुसार, "यद्यपि यह कथन पूर्णतः सही नहीं है, फिर भी इतना निश्चित है कि उस युग के भारतीयों में राष्ट्रीय चेतना तथा देशभक्ति का अभाव था। वे भारत के गौरव-रक्षार्थ अपने छोटे-छोटे स्वार्थ को भूल नहीं सकते और न शत्रुओं के विरुद्ध एक झण्डे के नीचे एकत्र हो सकते थे।" यही टीपू की पराजय का रहस्य था।

2. आंग्ल-मराठा सम्बन्ध

मराठा शक्ति का उत्कर्ष : मराठों की शक्ति का विकास 17वीं सदी में हुआ था। प्राकृतिक बनावट, आर्थिक कठिनाई, सामाजिक समता और धार्मिक सहिष्णुता का लाभ उठाकर छत्रपति शिवाजी के नेतृत्व में मराठों की शक्ति संगठित की गयी थी। शिवाजी ने बीजापुर के सुल्तान तथा मुगल-सम्राट औरंगजेब से संघर्ष कर एक स्वतंत्र हिन्दू राज्य की स्थापना की थी। शिवाजी ने मराठों में एकता लाकर और आत्मविश्वास जगाकर मराठों को नवजीवन दिया था। मराठों की बिखरी शक्ति को राजनीतिक सूत्र में बाँधकर शिवाजी ने अपनी रचनात्मक प्रतिभा का अद्वितीय उदाहरण पेश किया था। किन्तु शिवाजी केन्द्रीय सत्ता को शक्तिशाली नहीं बना पाये थे। शिवाजी की मृत्यु के बाद मराठों में मतभेद उत्पन्न हो गया। शिवाजी का पुत्र शम्भजी दुश्चरित्र और क्रूर था। वह राजाराम और उसकी माता को बन्दी बनाकर स्वयं गद्दी पर बैठ गया। परन्तु औरंगजेब के विद्रोही पुत्र अकबर को सहायता एवं संरक्षण देने के फलस्वरूप औरंगजेब ने शम्भा जी को 1689 ई. में बन्दी बनाकर मृत्यु-दण्ड दिया। शासक के अपमान और मृत्यु-दण्ड से मराठा सरदारों ने आपसी मतभेद भुलाकर राजाराम के नेतृत्व में संगठित होकर मुगलों से संघर्ष किया। 1700

ई. में राजाराम की मृत्यु के वंद उसकी पत्नी ताराबाई ने मुगलों के विरुद्ध मराठा-युद्ध का संचालन किया। 1689 ई. से 1707 ई. तक मराठों के द्वारा स्वतंत्रता-सग्राम में मुगलों को नाको चने चवाने पड़े। मरने के पूर्व औरंगजेब मराठों से सन्धि करने की अन्तिम इच्छा पूरी नहीं कर पाया। लगभग बीस वर्षों के संघर्ष ने मराठों की सैनिक शक्ति एवं उनकी महत्त्वाकांक्षाओं की सफलीभूत होने का अवसर प्रदान किया।

औरंगजेब की मृत्यु के बाद शम्भाजी के पुत्र शाहू को राजा के रूप में स्वीकार कर लिया गया, परन्तु तारावाई और उसके अल्पवयस्क पुत्र शिवाजी द्वितीय ने शाहू को मराठों का राजा स्वीकार नहीं किया। शाहू 17/2 वर्ष तक मुगलों के यहाँ बन्दी रहा था। मराठों की शक्ति को राजाराम और ताराबाई ने संगठित किया था। अतः ताराबाई ने शाहू को अपदस्थ करने के लिए धानाजी यादव को सेना के साथ महाराष्ट्र से निकालने का प्रयत्न किया। शाहू मराठों के बीच फूट पैदा करने के लिए ही आजमशाह के सलाहकार जुल्फिकार खाँ द्वारा नियुक्त किया गया था। वस्तुतः जुल्फिकार खाँ की कूटनीति सफल हुई और मराठों में मतभेद उत्पन्न हो गया। धनाजी यादव को शाहू ने अपने पक्ष में मिला लिया। धानाजी के मिल जाने से ताराबाई का पक्ष कमजोर पड़ गया और शाहू ने विधिवत् सतारा में राज्याभिषेक कराया। तराबाई और उसके पुत्र शिवाजी द्वितीय को राजाराम की दूसरी पत्नी राजसबाई ने वन्दी वना लिया और स्वयं अपने पुत्र शम्भाजी द्वितीय के साथ कोल्हापुर में आकर रहने लगी। शम्भाजी द्वितीय ने कोल्हापुर में मराठों का राजा बनने का दावा पेश किया। परन्तु, वास्तव में शाहू मराठों का राजा बना रहा और उसके नेतृत्व में मराठे भारत की प्रमुख शक्ति बन गये। शाहू की मृत्यु 1749 ई. में हुई।

शाहू अन्तिम मराठा राजा था जिसने राजत्व के अधिकार का उपयोग किया था। शाहू के समय पेशवा का पद अत्यधिक महत्त्वपूर्ण बन गया। शाहू स्वयं सरल, उदार और सहिष्णु व्यक्ति था। वह शासन और शक्ति पेशवा को सौंपकर स्वयं पेशवाओं पर नियंत्रण रखने में सफल रहा। उस समय मराठों के साथ अच्छा सम्बन्ध तथा मंत्रियों में विश्वास रखनेवाले व्यक्ति की आवश्यकता थी। हैदराबाद का निजाम मराठों की शक्ति को नष्ट करने पर तुला हुआ था। अतः शाहू पेशवा को कार्य करने की स्वतंत्रता देकर मराठा-शक्ति का विस्तार करना चाहता था। योग्य व्यक्ति को अधिकार देकर उसके प्रति विश्वास रखना शाहू के चरित्र की विशेषता थी। पेशवाओं की योग्यता का सही मूल्यांकन शाहू ने किया था। इस प्रकार पेशवा के पद को शक्तिशाली बनाकर शाहू ने मराठों के विकास का मार्ग खोल दिया। परन्तु आगे चलकर शक्तिशाली पेशवा मराठा साम्राज्य के पतन के कारण बन गये।

पेशवाओं के उत्थान के कारण : शाहू के समय महाराष्ट्र का राजनीतिक एवं

आर्थिक जीवन अस्त-व्यस्त था। उनमें आपस में गृह-युद्ध की स्थिति उत्पन्न हो गयी थी। महाराष्ट्र के अन्दर शान्ति-व्यवस्था कायम रखने तथा एक शक्तिशाली साम्राज्य की स्थापना करने के उदेश्य से शाहू ने पेशवा के पद और अधिकार में वृद्धि की थी। संयोग से शाहू को बालाजी विश्वनाथ, बाजीराव प्रथम तथा बालाजी बाजीराव नामक तीन योग्य पेशवाओं का समर्थन और सहयोग मिला जिनके बल पर मराठा राज्य संघ का गठन किया गया। तीनों पेश्वा योग्य प्रशासक, साहसी सेनापति और महत्त्वाकांक्षी थे। पेशबाओं ने सेवा और परिश्रम के बल पर मराठों में न केवल एकता और शान्ति-व्यवस्था की स्थापना की, बल्कि उत्तर भारत की ओर बढ़ने के लिए मराठा-सरदारों को प्रेरणा दी। पेशवाओं के प्रयास से मराठे भारत की सर्वश्रेष्ठ शक्ति बन गये। यही कारण था कि मराठा राजा और अष्टप्रधान की तुलना में पेशवा सर्वाधिक शक्तिशाली हो गये।

पेशवा बालाजी विश्वनाथ (1713-1720 ई.) : बालाजी विश्वनाथ का जन्म 1650 ई. में कोंकण के श्रीवर्धन नामक गाँव में हुआ था। वे चितपावन ब्राह्मण परिवार के थे। उनके पिता जंजी के सीदियों के अधीन अपने गाँव में प्रमुख या देशमुख थे। सीदियों के अत्याचार से तंग आकर बालाजी विश्वनाथ के पिता ने शिवाजी की सेवा स्वीकार कर ली। पिता की मृत्यु के बाद बालाजी विश्वनाथ मराठा-सरदार धानाजी यादव की सेवा में चले गये। बालाजी विश्वनाथ को सैनिक क्षमता प्रदर्शित करने का अवसर गुजरात अहमदाबाद पर आक्रमण के समय मिला। शाहू को राजा बनाने के बाद धानाजी यादव को ताराबाई के पक्ष से हटाकर शाहू के पक्ष में लाने के लिए बालाजी विश्वनाथ ने महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया था। लगभग सभी प्रमुख मराठा-सरदार शाहू के विरोधी थे और ताराबाई से गुप्त पत्राचार करते थे। ताराबाई तथा उसके सेनापति चंद्रसेन की शक्ति को नष्ट करने में बालाजी विश्वनाथ का मुख्य हाथ था। बालाजी की सेवा से प्रसन्न होकर शाहू ने 1713 ई. में उन्हें पेशवा का पद दिया था।

पेशवा के रूप में बालाजी विश्वनाथ ने मराठा-सरदारों को शाहू के अपने पक्ष में लाने का प्रयास किया। सर्वप्रथम उनका ध्यान मराठा-सरदार कान्होजी आंग्रिया की ओर गया। कान्होजी मराठा-सरदारों में सर्वाधिक शक्तिशाली और योग्य सेनापति थे। कान्होजी पश्चिमी घाट में लगभग स्वतंत्र रूप से रहते थे और उनकी नौ-सेना से पुर्तगाली, डच, अंगरेज और फ्रांसीसी भी डरते थे। बालाजी विश्वनाथ कूटनीति से कान्होजी को शाहू के पक्ष में लाने में सफल हुए। कान्होजी के अधिकार को शाहू ने मान्यता दी और बदले में कान्होजी ने उसे मराठों का राजा स्वीकार कर लिया। कान्होजी के बाद कृष्णराव धानाजी थोरट तथा उदाजी चौहान जैसे मराठा-सरदारों को परास्त कर पेशवा बालाजी विश्वनाथ ने महाराष्ट्र में शाहू की स्थिति सुदृढ़ कर दी।

मुगलों से समझौता : औरंगजेब की मृत्यु के बाद मुगल साम्राज्य की स्थिति शोचनीय हो गयी थी। बहादुरशाह की मृत्यु के बाद सय्यद-बन्धुओं की सहायता से फर्रुखसियर दिल्ली की गद्दी पर बैठा था। फर्रुखसियर सय्यद-बन्धुओं के बढ़ते हुए प्रभाव को देखकर आतंकित हो गया। सय्ययद हुसैन अली और सय्यद अब्दुल्लाह खाँ मुगल-दरबार के प्रमुख सरदार थे। सय्यद हुसैन अली दक्षिण भारत का सूबेदार नियुक्त किया गया था। सय्यद अब्दुल्लाह खाँ ने अपने भाई हुसैन अली को दक्षिण भारत से दिल्ली आने का आदेश दिया। सय्यद-बन्धुओं ने फर्रुखसियर को गद्दी से हटाने की योजना बना ली। अतः सय्यद हुसैन अली ने मराठा राजा शाहू के साथ फर्रुखसियर के विरुद्ध एक समझौता किया जिसमें निम्नलिखित बातें थीं :

1. मुगल सम्राट उन सभी दुर्गों पर शाहू का अधिकार स्वीकार कर ले जो शिवाजी के स्वराज्य की सीमा के अन्दर थे।

2. मुगल बरार, गोंडवाना, खानदेश, हैदराबाद और कर्नाटक में मराठों द्वारा जीते हुए प्रदेश शाहू को सौंप देंगे।

3. शाहू को दक्षिण के छह मुगल प्रान्तों से चौथ और सरदेशमुखी वसूल करने का अधिकार होगा।

4. चौथ के बदले 15 हजार सैनिक मुगल सम्राट को दिये जायेंगे।

5. सरदेशमुखी के बदले दक्षिण में शान्ति-व्यवस्था का भार शाहू पर रहेगा।

6. शाहू कोल्हापुर के शम्भाजी के राज्य का आदर करेगा।

7. शाहू 10 लाख रुपये का वार्षिक कर मुगल सम्राट को देगा।

8. मुगल सम्राट शाहू की माता, पत्नी, भाई, सम्बन्धी एवं सेवकों को मुक्त कर देगा।

शाहू और मुगलों के बीच यह समझौता अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। इसके द्वारा शाहू को अप्रत्यक्ष रूप में दक्षिण की सम्प्रभु शक्ति के रूप में स्वीकार कर लिया गया था। मुगल प्रान्तों से चौथ और सरदेशमुखी वसूलने का अधिकार प्राप्त करने से मराठों की स्थिति अच्छी हो गयी। बालाजी विश्वनाथ और खाण्डेराव धमादे के नेतृत्व में मराठा सैनिकों ने दिल्ली पहुँचकर फर्रुखसियर को गद्दी से हटाने में सय्यद-बन्धुओं को सहायता दी।

आर्थिक व्यवस्था में सुधार : मराठों की राजस्व-व्यवस्था को सुधारने का काम बालाजी विश्वनाथ ने किया। चौथ से प्राप्त आय सरदारों के बीच बँट जाती थी। सरदेशमुखी से प्राप्त आय से शासन और सेना का खर्च पूरा नहीं हो पाता था। अतः मराठा-राजा को धन के लिए सरदारों की कृपा पर निर्भर रहना पड़ता था। आर्थिक व्यवस्था को संतुलित करने के उदेश्य से बालाजी ने भूमि-व्यवस्था में सुधार किया। टोडरमल की भूमि-व्यवस्था को आधार मानकर योग्य अधिकारियों की नियुक्ति की

गयी। परन्तु पुनरीक्षित भूमि कर भी राजा के खर्च को पूरा नहीं कर पाये। अतः अतिरिक्त खर्च का भारत बालाजी ने मराठा-सरदारों पर सौंप दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि मराठा-राजा सरदारों पर आश्रित रहने लगे। बालाजी राज्य के मंत्रियों और कर्मचारियों पर पूर्ण नियंत्रण रखने में सफल हुए। राज्य की आय में वृद्धि हुई तथा मराठा-साम्राज्य को उत्तर भारत में विस्तार का अवसर और साधन प्राप्त हो गया। 2 अप्रैल, 1720 ई. को बालाजी विश्वनाथ की मृत्यु हो गई।

बालाजी विश्वनाथ मूल्यांकन : बालाजी विश्वनाथ एक साधारण व्यक्ति से पेशवा के पद पर पहुँचे थे। बालाजी योग्य सेनापति और कुशल कूटनीतिज्ञ थे। मराठों की बिखरी हुई शक्ति को संगठित कर तथा पेशवा के पद और अधिकार में वृद्धि कर बालाजी विश्वनाथ ने महाराष्ट्र की राजनीति में अद्वितीय स्थान बना लिया था। बालाजी विश्वनाथ के प्रयत्न के फलस्वरूप मराठा-राजा शाहू की स्थिति महाराष्ट्र में सुदृढ़ हुई। कई प्रमुख मराठा-सरदारों को युद्ध में पराजित कर तथा कुछ कूटनीति के द्वारा बालाजी विश्वनाथ शाहू के पक्ष में ले आये थे। शाहू के सभी प्रतिद्वन्द्वियों को, जिनमें ताराबाई आदि थे, बालाजी ने नष्ट कर डाला और मराठों को गृहयुद्ध से बचाकर उनकी शक्ति सुदृढ़ कर दी। मराठा-शक्ति के विस्तार द्वारा वस्तुतः बालाजी द्वारा ही खोला गया था।

मुगलों से सन्धि कर बालाजी ने सफल कूटनीतिज्ञ होने का प्रमाण दिया था। सन्धि की शर्त्त के अनुसार दक्षिण भारत में मराठों की शक्ति बढ़ी थी। दक्षिण भारत के छह मुगल प्रान्तों से चौथ और सरदेशमुखी प्राप्त करने का अधिकर पाने से मराठों को दक्षिण भारत की राजनीति में हस्तक्षेप का अवसर मिल गया। कर वसूलने का अधिकार मराठों के लिए वरदान साबित हुआ। दक्षिण भारत की सम्प्रभुता मराठों के हाथ में आ गयी। मुगल साम्राज्य की दुर्बलता का लाभ उठाकर मराठे दिल्ली की राजनीति में भी हस्तक्षेप करने लगे। उत्तर भारत में प्रवेश पाने के लिए मराठों को अवसर मिल गया। इस प्रकार बालाजी विश्वनाथ के प्रयास से विशाल मराठा-साम्राज्य की स्थापना हो गयी। इस दृष्टि से बालाजी विश्वनाथ को शिवाजी के बाद मराठा-साम्राज्य का द्वितीय संस्थापक कहा जात है।

बालाजी ने मराठा-संघ की नींव डाली। मराठा-संघ के लगभग एक शती तक एक झंडे के नीचे संगठित होकर अपनी शक्ति का विस्तार किया। मुगलों के छह प्रान्तों से चौथ और सरदेशमुखी वसूलने की सुविधा के फलस्वरूप बालाजी को जागीर-प्रथा का सहारा लेना पड़ा। कर वसूलने का काम सरदारों को दिया गया। जागीरदारों ने कालान्तर में स्वतंत्र राज्य की स्थापना कर ली। इसके फलस्वरूप मराठों का एक राज्य नहीं रहा और वे मराठा-राज्य संघ में परिवर्तित हो गये।

बालाजी को मराठा-साम्राज्यवाद का जनक कहा जाता है। मुगलों के साथ की

गयी सन्धि में मराठा-साम्राज्यवाद के बीज निहित थे। बालाजी ने शिवाजी की तरह मुगलों से चौथ और सरदेशमुखी वसूलने का अधिकार प्राप्त कर केवल मराठा-प्रभाव क्षेत्र ही नहीं बनाया, बल्कि मराठा साम्राज्य को विकसित भी किया। अतः मुगल साम्राज्य के पतन में मराठों का बहुत सहयोग था। बालाजी विश्वनाथ की नीति को अपनाकर पेशवा बाजीराव मराठा साम्राज्य का विस्तार करने में सफल हुए। अतः मराठा साम्राज्य की स्थापना का श्रेय बालाजी विश्वनाथ को ही दिया जाता है।

बालाजी ने शाहू की शक्ति को सुदृढ़ किया, मराठा-संघ की स्थापना की और मुगलों की लड़खड़ाती शक्ति के क्षीण बनाने में सहयोग देकर मराठों की सम्प्रभुता दक्षिण भारत में स्थापित कर दी। दिल्ली-यात्रा के बाद मराठे उत्तर भारत की विजय करने लगे। इस प्रकार बालाजी विश्वनाथ के योग्य नेतृत्व में मराठा-शक्ति के विस्तार का कार्य प्रारम्भ हुआ जिसे आगे के पेशवाओं ने पूरा करने का प्रयास किया । बालाजी का प्रयास प्रशंसनीय था। वे प्रथम महान पेशवा की श्रेणी में आते हैं।

पेशवा बाजीराव (1720 ई. से 1740 ई.) : बालाजी विश्वनाथ की मृत्यु के बाद उनके ज्येष्ठ पुत्र बाजीराव को पेशवा नियुक्त किया गया। पेशवा का पद पाने के समय बाजीराव मात्र बीस वर्ष के युवक थे। बाजीराव अल्पायु होकर भी योग्य, कुशल, व्यावहारिक एवं सफल प्रबन्धक थे। बाजीराव राजनीति और कूटनीति में चतुर थे। पेशवा के पद के अनुकूल समझकर ही शाहू के द्वारा उन्हें दायित्व का ऐसा महत्त्वपूर्ण पद सौंपा गया था। उनकी नियुक्ति का विरोध प्रतिनिधि श्रीपतिराव ने किया था।

बाजीराव के लिए पेशवा का पद फूलों की सेज नहीं था। शाहू की सत्ता का विरोध करनेवाली शक्ति समाप्त नहीं हुई थी। कोल्हापुर में शम्भाजी द्वितीय और उसके सेनापति शाहू के प्रमुख विरोधी थे। कोंकण में पुर्तगालियों और सीदियों का विरोध दब नहीं पाया था। हैदराबाद में निजाम-उल-मुल्क आसिफजाह ने एक स्वतंत्र राज्य की स्थापना कर ली थी। निजाम-उल-मुल्क अपने युग का एक महान सेनानायक था। वह मराठों का सबसे बड़ा शत्रु था। परन्तु बाजीराव ने विपरीत परिस्थिति में साहस और चतुराई से काम लेकर, विरोधी पक्ष की शक्ति को क्षीण करने में सफलता प्राप्त की। सर्वप्रथम बाजीराव ने ही पेशवा के पद की श्रेष्ठता को स्थापित किया। एक-एक कर शाहू के सभी शत्रुओं को परास्त किया और निजाम को कई बार पराजित किया तथा गुजरात, मालवा और बुन्देलखण्ड की विजय कर उत्तर भारत में मराठा साम्राज्य के विकास का द्वार खोल दिया।

बाजीराव के लिए मुगल साम्राज्य की पतनोन्मुख दशा मराठा साम्राज्य के विकास में सहायक बनी। मुगल-दरबार ईरानी, तूरानी ओर हिन्दुस्तानी तीन दलों में विभक्त था। प्रान्तीय सरदार स्वाधीनता की घोषणा कर स्वतंत्र राज्य की स्थापना

करने लगे थे। मुगलों की सैनिक शक्ति क्षीण हो चुकी थी। राज-दरबार षड्यंत्रों का केन्द्र बन गया था। मुगल बादशाह प्रमुख सरदारों के हाथ की कठपुतली मात्र रह गये थे। राजपूत राजाओं का सहयोग मुगलों को प्राप्त नहीं था। राजपूत राजाओं के द्वारा मराठा शक्ति के विकास का प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष स्वागत किया गया।

बाजीराव ने भारत की राजनीति का मूल्यांकन कर मराठा-सरदारों को एक-दूसरे से मिलाने का प्रयास किया। मुगल साम्राज्य की दुर्दशा का लाभ उठाकर उसने मराठा साम्राज्य के विकास की योजना बना ली। प्रतिनिधि श्रीपतिराव ने बाजीराव की नीति का विरोध किया। परन्तु बाजीराव ने यह स्पष्ट घोषणा की, "हमारे लिए यह समय है कि हम विदेशियों को हिन्दू-देश से निकालकर अक्षय कीर्ति प्राप्त कर लें। हमें सूखे वृक्ष की, जड़ों पर प्रहार करना चाहिए, शाखाएँ तो आप-से-आप गिर जाएँगी। हमारे प्रयत्नों से हिन्दुस्तान में कृष्णा से अटक तक मराठों का झण्डा फहराएगा।" मराठा राजा शाहू ने बाजीराव की नीति का स्वागत करते हुए यह कहा था, "तुम मराठा-पताका को हिमालय की चोटी पर फहरा दोगे। तुम वास्तव में योग्य पुत्र हो।" शाहू का समर्थन और सरदारों का सहयोग पाकर पेशवा बाजीराव ने उत्तर भारत में मराठा साम्राज्य के विस्तार की नीति अपना ली और मुगल साम्राज्य के भग्नावशेष पर एक सुदृढ़ एवं शक्तिशाली मरठा राज्य की स्थापना का निर्णय लिया।

निजामुल-उल-मुल्क और बाजीराव : बाजीराव का समकालीन दक्षिण का मुगल सूबेदार निजाम-उल-मुल्क था। निजाम मराठों का कट्टर विरोधी था। उसने दक्षिण भारत से मराठों की शक्ति को नष्ट करने का बीड़ा उठाया था। निजाम-उल-मुल्क महत्त्वाकांक्षी था। उसने सय्यद हुसैन अली के पुत्र आलिम अली को पराजित कर दक्षिण के छह सूबों पर अधिकार कर लिया। सय्यद-बन्धुओं के पतन के बाद वह दक्षिण भारत में एक स्वतंत्र राज्य की स्थापना करना चाहता था। ऐसी अवस्था में निजाम से सम्बन्धों को व्यवस्थित करना बाजीराव के लिए एक कठिन प्रश्न था। हुसैन अली से की गयी सन्धि को निजाम-उल-मुल्क ने 1719 ई. में अस्वीकार कर चौथ और सरदेशमुखी वसूलने पर प्रतिबन्ध लगा दिया। मराठों को दबाने के लिए एक सेना निजाम द्वारा भेजी गयी जिसे बाजीराव ने पराजित कर दिया। 1721 ई. में निजाम ने बाजीराव से भेंट की और बीदर में चौथ तथा शेष छह प्रान्तों से पूर्ववत् सरदेशमुखी वसूलने का मराठों का अधिकार मान लिया। निजाम के विरुद्ध बाजीराव की यह पहली सफलता थी। निजाम-उल-मुल्क ने यह आश्वासन दिया कि मालवा और गुजरात से चौथ वसूल करने में मराठों को मदद देगा। निजाम-उल-मुल्क स्वयं चतुर, चालाक और कुशल कूटनीतिज्ञ था। वह मराठों को भुलावे में रखकर उनकी जड़ काटना चाहता था। परन्तु निजाम-उल-मुल्क वजीर बनने के बाद दिल्ली चला गया।

वजीर के रूप में दो वर्ष काम करने के बाद निजाम-उल-मुल्क पुनः दक्षिण लौट आया। निजाम के बदले मुबारिज खाँ को दक्षिण का सूबेदार नियुक्त किया गया था। मुबारिज खाँ को अपदस्थ करने के लिए निजाम ने मराठा राजा शाहू से सहायता की याचना की और सकरखेदा के युद्ध में मुबारिज खाँ को पराजिन कर दक्षिणी सूबों पर पुनः अधिकर कर लिया। मुगल बादशाह द्वारा वजीर का पद तथा मालवा और गुजरात की सूबेदारी निजाम से छीन ली गयी। फलस्वरूप निजाम ने अप्रसन्न होकर दक्षिण भारत में स्वतंत्र राज्य की स्थापना कर ली। ऐसी अवस्था में निजाम और मराठों के बीच युद्ध स्वाभाविक हो गया।

निजाम-उल-हक शक्ति के बदले कूटनीति से मराठा-संघ को नष्ट करने का उपाय सोचने लगा। निजाम मराठा-सरदारों को उत्तर भारत पर आक्रमण करने के लिए प्रोत्साहित करता रहता था। शाहू और मराठा-प्रतिनिधि श्रीपतिराव के बीच उसने मतभेद उत्पन्न कर दिया। मराठा-सेनापति त्र्यम्बकराव को बाजीराव के विरुद्ध उकसाया तथा शम्भाजी को चौथ और सरदेशमुखी की माँग करने के लिए प्रेरणा दी। परन्तु बाजीराव ने निजाम की हर चाल को विफल कर दिया।

1725-26 ई. में बाजीराव ने कर्नाटक पर दो बार आक्रमण किया। निजाम ने आक्रमण के समय तटस्थता की नीति अपनायी। निजाम दक्षिण भारत में मराठों की शक्ति का विस्तार नहीं चाहता था। उसने अपनी राजधानी औरंगाबाद से हटाकर हैदराबाद कर ली। निजाम हैदराबाद में युद्ध की तैयारी करने लगा। उसने शाहू के विरुद्ध 1727 ई. में शम्भाजी द्वितीय से एक सन्धि कर ली। निजाम शाहू और शम्भाजी के बीच झगड़े में मध्यस्थता करना चाहता था। शाहू की स्थिति विपय थी। निजाम ने बाजीराव को कर्नाटक में उलझा देखकर मराठा क्षेत्र पर आक्रमण कर दिय। शम्भाजी द्वितीय की सेना निजाम का साथ दे रही थी। कान्होंजी भोंसले और सुलतानजी निम्बालकर भी निजाम के साथ थे। अतः परिस्थिति की गम्भीरता समझकर बाजीराव कर्नाटक से वापस लौट आया। बाजीराव ने निजात के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। इस युद्ध में बाजीराव ने असीम सैनिक योग्यता और कूटनीति का परिचय दिया। गुप्तचरों का जाल बिछाकर वह निजाम की प्रत्येक गतिविधि से अवगत रहने लगा। एक वर्ष तक छिटपुट युद्ध के बाद मार्च, 1728 ई. में औरंगाबाद से बीस मील पश्चिम की ओर पालखेद नामक स्थान पर निजाम की सेना पराजित हुई। निजाम को युद्ध में अपार क्षति उठानी पड़ी और 16 मार्च, 1728 ई. को उसे बाजीराव के साथ शिवगाँव की सन्धि करनी पड़ी। सन्धि के अनुसार शाहू को मराठा-राज्य का एकमात्र छत्रपति स्वीकार कर लिया गया। शाहू को दक्षिण के सूबों से चौथ और सरदेशमुखी वसूल करने का अधिकार मिल गया। निजाम ने भविष्य में शम्भाजी द्वितीय को किसी प्रकार की सहायता न देने का वचन

दिया। शम्भाजी द्वितीय को पन्हाला भेज देने पर निजाम को सहमति देनी पड़ी तथा वन्दी मराठा सैनिक एवं अधिकृत प्रदेशों को लौटा देने की शर्त्त भी माननी पड़ी। इस प्रकार शिवगाँव की सन्धि मराठा शक्ति के विस्तार की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कड़ी है। इस इस सन्धि द्वारा 1791 ई. की सन्धि की शर्त्त को एक तरह से विधिवत् मान्यता दी गयी थी। इस सन्धि से शाहू मराठों का छत्रपति बन गया और उसके सभी प्रतिद्वन्द्वियों की शक्ति क्षीण हो गयी। परन्तु निजाम इस सन्धि से अत्यधिक क्षुब्ध था। निजाम ने 1731 ई. में त्र्यम्वकाराव दाभादे को शाहू के विरुद्ध षड्यंत्र में सहायता दी। षड्यंत्र असफल रहा और त्र्यम्बकाराव दाभादे की हत्या कर दी गयी। इसी समय शम्भाजी द्वितीय को बाजीराव द्वारा पराजित कर दिया गया और भविष्य में शाहू के विरोधियों से समझौता नहीं करने का उसे आश्वासन देना पड़ा। निजाम ने मालवा के शासक मुहम्मद शाह बंगश का समर्थन प्राप्त कर बाजीराव के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया। युद्ध में निजाम की हार हुई और उसे अपमानजनक सन्धि स्वीकार करनी पड़ी। सन्धि के अनुसार मराठों ने निजाम के क्षेत्र पर आक्रमण न करने का आश्वासन दिया तथा निजाम ने चौथ और सरदेशमुखी देना स्वीकार कर लिया।

उत्तर भारत पर मराठों के द्वारा आक्रमण के समय निजाम ने तटस्थता का वचन दिया।

मालवा और बुन्देलखण्ड की विजय : निजाम को पराजित करने से मराठों का उत्साह बढ़ा। बाजीराव उत्तर भारत को विजित करना चाहता था। उसने 1722 ई. में मालवा पर प्रथम आक्रमण किया। बाजीराव के भाई चिमनाजी अप्पा आक्रमण का नेतृत्व कर रहे थे। मालवा का गवर्नर गिरधर बहादुर अमझेरा के युद्ध में मारा गया और मालवा से मराठों ने चौथ वसूल किया। मुगल सम्राट के द्वारा जयपुर के सवाई जयसिंह को मालवा का गवर्नर नियुक्त किया गया। जयसिंह ने मराठों के मार्ग में कोई बाधा नहीं डाली। उसने मराठा-सरदार उदाजी पँवार, मल्हारराव होल्कर और रानोजी सिंधिया को धारा, इन्दौर और ग्वालियर पर अधिकार करने तथा वहाँ एक स्वतंत्र मराठा-शासन स्थापित करने की अनुमति दी। 1728 ई. के बाद मालवा पर कई बार मराठों का आक्रमण हुआ। दुराई सराय की सन्धि के अनुसार 1738 ई. में मालवा मराठों को सौंप दिया गया।

1728 ई. में बुन्देलखण्ड का शासक छत्रसाल इलाहाबाद के मुगल-गवर्नर मुहम्मद खाँ वंगश से युद्धों में उलझा हुआ था। छत्रसाल ने बाजीराव से सहायता की माँग की। 1729 ई. में वाजीराव स्वयं बुन्देलखण्ड पहुँचा और पहले मुहम्मद खाँ वंगश को परास्त किया। छत्रसाल ने बाजीराव को बुन्देलखण्ड का आधा भाग दे दिया। इस प्रकार कालपी, नाटा, सागर, झाँसी, सिरोज, कूच, गरावीटा और हृदयनगर का क्षेत्र मराठों के अधीन आ गया।

मालवा और बुन्देलखण्ड में मराठों की सफलता देखकर मुगल सम्राट की चिन्ता बढ़ी। जयसिंह मालवा के गवर्नर के रूप में मराठों से युद्ध नहीं करना चाहता था। जयसिंह बाजीराव को ग्यारह लाख रुपया देकर मांडू का गढ़ वापस लेना चाहता था। वह पेशवा को नायब सूबेदार बनाना चाहता था। अतः जयसिंह के बदले मुहम्मद खाँ वंगश को मालवा का गवर्नर नियुक्त किया गया। परन्तु मुगल-सम्राट और मुहम्मद खाँ वंगश मालवा और बुन्देलखण्ड से मराठों को हटाने में असफल रहे। इन क्षेत्रों पर मराठों का अधिकार पूर्ववत् कायम रहा।

गुजरात-विजय : गुजरात पर मराठों का आक्रमण 1723 ई. में हुआ। चार वर्षों के प्रयास के बाद 1727 ई. में गुजरात पर मराठों का प्रभुत्व हो गया। मुगल-सूबेदार ने मराठों को चौथ और सरदेशमुखी देना स्वीकार कर लिया। शाहू ने गुजरात मराठा-सेनापति त्र्यम्बकराव को दे दिया था। त्र्यम्बकराव और शाहू के द्वारा बाजीराव को पेशवा बनाने का विरोध किया गया था। त्र्यम्बकराव निजाम से मिलकर बाजीराव को परास्त करना चाहता था। त्र्यम्बकराव को दभाई के युद्ध में मार डाला गया। शाहू ने त्र्यम्बकराव की मृत्यु के बाद उसके छोटे भाई यशवंतराव को अपना सेनापति नियुक्त कर उसे गुजरात का शासन सौंप दिया था। यश्वंतराव की तरफ से पिलाजी गायकवाड़ गुजरात की देखभाल करते थे। मुगल-सूबेदार महाराजा अभयसिंह और पिलाजी गायकवाड़ के बीच झगड़ा हो गया। 1732 ई. में पिलाजी गायकवाड़ की हत्या कर दी गयी। इस हत्या के विरुद्ध गुजरात पर मराठों ने आक्रमण किया और 1735 ई. में गुजरात मराठों के नियंत्रण में आ गया। यशवंतराव का परिवार पुनः गुजरात में प्रतिष्ठित नहीं हो सका।

दिल्ली पर आक्रमण : मालवा, गुजरात और बुन्देलखण्ड की विजय के बाद मराठों ने दोआब, राजस्थान और दिल्ली के निकटवर्ती क्षेत्रों पर आक्रमण आरम्भ कर दिया। मराठों के आक्रमण से बचने के लिए मुगलों ने चम्बल नदी के दक्षिण के प्रदेश के लिए 13 लाख रुपये, राजस्थान के लिए 13 लाख 60 हजार रुपए तथा दक्षिण की आय का पाँच प्रतिशत भाग बाजीराव को देना स्वीकार कर लिया। बाजीराव मुगलों की लड़खड़ाती अवस्था का लाभ उठाना चाहता था। उसने बंगाल, अवध, इलाहाबाद, बनारस और गया जैसे नगरों को सौंपने की माँग की। मुगल-बादशाह बाजीराव की माँग से सहमत नहीं हुआ। 1737 ई. में मराठों ने अवध पर आक्रमण कर दिया। अवध के सूबेदार सआदत अली खाँ ने मराठा मल्हाराव होल्कर एवं उसके सहयोगियों को युद्ध में पराजित कर मुगल-बादशाह को यह सूचना भेज दी कि उसने मराठों को चम्बल नदी तक खदेड़ दिया था। बाजीराव मुगल सम्राट और सआदत अली खाँ की शक्ति से भय नहीं खाता था। वह मुगल सम्राट को आतंकित करने के उदेश्य से यमुना नदी पार कर दिल्ली के निकट पहुँच गया। मुगल सेनापति

कमरुद्दीन और शमसुद्दौला तथा अवध के सूबेदार सआदत अली खाँ की सेनाओं के वीच से वाजीराव सकुशल निकल कर राजस्थान की ओर चला गया। बाजीराव यदि चाहता तो दिल्ली को खाक में मिला सकता था। परन्तु बाजीराव ने मुगल सम्राट का पूर्णतः पतन उचित नहीं समझा। वह राजस्थान से ग्वालियर की ओर लौट गया।

मराठों की बढ़ती हुई शक्ति को देखकर मुगल सम्राट ने निजाम-उल-मुल्क को दक्षिण से दूसरी बार दिल्ली बुलाया। निजाम ने अपने पुत्र को मालवा का सूबेदार नियुक्त किया और स्वयं मराठों को नर्मदा नदी के पार खदेड़ने के लिए प्रयत्नशील हो गया। परन्तु दिसम्बर, 1737 ई. में भोपाल के निकट निजाम की करारी हार हुई और जनवरी, 1738 ई. में दुरई-सराय की सन्धि करनी पड़ी। सन्धि के अनुसार मालवा तथा नर्मदा नदी से चम्बल तक के सभी क्षेत्र मराठों को देने पड़े और युद्ध के हर्जाने के रूप में 50 लाख रुपये भी मराठों को देने पड़े। भोपाल-विजय और दुरई-सराय की सन्धि के बाद पेशवा अपनी शक्ति की चरम सीमा पर पहुँच गया था। मराठों की सैनिक श्रेष्ठता उसने प्रमाणित कर दी थी और भारत में मराठा-साम्राज्य की आधारशिला रख दी थी।

सालसेट और बेसीन की विजय : पुर्तगालियों के व्यवहार और नीति से बाजीराव असन्तुष्ट था। उसने पुर्तगालियों पर 1731 ई. में आक्रमण किया, क्योंकि पुर्तगालियों ने सीदियों को सहायता दी थी सन् 1732 ई. में पुर्तगालियों ने मराठों से सन्धि कर ली थी। परन्तु बाजीराव ने पुर्तगालियों के विरुद्ध पुनः 1737 ई. में युद्ध प्रारम्भ किया। युद्ध का नेतृत्व वाजीराव चिमनाजी अप्पा कर रहे थे। चिमनाजी अप्पा ने कुछ महीने के अन्दर थाना, सालसेट और बेसीन पर अधिकार कर लिया। युद्ध में पुर्तगाली पूर्णतया पराजित हुए। बेसीन की विजय चिम्नाजी के जीवन की सबसे महत्त्वपूर्ण विजय थी। इसमें उन्होंने अद्वितीय योग्यता, दृढ़संकल्प और अदभुत वीरता का परिचय दिया था। पुर्तगालियों की पराजय से भयभीत होकर जुलाई, 1739 ई. मे अंगरेजों ने भी मराठों से सन्धि कर ली।

बाजीराव, आंग्रिया और सीदी : बाजीराव दक्षिण भारत में अपनी सत्ता को सुदृढ़ करना चाहता था। जंजीरा में सीदी, गोआ में पुर्तगाली और बम्बई में अंगरेजों का प्रभाव बढ़ रहा था। विदेशी शक्तियाँ जहाजी बेड़े के माध्यम से अपनी सत्ता का विस्तार करना चाहती थीं। दक्षिण भारत के पश्चिमी घाट और समुद्र के बीच कोंकण का उपजाऊ एवं विस्तृत क्षेत्र था। कोंकण पेशवा के अधिकार-क्षेत्र से बाहर था। उसने नाममात्र के लिए शाहू की अधीनता स्वीकार की थी। 1726 ई. में सीदियों ने पारसराम के शिवमन्दिर को नष्ट कर डाला। कान्होजी ने सीदियों के विरुद्ध युद्ध प्रारम्भ किया। शाहू ने कान्होजी की सहायता के लिए मराठा-प्रतिनिधि को भेजा, किन्तु उसे विशेष सफलता नहीं मिली। इस बीच 1729 ई. में कान्होजी की मृत्यु

हो गयी। कान्होजी के बाद शेखो जी कोंकण का उत्तराधिकारी बना। परन्तु शेखोजी की मृत्यु के बाद उसके दो भाई शम्भाजी और मानजी के बीच उत्तराधिकार के प्रश्न पर झगड़ा हो गया। उत्तराधिकार के युद्ध ने सीदियों की शक्ति को बढ़ने का अवसर दिया। अतः परिस्थिति की गम्भीरता को देखते हुए बाजीराव 1733 ई. में स्वयं कोंकण पहुँचा। बाजीराव की मध्यस्थता से दोनों भाइयों के बीच कोंकण का समान रूप से बँटवारा हो गया और दोनों ने शाहू की सेवा स्वीकार कर ली। विभाजन से कोंकण राज्य की शक्ति क्षीण हो गयी, लेकिन पेशवा और शाहू की स्थिति कोंकण में दृढ़ हो गयी।

जंजीरा के सीदियों के विरुद्ध भी बाजीराव को युद्ध करना पड़ा। सीदियों ने मराठों की पुरानी राजधानी रायगढ़ पर अधिकार कर लिया था। अतः 1733 ई. में बाजीराव सीदियों से युद्ध करते हुए मारा गया। परन्तु जंजीरा पर मराठों का अधिकार नहीं हो पाया। 1736 ई. में सीदियों ने मराठों से एक सन्धि की जिसके अनुसार सीदियों के आधे क्षेत्र पर मराठों का अधिकार हो गया। इस प्रकार सीदियों की शक्ति क्षीण तो हो गयी किन्तु उन्हें पूर्णतया नष्ट नहीं किया जा सका।

बाजीराव की मृत्यु : बाजीराव ने बीस वर्षों तक संघर्षपूर्ण जीवन व्यतीत किया था। छत्रसाल ने मस्तानी नामक एक लड़की पेशवा बाजीराव को भेंट की थी। मस्तानी जितनी सुन्दर थी उतनी ही व्यवहारकुशल और साहसी भी थी। मस्तानी पेशवा बाजीराव के जीवन की अभिन्न अंग बन यगी थी। वह बाजीराव का साथ युद्ध-भूमि में भी देती थी। मस्तानी के प्रेम में फँसकर बाजीराव अपनी पत्नी काशीबाई की उपेक्षा करने लगा था। उसके इस व्यवहार से बाजीराव के भाई और पुत्र क्षुब्ध हो गए। मस्तानी के पुत्र को मराठा-सरदारों ने हिन्दू के रूप में स्वीकार नहीं किया। बाजीराव मस्तानी की उपेक्षा सहन नहीं कर पाया। वह पूना छोड़कर निजाम से अपनी जागीर छीनने के लिए चला गया। निजाम के पुत्र नासिरजंग से बाजीराव जागीर लेने में सफल रहा। वह निजाम के पुत्र से जब युद्ध में संलग्न था तो मस्तानी को पूना में नजरबन्द कर लिया गया। यह घटना बाजीराव के लिए वज्रपात की तरह थी। बीमारी और वियोग के फलस्वरूप, 28 अप्रैल 1740 ई. को मात्र चालीस वर्ष की अवस्था में बाजीराव की मृत्यु नर्मदा नदी के निकट हुई। डॉ. एच. एन. सिन्हा ने लिखा है, "बहादुरों में सर्वश्रेष्ठ और सुन्दरों में सुन्दरतम बाजीराव एक प्रेम-प्रसंग में आकर्षक व्यक्ति के समान मर गया।"

बाजीराव का मूल्यांकन : बाजीराव मराठा-इतिहास का, शिवाजी के बाद एक आकर्षक चरित्र था। तीस वर्ष की अल्पायु में उसने पेशवा-पद का कार्य-भार सँभाला था। प्रारम्भ से ही कुछ असंतुष्ट मराठा सरदार उसके विकास के मार्ग में बाधा उत्पन्न करना चाहते थे। परन्तु योग्यता, साहस और कूटनीति के सहारे उसने विपरीत

परिस्थिति को अनुकूल बनाकर मराठों की विखरी हुई शक्ति को भारत की सर्वश्रेष्ठ शक्ति का रूप दे दिया। पेशवा बाजीराव के सामने विरोधी शक्तियों के पाँव टिक नहीं पाये। उसने हिन्दू जाति में एक नयी आशा का संचार किया और पतनोन्मुख हिन्दू जाति के सम्मुख एक महान संभावना प्रस्तुत की। वाजीराव स्वयं एक योग्य सैनिक और सेनापति था। उसने निजाम-उल-मुल्क जैसे अनुभवी और अद्वितीय सेनापति को दो बार युद्ध में पराजित किया था। वाजीराव की कूटनीति के सामने निजाम हल्का पड़ गया था। मुगलों के बाद भारतीय राजनीति में शून्यता आ गयी थी। उसे मराठा-शक्ति के विस्तार के माध्यम से वाजीराव ने पूरा करने की चेष्टा की। वाजीराव ने पूरे भारत को अपनी सैनिक प्रतिभा से आतंकित कर दिया था। देशी और विदेशी शक्तियों को मराठों की श्रेष्ठता को सहायता लेनी पड़ी। वाजीराव मराठों के द्वारा जीते हुए क्षेत्रों को संगठित नहीं कर पाया। उसने युद्ध में ही अपना सारा जीवन उत्सर्ग कर दिया था। महाराष्ट्र के कुशल, योग्य, दूरदर्शी एवं साहसी व्यक्तियों में वाजीराव अन्यतम था। वह योजना वनाने और उसे पूरा करने की क्षमता भी रखता था। पेशवाओं में वस्तुतः वाजीराव प्रथम था।

पेशवा बालाजी बाजीराव : वाजीराव का पुख बालाजी वाजीराव 1740 ई. में मात्र 18 वर्ष की अवस्था में पेशवा नियुक्त हुआ। बालाजी बाजीराव को नाना साहव भी कहा जाता था। वालाजी वाजीराव एक प्रतिभावान, व्यवहारकुशल और धुन का पक्का व्यक्ति था। वह अपने पिता की तरह योग्य सेनापति नहीं था। वालाजी वाजीराव को विरोध रघुजी भोंसले कर रहा था। जो शाहू निकट का सम्बन्धी का तथा अपने पुत्र को छत्रपति बनाने की आशा रखता था। रघुजी भोंसले अपने मन के मुताबिक एक महाजन वावूजी नायक को पेशवा बनाना चाहता था। परन्तु शाहू ने वालाजी वाजीराव को पेशवा नियुक्त कर उसकी आशा पर पानी फेर दिया। शाहूजी ने नये पेशवा को अखिल भारतीय मराठा-साम्राज्य की स्थापना के दायित्व को पूरा करने का भार सौंपा।

वालाजी बाजीराव को प्रारम्भ में आन्तरिक एवं बाह्य समस्याओं का सामना करना पड़ा। बालाजी का प्रमुख विरोधी रघुजी भोंसले था। कोंकण के तुलाजी आंग्रिया, गायकवाड़, सिंधिया और होल्कर भी बालाजी से सन्तुष्ट नहीं थे। निजाम और उसके उत्तराधिकारी अपने वादों को पूरा नहीं करना चाहते थे। कर्नाटक के प्रश्न पर निजाम पेशवा से झगड़ा करने को तैयार था। शाहू को अपना कोई सगा पुत्र नहीं था। उत्तराधिकार का प्रश्न जटिल था। स्वयं बाजीराव परिवार पर कर्ज का बोझ छोड़ गये थे। राजपूतों से मराठों को नया सम्बन्ध कायम करना था। समस्या का समाधान बालाजी बाजीराव ने साहस के साथ किया।

आर्थिक : सर्वप्रथम बालाजी वाजीराव ने पारिवारिक कर्ज के बोझ से अपने

को मुक्त किया। कर्नाटक से धन वसूल कर पुर्तगालियों से प्राप्त भूमि जागीर के रूप में लेकर बालाजी बाजीराव ने कर्ज की रकम को अदा कर दिया।

तुलाजी : तुलाजी आंग्रिया बालाजी के विरोधी थे। 1739 ई. में शम्भाजी आंग्रिया की मृत्यु के बाद तुलाजी और मानाजी के बीच झगड़ा प्रारम्भ हुआ। पेशवा बालाजी ने मानाजी आंग्रिया के पक्ष का समर्थन किया। अतः तुलाजी आंग्रिया उसके विरोधी हो गये। बालाजी ने तुलाजी आंग्रिया को पराजित कर मानाजी की सत्ता स्थापित की जो पेशवा के प्रति सदैव वफादार रहा।

मालवा : हुरई-सराय की सन्धि के बावजूद मुगल बादशाह ने मालवा पर मराठों के अधिकार को मान्यता नहीं दी थी। बालाजी बाजीराव ने अपने चाचा चिमनाजी अप्पा की मृत्यु के बाद मालवा पर आक्रमण किया। जयपुर के शासक राजा जयसिंह की मध्यस्थता के फलस्वरूप मुगल सम्राट और पेशवा के बीच 1741 ई. में एक सन्धि हुई जिसके अनुसार मालवा पेशवा को दे दिया गया। बदले में पेशवा ने मुगल सम्राट को 500 स्थायी सेना तथा विशेष अवसर के लिए 400 सैनिकों की सहायता देने का वचन दिया। इस प्रकार दिल्ली की राजनीति से पेशवा का प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित हो गया।

कर्नाटक : रघुजी भोंसले ने कर्नाटक पर आक्रमण किया और 1741 ई. में कर्नाटक का नवाब दोस्त-अली मार डाला गया। दोस्त अली के दामाद चाँद साहब को बन्दी बनाकर सतारा भेज दिया गया। कर्नाटक पर निजाम की आँखें लगी हुई थीं। अतः 1743 ई. में निजाम ने कर्नाटक पर अधिकार कर लिया। बालाजी बाजीराव ने बाबूजी नायक और सदाशिव भाऊ को कर्नाटक-विजय का दायित्व सौंप दिया। 1746 ई. में कर्नाटक पर मराठों का अधिकार हो गया।

बंगाल, बिहार और उड़ीसा : रघुजी भोंसले बालाजी बाजीराव का विरोधी था। वह महत्त्वाकांक्षी था। अतः बालाजी बाजीराव ने उसकी महत्त्वाकांक्षा को सन्तुष्ट करने के लिए बंगाल, बिहार और उड़ीसा पर आक्रमण करने की स्वतंत्रता दे दी। रघुजी भोंसले ने अपने प्रतिनिधि भास्कर पंत को बंगाल पर आक्रमण करने के लिए भेजा। बंगाल के नवाब अलीवर्दी खाँ ने भास्कर पंत को मार डाला। अतः प्रतिनिधि की हत्या के बाद रघुजी भोंसले ने उड़ीसा पर आक्रमण कर दिया। अलीवर्दी खाँ ने मराठों के आक्रमण से तंग आकर 1751 ई. में उड़ीसा का सूबा और 12 लाख रुपये प्रतिवर्ष चौथ के रूप में मराठों को देना स्वीकार कर लिया।

रघुजी भोंसले : रघुजी भोंसले ने कर्नाटक और बंगाल पर आक्रमण के बाद अपनी शक्ति को बढ़ा लिया था। कर्नाटक-विजय के सिलसिले में बरार पर रघुजी भोंसले अधिकार कर चुका था। उसने मालवा तथा बुन्देलखंड पर आक्रमण कर दिया। पेशवा बालाजी बाजीराव कई बार रघुजी भोंसले को पराजित कर चुका था।

दक्षिण से निराश होकर रघुजी ने बंगाल पर आक्रमण किया था। दो विरोधी सरदारों के बीच शाहू की मध्यस्थता से समझौता हुआ और पेशवा तथा रघुजी भोंसले का अधिकार-क्षेत्र बाँट डाला गया। अधिकार के विभाजन ने मराठों की शक्ति को दुर्बल बना दिया और उनमें स्वतंत्र होने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन दिया।

निजाम : हैदराबाद का निजाम मुगल सम्राट मुहम्मद शाह को प्रभावित कर मालवा मराठों से छीनना चाहता था। परन्तु निजाम के पुत्र नासिरजंग ने पिता के विरुद्ध बगावत की। लाचारी में निजाम को मराठों से सहायता लेनी पड़ी और उन्हें 15 लाख रुपये तथा मालवा के अतिरिक्त 50 लाख रुपये देने का आश्वासन देना पड़ा। विद्रोह शान्त होने के बाद निजाम ने 1743 ई. में कर्नाटक पर अधिकार कर लिया। 1748 ई. में निजाम की मृत्यु के बाद नासिरजंग, मुजफ्फरजंग और सलावतजंग के बीच गद्दी के लिए युद्ध प्रारम्भ हुआ। गृहयुद्ध के बाद सलाबतजंग निजाम बना और उसने मराठों को दो लाख रुपये की लागत की भूमि देने की प्रतिज्ञा की। 1757 ई. से 1760 ई. के बीच मराठों का आक्रमण निजाम के क्षेत्र पर होता रहा और उन्होंने असीरगढ़, बुरहानपुर, दौलताबाद तथा आस-पास के क्षेत्रों पर अधिकार कर लिया।

राजपूत : बालाजी बाजीराव को राजपूतों से भी निपटना पड़ा। जयपुर के शासक राजा जयसिंह की मृत्यु 1743 ई. में हुई। गद्दी के लिए ईश्वरसिंह और माधवसिंह के बीच युद्ध हुआ। माधवसिंह का पक्ष उदयपुर के शासक राजा जगतसिंह ने लिया और ईश्वरसिंह को रानोजी सिंधिया और मल्हारराव होल्कर का समर्थन मिला। ईश्वरसिंह ने 1745 ई. में माधवसिंह को पराजित किया। परन्तु रानोजी सिंधिया की मृत्यु के बाद उसके पुत्र जयप्पा सिंधिया ने माधवसिंह का पक्ष ले लिया। अतः जयप्पा सिंधिया और मल्हारराव होल्कर दोनों के बीच मतभेद हो गया। स्थिति की गम्भीरता को देखते हुए पेशवा स्वयं राजपूताना गया तथा ईश्वरसिंह , मल्हारराव होल्कर और जयप्पा सिंधिया के बीच समझौता कराकर 9 जुलाई, 1748 ई. को पूना लौट आया। पेशवा ने ईश्वरसिंह को उसके राज्य के चार जिले माधवा सिंह को देने के लिए कहा था। पेशवा के पूना लौटने के साथ ईश्वरसिंह और माधवसिंह दोनों के बीच झगड़ा प्रारम्भ हो गया। संघर्ष में मल्हारराव होल्कर ने इस बार माधवसिंह को सहायता दी। अतः ईश्वरसिंह मराठों से असन्तुष्ट हो गया। ईश्वरसिंह ने क्षुब्ध होकर 1750 ई. में विष खाकर आत्महत्या कर ली। ईश्वरसिंह की तीन पत्नियाँ और बीस अन्य औरतें सती हो गयीं। माधवसिंह ने इस घटना से क्रुद्ध होकर हजारों मराठों का कत्ल करवा डाला। मराठों और राजपूतों के बीच शत्रुता बढ़ गयी।

मारवाड़ के शासक बख्तसिंह की मृत्यु के बाद उसके पुत्रा विजयसिंह को रामसिंह ने अजमेर में घेर लिया। रामसिंह को जयप्पा सिंधिया ने सहायता दी। परन्तु

1755 ई. में विजयसिंह ने जयप्पा सिंधिया की हत्या करवा दी। पिता की हत्या का बदला दत्ता सिंधिया ने लिया। विजयसिंह ने दत्ता सिंधिया का 5 लाख रुपये तथा अजमेर और जालौन का क्षेत्र दिया। विजयसिंह को अपने राज्य का आधा भाग रामसिंह को भी देना पड़ा। इस प्रकार इन दो घटनाओं से राजपूतों और मराठों का सम्वन्ध विगड़ गया और पानीपत की तीसरी लड़ाई के समय राजपूतों से मराठों को किसी प्रकार की सहायता नहीं मिली।

जाट : राजपूतों के अतिरिक्त मराठे जाटों से भी अपना सम्वन्ध अच्छा नहीं रख सके। जाट राजा सूरजमल मुगलों का विरोधी था। भरतपुर में जाटों की शक्ति धीरे-धीरे वढ़ रही थी। मराठों ने मुगल वादशाह की तरफ से जाट-राजा सूरजमल से युद्ध किया। कुम्भेर के दुर्ग पर मराठों ने घेरा डाल दिया। सूरजमल ने सन्धि का प्रस्ताव रखा जिसे मराठों ने अस्वीकार कर दिला । परन्तु मराठों को सूरजमल के विरुद्ध सफलता नही मिली। जाट एक वहादुर जाति के लोग थे। उन्हें असंतुष्ट कर मराठों ने एक वहुत वड़ी भूल की।

शाहू के उत्तराधिकार का प्रश्न : मराठा राजा शाहू को अपना कोई पुत्र नहीं था। छत्रपति का पद पाने के लिए अनेक दावेदार थे। तारावाई अपने पुत्र शिवाजी के एक तथाकथित पुत्र को छत्रपति का पद देने के लिए शाहू पर जोर डाल रही थी। कोल्हापुर का शम्भाजी भी मराठा राजा वनना चाहता था। शाहू ने मरने के पूर्व शिवाजी के तथाकथित पुत्र राजाराम को छत्रपति का पद देना स्वीकार कर लिया। शाहू की मृत्यु 25 दिसम्वर, 1749 ई. को हुई। तारावाई राजाराम पर कठोर नियंत्रण रखती थी। राजाराम स्वतंत्र होने का प्रयास करने लगा तो तारावाई ने सारा भेद खोल दिया। ऐसी स्थिति में पेशवा वालाजी वाजीराव ने राजाराम को पूना वुला लिया और संगोला की सन्धि के अनुसार छत्रपति का सारा अधिकार अपने हाथ में ले लिया। छत्रपति नाममात्र के शासक के रूप में सतारा में रहने लगा। सत्ता का केन्द्र पेशवा स्वयं वन गया।

तारावाई ने पेशवा के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए दमाजी गायकवाड़ को अपने पक्ष में मिला लिया। पेशवा जव निजाम से युद्ध में व्यस्त था तो दमाजी गायकवाड़ ने पूना पर आक्रमण कर दिया। आक्रमण विफल रहा। गायकवाड़ गुजरात लौट गया और राजाराम को वन्दी वनाकर पेशवा सर्वशक्तिशाली हो गया।

दिल्ली और पंजाब की राजनीति में मराठों का हस्तक्षेप : मुगल दरवार दो गुटों में वँट गया था। रुहेलों और वंगश पठानों का एक दल था जो विदेशी मुसलमान कहलाते थे। भारतीय मुसलमानों का दूसरा दल था जिसका नेतृत्व सफदरजंग कर रहा था। मुगल राजनीति में भारतीय मुसलमानों के प्रभाव को समाप्त करने के लिए अफगानिस्तान के शासक अहमदशाह अब्दाली के साथ विदेशी मुसलमानों की

साँठ-गाँठ चल रही थी। अहमदशाह अब्दाली ने 1747 ई. में नादिर शाह की हत्या कर अफगानिस्तान पर अधिकार कर लिया था। अब्दाली पंजाब, मुल्ताना और कश्मीर को अपने राज्य की सीमा में सम्मिलित करना चाहता था। रूहेले और वंगश पठान अब्दाली को दिल्ली के राजनीतिक घटनाचक्र से परिचित रखते थे। अब्दाली ने भारत-विजय की आकांक्षा स्वाभाविक रूप से पाल रखी थी। ऐसी अवस्था में भारतीय मुसलमानों का झुकाव मराठों की तरफ गया। मराठे मुगलों को सहायता देना चाहते थे। फलस्वरूप रूहेले, पठान और अब्दाली मराठों के विरोधी बन गये।

अहमदशाह अब्दाली ने 1751-52 ई. में पंजाब पर आक्रमण किया। मुल्तान और लाहौर पर अब्दाली का अधिकार हो गया। सफदरंजग ने 1752 ई. में मराठों के साथ एक समझौता किया जिसमें आन्तरिक एवं वाह्य शत्रुओं के विरुद्ध सहायता देने की वात मराठों ने स्वीकार कर ली तथा वदले में मराठों को पचास लाख रुपये तथा पंजाब, सिन्ध और दोआब से चौथ वसूलने की सुविधा दी गयी। मुगल सम्राट ने सफदरजंग और मराठों के बीच समझौते की शर्तों को मान्यता नहीं दी। मुगल सम्राट अब्दाली को पहले ही मुल्तान और लाहौर का क्षेत्र सौंप चुका था।

अहमदशाह अब्दाली मुईनुल-मुल्क को मुल्तान और लाहौर का प्रबन्ध-भार सौंप कर अफगानिस्तान लौट गया था। 1753 ई. में मुईनल-मुल्क की मृत्यु के वाद उसकी पत्नी मुगलानी वेग ठीक से शासन नहीं चला पायी। दिल्ली की राजनीति में भी परिवर्त्तन हुआ। मुहम्मदशाह को गद्दी से उतारकर आलमगीर द्वितीय को दिल्ली की गद्दी पर वैठाया गया। सत्ता-परिवर्त्तन के फलस्वरूप दिल्ली और दोआब पर मराठों का प्रभुत्व बढ़ा। परन्तु विदेशी मुसलमानों का गुट मराठों के प्रभुत्व को नष्ट करना चाहता था। रुहेला सरदार नजीबुद्दौला और मुगलानी वेगम के निवेदन पर अब्दाली ने 1756-57 ई. में दिल्ली, मथुरा और आगरा में लूटपाट की। पेशवा ने रघुनाथराव और होल्कर को मुगल सम्राट की सहायता के लिए दिल्ली भेजा। परन्तु मराठों के पहुँचने के पहले ही अब्दाली दिल्ली छोड़ चुका था। रघुनाथराव ने नजीबुद्दौला के स्थान पर अहमदशाह वंगश की मीर-वख्शी के पद पर नियुक्त किया। परन्तु मल्हारराव होल्कर के कहने पर उसे क्षमादान दे दिया। घुनाथराव ने पंजाब के सूबेदार तैमूर खाँ को पराजित कर अदीन बेग को सूबेदार नियुक्त किया। 1758 ई. में रघुनाथराव पूना लौट गया।

रघुनाथराव के पूना लौटने पर पेशवा ने दत्ताजी सिंधिया को उत्तर भारत भेजा। दत्ताजी सिंधिया को पंजाब का सूबेदार बनाया और नजीबुद्दौला से बातचीत प्रारम्भ की। परन्तु नजीबुद्दौला अब्दाली को भारत पर आक्रमण का पहले ही निमंत्रण दे चुका था। अतः सन्धि के बदले नजीबुद्दौला ने युद्ध प्रारम्भ कर दिया। परन्तु शकरताल के युद्ध में नजीबुद्दौला पराजित हुआ। इस बीच अब्दाली ने पंजाब पर आक्रमण

किया। सावाजी सिंधिया को पंजाब छोड़ देना पड़ा। मुगल वजीर इमादुल-मुल्क मुगल सम्राट आलमगीर द्वितीय की हत्या कर जाट-राजा सूरजमल के यहाँ चला गया अब्दाली दिल्ली की ओर बढ़ रहा था। अतः दत्ताजी सिंधिया को शकरताल को घेरा उठा लेना पड़ा। दिल्ली के पास लोनी नामक स्थान में अब्दाली और मराठों के बीच जनवरी, 1760 ई. में युद्ध हुआ। युद्ध में दत्ताजी सिंधिया मारा गया। दिल्ली पर अधिकार करने में अब्दाली को विशेष कठिनाई नहीं हुई।

दत्ताजी सिंधिया की मृत्यु की सूचना पाकर पेशवा ने चचेरे भाई सदाशिवराव भाऊ को एक विशाल सेना के साथ उत्तर भारत की ओर भेजा। सदाशिवराव भाऊ अगस्त, 1760 ई. में दिल्ली पहुँचा। तब तक नजीबुद्दौला के निवेदन के बावजूद अब्दाली दिल्ली छोड़ चुका था। सदाशिवराव भाऊ तीन महीने तक दिल्ली में रहा। अब्दाली और सदाशिवराव भाऊ के बीच कूटनीतिक युद्ध चल रहा था। अब्दाली का समर्थक नजीबुद्दौला कूटनीति में अधिक सफल रहा। अवध के नवाब शुजाउद्दौला ने अब्दाली का पक्ष लिया। जाट-राजा सूरजमल ने मराठों का साथ नहीं दिया। राजपूत सरदार मराठों से असन्तुष्ट थे। अतः अब्दाली के विरुद्ध सदाशिवराव भाऊ कोई संगठित मोर्चा कायम करने में असफल रहा। नजीबुद्दौला और अब्दाली ने धर्म की दुहाई देकर मुसलमानों को अपने पक्ष में मिला लिया तथा उन्होंने दिल्ली की राजनीति से मराठों को हटाने के नाम पर अपना पक्ष सबल बना लिया।

सदाशिवराव भाऊ ने कुंजपुरा के दुर्ग पर अधिकार कर लिया। कुंजपुरा में अब्दाली ने अपने सैनिकों की खाद्य सामग्री एकत्र कर रखी थी। कुंजपुरा की विजय से अब्दाली को मराठों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करनी पड़ी। इस प्रकार अब्दाली और मराठों दोनों की सेना पानीपत के मैदान में पहुँच गयी। नवम्बर, 1760 ई. में दोनों सेनाएँ एक-दूसरे के सामने आ गयीं। परन्तु युद्ध 14 जनवरी, 1761 ई. को प्रारम्भ हुआ।

पानीपत की तीसरी लड़ाई : पानीपत की तीसरी लड़ाई का मुख्य कारण पश्चिमोत्तर भारत में मराठों की शक्ति का विस्तार था। मराठे उत्तर भारत में अपनी सत्ता का विस्तार कर दिल्ली की राजनीति पर नियंत्रण रखना चाहते थे। भारतीय मुसलमान मराठों का सहयोग चाहते थे, परन्तु विदेशी मुसलमान उत्तर भारत की राजनीति में मराठों को निकालना चाहते थे। यही कारण था कि विदेशी मुसलमान अफगानिस्तान के शासक अहमदशाह अब्दाली को भारत पर आक्रमण के लिए प्रोत्साहन और सहयोग देने के लिए तयार थ। अहमदशाह अब्दाली पाँच बार भारत पर आक्रमण कर चुका था। वह पंजाब से मराठों को खदेड़ चुका था और उनके नेता दत्ताजी सिंधिया की हत्या कर घुका था। दत्ताजी की हत्या से अब्दाली और मराठों के बीच युद्ध अनिवार्य हो गया।

मराठों और अब्दाली के बीच युद्ध का दूसरा कारण रघुनाथराव की कूटनीतिक भूल थी। रघुनाथ अटक तक मराठा-साम्राज्य का विस्तार कर चुका था। अटक पर मराठा-ध्वज फहराना आसान था लेकिन पूना से सेना भेजकर अटक पर नियंत्रण रखना अत्यन्त कठिन था। साम्राज्य को सुरक्षित रखना मराठों की क्षमता के वाहर की वात थी।

मराठों में योग्य एवं कूटनीतिज्ञ नेता का अभाव था। मुगल दरवार के वैमनस्य एवं स्वार्थपरता को वे अच्छी तरह नहीं समझ पाये। उत्तर भारत की राजनीति दक्षिण भारत से सर्वथा भिन्न थी। उत्तर भारत पर सत्ता सुरक्षित रखने के लिए मराठों ने भारतीय शक्तियों को अपने अनुकूल करने का कोई प्रयास नहीं किया था। राजदूत-राजा मराठों के व्यवहार से सन्तुष्ट थे। अवध का नवाव शुजाउद्दौला अब्दाली के पक्ष का समर्थन कर रहा था। भरतपुर का जाट-राजा सूरजमल मराठों का विरोध कर रहा था। ऐसी अवस्था में उत्तर भारत की शक्तियों की उपेक्षा कर मराठों ने अपनी स्थिति संकटपूर्ण वना ली थी।

मराठों के बीच स्वयं वैमनस्य था। मराठा सरदारों को सुविधा से एक-दूसरी के विरुद्ध भड़काया जा सकता था। होल्कर और सिंधिया एक-दूसरे की नीति का विरोध करने लगे थे। अतः मराठों द्वारा संगठित रूप से युद्ध की कोई योजना नहीं वनाई गयी थी।

युद्ध की घटनाएँ : 1760 ई. में दत्ताजी सिंधिया की हत्या और होल्कर को दोआव में पराजित कर अब्दाली ने उत्तर भारत में मराठों की स्थिति संकटपूर्ण बना दी। परिस्थिति की गम्भीरता देखते हुए पेशवा ने अपने पुत्र विश्वासराव और भाई सदाशिवराव को एक विशाल सेना के साथ अब्दाली से युद्ध के लिए भेजा। मराठों को कुछ राजपूत सैनिकों का समर्थन रास्ते में मिल गया। मराठों ने कुंजपुरा पर अधिकार कर लिया जहाँ अब्दाली की सेना की खाद्यसामग्री रखी गयी थीं कुंजपुरा की लूट से क्रुद्ध होकर अब्दली दिल्ली की ओर बढ़ा। बागपत नामक स्थान में यमुना नदी पार कर अब्दाली सोनीपत पहुँच गया। इधर सदाशिवराव ने पानीपत से पाँच मील की दूरी पर अपनी सेना ठहरा दी।

कुछ दिनों तक दोनों सेनाएँ एक-दूसरों के विरुद्ध आक्रमण करती रहीं। अब्दाली सदाशिव की तुलना में अच्छी स्थिति में था। अब्दाली को स्थानीय मुसलमान सरदार एवं नवाब का समर्थन प्राप्त था। मराठों को स्थानीय नेताओं का समर्थन प्राप्त नहीं था। सैनिक दृष्टि से अब्दाली की सेना अधिक संगठित और अनुशासित थी। अब्दाली स्वयं एक कुशल सेनाध्यक्ष था। अब्दाली ने अपने भारतीय सैनिकों को अपनी सेना से घेर रखा था ताकि वे अवसर पर धोखा न दे सकें।

दोनों पक्षों के बीच युद्ध 14 जनवरी, 1761 ई. को प्रातः नौ बजे प्रारम्भ हुआ।

बारह बजे तक मराठा मैदान पलड़ा भारी रहा। परन्तु मध्याह्न के बाद मराठों की पराजय के लक्षण दिखाई पड़ने लगे। चार बजे तक मराठा मैदान खाली कर चुके थे। भागते हुए मराठा सैनिक स्वयं खोदी हुई खाइयों में गिरकर मर गये। 30 किलोमीटर तक अब्दाली की सेना ने मराठों का पीछा किया। युद्ध का मैदान लाशों से पट गया। युद्ध में पेशवा का बड़ा पुत्र विश्वासराव, सदाशिवराव तथा मराठा-सरदार जसवन्तराव पँवार, तुकोजी सिंधिया आदि मारे गये। महादेवी सिंधिया घायल होकर भाग गया। युद्ध में भाग लेनेवाले सैनिकों एवं हताहतों की संख्या के सम्बन्ध में निश्चित अनुमान लगाना कठिन है। अब्दाली के सैनिकों की संख्या साठ हजार और मराठा सैनिकों की संख्या पैंतालीस हजार बतायी जाती है। अनुमानतः प्रत्येक मराठा परिवार कोई-न-कोई व्यक्ति युद्ध में अवश्य मारा गया था। मराठा सैनिकों को युद्ध सामग्री और हाथी, घोड़े तथा ऊँट आदि अब्दाली के सैनिकों के हाथ लगे। मराठों के पास विशेष धन पहले भी नहीं था। अतः आपार धन की लूट का प्रश्न पैदा नहीं होता।

मराठों की असफलता के कारण

पानीपत की लड़ाई में मराठों की असफलता के कारण निम्नलिखित थे—

1. मराठों की रणनीति का दोष : मराठे छापामार युद्ध-नीति के [illegible]रे लड़ते आये थे। अब्दाली ने युद्ध में यूरोपीय युद्ध-पद्धति अपनायी। यूरोपीय युद्ध-विधि से मराठे भली-भाँति परिचित नहीं थे। मराठों के बीच यह धारणा काम कर रही थी कि कि छापामार युद्ध-प्रणाली उत्तर भारत के समतल मैदानों के लिए उपयुक्त नहीं है। अतः युद्ध-नीति में परिवर्त्तन न लाकर मराठों ने भयंकर भूल की। उनका सेनापति सदाशिवराव भाऊ मैदानी युद्ध के बदले पहाड़ी प्रदेशों में लड़ने के लिए अधिक अपयुक्त था। मैदानी युद्ध का मराठा सेनापति को बहुत कम ज्ञान था। सुरक्षात्मक नीति के अभाव में मराठों की पराजय हुई।

2. मराठा सेना का दोष : मराठा सैनिक छोटी-छोटी टुकड़ियों में विभक्त रहने पर द्रुत गति से आक्रमण करते रहते थे। मराठा सैनिकों में विभाजन के फलस्वरूप राष्ट्रीय एकता नहीं थी। वे विभिन्न जातियों एवं वर्गों में बँटे हुए थे। मराठा सैनिकों का मनोबल पहले से गिरा हुआ था। मराठा सैनिक कई अवसरों पर अफगानों के द्वारा पराजित हो चुके थे। उनके पास रसद का अभाव था। मराठा सैनिकों के साथ स्त्रियाँ और बच्चे भी रहते थे। अपनी रक्षा के साथ उन्हें स्त्रियों और बच्चों की रक्षा भी करनी पड़ती थी। इसके अतिरिक्त, शस्त्र और संगठन में भी मराठा सैनिक अफगानों की तुलना में निम्न स्तर के थे अब्दाली का तोपखाना उस समय एशिया में सर्वोत्तम माना जाता था। अब्दाली की तोपें हल्की थीं और आसानी से संचालित होती थीं। किन्तु मराठों के पास अत्यन्त विशाल तोपें थीं जिन्हें 200

बैलों के द्वारा खींचा जाता था। द्रुत गति से आक्रमण करना विशाल तोप से सम्भव नहीं था। सैनिक दृष्टि से शत्रुसेना के यातायात पर ध्यान रखने का कोई प्रबन्ध मराठों के पास नहीं था। अतः मराठों की पराजय का मुख्य कारण सैनिक दोष था।

3. योग्य नेतृत्व का अभाव : अहमदशाह अब्दाली कुशल एवं योग्य सेनापति था। वह स्वयं समस्त सेना का संचालन करता था। उसकी तुलना में सदाशिवराव भाऊ योग्य सैनिक अवश्य था, परन्तु स्वभाव से उग्र होने के कारण उसने जाट-राजा सूरजमल और राजपूतों को रुष्ट कर दिया था। भाऊ अपनी शक्ति पर अधिक विश्वास रखता था। वह अहमरखाह अब्दाली को निम्न स्तर का सेनापति समझता था। अतः सैनिक दोष के साथ-साथ मराठों की असफलता का उत्तरदायित्व सदाशिवराव की अयोग्यता और अदूरदर्शिता पर भी था।

4. हिन्दुओं में फूट : विदेशी आक्रमण का सामना करने के लिए हिन्दुओं में आपसी एकता नहीं थी। पानीपत के युद्ध में मराठों को जाटों, राजपूतों और सिखों से विशेष सहायता नहीं मिली। सम्मिलित शक्ति के अभाव में मराठों को पराजित होना पड़ा।

5. मुसलमानों की एकता : मराठा हिन्दू राज्य की स्थापना करना चाहते थे। मराठों के शक्ति-विस्तार से भारत के मुस्लिम राज्यों की चिन्ता स्वाभाविक रूप से बढ़ गयी थी। अतः पानीपत के युद्ध के समय निजाम, रूहेलों और अवध के नवाब ने अब्दाली का पक्ष लिया जिससे उसकी शक्ति बढ़ गयी। तुलनात्मक दृष्टि से मराठों का पक्ष मुसलमानों की अपेक्षा कमजोर था। अतः युद्ध में मराठों की असफलता निश्चित थी।

6. पेशवा की स्वार्थपरता एवं मराठों में मतभेद : पेशवा अत्यन्त स्वार्थी था। वह मराठा-मण्डल की रक्षा की अपेक्षा अपनी रक्षा के लिए अधिक चिन्तित रहता था। मराठा सरदारों एवं सेनापतियों में आपसी फूट थी। पेशवा ने सरदारों एवं सैनिकों के आपसी मतभेद दूर करने का कोई प्रयास नहीं किया।

7. सिंधिया और होल्कर के बीच मतभेद : सिंधिया और होल्कर एक-दूसरे के विरोधी थे। उनका मतभेद मराठों के लिए घातक सिद्ध हुआ। मराठों और राजपूतों के बीच वैमनस्य बढ़ाने में इन दोनों के मतभेद का बड़ा हाथ था।

8. पेशवा की अनुपस्थिति : युद्धस्थल में पेशवा की अनुपस्थिति मराठों की पराजय का कारण बन गयी। पेशवा युद्ध के अवसर पर उपस्थित होकर मराठों के मतभेद को दूर कर सकता था और मराठा सैनिकों का उत्साह बढ़ा सकता था।

9. सुरक्षा सम्बन्धी दोष : मराठों ने अपनी सुरक्षा-रेखा इतनी लम्बी कर रखी थी कि उसका पूना से नियंत्रण सम्भव नहीं था। पूना से उत्तर भारत में युद्ध का संचालन करना अत्यन्त कठिन था। साधन और व्यवस्था के अभाव में मराठों को

पराजित होना पड़ा।

10. अकाल एवं महामारी : मराठा सैनिकों को अकाल एवं महामारी का भी शिकार होना पड़ा। दिल्ली में मराठों के पास पर्याप्त रसद-पानी नहीं था। मराठा सैनिक भूखे रहने लगे थे। भूखे रहकर युद्ध करना कठिन था। मराठों के कैम्प में बीमारी फैल गयी जिससे बहुत-से मराठा सैनिक मर गये।

इस प्रकार कूटनीति की कमी, अदूरदर्शिता, योग्य नेतृत्व का अभाव, आपसी फूट आदि कई कारणों से मराठों को पराजित होना पड़ा।

पानीपत के युद्ध का महत्त्व तथा परिणाम : भारत के निर्णायक युद्धों में पानीपत की तीसरी लड़ाई का विशेष महत्त्व है। मुगल साम्राज्य की शक्ति नष्ट होने के साथ-साथ अखिल भारतीय मराठा साम्राज्य की स्थापना का स्वप्न भी इस युद्ध ने समाप्त कर दिया। मराठों को युद्ध में अपार धन-जन की क्षति उठानी पड़ी। लगभग पचास हजार मराठा सैनिक युद्ध में मारे गये। मराठों की करारी हार हुई और युद्ध के फलस्वरूप उनकी एक पीढ़ी समाप्त हो गयी। युद्ध में अनेक योग्य मराठा सरदारों एवं सेनापतियों की मृत्यु हो गयी। यह युद्ध मराठों की शक्ति का ह्रासबिंदु माना जाता है। पेशवा के अधिकार एवं शक्ति को आघात पहुँचा और पुराना गौरव एवं प्रतिष्ठा प्राप्त करने में पेशवा फिर कभी सफल नहीं हुआ। उत्तर भारत से मराठों ने कोई प्रयास नहीं किया। युद्ध के बाद मराठा संघ आपसी मतभेद का केन्द्र बन गया। सिंधिया, होल्कर, भोंसले और गायकवाड़ स्वतंत्र राज्य स्थापित करने के लिए सक्रिय हो उठे। मराठा संघ छिन्न-भिन्न हो गया। लगभग दस वर्षों तक मराठों की प्रगति का द्वार बन्द रहा और दुर्बल तथा षड्यंत्रकारी मराठा सरदारों का मराठा राजनीति में बोलबाला हो गया। इतिहासकार सरदेसाई के अनुसार, मराठों का पतन 1772 ई. के बाद प्रारम्भ हुआ, परन्तु उसकी पृष्ठभूमि पानीपत के युद्ध में ही तैयार कर दी गयी थी।

युद्ध के दूरगामी परिणाम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थे। मराठों को भारत में अजेय माना जाता था। पानीपत की पराजय के बाद मराठों की शक्ति की पहचान हो गयी। दक्षिण भारत में हैदरअली का उत्थान हुआ तथा पूर्वी भारत में अंगरेजों को भारतीय राजनीति में भाग लेने का अवसर मिल गया। 1761 ई. की पराजय के फलस्वरूप ही बक्सर के युद्ध का निर्णय मराठों के बिना ही हो गया। मराठा समस्त भारत की शक्ति होने का दावा नहीं कर सकते थे। मराठा मुगल साम्राज्य के संरक्षक के रूप में संघर्ष कर रहे थे। वे अब्दाली को भारतीय भूमि से दूर रखना चाहते थे, परन्तु उन्हें हिन्दू शक्तियों का सहयोग नहीं मिल सका। पानीपत का युद्ध मराठों और नजीबुद्दौला के बीच हुआ था। मराठों ने संघर्ष में अकेले भाग लिया और वे पराजित होकर भारत की अन्य बिखरी हुई शक्तियों की तरह रह गये। आपसी फूट और

षड्यंत्र के फलस्वरूप वे विदेशी शक्ति के सम्मुख झुक गये।

बालाजी बाजीराव का मूल्यांकन : पानीपत की पराजय के बाद बालाजी बाजीराव की मृत्यु 23 जून, 1761 ई. को हुई। पेशवा बालाजी बाजीराव का व्यक्तित्व आकर्षक था। वह सफल सैनिक और कुशल कूटनीतिज्ञ था। उसे कला के प्रति असीम प्रेम था। मराठा शक्ति की चरमोन्नति पेशवा बालाजी बाजीराव के समय हुई। निजाम को पराजित कर मराठों ने उसके बहुत-से-प्रदेशों पर अधिकार कर लिया। कर्नाटक पर मराठों की विजय हो चुकी थी और मैसूर के राजा ने उन्हें भारी रकम देना स्वीकार कर लिया था। दक्षिण भारत में मराठों का एकाधिपत्य हो चुका था। मध्य एवं पश्चिमी भारत पर भी गायकवाड़, होल्कर और सिंधिया ने पूर्ण आधिपत्य प्राप्त कर लिया था। उत्तर-पूरब में उड़ीसा मराठा साम्राज्य का एक अंग था तथा बंगाल और बिहार से मराठों द्वारा चौथ वसूल की जाती थी। राजपूत और जाट मराठों की अधीनता स्वीकार कर चुके थे। दिल्ली सम्राट की सुरक्षा का दायित्व मराठों पर आ पड़ा था। अटक तक उत्तर-पश्चिम में मराठों का झण्डा फहराया जा चुका था। कहा जाता है कि "मराठा घोड़ों ने कन्याकुमारी से लेकर हिमालय के झरनों तक अपनी प्यास बुझायी थी।" मराठा शक्ति का विस्तार पेशवा बालाजी बाजीराव के समय अवश्य हुआ, परन्तु उस शक्ति को संगठित करने और स्थायी रूप देने में बालाजी बाजीराव असफल रहा। पेशवा के रहते हुए होल्कर और सिंधिया एक-दूसरे के विरोधी बन गये। मल्हारराव होल्कर और नजीबुद्दौला के बीच साँठ-गाँठ रोकने में पेशवा असमर्थ रहा। मराठा सरदारों को दण्ड देने में भी बालाजी असमर्थ रहा। फूट और षड्यंत्र के फलस्वरूप मराठों की शक्ति गलत दिशा में बढ़ने लगी। पेशवा बालाजी बाजीराव मराठों के बीच एकता लाने में असफल रहा। मराठों के व्यवहार से रापूत और जाट क्षुब्ध हो गये। पानीपत के मैदान में भी पेशवा स्वयं मराठा शक्ति का नेतृत्व नहीं कर पाया। पराजय के बाद मराठा शक्ति को गहरा आघात लगा। अतः समय और परिस्थिति के अनुकूल पेशवा बालाजी बाजीराव मराठों का नेतृत्व करने में असफल साबित हुआ। साम्राज्य-विस्तार तो हुआ, परन्तु शीघ्र वह विघटन का शिकार भी बन गया। साम्राज्य के विघटन का उत्तरादायित्व बालाजी बाजीराव पर भी था।

पेशवा माधवराव नारायण : बालाजी बाजीराव की मृत्यु के बाद माधवराव नारायण पेशवा बना। माधवराव नारायण योग्य व्यक्ति था। पानीपत की पराजय के बाद मराठों की बिखरी हुई शक्ति को माधवराव ने संगठित करने का प्रयास किया। माधवराव का चाचा रघुनाथ पेशवा का विरोधी था। रघुनाथराव ने हैदराबाद के शासक निजाम से पैदगाँव की सन्धि कर मराठों के विरुद्ध युद्ध प्रारम्भ कर दिया। रघुनाथराव और निजाम की सम्मिलित सेना के आक्रमण के फलस्वरूप माधवराव सन्धि करने

के लिए तैयार हो गया और रघुनाथराव को पुनः प्रतिष्ठित कर दिया गया। रघुनाथराव को प्रतिष्ठित करने से अन्य असन्तुष्ट मराठा निजाम से मिल गय। मराठा सरदारों के सहयोग से निजाम ने पूना को लूटा और मराठों ने भी हैदराबाद पर अधिकार कर लिया। 1763 ई. में निजाम पराजित हुआ और माधवराव से सन्धि करने के लिए उसे विवश होना पड़ा। सन्धि के अनुसार निजाम को पेशवा द्वारा कई क्षेत्र लौटा दिये गये। युद्ध के बाद माधवराव ने नाना फड़नवीस को मुख्य सचिव नियुक्त किया और मराठा प्रशासन को संगठित कर उसमें नयी जान डाल दी। माधवराव की तुलना छत्रपति शिवाजी से की जाती है। संगठनकर्ता की दृष्टि से वह मराठों के बीच दूसरा शिवाजी माना जाता है।

माधवराव को मैसूर के शासक हैदरअली से 1764 ई. में युद्ध करना पड़ा। हैदर ने मालाबार से मराठों को निष्कासित कर दिया था। माधवराव की सेना ने दो बार हैदरअली को युद्ध में हराया और बेदनूर में शरण लेने के लिए विवश कर दिया। हैदरअली से माधवराव ने सन्धि की। सन्धि में हैदरअली को बहुत सुविधा दी गयी।

बरार के जानोजी भोंसले ने पेशवा माधवराव के विरुद्ध 1765-66 ई. में बगावत की। पेशवा ने निजाम के साथ मिलकर बरार पर आक्रमण किया। जानोजी को धन देकर पेशवा से सन्धि कर लेनी पड़ी। निजाम के उकसाने पर पेशवा माधवराव ने हैदरअली के क्षेत्र पर आक्रमण किया। माधवराव ने मैसूर राज्य के कई क्षेत्रों पर अधिकार कर लिया। निजाम अंगरेजों का मित्र था और आर्काट पर अधिकार करना चाहता था। हैदरअली मराठों से संघर्ष में पुनः पराजित हुआ। बंगलोर पर मराठों का अधिकार हो गया। 1771 ई. में मराठों से हैदरअली को सन्धि करनी पड़ी। सन्धि के अनुसार मैसूर का कुछ भाग मराठों को देना पड़ा।

1767 ई. में रघुनाथराव ने माधवराव के विरुद्ध पुनः षड्यंत्र रचा। परन्तु माधवराव के द्वारा उसे 1768 ई. में बन्दी बना लिया गया। 1789 ई. में माधवराव ने उत्तर भारत की ओर अपना ध्यान केन्द्रित किया। राजपूताना से मराठों ने कर वसूल किया और भरतपुर के जाटों को पराजित किया। सिंधिया और होल्कर की सेना ने रूहेलखण्ड पर अधिकार कर लिया। शाहआलम द्वितीय ने मराठों के संरक्षण को स्वीकार कर लिया। इस प्रकार पेशवा माधवराव के नेतृत्व में मराठे पुनः सक्रिय होकर भारत के राजनीतिक गगन पर छा गये। परन्तु मराठों के दुर्भाग्य से पेशवा माधवराव की मृत्यु नवम्बर, 1772 ई. में हो गयी। माधवराव मराठा संघ को छिन्न-भिन्न होने से नहीं रोक पाया। माधवराव की मृत्यु के साथ पेशवा की शक्ति निरन्तर घटने लगी। ग्राण्ड डफ ने लिखा है, "पानीपत का युद्ध मराठा साम्राज्य के लिए उतना घातक नहीं सिद्ध हुआ जितना इस श्रेष्ठ पेशवा का असामयिक देहावसान।"

पेशवा नारायणराव (1772-1773 ई.) : माधवराव का भाई नारायणराव

पेशवा के पद पर 1772 ई. में प्रतिष्ठित हुआ। नारायणराव अयोग्य था और रघुनाथ महत्त्वाकांक्षी। रघुनाथराव स्वयं पेशवा बनना चाहता था। अतः एक वर्ष बाद उसने नारायणराव की हत्या करवा दी और स्वयं पेशवा की गद्दी पर बैठ गया। पूना के दरबार में नाना फड़नवीस ने रघुनाथराव के विरुद्ध एक शक्तिशाली दल तैयार कर लिया। नाना फड़नवीस एक अत्यन्त कुशल और दूरदर्शी राजनीतिज्ञ था। नाना फड़नवीस, नारायणराव के अल्पवयस्क पुत्र को पेशवा बनाने में सफल हो गया। रघुनाथराव की आशा पर पानी फिर गया और वह भागकर बम्बई चला गया। रघुनाथराव ने अंगरेजों से सहायता की माँग की। प्रथम आंग्ल-मराठा युद्ध प्रारम्भ हुआ। मराठों की पराजय प्रारम्भ हो गयी। धीरे-धीरे मराठों का सूर्य अस्ताचल की ओर खिसकने लगा और पेशवा की शक्ति समाप्त हो गयी।

प्रथम आंग्ल-मराठा युद्ध : रघुनाथराव पेशवा नारायणराव की हत्या कर पूना से बम्बई भाग गया। पूना स्थित अंगरेज राजदूत मोस्टिन ने मराठों के आन्तरिक विवाद से लाभ उठाने की राय बम्बई सरकार को दी। अंगरेज थाना पर अधिकार कर समस्त सालसेट क्षेत्र पर नियंत्रण रखना चाहते थे। रघुनाथराव द्वारा सहायता की माँग पर बम्बई सरकार ने शीघ्र ही अपनी सहमति दे दी। 7 मार्च, 1775 ई. को रघुनाथराव और बम्बई की सरकार के बीच सूरत की सन्धि हुई।

सूरत की सन्धि : सूरत की सन्धि के अनुसार अंगरेजों ने डेढ़ लाख रुपया मासिक खर्च देने पर रघुनाथराव को 25,000 सैनिकों की सहायता देने का वचन दिया, अमानत के रूप में 6 लाख रुपये का आभूषण अथवा धन अंगरेजों ने जमा करवा लिया। अंगरेजों की सहायता के बदले रघुनाथराव ने भाना, सालसेट और बेसीन तथा सूरत और भड़ौंच की कुछ आय भी देना मंजूर कर लिया। इसके अतिरिक्त, उसे बंगाल और कर्नाटक पर आक्रमण न करने तथा कम्पनी के शत्रुओं का साथ न देने का वचन देना पड़ा। यदि रघुनाथराव और पूना की सरकार के बीच कोई समझौता हुआ तो उसमें अंगरेजों को सम्मिलित करने का वचन भी रघुनाथ को देना पड़ा।

रघुनाथ को सूरत की सन्धि के अनुसार सहायता देने के लिए कर्नल कीटिंग के नेतृत्व में एक सेना 11 मई, 1775 ई. को सूरत भेजी गयी। मराठा-राजनीति में हस्तक्षेप करने के फलस्वरूप प्रथम आंग्ल-मराठा युद्ध प्रारम्भ हुआ। आरस के युद्ध में मराठा सेना पराजित हुई। अंगरेजों की विजय का समाचार सुनकर गायकवाड़ का साहस जाता रहा और उसने भी अंगरेजों से सन्धि कर ली।

सूरत की सन्धि बम्बई सरकार द्वारा की गयी थी। कलकत्ता काउन्सिल ने बम्बई सरकार द्वारा की गयी सन्धि स्वीकार नहीं की। रेगुलेटिंग ऐक्ट के अनुसार बंगाल की सरकार की स्वीकृति आवश्यक थी। वारेन हेस्टिंग्स ने अंगरेजी सेना हटाने

का आदेश दिया। उसने कर्नल उपटन को पूना सरकार से सन्धि-वार्त्ता के लिए भेजा। बहुत विलम्ब के बाद पूना की सरकार के साथ 1776 ई. में पुरन्दर की सन्धि हुई। सूरत की सन्धि रद्द कर दी गयी।

पुरन्दर की सन्धि : पुरन्दर की सन्धि के अनुसार अंगरेजों और मराठों के बीच युद्ध बन्द हो गया। प्रत्येक स्थान पर दोनों पक्ष शान्ति रखने पर सहमत हो गये। सालसेट और भड़ौंच अंगरेजों को दिया गया। रघुनाथ को सहायता देने के क्रम में जो खर्च अंगरेजों का हुआ उसके बदले उन्हें 12 लाख रुपये मिले। रघुनाथराव ने 3 लाख 15 हजार रुपये वार्षिक रकम के रूप में देना स्वीकार कर लिया तथा भविष्य में उसे राजनीति से अलग रहने का वचन देना पड़ा। रघुनाथराव को गुजरात भेज दिया गया।

पुरन्दर की सन्धि नाना फड़नवीस की पहली कूटनीतिक सफलता थी : परन्तु पुरन्दर की सन्धि बम्बई की सरकार ने पसन्द नहीं की। रघुनाथराव को सन्धि से अलग रखा गया था। रघुनाथराव को अलग रखकर सन्धि की शर्त्तों को स्वीकार करने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता था। दूसरी ओर, वारेन हेस्टिंग्स सन्धि के शर्त्त के उल्लंघन के लिए सदैव स्वतंत्र था। सर देसाई के अनुसार, "पुरन्दर की सन्धि एकपक्षीय थी जिसमें मराठों को ही सब कुछ करना था।" पुरन्दर की सन्धि अस्पष्ट, पेचीदा और जल्दबाजी में किया गया समझौता था। इसे 'पैबंद' की संज्ञा दी गयी है तथा इसमें स्थायित्व नाम की कोई चीज नहीं थी। नाना फड़नवीस ने रघुनाथराव को पुनः सरकार के हाथ सौंपने के लिए अंगरेजों पर दबाव डाला। परन्तु कलकत्ता काउन्सिल ने रघुनाथ को पूना सरकार के हाथ सौंपने में असहमति प्रकट की। बम्बई की सरकार रघुनाथराव को संरक्षण देती रही। अतः मराठा राज्य में शान्ति-स्थापना का एक और अवसर निकल गया।

इस बीच अमेरिका में स्वतंत्रता-संग्राम प्रारम्भ हो गया। अंगरेजों के विरुद्ध फ्रांसीसी उपनिवेशवासियों की सहायता कर रहे थे। 1777 ई. में सेंट ल्यूविन नामक फ्रांसीसी प्रतिनिधि पूना पहुँचा। नाना फड़नवीस ने फ्रांसीसी प्रतिनिधी का भव्य स्वागत किया पूना की सरकार ने अंगरेजों को 17 लाख रुपये नहीं दिये तथा फ्रांसीसियों की साँठ-गाँठ से अंगरेजों को पुरन्दर की सन्धि की अहेलना का अवसर मिल गया। बम्बई की सरकार कम्पनी के संचालक मण्डल को पुरन्दर की सन्धि की अवेहलना का अवसर मिल गया। बम्बई की सरकार कम्पनी के संचालक मण्डल को पुरन्दर की सन्धि के विरुद्ध पहले ही पत्र लिख चुकी थी। संचालक मण्डल ने भी पुरन्दर की सन्धि को पसन्द नहीं किया। अतः 2 फरवरी, 1778 ई. को वारेन हेस्टिंस को मराठों के विरुद्ध आक्रमण की नीति अपनानी पड़ी।

तलगाँव का युद्ध : 1778 ई. में तलगाँव के युद्ध में मराठों और अंगरेजी सेना

के बीच मुकाबला हुआ। मराठे नाना फड़नवीस के नेतृत्व में संगठित थे। अंगरेजी सेना का नेतृत्व गोडार्ड कर रहा था। अंगरेजों को तलगाँव के युद्ध में बुरी तरह पराजित होना पड़ा। अंगरेज कर्नल कानंक डर के मारे अपनी तोपें और युद्ध-सामग्री एक तालाब में फेंककर भाग खड़ा हुआ।

वाडगाँव की सन्धि : दिसम्बर, 1778 ई. में बम्बई सरकार ने रघुनाथराव को पेशवा बनाने के उद्देश्य से एक पृथक् सेना भेजी। जनवरी, 1779 ई. में वाडगाँव नामक स्थान पर अंगरेजी सेना को सिंधिया के समक्ष समर्पण करना पड़ा। वाडगाँव की सन्धि के अनुसार, पुरन्दर की सन्धि को समाप्त करने की घोषणा की गयी। अंगरेजों ने रघुनाथराव का साथ छोड़ दिया और बम्बई की सरकार द्वारा जीते हुए सभी प्रदेश मराठों को लौटा दिये। बंगाल से आनेवाली सेना पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया और भड़ौंच की आय का कुछ भाग अंगरेजों ने सिंधिया को देना स्वीकार कर लिया। मराठों को 41,000 रुपये देना अंगरेजों ने स्वीकार कर लिया।

युद्ध का प्रारम्भ : वाडगाँव की सन्धि अंगरेजों के लिए अपमानजनक थी। इसलिए वारेन हेस्टिंग्स ने वाडगाँव की सन्धि को स्वीकार नहीं किया। बम्बई की सरकार ने भी वाडगाँव की सन्धि को मानना नकार दिया। हेस्टिंग्स मराठों से युद्ध की तैयारी में लगा। जनरल गोडार्ड के नेतृत्व में एक सेना बंगाल भेजी गयी। गोडार्ड ने मध्य भारत के रास्ते से 1780 ई. में अहमदाबाद और बेसीन पर अधिकार कर लिया। प्रारम्भिक सफलता से उत्साहित होकर गोडार्ड पूना की ओर बढ़ा। अप्रैल, 1781 ई. में पूना पर गोडार्ड का आक्रमण असफल रहा। गोडार्ड की पराजय के बाद बंगाल से दूसरी सेना कैप्टन पोफम के नेतृव में भेजी गयी, जिसने ग्वालियर पर अधिकार कर लिया। सिपरी के युद्ध में सिंधिया ने पराजित होकर अंगरेजी से सन्धि कर ली।

सालबाई की सन्धि : सिंधिया ने अंगरेजों और पूना के दरबार के बीच मध्यस्थता कर 17 मई, 1782 ई. को सालबाई की सन्धि करायी। सालबाई की सन्धि की मुख्य धाराएँ निम्नलिखित थीं :

1. सालबाई की सन्धि के अनुसार 1779 ई. के बाद अंगरेजों द्वारा जीते हुए सभी प्रदेश मराठों को लौटा दिये गये। सालसेट और एलिफेंटा पर अंगरेजों का अधिकार पूर्ववत बना रहा। रघुनाथराव ने गुजरात में जो क्षेत्र अंगरेजों को दिया था, वे सब मराठों को लौटा दिये गये। गायकवाड़ से अंगरेजों को जो क्षेत्र प्राप्त हुए थे वे भी पेशवा और गायकवाड़ को वापस कर दिये गये तथा भविष्य में गायकवाड़ ने पेशवा के प्रति वफादार रहने का वचन दिया।

2. अंगरेजों ने रघुनाथराव का पक्ष छोड़ दिया और पेशवा की ओर से रघुनाथराव के लिए 25,000 रुपये मासिक पेंशन की व्यवस्था कर दी गयी।

3. यमुना नदी के पश्चिम के क्षेत्र पर सिंधिया का अधिकार हो गया।

4. नारायणराव के पुत्र माधवराव नारायण को अंगरेजों ने पेशवा मान लिया।

5. हैदरअली को अंगरेजों से जीते हुए सभी प्रदेश लौटा देने के लिए कहा गया। यदि हैदरअली ने जीते हुए प्रदेशों को छह महीने के अन्दर नहीं लौटाया तो पेशवा ने अंगरेजों को हैदर के विरुद्ध सहायता देने का वचन दिया।

सालबाई की सन्धि का मूल्यांकन : प्रथम अंगरेज-मराठा युद्ध का अन्त सालबाई की सन्धि से हुआ। युद्ध अथवा सन्धि के फलस्वरूप अंगरेजी साम्राज्य में एक वर्गमील भूमि की भी वृद्धि नहीं हुई। युद्ध में अंगरेजों का जो धन खर्च हुआ उसके फलस्वरूप कम्पनी की आर्थिक कठिनाई बढ़ गयी। मराठा-शक्ति के दमन का उद्देश्य भी सफलन हीं हुआ। लेकिन कीन, विंसेंट स्मिथ और डाडवेल जैसे अंगरेज इतिहासकारों ने सालबाई की सन्धि को "भारतीय इतिहास में मोड़ लानेवाली घटना" की संज्ञा दी है। अंगरेजी प्रभुत्व की स्थापना तथा इंगलैण्ड को नियंत्रित सत्ता वनाने में सालवई की सन्धि का बहुत बड़ा योगदान था। स्वयं वारेन हेस्टिंग्स ने सालबाई की सन्धि को "आपत्ति-काल की सफल शान्ति-वार्त्ता" माना है।

सालबाई की सन्धि अंगरेजों की असफलता का स्पष्ट प्रमाण थी। मराठों से जीते हुए सभी प्रदेश अंगरेजों को वापस कर देने पड़े। इस सन्धि ने पेशवा की स्थिति सुदृढ़ कर दी और महादजी सिंधिया की कुशल कूटनीति विजय का एक अन्यतम उदाहरण सिद्ध हुई। सन्धि के माध्यम से सिंधिया ने हैदरअली को भी मराठों के प्रभुत्व में ला दिया और अंगरेजों का गुजरात तक बढ़ने का मार्ग अवरुद्ध कर दिया। मुगल बादशाह शाहआलम ने पेशवा को 'वकीले-मुतलक' नियुक्त कर लिया तथा दिल्ली की राजनीति में हस्तक्षेप न करने का अंगरेजों को वचन दिया। सन्धि के बाद लगभग बीस वर्षों तक मराठों और अंगरेजों के बीच शान्ति बनी रही। इस बीच टीपू, फ्रांसीसी, निजाम और अवध के नवाब के साथ अंगरेज लड़ते रहे। डाडवेल का विचार है कि "इसने निर्विवाद रूप से अंगरेजों के प्रभुत्व को भारतीय राजनीति में स्थापित किया और इसके फलस्वरूप अंगरेजी सत्ता 1818 ई. के बाद भारत की सर्वोच्च सत्ता बन गयी।" किन्तु डाडवेल का यह विचार पूर्णतः स्वीकार नहीं किया जा सकता।

सालबाई की सन्धि से मराठों को सफलता मिली परन्तु मराठा-संघ की दुर्वलता भी स्पष्ट हो गयी। मराठा-संघ के दो सदस्य भोंसले और गायकवाड़ आर्थिक दृष्टि से दयनीय बन चुके थे। उन्होंने अंगरेजों की सहायता स्वीकार कर ली। मराठा सरदार आपस में बँटे हुए थे। मराठों के सैन्य-संचालन-दोष से अंगरेज परिचित हो गये। मराठों की फूट और सैनिक दुर्बलता का लाभ उठाकर आगे चलकर अंगरेज युद्ध में विजयी हुए।

द्वितीय आंग्ल-मराठा युद्ध : अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में मराठा

साम्राज्य की आन्तरिक एकता छिन्न-भिन्न हो गयी थी और विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्ति प्रवल हो उठी थी। आन्तरिक फूट और सरदारों की पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता के कारण समस्त मराठा राष्ट्र षड्यंत्र तथा कूटनीति का केन्द्र वन चुका था। पेशवा, सिंधिया, भोंसले, होल्कर, गायकवाड़ सभी मराठा सरदारों ने अलग-अलग राज्य स्थापित कर लिया था। केन्द्रीय शक्ति का प्रभुत्व वे नाममात्र को स्वीकार करते थे। दुर्भाग्यवश मराठों के सब योग्य नेता भी चल वसे और उनकी जगह पेशवा बाजीराव द्वितीय, दौलतराव सिंधिया और यशवंतराव होल्कर जैसे स्वार्थी और अदूरदर्शी मराठा-संघ के कर्णधार थे। सिंधिया और होल्कर एक-दूसरे के कट्टर शत्रु थे। पेशवा बाजीराव द्वितीय दुर्वल और षड्यंत्रकारी था। वह मराठों के नेतृत्व के लिए सर्वथा अयोग्य था। ऐसी स्थिति में मराठे अंगरेजों के विरुद्ध कोई संगठित कदम उठाने में असमर्थ थे।

जव मराठा-संघ ऐसी ही बुरी परिस्थिति से गुजर रहा था, तव लॉर्ड वेलेजली जैसे साम्राज्यवादी कम्पनी का गर्वनर-जनरल वनकर आया और आते ही उसने साम्राज्यवाद का चक्र चलाना शुरू किया। निजाम ओर मैसूर के बाद वेलेजी का ध्यान मराठों की ओर गया। मराठों की संगठित शक्ति अंगरेजों के साम्राज्यवादी विस्तार में बाधा उपस्थित कर सकती थी। जब तक नाना फड़नवीस जीवित रहा, वह मराठों का पारस्परिक कलह और प्रतिस्पर्धा रोकने में लगा रहा। अंगरेजों की भी उसके सामने एक न चली। वेलेजली ने कई बार मराठों को सहायक सन्धि मानने के लिए कहा किन्तु उसे कोई उत्तर न मिला। शीघ्र ही अंगरेजों को मराठों की राजनीति में हस्तक्षेप का मौका मिला। 1800, ई. में नाना फड़नवीस की मृत्यु हो गयी और उसके साथ ही मराठा सरकार की बुद्धिमानी भी चली गई और संयम भी चला गया। नाना फड़नवीस की मृत्यु के साथ ही मराठों को एक सूत्र में बाँधने के अन्तिम प्रयास ने भी दम तोड़ दिया। उस समय तक प्रायः सभी योग्य मराठा सरदारों की मृत्यु हो चुकी थी। अव पूना दरबार षड्यंत्रों का केन्द्र बन गया। दौलतराव सिंधिया और यशवंतराव होल्कर पेशवा बाजीराव द्वितीय को अपने पक्ष में लाने का प्रयास करने लगे। पेशवा ने सिंधिया का समर्थन किया, लेकिन होल्कर इसे बरदाश्त नहीं कर सकता था। होल्कर ने सिंधिया और पेशवा की संयुक्त सेना को पूना के निकट पराजित किया। पूना पर होल्कर का अधिकार हो गया और पेशवा ने बेसीन में शरण ली। दिसम्वर, 1802 ई. में पेशवा बाजीराव द्वितीय ने सहायक सन्धि स्वीकार कर ली। पेशवा द्वारा सहायक सन्धि स्वीकार करना मराठों के लिए घातक सिद्ध हुआ और उनके पतन का द्वार खुल गया। यह समझौता बेसीन की सन्धि के नाम से जाना जाता है। द्वितीय आंग्ल-मराठा युद्ध का मुख्य कारण मराठों का आन्तरिक संघर्ष था जिससे अंगरेजों को मराठों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप का मौका मिला।

बेसीन की सन्धि की शर्तें : इस सन्धि के अनुसार दोनों पक्षों ने संकट के समय एक-दूसरे की सहायता करने का वचन दिया। पेशवा बाजीराव को अंगरेजों ने 6000 सैनिक तथा तोपखाना दिया और बदले में पेशवा ने 26 लाख रुपये आयवाले कुछ क्षेत्र अंगरेजों को दे दिए।। पेशवा ने किसी अन्य यूरोपीय को अपनी सेवा में नहीं रखने का वचन दिये। उसने अंगरेजों की राय के बिना किसी अन्य राज्य से युद्ध, सन्धि तथा पत्र-व्यवहार नहीं करना स्वीकार किया। सूरत पर पेशवा ने अपना दावा छोड़ दिया। पेशवा ने संरक्षण के बदले अपनी स्वतंत्रता बेच दी। मई, 1803 ई. में पेशवा बाजीराव ने अंगरेजी सेना की सहायता से पुनः गद्दी प्राप्त कर ली। होल्कर मालवा चला गया।

सन्धि का महत्त्व : बेसीन की सन्धि भारतीय इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण घटना है। इसके द्वारा पेशवा ने मराठों का सम्मान और स्वतंत्रता अंगरेजों के हाथ बेच दी। पेशवा मराठा-संघ का प्रधान था। अतः इस सन्धि से सम्पूर्ण महाराष्ट्र को गहरा धक्का लगा। यह भारत के भाग्य की ही विडम्बना थी कि जहाँ मराठों से अंगरेजों को विनाश की आशा की जाती थी वहाँ उनका प्रधान स्वयं अंगरेजों के संरक्षण में चला गया। इतना ही नहीं, सिंधिया ने बेसीन की सन्धि स्वीकार कर ली। मराठों के स्वाभिमान लिए यह अत्यन्त अपमानजनक बात थी।

बेसीन की सन्धि का इस दृष्टि से भी विशेष महत्त्व है कि इसके फलस्वरूप अंगरेजों को पश्चिमी भारत में अपना पैर जमाने का मौका मिला। साथ ही, अंगरेजों के दायित्व में भी वृद्धि हुई। डीन हटन के अनुसार, "वस्तुतः यह एक ऐसा कदम था जिसने पश्चिमी भारत में अंगरेजी राज्य के आधार को एकदम बदल दिया। इसने क्षणमात्र में अंगरेजों की जिम्मेदारियाँ तिगुनी बढ़ा दीं।" रॉबर्ट्स का मत है कि बेसीन की सन्धि ने कम्पनी को दक्षिण की सर्वोच्चता प्रदान की। ओवन का विचार है कि इस सन्धि के द्वारा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से कम्पनी को भारत का साम्राज्य प्राप्त हो गया।

अंगरेज इतिहासकारों ने बेसीन की सन्धि का महत्त्व बढ़ा-चढ़ाकर कहा है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह सन्धि अंगरेजों के लिए अत्यन्त लाभकारी थी, फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि इस सन्धि ने अंगरेजों को दक्षिण अथवा भारत की सर्वोच्च सत्ता प्रदान कर दी। निःसन्देह पेशवा के द्वारा सहायक सन्धि को स्वीकार लेने से अंगरेजों के सम्मान और प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई थी, परन्तु भारत की सर्वोच्च सत्ता प्राप्त करने के लिए इतना ही पर्याप्त नहीं था। अपनी शक्ति तथा सत्ता को चिरस्थायी बनाने के लिए अभी अंगरेजों को बहुत-कुछ करना था। बेसीन की सन्धि के बाद जो युद्ध हुए उन्हीं में अंगरेजों की सफलता ने अंगरेज कम्पनी की स्थिति को सर्वोच्च बनाया। अगर उन युद्धों में अंगरेज असफल होते तो सम्भवतः बेसीन

की सन्धि अत्यन्त दुर्भाग्यपुर्ण सिद्ध होती। इस सन्धि के फलस्वरूप अंगरेजों को कई तरह के झमेलों में फँसना पड़ा। स्वयं वेलेजली का अनुमान था कि मराठों से युद्ध अवश्य होगा और बेसीन की सन्धि ही काफी नहीं होगी। क्योंकि यह सन्धि शून्य के बराबर है। उसका अनुमान सत्य हुआ और मराठों से युद्ध हो ही गया।

युद्ध का आरम्भ : मराठा सरदार बेसीन की अपमानजनक सन्धि स्वीकार करने को तैयार नहीं थे। इसे वे अपनी स्वतंत्रता का अपहरण समझते थे। स्वयं पेशवा भी इस सन्धि से असन्तुष्ट था। उसने सभी मराठा सरदारों से अंगरेजों के विरुद्ध पत्र-व्यवहार आरम्भ कर दिया। दौलतराव सिंधिया और रघुजी भोंसले उससे सहमत थे। पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता होते हुए भी अभी मराठों में आत्मगौरव और राष्ट्रीय स्वतंत्रता का भाव जीवित था। उन्होंने पारस्परिक द्वेषभाव भूलकर एक संयुक्त संघ बनाने की चेष्टा की और अंगरेजों से लोहा लेने की ठानी। दौलतराव सिंधिया और रघुजी भोंसले ने यशवंतराव होल्कर को अपने पक्ष में मिलाने की चेष्टा की, किन्तु इस राष्ट्रीय संकट के समय भी मराठा सरदार मिलकर काम नहीं कर सके। होल्कर अनुकूल परिस्थिति की प्रतीक्षा में मालवा चला गया और गायकवाड़ ने इस युद्ध से अपने को अलग ही रखा।

लार्ड वेलेजली मराठों के बीच फैले हुए विखराव का लाभ उठाना चाहता था। होल्कर, सिंधिया और भोंसले को अपने पक्ष में लाने के लिए उसने मराठा सरदारों को एक-दूसरे के विरुद्ध भड़काने की पूरी चेष्टा की। पेशवा बाजीराव वेलेजली के हाथ समस्त राजकाज सौंपकर नाच, गाना तथा विलासिता में व्यस्त रहने लगा। आर्थर वेलेजली ने सिंधिया और भोंसले को क्रमशः ग्वालियर और नागपुर लौट जाने को कहा, क्योंकि उनकी उपस्थिति से निजाम के क्षेत्र पर आक्रमण की आशंका बढ़ जाती। सिंधिया और भोंसले अपने क्षेत्र में थे तथा निजाम पर आक्रमण की कोई योजना नहीं थी। वेलेजली निजाम, अवध तथा मैसूर से सहायता लेकर युद्ध की तैयारी कर रहा था। सिंधिया और भोंसले ने यह शर्त्त रखी कि यदि आर्थर वेलेजली श्रीरंगपट्टम चला जाए तो वे अपने क्षेत्र में चले जाएँगे। परन्तु वेलेजली अगस्त, 1803 ई. में युद्ध की घोषणा कर दी। अंगरेजों ने उत्तरी तथा दक्षिणी भारत में युद्ध की योजना बनायी। दक्षिणी भारत में युद्ध का संचालन आर्थर वेलेजली कर रहा था और उत्तर भारत में जनरल लेक। इसके अतिरिक्त, अंगरेजों ने गुजरात, बुन्देलखण्ड और उड़ीसा में भी युद्ध जारी रखने की योजना बनायी। उनका मुख्य उदेश्य था कि मराठा सरदारों को आपस में न मिलने देकर अलग-अलग पराजित किया जाए। इसके विपरीत, मराठों की ओर से युद्ध के सम्बन्ध में निश्चित योजना, कर्यक्रम और अपनी सेना को संयुक्त करने का कुछ भी प्रयास न था। फिर मराठों ने अपनी युद्ध-पद्धति छोड़कर यूरोपीय युद्ध-पद्धति अपनायी जो उनकी महान भूल थी। इन

कारणों से युद्ध में मराठों की शीघ्र पराजय हुई।

सर्वप्रथम आर्थर वेलेजली ने अहमदनगर के दुर्ग पर आक्रमण किया जहाँ सिंधिया की सेना एवं युद्ध की सामग्री एकत्र थी। सिंधिया ने अपनी सेना को यूरोपीय पद्धति पर संगठित किया था। उसके सैनिक छापामार-युद्धनीति छोड़कर यूरोपीय रणनीति के सहारे युद्ध में उतर आये। परन्तु सिंधिया में पक्ष में यूरोपीय अधिकारी रिश्वत लेकर ऐन मौके पर अंगरेजों से मिल गये। फलतः अहमदनगर के दुर्ग पर अंगरेजों का अधिकार हो गया।

पराजय के बाद सिंधिया और भोंसले की सेना असई नामक स्थान पर एकत्र हुई। वेतन नहीं मिलने के कारण सिंधिया के सैनिकों में असन्तोष व्याप्त था। अतः सम्मिलित सेना असई के मैदान में अंगरेजों द्वारा पराजित हुई। अलीगढ़ के दुर्ग पर अंगरेजों का आक्रमण हुआ। दुर्ग का नायक सात लाख रुपया लेकर अंगरेजों के पक्ष में मिल गया। सिंधिया के फ्रांसीसी और यूरोपीय अधिकारी अंगरेजी सेना से मिल गये।

उत्तर भारत में दौलतराव सिंधिया की सेना का सर्वोच्च अधिकारी पेरन था। दौलतराव को मराठा सरदारों ने पेरन को हटाने की सलाह दी थी। परन्तु दौलतराव ने मराठा सरदारों की बात पर ध्यान नहीं दिया। पेरन के पास अलीगढ़ और आगरा के दुर्ग में लगभग, 45,000 प्रशिक्षित सैनिक तथा तोपखाना थे। वह अंगरेजों से अच्छी तरह युद्ध कर सकता था। परन्तु पेरन ने सिंधिया को धोखा दे दिया। वह शान्तिपूर्वक अलीगढ़ अंगरेजों को सौंपकर फ्रांस चला गया। आगरा और दिल्ली पर अंगरेजों का अधिकार धोखेबाजी के कारण ही हुआ। जनरल लेक ने दिल्ली और आगरा के बाद मथुरा पर अधिकार कर लिया। बादशाह शाहआलम द्वितीय ने सहायक सन्धि स्वीकार कर ली। भारत के जाट-राजा ने भी अंगरेजों से सन्धि कर ली। अंगरेजों की सफलता से सारा भारत विस्मित हो गया। नवम्बर, 1803 ई. में लासवारी के युद्ध में सिंधिया पराजित हुआ जिसके फलस्वरूप चम्बल नदी के दक्षिण का सारा क्षेत्र अंगरेजों के अधिकार में आ गया। सिंधिया की पराजय से हतोत्साहित होकर भोंसले ने 17 दिसम्बर, 1803 ई. को अंगरेजों के साथ देवगाँव की सन्धि स्वीकार कर ली।

देवगाँव की सन्धि की शर्तें : देवगाँव की सन्धि के अनुसार भोंसले ने कटक, बालासोर और वार्दा नदी के पश्चिम का सारा क्षेत्र अंगरेजों को दे दिया। उसने नागपुर में एक अंगरेज रेजिडेण्ट रखना स्वीकार कर लिया। साथ ही उसने निजाम के साथ झगड़े का फैसला अंगरेजों के द्वारा करवाना स्वीकार कर लिया और किसी यूरोपीय जाति के व्यक्ति को अपनी सेवा में न रखने का वचन दिया। उसने बेसीन की सन्धि को भी स्वीकार कर लिया।

सुर्जी अर्जुनगाँव की सन्धि : भोंसले के बाद 30 दिसम्बर, 1803 ई. को सिंधिया ने सुर्जी अर्जुनगाँव नामक स्थान पर अंगरेजों से सन्धि कर ली। इसके अनुसार गंगा और यमुना के बीच का भू-भाग, जयपुर, जोधपुर तथा गोहद के उत्तर के सभी क्षेत्र अंगरेजों को मिले। इनके अतिरिक्त, पश्चिम में भड़ौच, अहमदनगर और अजन्ता की पहाड़ियों के दक्षिण के सभी क्षेत्र अंगरेजों को प्राप्त हुए। मुगल बादशाह शाहआलम, पेशवा तथा निजाम पर से सिंधिया का नियंत्रण समाप्त हो गया। अन्य राजाओं की तरह अब सिंधिया के दरबार में भी अंगरेज रेजिडेण्ट रहने लगा। सिंधिया बिना अंगरेजों की अनुमति के किसी यूरोपियन को अपने यहाँ नहीं रख सकता था। इस सन्धि के बाद 27 फरवरी, 1804 ई. को सिंधिया ने भी सहायक सन्धि स्वीकार कर ली। इस प्रकार सिंधिया और भोंसले को पराजित कर अंगरेजों ने विशाल भू-भाग पर अधिकार कर लिया। मराठों के पतन के लक्षण स्पष्ट होने लगे। अंगरेजों को भारत की सीमा से बाहर करने की शक्ति मराठा संघ में नहीं रही।

द्वितीय आंग्ल-मराठा युद्ध का महत्त्व : द्वितीय आंग्ल-मराठा युद्ध भारतीय इतिहस का एक महत्त्वपूर्ण विषय है। इसने निर्णय दिया कि भारत से अंगरेजों को खदेड़ने में मराठा संघ असमर्थ था। मराठा संघ के दो प्रमुख सदस्य-सिंधिया और भोंसले पछाड़ खाये हुए सिंह साबित हुए। इस युद्ध ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि मराठों का विनाश निश्चित है। मराठों के बहुत बड़े भू-भाग पर कम्पनी का अधिकार हो गया। महाराष्ट्र से फ्रांसीसियों का प्रभाव मिट गया। पुनः अंगरेजों की सहायक सेनाएँ महाराष्ट्र की सीमा पर तैनात कर दी गयीं।

होल्कर से युद्ध : वेलेजली को आशा थी कि इन सन्धियों से कम्पनी-राज्य में शान्ति की स्थापना होगी और उन्नति तथा सुरक्षा का प्रबन्ध हो सकेगा। किन्तु उसकी वह आशा व्यर्थ साबित हुई, क्योंकि मराठों से संघर्ष पूर्णतः समाप्त नहीं हुआ था। शीघ्र ही लड़ाई शुरू हो गयी। इस बार होल्कर, जो अभी तक इस युद्ध में तटस्थ था, आगे बढ़ा। वह मराठों की शक्ति संगठित कर रहा था। उसने अंगरेजों से कोई सन्धि नहीं की थी। उसने जयपुर पर आक्रमण किया। जयपुर अंगरेजों का मित्र-राज्य था। अतः होल्कर के विरुद्ध युद्ध का बहाना अंगरेजों को मिल गया।

अप्रैल, 1804 ई. में अंगरेजों से प्रारम्भिक युद्ध में होल्कर को सफलता अवश्य मिली। लेकिन दिल्ली और डीग के युद्ध में होल्कर पराजित हुआ। होल्कर के मित्र भरतपुर के जाट-राजा को भी अंगरेजों ने पराजित कर सन्धि के लिए विवश किया। फर्रुखाबाद के युद्ध में पराजित होने पर होल्कर ने भरतपुर के दुर्ग में शरण ली। अंगरेजी सेना ने चार बार भरतपुर के दुर्ग पर आक्रमण किया, परन्तु जनरल लेक भरतपुर के दुर्ग पर कब्जा करने में असफल ही रहा। भरतपुर के जाट-राजा ने अंगरेजों से सन्धि कर ली। ऐसी अवस्था में होल्कर अकेला पड़ गया। इसी समय वेलेजली

को इंगलैण्ड वापस बुला लिया गया।

वेलेजली की मराठा नीति सफल रही। उसने मराठा शक्ति को तोड़कर अंगरेज कम्पनी को भारत की सर्वश्रेष्ठ शक्ति बनाने का प्रयास किया था। मराठों की शक्ति यद्यपि समाप्त नहीं हुई थी परन्तु अत्यधिक दुर्बल अवश्य हो गयी थी। यदि वेलेजली को थोड़ा समय और मिलता तो सम्भवतः वह मराठा शक्ति को समाप्त ही कर देता। मराठों से युद्ध के कारण कम्पनी-साम्राज्य का विस्तार हुआ। कम्पनी भारत की सर्वश्रेष्ठ शक्ति हो गयी। होल्कर को अन्तिम रूप से पराजित करने का काम शेष था। अतः कम्पनी को मराठों से एक और युद्ध करना पड़ा।

तृतीय आंग्ल-मराठा युद्ध (1817-1818 ई.) : मराठों की शक्ति में उत्तरोत्तर ह्रास हो रहा था। आपसी मतभेद और पराजय के बावजूद मराठा सरदार अपनी शक्ति को संगठित करने का कोई प्रयास नहीं कर रहे थे। स्वार्थपरता के कारण मराठों का आन्तरिक शासन एवं सैनिक शक्ति लड़खड़ा गयी थी। वेलेजली ने सहायक सन्धि के माध्यम से मराठों की शक्ति छिन्न-भिन्न कर दी और उन्हें अंगरेजों का संरक्षण स्वीकार करने पर विवश कर दिया था। परन्तु वेलेजली के बाद तटस्थता और अहस्तक्षेप की नीति के फलस्वरूप मराठों को अपनी शक्ति संगठित करने का अवसर मिल गया। अंगरेजों से असन्तुष्ट पेशवा बाजीराव द्वितीय मराठा सरदारों को अंगरेजों के विरुद्ध संगठित करने के लिए प्रयत्नशील था। यशवंतराव होल्कर की मृत्यु पागलपन की स्थिति में हुई थी और उसके जीवनकाल में ही शासन-सत्ता उसकी पत्नी तुलसीबाई और पठान सरदार अमीर खाँ के हाथों में चली गयी थी, क्योंकि उसका लड़का मल्हारराव द्वितीय उस समय तक नाबालिग था। इन व्यक्तियों ने शासन-व्यवस्था को अराजकता की स्थिति में पहुँचा दिया था। दौलतराव सिंधिया की स्थिति शोचनीय थी। आर्थाभाव के कारण सैनिकों में असन्तोष था और राज्य में आरजकता फैल चुकी थी। रघुजी भोंसले द्वितीय की हालत भी सन्तोषजनक नहीं थी। पिन्डारियों और पठानों के आक्रमण के कारण उसके राज्य में भी अशान्ति फैली हुई थी। इतिहासकार प्रिंसेप ने उस समय की राजनीतिक अवस्था का वर्णन इन शब्दों में किया है, ''भारत में इससे पहले इस प्राकर की दुःखद स्थिति कभी नहीं देखी गयी। देशी राज्यों में अराजकता की स्थिति थी, समाज विशृंखल होता जा रहा था, जनता स्वेच्छाचारी राजाओं की दमन-नीति कर-भार से कराह रही थी, देश में लुटेरे जहाँ-तहाँ लूट-पाट मचा रहे थे, सशस्त्र सेनाएँ इस लूट में शामिल थीं, सरकार नाम की कोई वस्तु नहीं रह गयी थी, सर्वत्र दमन और आतंक का साम्राज्य था।'' गायकवाड़ अंगरेजों का मित्र था। ऐसी स्थिति में मराठे अंगरेजों का मुकाबला करने में असमर्थ थे। अंगरेजों को भी उनसे भय का कोई कारण नहीं था। लेकिन मराठा सरदार अपनी स्थिति से असन्तुष्ट थे और वे अंगरेजों को अपना मुख्य शत्रु मानते थे। एक बार

वे अंगरेजों से मुठभेड़ के लिए अवसर की टोह में थे।

मराठा सरदार अंगरेजों से मुठभेड़ की स्थिति में नहीं थे और अंगरेजों से ऊपर मैत्री भाव दिखाते हुए मन में उनसे घृणा करते थे। पेशवा बाजीराव द्वितीय भी इसी श्रेणी में था। पेशवा के दरबार में त्र्यम्बकजी दाँगलिया का प्रभाव सबसे अधिक था। त्र्यम्बकजी अंगरेजों का शत्रु था। पेशवा बाजीराव ने त्र्यम्बकजी के कहने पर भोंसले, सिंधिया और होल्कर से अंगरेजों के विरुद्ध गुप्त सन्धि का प्रस्ताव अपने प्रतिनिधि द्वारा भेजा। पेशवा बाजीराव ने अंगरेजों के मित्र गायकवाड़ से अहमदाबाद देने की माँग की। गायकवाड़ का दूत गंगाधर शास्त्री वार्ता के लिए पूना पहुँचा, जहाँ धोखे से उसकी हत्या कर दी गयी। अंगरेजी रेजिडेण्ड ने त्र्यम्बकजी को हत्या के आरोप में बन्दी बना लिया, परन्तु त्र्यम्बकजी थाना की कैद से भाग निकला। उसे भगाने में अंगरेज रेजीडेण्ट एलफिंस्टन के अनुसार बाजीराव द्वितीय का हाथ था। इस प्रकार पेशवा बाजीराव द्वितीय और अंगरेजों के बीच शत्रुता बढ़ गयी।

पेशवा बाजीराव द्वितीय की अंगरेज-विरोधी नीति स्पष्ट होती जा रही थी। पेशवा मराठा सरदारों का संघ बनाकर तथा पिन्डारियों और पठानों की सैनिक सहायता प्राप्त कर अंगरेजों के विरुद्ध संघर्ष की तैयारी करने लगा। लॉर्ड हेस्टिंग्स ने सतर्कता से काम लिया। उसने बाजीराव द्वितीय से 13 जून, 1817 ई. को पूना की सन्धि की। इस सन्धि के अनुसार पेशवा ने त्र्यम्बकजी को पकड़कर अंगरेजों को सौंपने का वादा किया। उसने मराठा संघ का नेतृत्व छोड़ दिया। उसने यह भी वचन दिया कि वह बिना रेजिडेण्ट की स्वीकृति के विदेशी व्यक्तियों से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखेगा। गायकवाड़ से की गयी माँग को घटाकर चार लाख रुपये कर दिया गया और भविष्य में अतिरिक्त रकम की माँग नहीं करने का आश्वासन पेशवा को देना पड़ा। कोंकण और कुछ अन्य क्षेत्र पेशवा ने अंगरेजों को दिये।

गायकवाड़ से अंगरेजों की एक सन्धि 6 नवम्बर, 1817 ई. को हुई। सन्धि के अनुसार, गायकवाड़ को अपनी सेना में कटौती करनी पड़ी और सहायक सेना की संख्या में वृद्धि हुई। सहायक सेना के व्यय के लिए गायकवाड़ ने अपने कुछ जिले अंगरेजों को सौंप दिये। इस प्रकार गायकवाड़ अंगरेजों की सहायता पर आश्रित हो गया।

नागपुर के भोंसला राज्य में भी अंगरेजों को हस्तक्षेप का शीघ्र ही मौका मिला। 22 मार्च, 1816 ई. को भोंसले की मृत्यु हो गयी। उसका पुत्र परसोजी नाबालिग था। रघुजी की विधवा बुकाबाई स्वयं संरक्षिका बनना चाहती थी। परन्तु रघुजी का चचेरा भाई अप्पा साहब संरक्षक बनना चाहता था। गद्दी पर नियंत्रण के प्रश्न पर अंगरेजों को हस्तक्षेप का अवसर मिल गया। अंगरेजों के हस्तक्षेप से अप्पा को संरक्षक परिषद में सम्मिलित किया गया। भोंसले के दरबार के आन्तरिक मतभेद से अंगरेजों

ने लाभ उठाया और रेजिडेण्ट जेनकिन्स अप्पा साहब से सन्धि करने में सफल हुआ। सन्धि से नागपुर की स्वतंत्रता समाप्त हो गयी। नागपुर की सन्धि से मराठा संघ को आघात पहुँचा और अंगरेजों की रक्षात्मक शक्ति में वृद्धि हुई।

भोंसले की तरह दौलतराव सिंधिया से भी अंगरेजों ने ग्वालियर की सन्धि 5 नवम्बर, 1817 ई. को की। सन्धि के अनुसार, सिंधिया ने पिन्डारियों के विरुद्ध अंगरेजों को सहायता का वचन दिया और चम्बल नदी के बायें तट के सभी क्षेत्र (उदयपुर, जोधपुर, कोटा, बूँदी आदि) से अपना अधिकार वापस ले लिया। सिंधिया द्वारा सहायक सन्धि पर हस्ताक्षर करवाने के साथ ही तृतीय आंग्ल-मराठा युद्ध प्रारम्भ हुआ। असन्तुष्ट मराठा सरदार विद्रोह पर उतर आये।

तृतीय आंग्ल-मराठा युद्ध के आरम्भ होने से पहले ही अंगरेजों ने कूटनीति और दबाव द्वारा अपनी स्थिति मजबूत कर ली थी। पूना की सन्धि ने पेशवा बाजीराव द्वितीय को दुर्बल बना दिया था। गायकवाड़ को इतना कमजोर बना दिया गया था कि वह अन्य मराठा सरदारों की सहायता करने में असमर्थ था। नागपुर की सन्धि द्वारा भोंसले के दरबार की स्वतंत्रता समाप्त कर दी गयी थी। ग्वालियर की सन्धि द्वारा सिंधिया को राजपूत राज्यों से सम्बद्ध अपने अधिकार छोड़ने पड़े और उसे पिन्डारियों के विरुद्ध अंगरेजों को सहायता का वचन दिया। इस प्रकार अंगरेज मराठों से युद्ध आरम्भ होने के पहले ही आधा युद्ध जीत चुके थे।

युद्ध का आरम्भ : मराठे अपमान की आग में जल रहे थे। वे अपमानजनक सन्धियों से छुटकारा चाहते थे। वे विद्रोह करने को तैयार थे। तृतीय आंग्ल-मराठा युद्ध पेशवा बाजीराव द्वितीय से प्रारम्भ हुआ। पेशवा ने 5 नवम्बर, 1817 ई. को किरकी में स्थित रेजीडेंसी पर आक्रमण कर दिया। किरकी के कार्यालय में आग लगा दी गयी। पेशवा बाजीराव द्वितीय युद्ध में पराजित होकर पीछे लौट गया। पेशवा के अतिरिक्त अप्पा साहब भोंसले ने नागपुर में तथा मल्हारराव होल्कर ने इन्दौर में अंगरेजों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की। अप्पा साहब को सीताबल्दी के युद्ध में और मल्हारराव को महीदपुर के युद्ध में अंगरेजों ने पराजित किया। पराजित अप्पा साहब भागकर जोधपुर चला गया। मल्हारराव होल्कर को अंगरेजों से 6 जनवरी, 1818 ई.. को मन्दसौर की सन्धि करनी पड़ी। इसके अनुसार, मल्हारराव होल्कर को अपनी राजधानी इन्दौर में एक रेजिडेण्ट रखना पड़ा, उसे सहायक सेना का व्यय देना पड़ा तथा विदेश नीति पर अंगरेजों का नियंत्रण स्वीकार करना पड़ा अमीर खाँ पठान को भूमि पर से अपना पूरा अधिकार छोड़ना पड़ा तथा कोटा, बूँदी एवं सतपुरा की पहाड़ियों तथा उसके दक्षिण के सभी राज्यों से अपना अधिकार वापस लेना पड़ा।

अप्पा साहब अंगरेजों का विरोध करता रहा। परन्तु 1840 ई. में उसकी मृत्यु के बाद भोंसले का राज्य रघुजी द्वितीय के पोते को दे दिया गया। नर्मदा नदी के

उत्तर का सारा क्षेत्र अंगरेजी राज्य में सम्मिलित कर लिया गया।

पेशवा बाजीराव द्वितीय युद्ध में पराजित होकर सतारा भाग गया और उसने वहाँ के राज्य को अपने अधिकार में कर लिया। परन्तु उसे वहाँ से भी भागना पड़ा। 1818 ई. में कोरगाँव की लड़ाई में पेशवा की हार हुई। अस्थी की लड़ाई के बाद पेशवा को आत्मसमर्पण करना पड़ा। अंगरेजों ने पेशवा का पद समाप्त कर दिया। पेशवा का सम्पूर्ण राज्य अंगरेजी साम्राज्य में मिला लिया गया। त्र्यम्बकजी को बन्दी बनाकर चुनार के दुर्ग में आजीवन कैद किया गया। पेशवा को सात लाख वार्षिक पेंशन देकर कानपुर के पास बिठूर भेज दिया गया।

इस प्रकार सभी मराठा सरदार पराजित हो चुके थे। उनके राज्य सीमित कर दिये गए थे तथा उन्हें पूर्णतः शक्तिहीन कर दिया गया था। भोंसले, पेशवा और होल्कर अंगरेजों की कठपुतली थे। वे युद्ध में पराजित हो चुके थे। गायकवाड़ और सिंधिया ने युद्ध में भाग नहीं लिया। पेशवा का पद समाप्त कर दिया गया। मराठा संघ समाप्त हो चुका था और इसके साथ ही भारत में अंगरेजों का मुकाबला करने वाली अन्तिम शक्ति का भी समापन हो गया। इस प्रकार अंगरेज-मराठा संघर्ष का अन्त हुआ। प्रमुख मराठा सरदारों को शान्त कर हेस्टिंग्स ने अंगरेजी सत्ता स्थापित कर दी। मराठा संघ की शक्ति समाप्त होने से अंगरेजी साम्राज्य सुदृढ़ हो गया। प्रिंसेप के अनुसार, "अंगरेजी प्रभाव और सत्ता जादू की तरह भारत में फैल गयी।"

मराठों के पतन के कारण

अंगरेजों ने भारत का साम्राज्य मुगलों से नहीं, मराठों से प्राप्त किया। औरंगजेब की मृत्यु के बाद मुगल साम्राज्य तितर-बितर हो गया। मुगल साम्राज्य काफी तीव्र गति से पतन के गर्त में गिरा और उसका स्थान उतनी ही शीघ्रता से उठती हुई मराठा शक्ति ने ले लिया। मुगल साम्राज्य के पतन के बाद भारत में मराठों की शक्तिशाली सत्ता ही बची हुई थी। जिस समय अंगरेज अपनी सुरक्षा के लिए फ्रांसीसियों से युद्ध कर रहे थे अथवा बंगाल के नवाब के विरुद्ध षड्यंत्र में व्यस्त थे, उस समय भारत के भाग्य-विधाता मराठे ही थे। वे सम्पूर्ण भारत पर शासन नहीं करते थे, किन्तु सम्पूर्ण भारत उनसे आतंकित था। वे भारत के सभी भागों से चौथ, सरदेशमुखी नामक कर वसूलते थे। गुजरात से बंगाल तक और पंजाब से कन्या कुमारी अन्तरद्वीप तक मराठों का प्रभाव था। अवध, बंगाल, कर्नाटक, हैदराबाद और मैसूर के शासक मराठों को कर देते थे। गुजरात, मालवा, बुन्देलखण्ड और महाराष्ट्र पर उनका आधिपत्य था।

मुगल साम्राज्य के ध्वंसावशेष पर मराठों ने अपने राजनीतिक प्रभुत्व की इमारत खड़ी करने की चेष्टा की, लेकिन वह इमारत बनने से पहले ही लड़खड़ाकर भूमिसात् हो गयी। भारत की यह शक्ति, जिसने प्रथम तीन पेशवाओं के समय

सम्पूर्ण भारत को अपने पैरों तले रौंद दिया था, अंगरेजों के प्रथम प्रहार से ही लड़खड़ा गयी। अंगरेजों से प्रथम युद्ध में ही मराठों की दुर्बलता स्पष्ट हो गयी थी और द्वितीय युद्ध के अवसर पर लॉर्ड वेलेजली के इंगलैण्ड वापस चले जाने के कारण वे वच गये थे अन्यथा उनकी शक्ति तो उसी समय समाप्त कर दी जाती। हेस्टिंग्स के समय शक्तिशाली मराठा संघ चूर-चूर हो चुका था। मराठा सरदार अंगरेजों की अधीनता स्वीकार कर चुके थे। भविष्य में उन्होंने कभी अंगरेजी सत्ता के विरोध का साहस नहीं किया। मराठा सरदारों के राज्य सीमित कर दिये गये तथा उनके राज्य में अंगरेजी सेनाएँ तैनात की गयीं। उनकी आन्तरिक नीति और विदेश नीति पर अंगरेजों का नियंत्रण था। इसलिए पेशवा का पद समाप्त कर दिया गया था। इस प्रकार सम्पूर्ण भारत को आतंकित करनेवाले मराठे अंगरेजों के दास बन चुके थे।

मराठों की इतनी बुरी स्थिति और उनके पतन के निम्नलिखित प्रमुख कारण थे :

1. मराठों की आन्तरिक दुर्बलता : मराठों की सबसे बड़ी दुर्बलता स्वयं अपनी और अपने राज्य की थी। मराठा राज्य एक संघ-राज्य था। मराठा सरदार नाममात्र को केन्द्रीय सत्ता का प्रभुत्व स्वीकार करते थे। प्रत्येक शक्तिशाली सरदार स्वतंत्र नीति से व्यवहार करता था। नाममात्र की जो एकता माधवराव प्रथम के समय रही, वह भी उसकी मृत्यु के वाद समाप्त हो गयी। मराठा संघ दुर्बल और छिन्न-भिन्न हो चुका था। सिंधिया, गायकवाड़, भोंसले और होल्कर हमेशा एक-दूसरे को नीचा दिखाने का प्रयत्न करते रहते थे। उनमें एकता और आपसी संगठन का सर्वथा अभाव था।

मराठा सरदारों में सम्मिलित योजना बनाने और सैन्य-संचालन की योग्यता नहीं थी। केन्द्रीय सत्ता के अभाव में वे मनमानी करते थे। राष्ट्रीय संकट के समय भी मराठे सरदार एक न हो सके। यशवंत राव होल्कर और दौलतराव सिंधिया में अन्त तक प्रतिद्वन्द्विता बनी रही। गायकवाड़ पहले ही अंगरेजों का मित्र बन चुका था। भोंसले ने कभी किसी के साथ मिलकर काम नहीं किया। इस आन्तरिक फूट से लाभ उठाकर अंगरेजों ने एक-एक कर सभी मराठा सरदारों को परास्त कर दिया। पूना दरबार के झगड़ों से लाभ उठाकर अंगरेजों ने प्रथम मराठा युद्ध में भाग लिया। झगड़े से लाभ उठाकर पेशवा से अंगरेजों ने बेसीन की सन्धि की तथा द्वितीय मराठा युद्ध की सुविधा का अवसर प्राप्त किया। इस प्रकार मराठों का आपसी संघर्ष, एकता की कमी और केन्द्रीय सत्ता का अभाव उनकी सबसे बड़ी दुर्बलता थी।

मराठों की पराजय में उनके शासन की दुर्बलता का भी बहुत बड़ा हाथ था। उन्होंने कभी अपने शासन को सुदृढ़, सुव्यवस्थित और लोकप्रिय बनाने का यत्न नहीं किया। उन्होंने अपने नागरिकों की शिक्षा, रक्षा, भौतिक उन्नति तथा नैतिक विकास

की ओर ध्यान नहीं दिया और न इनका उत्तरदायित्व ही अपने ऊपर लिया। उनका एकमात्र उदेश्य धन एकत्र करना और अपनी सत्ता मनवाना था। ऐसा राज्य कभी भी नागरिकों की वफादारी प्राप्त नहीं कर सकता। मराठा राज्य वस्तुतः राज्य नहीं था। उसकी जड़ें पोली जमीन पर थीं, इसलिए दुर्बल थीं। महाराष्ट्र का धार्मिक और राष्ट्रीय आन्दोलन, जिसने महाराष्ट्र को मुगल साम्राज्य को समाप्त करने की शक्ति दी थी। अव अपनी शक्ति खो चुका था। मराठों की यह दुर्बलता उस समय और भी स्पष्ट हो गयी जब उनका मुकाबला संगठित यूरोपिय जाति से हुआ।

2. मराठा प्रशासन के दोष : मराठा शासन में भी अनेक दोष थे। प्रथमतः मराठों ने आर्थिक सुदृढ़ता के लिए कभी निश्चित योजना नहीं बनायी और कृषि तथा व्यापार की उपेक्षा करते रहे। अर्थाभाव के कारण उन्होंने धन बटोरने के लिए लूट का मार्ग अपनाया और इससे उनका नैतिक पतन हो गया। नागरिकों की शिक्षा की उपेक्षा की गयी। फलस्वरूप सच्चे तथा ईमानदार कर्मचारियों एवं पदाधिकारियों का मिलना कठिन हो गया। शासन में भ्रष्टाचार बढ़ता जा रहा था। मराठों की शासन-व्यवस्था का एक वहुत वड़ा दोप था कि इसमें जनसाधारण के लिए कोई स्थान नहीं था। मराठा शासन मंत्रियां तथा सरदारों का था इसलिए जनता के वीच लोकप्रिय नहीं हो सका। साधारण नागरिक शासन से उदासीन थे और उसकी सुरक्षा का भार उठाने के लिए तैयार नहीं थे।

3. मराठा सरदारों की पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता : मराठा साम्राज्य एक सामन्तवादी साम्राज्यवादी साम्राज्य था। वह साम्राज्य सामन्तों के बीच विभाजित था। शिवाजी की मृत्यु के पश्चात् जागीर प्रथा की पुनः स्थापना की गयी। इस कारण निजी स्वार्थों के बीच संघर्ष आरम्भ हुआ और मराठा सरदार एक-दूसरे के विरुद्ध षड्यंत्र में शामिल हो गये। राज्यों के विभाजन और सामन्तों की इच्छा बलवती होने के कारण विश्रृंखलता के तत्त्व उभर रहे थे। जागीरदारी प्रथा के कारण विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्तियाँ क्रियाशील थीं और केन्द्रीय सत्ता निर्बल हो गयी थी। सामन्त स्वतंत्र रूप से सन्धि तथा विग्रह करते थे। सामन्तों ने कभी प्रजा के हित का ख्याल नहीं किया। ना तो उनका कोई निश्चित सिद्धान्त था और न कोई सुनिश्चित शासन-व्यवस्था। जागीरदारी प्रथा के कारण राज्य में विघटनकारी शक्ति बलवती थी जिसने रही-सही एकता भी नष्ट कर दी।

4. मराठों में जातीय गुणों का अभाव : जिस समय मराठों का संघर्ष हुआ, मराठे अपने जातीय गुण खो चुके थे। समानता, साहस, कर्मठता, संयम और कठोर जीवन ने उन्हें मुगल साम्राज्य के विरुद्ध सफलता में सहायता की थी और उन्हें महान वनाया था, लेकिन वे ये गुण खो चुके थे। सामन्ती प्रथा और ऊँच-नीच की भावना ने उनकी सामाजिक एकता नष्ट कर दी थी और वे पूर्ववर्ती आदर्श भूल चुके थे।

अपने क्षेत्र में लूट-मार तथा उत्तर भारत से प्राप्त हुई सम्पत्ति के कारण वे विलासी हो गये थे। मराठा सरदारों का नैतिक पतन हो गया था। वास्तव में ऐसा समाज और उसके नेता बहुत दिनों तक साम्राज्य की सुरक्षा नहीं कर सकते थे।

5. देशी राज्यों का असहयोग : मराठों के पतन के कारणों में देशी राज्यों से असहयोग की भावना मुख्य थी। मराठों ने देशी राज्यों से सहयोग लेने का कभी प्रयत्न नहीं किया। यदि मराठों ने हैदरअली, टीपू और निजाम की सहायता समय पर की होती तो वे अंगरेजों की शक्ति समाप्त करने में अवश्य सफल होते, परन्तु उन्होंने अंगरेजों के हमले या उनकी घुसपैठ के समय चुप्पी की नीति अपनायी। जब इन राज्यों के विरुद्ध अंगरेजों का कुचक्र चल रहा था उस समय मराठों ने इनका साथ देने के बजाय उल्टे अंगरेजों का साथ दिया। साथ-ही-साथ, मराठों को फ्रांसीसियों का सहयोग भी न मिला, क्योंकि वेलेजली ने सहायक सन्धि की नीति के द्वारा देशी राज्यों में फ्रांसीसियों का प्रभाव समाप्त कर दिया था।

6. राजपूतों का असहयोग : मराठों की बहुत बड़ी भूल थी कि उन्होंने राजपूत राज्यों से सहृदयता नहीं बरती ताकि उन्हें अपना मित्र बना सकें। वे राजपूतों के राज्यों को हमेशा लूटते रहे। इसका परिणाम यह हुआ कि विवश होकर राजपूत राज्य अंगरेजों के संरक्षण में चले गये तथा उन्हीं के हाथ मजबूत करने लगे। यदि मराठे राजपूतों से अच्छा व्यवहार करते तो उनका सहयोग उन्हें अवश्य मिलता और इससे मराठों की शक्ति में भी वृद्धि होती। लेकिन जब मराठे आपस में भी सहयोग नहीं कर सके तो राजपूतों से सहयोग की बात तो दूर की रही। इस प्रकार मराठों ने एक बड़ी भूल थी कि मुगल साम्राज्य के शक्तिशाली स्तम्भ राजपूतों से एकता स्थपित नहीं की जिसके परिणामस्वरूप उनका पतन सहज ही हो गया।

7. अयोग्य नेतृत्व : मराठों में योग्य नेतृत्व का अभाव भी उनके पतन और पराजय का एक महत्त्वपूर्ण कारण था। अठारहवीं सदी के अन्त तक एक-एक कर सभी योग्य मराठा सरदारों की मृत्यु हो गयी थी। पेशवा माधवराव, महादजी सिंधिया, अहिल्याबाई होल्कर, तुकोजी होल्कर और नाना फड़नवीस के बाद मराठों में कोई ऐसा कुशल राजनीतिज्ञ अथवा सेनापति नहीं था जो मराठों को संगठित रख सकता और उन्हें पतनोन्मुख होने से बचा सकता। इनके बाद मराठों को दुर्बल पेशवा बाजीराव द्वितीय, स्वार्थी और महत्त्वाकांक्षी दौलतराव सिंधिया और यशवंतराव होल्कर जैसे सरदारों का नेतृत्व प्राप्त हुआ जिनमें योग्यता और चरित्र दोनों की कमी थी। साथ ही, मराठा सरदार और जागीरदार पारस्परिक ईर्ष्या में इतने डूब गये कि अपनी सुरक्षा के लिए अंगरेजों के हाथ बिक गये। दूसरी ओर, असी समय अंगरेजों को एलफिन्स्टन, मॉल्कन, आर्थर वेलेजली, जनरल लेक, लॉर्ड वेलेजली और लॉर्ड हेस्टिंग्स जैसे व्यक्तियों का योग्य नेतृत्व प्राप्त था। मराठों के अयोग्य नेता कूटनीति, कौशल

और युद्ध में अंगरेजों के नेताओं का मुकाबला नहीं कर सके।

8. मराठा राज्यों का अव्यवस्थित आर्थिक संगठन : मराठा राज्यों का एक बड़ा दोष उनका अव्यवस्थित आर्थिक संगठन था। ठोस आर्थिक आधार और वित्तीय प्रबन्ध की कमी उनके पतन के अन्य महत्त्वपूर्ण कारण बने। मराठों ने अपने राज्य की आर्थिक व्यवस्था की ओर कभी ध्यान नहीं दिया और न कभी आर्थिक स्तर ऊँचा उठाने का प्रयत्न किया। आर्थिक दृढ़ता के अभाव में किसी राष्ट्र का राजनीतिक उत्थान और विकास असम्भव है। एक विस्तृत साम्राज्य के निर्माण के बाद भी मराठों ने कृषि, उद्योग और व्यापार की ओर ध्यान नहीं दिया। उनकी आय का स्रोत चौथ और सरदेशमुखी था और इसके लिए भी उन्हें युद्ध और लूट-मार की शरण लेनी पड़ती थी। महाराष्ट्र की अधिकांश भूमि बंजर थी, इसलिए राज्य के लिए आय प्राप्त करने का कोई साधन नहीं था। इतना ही नहीं, उत्तर भारत के जिन उपजाऊ क्षेत्रों पर मराठों का अधिकार था वहाँ भी उन्होंने प्रत्यक्ष शासन स्थापित कर राज्य के आर्थिक ढाँचे को सुधारने का प्रयत्न नहीं किया। इस प्रकार मराठे अपनी अयोग्यता और अदूरदर्शिता के कारण न तो कभी अपनी प्रजा को सम्पन्न बना सके और न स्वयं पर्याप्त मात्रा में आय प्राप्त कर सके। अपने अधीन भू-भाग की उचित व्यवस्था न कर मराठों ने पतन का मार्ग स्वयं तैयार कर लिया। ऐसा राज्य, जो केवल लूट पर निर्भर करता है, स्थायी नहीं हो सकता।

9. मराठों की दुर्बल सैन्य-व्यवस्था : मराठों के पतन का एक कारण उनकी सैनिक दुर्बलता मानी जाती है। निःसन्देह अंगरेजों की तुलना में मराठों का सैनिक संगठन दुर्बल था। अंगरेजों की तरह न तो उनकी सेना संगठित थी और न उनके पास वैसे अस्त्र-शस्त्र थे। एस. एन. सेन का मत है कि—"यूरोपीय सैनिक प्रणाली अपनाने के कारण मराठों को अपनी सेना में विभिन्न जातियों के लोगों को भरती करना पड़ा। इससे उनकी सेना का राष्ट्रीय स्वरूप लुप्त हो गया और उसमें वह शक्ति नहीं रही जो एक राष्ट्रीय सेना में होती है।" सिद्धान्ततः यह विचार ठीक है, लेकिन युद्ध का इतिहास स्पष्ट करता है कि फ्रांसीसियों के अलावा विभिन्न जातियों के सैनिकों ने निष्ठापूर्वक युद्ध किया और मराठों को धोखा नहीं दिया। यहाँ उल्लेखनीय है कि अंगरेजों की सेना भी विभिन्न जातियों के सैनिकों से मिलकर बनी थी और उसी सेना के हाथ मराठे पराजित हुए थे। इसलिए विभिन्न जाति के सैनिकों का होना मराठा सैन्य-व्यवस्था की मुख्य कमजोरी नहीं मानी जा सकती है।

यह भी तर्क दिया जाता है कि मराठों की पराजय का एक मुख्य कारण अपनी परम्परागत गुरिल्ला युद्ध-पद्धति को छोड़ना और यूरोपियन तरीकों से युद्ध करना था। यह भी कहा जाता है कि मराठों का, घुड़सवार सेना के संगठन और उपयोग पर बल न देना उनकी पराजय का एक प्रमुख कारण था। इन विचारों में सत्यता का अंश

अवश्य है, किन्तु आधुनिक समय में इन्हें पूर्णतया स्वीकार नहीं किया जा सकता। दक्षिण के पठार पर गुरिल्ला युद्ध-पद्धति अवश्य सहायक थी, पर उत्तर भारत के मैदान में इस पद्धति का उपयोग कहाँ तक सफल हो सकता था, यह सन्देहजनक है। लेकिन मराठे उत्तर भारत के भी स्वामी थे। यह कहना गलत होगा कि मराठों और अंगरेजों के बीच युद्ध का निर्णय गुरिल्ला युद्ध-नीति से हो जाता। यह युद्ध-पद्धति कुछ समय के लिए उपयुक्त हो सकती थी और इसका प्रयोग कुछ समय के लिए मराठों की पराजय को रोक सकता था। मराठा साम्राज्य का विकास गुरिल्ला युद्ध-पद्धति के प्रयोग से सम्भव नहीं था। इसलिए गुरिल्ला युद्ध-नीति का त्याग मराठों की मुख्य दुर्वलता नहीं थी।

वस्तुतः मराठों की दुर्बलता का मुख्य कारण यूरोपीय युद्ध के तरीके और हथियारों को अपनाकर भी उनमें दक्षता न प्राप्त करना था। फ्रांसीसियों के द्वारा यूरोपियन तरीके से प्रशिक्षित भारतीय सैनिक युद्ध-नीति में पूर्णता प्राप्त न कर सके थे। वस्तुतः मराठे समय की गति से कदम नहीं मिला सके और पाश्चात्य वैज्ञानिक उपकरणों से वे अनभिज्ञ थे। मराठा सरदार युद्ध-नीति और हथियार के प्रयोग के लिए फ्रांसीसियों पर निर्भर करते थे जो उन्हें मुख्य अवसरों पर धोखा दे जाते थे। यदि मराठे यूरोपियन युद्ध-नीति और अस्त्रों के प्रयोग में निपुणता प्राप्त कर चुके होते तो सम्भवतः अंगरेज-मराठा युद्ध का परिणाम कुछ दूसरा ही होता। मराठों ने समुद्री शक्ति के विकास में भी तत्परता नहीं दिखलायी। दूसरी ओर अंगरेजों की सैनिक व्यवस्था संगठित थी, उनकी सेना निपुण थी और समुद्र पर उनका दबदबा था। ऐसी हालत में मराठों का पतन अवश्यम्भावी था।

10. अंगरेजों की श्रेष्ठ कूटनीति और गुप्तचर-व्यवस्था : अंगरेज कुटनीति में मराठों से श्रेष्ठ थे। उन्होंने हमेशा यह प्रयत्न किया कि उन्हें मराठा सरदारों से सम्मिलित रूप में युद्ध न करना पड़े और मराठा सरदारों की आपसी फूट के कारण वे सदा अपने प्रयत्न में सफल भी रहे। अपनी कूटनीति तथा उच्च गुप्तचर-व्यवस्था के द्वारा ही वे विभिन्न भारतीय शासकों को एक-दूसरे से लड़ा सके तया सभी को एक-एक कर परास्त कर सके। प्रत्येक अंगरेज मराठों की शक्ति, सैन्य-संचालन; उनके पारस्परिक समबन्ध को जानने के लिए अत्सुक रहता था और कम्पनी को इस बात की सूचना देता था। मराठों में इसका सर्वथा अभाव था। मराठे यह नहीं समझ सके कि उनका शक्तिशाली शत्रु अंगरेज कम्पनी ही है। इनकी कूटनीति की पराजय इस बात से स्पष्ट होती है कि वे भारत के मुसलमान शासकों को तो क्या, राजपूत शासकों को भी अपने हाथ नहीं रख सके, बल्कि अपने दुर्व्यवहार से उन्हें असन्तुष्ट ही किया।

उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त यह भी कहा जा सकता है कि जबकि अंगरेज

एक तरफ स्वतंत्रत, समानता और दूसरी तरफ राष्ट्रीयता तथा साम्राज्यवाद के विचारों से प्रभावित होकर प्रगति की ओर बढ़ रहे थे, मराठे ऐसे किसी भी उत्साहवर्द्धक विचार से प्रभावित नहीं थे। अंगरेजों की धारणा एक प्रकार से आधुनिक थी जबकि मराठे अभी मध्ययुग में ही विचरण कर रहे थे। साथ-ही-साथ, मराठों ने देश की भौगोलिक स्थिति के अध्ययन की भी परवाह नहीं की जो सफल सैनिक अभियान के लिए आवश्यक है। इस कारण उन्हें घोर कष्ट उठाना पड़ा। मार्ग में उत्पन्न अड़चनें उनके सैनिक अभियानों के लिए घातक सिद्ध हुई।

इन परिस्थितियों में कोई जाति अपने गौरव और स्वतंत्रता की रक्षा नहीं कर सकती। मराठे पूर्णतः विनष्ट हो गये और सम्पूर्ण भारत पर कम्पनी का एकाधिकार हो गया।

3. आंग्ल-सिख सम्बन्ध

अठारहवीं शताब्दी में सिखों की स्थिति : मुगलों से निरन्तर युद्ध करते-करते सिख थक गये थे। सरदार बंदा वैरागी की मृत्यु के उपरान्त उनकी शक्ति काफी क्षीण हो गयी थी पर उनका नाश नहीं हो पाया था। वे अपने गुरुओं के आदर्श कि मार्ग पर चलते रहे और उन्होंने अपना संगठन-कार्य जारी रखा। अठारहवीं शताब्दी भारत में राजनीतिक अराजकता का युग था। नादिरशाह के आक्रमण से मुगल साम्राज्य की कमर टूट गयी थी जिसके फलस्वरूप दूरस्थ प्रान्तों पर उसका नियंत्रण ढीला पड़ गया था। पानीपत की तीसरी लड़ाई के बाद जो अराजकता फैली उससे लाभ उठाकर सिखों ने सारे पंजाब पर अधिकार कर लिया। सिखों की बारह मिस्लों के सरदारों ने प्रान्त के भिन्न-भिन्न भागों में अपने छोटे-छोटे राज्य स्थापित किये। इन्हीं बारह मिस्लों में एक शुकरचकिया मिस्ल थी जिसका सरदार चूड़तसिंह था। उसने गुजराँवाला में अपनी राजधानी बनायी। उसका पुत्र माहसिंह बड़ा प्रतापी और वीर शासक था।

इसी माहासिंह का पुत्र रणजीत सिंह था जिसका जन्म 1780 ई. में हुआ। 12 वर्ष की आयु में पिता माहासिंह की मृत्यु हो गयी तथा रणजीत सिंह अपने पिता के राज्य का निर्विरोध उत्तराधिकारी बना। उच्च शिक्षा से रहित रणजीत सिंह बड़ा दृढ़ और उदण्ड प्रकृति का था। 17 वर्ष की अल्प आयु में ही उसने राज्य की बागडोर संभाली।

अपनी स्वाभाविक प्रतिभा से रणजीतसिंह ने अपनी शक्ति संगठित कर ली। शुरू में वह अफगानों के अधीन था, लेकिन काबुल के जमानशाह द्वारा भारत पर आक्रमण किये जाने के समय उसने उसकी बहुमूल्य सहायता की, जिसके पारितोषिक स्वरूप उसे 1798 ई. में लाहौर की सूबेदारी और 'राजा' की पदवी मिली। रणजीत सिंह के जीवन में यह एक बड़ा मौका था। उसने धीरे-धीरे सिखों का संगठन कर

अपने-आपको अफगानों की अधीनता से मुक्त कर लिया। 1805 ई. में उसने अपने को 'अमृतसर का स्वामी' घोषित किया और 1807 ई. तक सतलुज के पश्चिम की कई मिस्लें उसके अधिकार में आ गयीं। उसी वर्ष लुधियाना पर भी रणजीत सिंह का अधिकार हो गया। 1805 ई. में लॉर्ड लेक से हारने पर होल्कर ने रणजीत सिंह से कम्पनी के विरुद्ध सहायता की प्रार्थना की, परन्तु रणजीत सिंह ने कम्पनी के युद्ध में फँसना अस्वीकार कर दिया। कहा जाता है कि होल्कर ने ताना देते हुए रणजीतसिंह से कहा था-"विपत्ति में पड़े अपने एक अतिथि और देशवासी के साथ आपका यही धर्मपालन है तो स्मरण रखिए कि मेरे कुल में तो राज्य रह जायगा, किन्तु आपके कुल की सत्ता नष्ट हो जायगी।" और, हुआ भी ऐसा ही।

रणजीत सिंह की विजय : रणजीत सिंह ने अब समय की अनुकूलता का लाभ उठाकर राज्य-क्षेत्र बढ़ाने की सोची। बहुत-सी सिख मिस्लें कमजोर हो गयी थीं। अंगरेजों ने अभी दिल्ली पर भी अधिकार नहीं किया था। अफगान आन्तरिक झगड़ों के कारण कमजोर हो रहे थे। अतः रणजीत सिंह ने पाँव फैलाना आरम्भ कर दिया।

सर्वप्रथम 1798 ई. में रणजीत सिंह ने काबुल के शासक जमानशाह की सहायता करके प्रसिद्धि प्राप्त की । जमानशाह लाहौर-विजय के लिए भारत आया था, परन्तु जिस समय वह लाहौर पर अधिकार कर रहा था उसे अफगानिस्तान में होनेवाले विद्रोह की सूचना मिली। अतः उसे तत्काल अफगानिस्तान के लिए रवाना होना पड़ा तथा उसकी अनेक बन्दूकें पंजाब में छूट गयीं। रणजीत सिंह ने जमानशाह को सन्देश भेजा कि यदि जमानशाह लाहौर का राज्य उसे दे दे तो वह उसकी सारी बन्दूकें ढूँढ़कर काबुल भेज देगा। जमानशाह के स्वीकार करने पर रणजीत सिंह ने उसकी बन्दूकें काबुल भिजवा दीं तथा कृतज्ञ जमानशाह ने रणजीत सिंह को लाहौर का शासक नियुक्त कर दिया। इसी समय रणजीत सिंह ने 'राजा' की उपाधि धारण की तथा पड़ोस की छोटी-छोटी मिस्लों पर अधिकार कर एक सुदृढ राज्य के निर्माण का प्रयास किया। लाहौर मिल जाने के कारण रणजीत सिंह का राजनीतिक महत्त्व बढ़ गया।

1805 ई. में उसने अमृतसर पर भी अधिकार कर लिया तथा एक-एक कर सभी मिस्लों को अपने राज्य में मिलाकर उसने सतलुज तक अपना साम्राज्य बढ़ा लिया। जम्मू तथा मैसूर के शासक उसकी अधीनता स्वीकार कर उसे नजराना देते थे तथा मुल्तान, कोहिस्तान और झंग तक उसके राज्य की सीमा-वृद्धि हो गयी।

अब रणजीत सिंह ने छोटी-छोटी मिस्लों को जीतना शुरू किया। मिरोबल तथा नरवल पर अधिकार करता हुआ वह जम्मू पहुँचा गया। जम्मू के शासक ने रणजीत सिंह का प्रभुत्व स्वीकार कर लिया और बीस हजार रुपये नकद देकर रणजीत सिंह से अपना पिण्ड छुड़ाया। इसके बाद रणजीत सिंह ने अकलगढ़, कसूर और गुजरात

(पंजाव और पाकिस्तान) में छोटे-छोटे राज्यों को जीत लिया। इन विजयों से उत्साहित होकर उसने चिनौत, झंग और मुल्तान आदि को भी अपने अधिकार में कर लिया। 1805 ई. तक पंजाव के वहुत वड़े भाग पर रणजीत सिंह का अधिकार हो गया। इसी समय अंगरेजों से पराजित होकार यशवंतराव होल्कर ने सिख महाराजा रणजीत सिंह से सहायता की याचना की। किन्तु रणजीत सिंह अंगरेजों से व्यर्थ शत्रुता मोल नहीं लेना चाहता था, अतएव उसने होल्कर की कोई सहायता न की।

सतलुज पार के राज्यों की विजय : रणजीत सिंह ने सतलुज तथा यमुना नदियों के मध्य सिख राज्यों को जीतने का निश्चय किया। इन दिनों उन राज्यों की शक्ति आन्तरिक कलह के कारण अत्यन्त क्षीण पड़ गयी थी। महाराजा रणजीत सिंह सतलुज पार पूर्व की ओर स्थित पटियाला, नाभा, जिंद, थानेश्वर आदि छोटे-वड़े सिख राज्यों पर अपना अधिकार चाहता था। 1806 ई. में उसे अपनी मनोकामना पूरी करने का अवसर मिला। वात यह हुई कि नाभा और पटियाला के राजाओं में संघर्ष शुरू हो गया। नाभा के राजा ने रणजीत सिंह से सहायता माँगी। रणजीत सिंह ने सतलुज पार कर पटियाला के राजा को पराजित किया। नाभा, जिंद आदि अन्य सिख राजाओं ने भी रणजीत सिंह की अधीनता स्वीकार कर ली। अपने दूसरे विजय-अभियान में रणजीत सिंह ने अम्वाला, थानेश्वर, नारायणगढ़ और फीरोजपुर तक धावा मारा। उसने फीरोजपुर का महत्त्वपूर्ण दुर्ग वदनी अपनी सास सदा कौर को दे दिया और अपने मित्र फतह सिंह को नारायणगढ़ दिया। इस प्रकार रणजीत सिंह ने अम्वाला, मलेरकोटला, थानेश्वर, नारायणगढ़, नाभा, जिंद आदि सतलुज पार के राजाओं को अपने प्रभाव-क्षेत्र में कर लिया।

अंगरेजों के साथ सम्वन्ध : रणजीत सिंह की वढ़ती हुई शक्ति से कम्पनी-सरकार के लिए गम्भीर समस्या उत्पन्न हो गयी। सामाजिक तथा कूटनीतिक कारणों से रणजीत सिंह की वढ़ती हुई शक्ति पर प्रतिवन्ध लगाना आवश्यक था. पर लाहौर के स्वामी के साथ युद्ध करना खतरे से खाली नहीं था। उसके समय में भारत पर फ्रांसीसी आक्रमण की सम्भावना थी। अतः लॉर्ड मिन्टो ने रणजीत सिंह से एक रक्षात्मक सन्धि के लिए मेटकॉफ को भेजा। प्रारम्भ में रणजीत सिंह ने इस प्रस्तावित सन्धि के वदले यह शर्त्त पेश की कि उसे सारे सिख राज्य का 'सार्वभौम प्रभु' स्वीकार कर लिया जाए; किन्तु इसी वीच स्पेन के युद्ध में नेपोलियन के फँसने और तुर्की के नये सुलतान के साथ अच्छा सम्वन्ध होने के कारण फ्रांसीसी आक्रमण का खतरा टल गया। अतः अंगरेज रणजीत सिंह को सन्धि के लिए विवश करने लगे। एक एक अंगरेजी सेना भी ताकत दिखाने को भेजी गयी। रणजीत सिंह कम्पनी की शक्ति से परिचित था। अतः उसने अंगरेजों से युद्ध करना उचित नहीं समझा। 26 अप्रैल, 1809 ई. में अंगरेजों और रणजीत सिंह के वीच एक समझौता

हुआ जिसे अमृतसर की सन्धि कहते हैं। इस सन्धि के अनुसार रणजीत सिंह ने सतलुज के पूर्व के राज्यों में हस्तक्षेप न करने का वचन दिया। सतलुज नदी को रणजीत सिंह के राज्य की दक्षिणी सीमा निश्चित की गयी। सतलुज के दक्षिण-पूर्व के सिख-राज्य अंगरेजों के संरक्षण में माने गये। लुधियाना में अंगरेजी सेना रखी गयी। अंगरेजों ने सतलुज के उत्तर की ओर हस्तक्षेप न करने का वचन दिया। इस प्रकार अमृतसर की सन्धि द्वारा कम्पनी-राज्य की सीमा सतलुज नदी तक पहुँच गयी। रणजीत सिंह अब पूरब की ओर अपना साम्राज्य-विस्तार नहीं कर सकता था।

सन्धि का महत्त्व : सर्वप्रथम इस सन्धि ने रणजीत सिंह की महत्त्वाकांक्षाओं पर एक निश्चित प्रतिबन्ध लगा दिया। इसने उसे सतलुज के पूरब और पश्चिम के सिखों पर आधिपत्य स्थापित करने से वंचित कर दिया। यह महाराजा रणजीत सिंह के लिए अपमानजनक था और इसके पश्चात् वह सिखों के केवल एक भाग का ही शासक बनने के लिए विवश हुआ, सभी सिखों का शासक नहीं बन सका। यह एक कड़वी गोली थी जिसे रणजीतसिंह को निगलनी पड़ी। वस्तुतः यह राजनीति में रणजीत सिंह की स्पष्ट पराजय थी। इस सन्धि से अंगरेज लाहौर-राज्य के इतने निकट आ गये कि वे प्रभाव डाले बिना नहीं रह सकते थे। अमृतसर की सन्धि से अंगरेजों का सम्मान बढ़ गया। यद्यपि रणजीत सिंह स्वतंत्र ही रहा तथापि इसके पश्चात् उसमें और अंगरेजों में कोई समता न रह गयी। वस्तुतः रणजीत सिंह द्वारा सीमित संख्या में सेनाओं को रखना स्वीकार करना और अपने को अंगरेजों के समान्य मित्रों में गिनना ही इस बात को सिद्ध करता है कि अंगरेजों को भारत में प्रमुखता प्राप्त हो गयी और लाहौर के सरदार रणजीत सिंह ने उनकी अधीनता स्वीकार कर ली।

रणजीत सिंह का राज्य-विस्तार : जब पूरब की ओर रणजीत सिंह का प्रसार रोक दिया गया तो वह पश्चिम की ओर मुड़ा। 1818 ई. में असने मुल्तान पर अधिकार किया। इसके पूर्व 1809 ई. में कांगड़ा और 1813 ई. में अटक उसके साम्राज्य में मिला लिया गया। 1818 ई. में उसने कश्मीर पर अधिकार किया और 1823 ई. में पेशावर उसकी अधीनता में आया। इस प्रकार रणजीत सिंह ने उत्तरी-पश्चिमी भागों में एक सिख साम्राज्य की स्थापना की। उस समय अफगानिस्तान में आराजकता फैली हुई थी। रणजीत सिंह ने इसका पूरा लाभ उठाया। इस प्रकार बहुत कम समय में रणजीत सिंह ने विशाल साम्राज्य स्थापित कर लिया।

रणजीत सिंह के जीवनकाल में अंगरेजों से सिखों का मैत्रीभाव पूर्णतः बना रहा। लॉर्ड विलियम बेन्टिंक ने अपने शासनकाल में पुनः रूपर नामक स्थान पर रणजीत सिंह से भेंट की जिसके फलस्वरूप अंगरेजों को सतलुज तथा सिन्ध नदियों में व्यापार का अधिकार मिला। रणजीत सिंह ने यह वचन भी दिया कि वह सिन्ध

के अमीरों से मैत्रीपूर्ण व्यवहार करेगा। इस प्रकार की सन्धि रणजीत सिंह की कूटनीति पराजय मानी जाती है। क्योंकि इस सन्धि के द्वारा उसने स्वयं ही अपनी प्रगति का मार्ग अवरुद्ध कर दिया। इस सन्धि के द्वारा उसकी सिन्ध-विजय की आकांक्षा भूमिसात् हो गयी।

लॉर्ड ऑकलैण्ड के समय उत्तरी-पश्चिमी सीमान्तों की समस्या काफी बढ़ गयी थी। अफगानिस्तान का शासक दोस्त मुहम्मद रणजीत सिंह से पेशावर छीनना चाहता था तथा इस कार्य में वह अंगरेजों की सहायता का इच्छुक था। यद्यपि रूस के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकने के लिए दोस्त मुहम्मद से सन्धि करना अंगरेजों के लिए अत्यन्त आवश्यक था, किन्तु रणजीत सिंह को वे रुष्ट करना नहीं चाहते थे। अतः जब दोस्त मुहम्मद ने रूस से मित्रता कर ली तो अंगरेजों ने उसे पदचयुत करने का षड्यंत्र रचा तथा शाह शुजा को अफगानिस्तान का अमीर बनाने के लिए 1823 ई. में उससे सन्धि कर ली। इस सन्धि में महाराजा रणजीत सिंह भी सम्मिलित था। इस सन्धि के पश्चात् ही प्रथम आंग्ल-अफगान युद्ध प्रारम्भ हो गया। इसी बीच 1839 ई. में रणजीत सिंह की मृत्यु हो गयी तथा इस सन्धि से उसे कोई लाभ नहीं हो सका।

रणजीत सिंह का चरित्र : आधुनिक भारतीय इतिहास के उच्चतम व्यक्तियों में रणजीत सिंह का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वह एक महारथी योद्धा, कुशल राजनीतिज्ञ, सुयोग्य सेनानायक एवं अध्यवसायी शासक था। यद्यपि उसकी आकृति सुन्दर नहीं थी और चेचक के कारण उसकी एक आँख मारी गयी थी, फिर भी उसका व्यक्तित्व तेजपूर्ण एवं प्रभावोत्पादक था। उसके अदम्य साहस को देखकर बड़े-से-बड़े राजनीतिज्ञों के छक्के छूट जाते थे और उसकी सुसंगठित सेना को देखकर बड़े-बड़े शत्रुओं के दिल दहल उठते थे। उसने पंजाब उस अवस्था में पाया जब सिख-मिस्लें आपसी युद्ध में लगी थीं और मराठे तथा अफगान उन पर दबाव डाल रहे थे। अपनी अद्वितीय प्रतिभा के द्वारा रणजीत सिंह ने पंजाब से अफगानों को मार भगाया और सिख-मिस्लों को जीतकर एक सुदृढ़ राज्य की स्थापना की। वस्तुतः रणजीत सिंह एक जन्मजात नेता था जिसने टुकड़ों में विभाजित सिखों को एकता के सूत्र में संगठित कर उनमें राष्ट्रीयता की भावना भर दी। यद्यपि वह निरक्षर था फिर भी वह गुणवान, उदार एवं सहिष्णु था। वह विद्वानों तथा सुसंस्कृत व्यक्तियों का आदर करता था। यद्यपि वह कट्टर सिख था फिर भी अन्य सम्प्रदायों के प्रति उदार था। समकालीन नरेशों की तरह वह भी शराब पीता था और भोग-विलास का प्रेमी था; परन्तु ऐसी व्यक्तिगत दुर्बलता उसके राजकाज में बाधा नहीं डालती थी। उसकी बुद्धि तीक्ष्ण और स्मरण शक्ति विलक्षण थी। महान गुणों से सम्पन्न रहने के कारण उसे "पंजाब-केसरी की संज्ञा दी गयी है। रणजीत सिंह के सम्बन्ध में कनिंघम ने

लिखा है, "रणजीत सिंह ने पंजाब को नष्ट होते हुए राज्य-संगठन के रूप में देखा, जो मुखियों के विरोध का शिकार बना हुआ था, जिस पर अफगानों तथा मराठों का दबाव पड़ रहा था, जो अंगरेज-प्रभुत्व को स्वीकार करने को तैयार था। उसने अनेक छोटे-छोटे राज्यों को संगठित कर एक राज्य का रूप दिया, उसने घुड़सवारों के समूह के रूप में फौज पायी, जो निस्सन्देह वीर थी, किन्तु युद्ध-कला से अनभिज्ञ थी। उसने उसे संगठित किया तथा अनुशासन में रखा। परिणामस्वरूप पचास हजार अनुशासन में बंधे सैनिक संगठित हो गये, पचास हजार शस्त्र-सुसज्जित सैनिक स्वयंसेवक तथा देशरक्षका के रूप में तैयार हो गए तथा रणक्षेत्र के लिए तीन सौ से अधिक तोपें तैयार हो गयीं। उसका शासन लोगों की भावना पर निर्भर था; किन्तु साथ ही आवश्यकता पड़ने पर सैनिक कार्रवाई तथा प्रादेशिक सीमा-विस्तार के सम्बन्ध में भी प्रयत्न चलते रहते थे। जब सिख उपनिवेश की सीमाएँ निश्चित हो गयीं तथा जब उसकी नेतृत्व शक्ति तथा प्रतिभा क्षीण हो गयी तब उसकी जाति की महत्त्वपूर्ण शक्ति पारस्परिक कलहों में परिवर्तित होना आरम्भ हो गयी।"

रणीजीत सिंह की मृत्यु के बाद सिख सरदारों में अपनी स्वार्थ-पूर्ति के लिए संघर्ष होने लगा। रणजीत सिंह के उत्तराधिकारियों में कोई ऐसा योग्य शासक न हुआ जो स्वार्थी सरदारों को अपने नियंत्रण में रख सकता।

रणजीत सिंह के पश्चात् सिख-राजनीति और पंजाब का विलय : रणजीत सिंह के मरने के बाद उसका सबसे बड़ा लड़का खड़ग सिंह सिंहासन पर बैठा। परन्तु 1840 ई. में उसकी मृत्यु हो गयी। तत्पश्चात् महाराज का तीसरा पुत्र शेर सिंह गद्दी पर बैठा। सिख सरदार उसे पसन्द नहीं करते थे। फलतः 1843 ई. में उसकी हत्या कर दी गयी। इस प्रकार, पंजाब में निरन्तर षड्यंत्रों का प्रकोप बढ़ता गया तथा राज्य की अवस्था पतनोन्मुख होने लगी। अन्त में सेना ने राज्य -भार अपने कन्धे पर ले लिया तथा महाराजा के सबसे छोटे, पाँच वर्ष के पुत्र दलीप सिंह को गद्दी पर बैठा दिया। उसकी माता रानी झिंदन उसकी संरक्षिका नियुक्त की गयी। उसने अपने भाई जवाहर सिंह को वजीर बनाया। जवाहर सिंह की नीति से अप्रसन्न होकर सेना ने उसकी हत्या कर डाली और सरदार तेज सिंह को वजीर बनाया। सेना के इन कृत्यों से रानी आतंकित हो उठी तथा सेना की शक्ति कम करने के लिए उसने प्रयास कियां पंजाब की इस दुरवस्था से लाभ उठाकर अंगरेजों ने उसके आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप किया तथा कुछ सिखों को अपने पक्ष में कर लिया। सिखों का सेनापति भी अंगरेजों से जा मिला तथा कश्मीर के शासक गुलाब सिंह ने अंगरेजों की मित्रता स्वीकार कर ली। इस प्रकार अंगरेजों ने पंजाब राज्य को हड़पने की योजना बना ली। अब केवल युद्ध के लिए कारण ढूँढ़ना था।

प्रथम आंग्ल-सिख युद्ध : (1845-46 ई.)

रणजीत की मृत्यु के वाद उसका राज्य तिनकों के पुंज की भाँति विखर गया। वस्तुतः उसके मरते ही सिखों के दुर्दिन शुरू हो गया। सर्वत्र अराजकता फैल गयी। सिख राज्य की शक्ति इधर-उधर विखरने लगी। उत्तराधिकार के लिए युद्ध शुरू हुआ और एक कमजोर शासक के बाद दूसरे कमजोर शासक सिख-राज्य के कर्णधार बने। अन्त में, 1843 ई. में नावालिग दलीप सिंह, अपनी माँ रानी झिंदन के संरक्षण में, गद्दी पर बैठा। झिंदन एक योग्य किन्तु सिद्धान्तशून्य नारी थी। अतः सैनिकों की शक्ति दिनोंदिन बढ़ती ही गयी और सेना राज्य की वास्तविक शासक बन गयी। ऐसी स्थिति में सिख सरदारों ने सोचा कि खालसा सेना को अंगरेजों से भिड़ा दिया जाए ताकि वे सैनिकों की प्रभुता से मुक्त हों और राज्य में शान्ति स्थापित हो। तर्क यह था कि अगर युद्ध में खालसा सेना जीत गयी तो उसे सारा हिन्दुस्तान जीतने में लगा रहना पड़ेगा और अगर हार गयी तो उसकी शक्ति समाप्त हो जायगी।

योजना : खलासा सेना को यह विश्वास दिलाया गया कि "अंगरेजों पंजाब-विजय की योजना बना रहे हैं। सिन्ध पर उनकी विजय हो चुकी, पंजाब जीतना बाकी है। सतलुज की ओर ब्रिटिश सेना संगठित की जा रही है। सतलुज पार करने के लिए उस पर एक पुल बनाया जा रहा है। लुधियाना, फीरोजपुर और अम्वाला में काफी ब्रिटिश सेनाएँ तैनात हैं।" खालसा सेना को विश्वास हो गया कि अंगरेज सिखों की स्वतंत्रता का अपहरण करना चाहते हैं और पंजाब को ब्रिटिश साम्राज्य में मिलाने की योजना बना रहे हैं। ऐसी ही परिस्थिति में खालसा सेना ने पूरब की ओर कूच किया और सतलुज को पार किया। लॉर्ड एलेनबरा के बाद लॉर्ड हार्डिंज गवर्नर-जनरल बनकर आया था। उसने 13 दिसम्बर, 1845 ई. को युद्ध की घोषणा की और इस प्रकार प्रथम आंग्ल-सिख युद्ध प्रारम्भ हुआ।

लाहौर की सन्धि : प्रथम आंग्ल-सिख युद्ध की समाप्ति पर लाहौर की सन्धि की गयी। इस समय यदि गवर्नर-जनरल लॉर्ड हार्डिंज चाहता तो वह पंजाब को ब्रिटिश राज्य में सम्मिलित कर सकता था। कुछ लोगों ने उसे यह परामर्श भी दिया, परन्तु लॉर्ड हॉर्डिंज पंजाब को अफगानिस्तान तथा ब्रिटिश भारत के बीच एक हिन्दू राज्य के रूप में स्थापित रखना चाहता था तथा सिखों को अपने अधीन रखने का उसे साहस भी नहीं था। अतः उसने पंजाब को कम्पनी-राज्य में सम्मिलित नहीं किया। लाहौर की सन्धि द्वारा पंजाब का राज्य पुनः दलीप सिंह को लौटा दिया गया

तथा देशद्रोही लाल सिंह को प्रधान मंत्री नियुक्त किया गया। दलीप सिंह की अल्पवयस्कता में रानी झिंदन उसकी संरक्षिका नियुक्त की गयी। युद्ध की क्षतिपूर्त्ति के लिए पंजाव की सिख सरकार को अंगरेजों को डेढ़ करोड़ रुपया देना था। परन्तु राजकोष रिक्त होने के कारण व्यास से सिन्ध तक का पर्वतीय प्रदेश पंजाव से लेकर कश्मीर के गुलाव सिंह को वेच दिया गया। गुलाव सिंह ने एक करोड़ रुपये में यह प्रदेश खरीद लिया तथा शेष पचास लाख रुपया सिख राजकोष से अंगरेजों को प्रदान किया गया। सतलुज के पूर्वी प्रदेश तथा जालन्धर के दोआव पर अंगरेजों का अधिकार स्वीकार कर लिया गया। अंगरेज सिख सेना से शंकित थे, अतः संख्या घटाकर उसे विल्कुल निर्वल वना दिया गया। लाहौर में अंगरेजों का एक रेजिडेण्ट रहने लगा।

दिसम्बर, 1846 ई. में एक उपसन्धि की गयी जिसके अनुसार अंगरेज पंजाव के स्वामी वन वैठे। शासन-कार्य चलाने के लिए अंगरेजों के समर्थक आठ सिख सरदारों की एक समिति वनायी गयी जो अंगरेज रेजिडेण्ट की अध्यक्षता में शासन का कार्य करने लगी। लाहौर में एक अंगरेजी सेना रख दी गयी, जिसके व्यय के लिए लाहौर दरवार से 22 लाख रुपये वार्षिक लिया जाना निश्चित किया गया। यह प्रवन्ध तव तक के लिए किया गया जव तक दलीप सिंह वालिग नहीं हो जाता।

द्वितीय आंग्ल-सिख युद्ध

सन्धि के पश्चात् पंजाव पर अंगरेजों को प्रभुत्व स्थापित हो गया। अव पंजाव में सर्वत्र सभी महत्त्वपूर्ण पदों पर अंगरेज नियुक्त किये जाने लगे। लेकिन सिखों में भीतर ही भीतर अंगरेजों के खिलाफ विद्रोह की अग्नि सुलग रही थी। वे समझते थे कि उनकी पराजय उनके उच्चाधिकारियों और सैनिक अफसरों के विश्वासघात के कारण हुई है। अतएव वे अपने को हारा हुआ नहीं मानते थे। झिंदन को अपने अधिकार छिन जाने का भारी दुःख था। अतः उसने अंगरेजों को पंजाव से निकालने का यत्न आरम्भ किया। इस पर अंगरेज रेजिडेण्ट ने उस पर दोषारोपण कर उसे चुनार के किले में नजरबन्द कर दिया। सिख जाति अपनी रानी के अपमान से बुरी तरह क्षुब्ध हो उठी। ऐसी स्थिति में विद्रोहीयों का भड़कना अनिवार्य था। कुछ ही दिनों में सम्पूर्ण पंजाव में विद्रोह की वह आग प्रज्ज्वलित हो उठी। अंगरेजों ने मुल्तान के गवर्नर मूलराज को हटाने का निश्चय किया। वह सिखों में बड़ा लोकप्रिय था। अंगरेजों के इस अन्याय से मुल्तान की जनता भड़क उठी और उसने 20 अप्रैल को दो अंगरेजों की हत्या कर दी। इस दुर्घटना को आधार वनाकर गवर्नर-जनरल ने मुल्तान के विरुद्ध अक्तूबर, 1848 ई. में युद्ध की घोषणा की और द्वितीय आंग्ल-सिख युद्ध आरम्भ हुआ।

युद्ध के परिणाम : अंगरेजों और सिखों के बीच कई स्थलों पर लड़ाईयाँ हुई। लेकिन अन्त में सिखों को पूर्णरूप से पराजित होना पड़ा। युद्धोपरान्त पंजाव को अंगरेजी राज्य में मिला लिया गया। लॉर्ड डलहौजी ने पंजाव के शासन के लिए तीन कमिश्नगें की नियुक्ति की। पंजाव को कई जिलों में बाँट दिया गया जहाँ उच्च पदों पर अंगरेज वहाल किये गये। पंजाव की सीमा पर दुर्गों का निर्माण किया गया जिससे विदेशियों से देश की रक्षा की जा सके। महाराजा दलीप सिंह को 5 लाख रुपये वार्षिक पेंशन देकर उनकी माता रानी झिंदन के साथ विलायत भेज दिया गया। विद्रोहियों को दण्ड दिये गये तथा उनकी जागीरें जब्त कर ली गयीं। सिखों को निःशस्त्र कर दिया गया जिससे अंगरेजों को कोई भय नहीं रहा। इस प्रकार, महाराजा रणजीत सिंह की मृत्यु के केवल दस वर्ष पशचात् फूट, आन्तरिक संघर्ष, षड्यंत्र और स्वार्थी सरदारों के कुचक्रों के कारण प्रबल सिख रज्य का अन्त हो गया।

पंजाब जीतने से अंगरेजी राज्य की सीमाएँ भारत की भौगोलिक सीमाओं तक पहुँच गयीं। अव अंगरेज अफगानिस्तान अथवा उत्तर-पश्चिम के अन्य राज्यों से सम्पर्क कर सकते थे। सिख भारत में अन्तिम शक्ति थे जिससे अंगरेजों को खतरा हो सकता था। अब वह खतरा भी समाप्त हो गया।

4. आंग्ल-अवध सम्बन्ध

अवध के साथ अंगरेजों का सम्पर्क सर्वप्रथम क्लाइव के समय हुआ था। वक्सर के युद्ध के वाद क्लाइव ने नवाब शुजाउद्दौला से सन्धि की थी। सन्धि के अनुसार कम्पनी को अवध का राज्य लौटाने के बदले 50 लाख रुपये देना शुजाउद्दौला ने स्वीकार कर लिया। कड़ा और इलाहाबार जिला शाहआलम द्वितीय को दिया गया तथा वनारस और गाजीपुर जिला कम्पनी को। अवध के नवाव ने अंगरेजों की मित्रता मराठों के आक्रमण की दृष्टि से कम्पनी की सुरक्षा के लिए की थी। परन्तु शाहआलम द्वितीय मराठों के पक्ष में चला गया। अतः 1773 ई. में वारेन हेस्टिंग्स ने अवध के नवाव के साथ वनारस की सन्धि की। वनारस की सन्धि के अनुसार कड़ा और इलाहावाद जिले अवध के नवाब को 50 लाख रुपये लेकर लौटा दिये गये। अवध के नवाव ने अंगरेजी सेना की सहायता लेने के वदले प्रतिमास 2,10,000 रुपया देना स्वीकार किया। हेस्टिंग्स ने अवध के नवाब को रूहेलखण्ड पर आक्रमण करने में अंगरेजी सेना की सहायता देने का वचन दिया और बदले में चालीस लाख रुपये कम्पनी को देना अवध के नवाब ने स्वीकार किया।

वनारस की सन्धि सुरक्षात्मक सन्धि थी। वारेन हेस्टिंग्स मराठों के विरुद्ध अवध राज्य को शक्तिशाली बनाना चाहता था। अवध का नवाव रूहेलखण्ड पर अधिकार करना चाहता था। रूहेलखण्ड एक उपजाऊ भूमि क्षेत्र था। मराठों का आक्रमण 1770 ई. से रूहेलखण्ड पर हो रहा था। रूहेलखण्ड पर यदि मराठों का

अधिकार हो जाता तो उससे अवध और कम्पनी-राज्य की सुरक्षा खतरे में पड़ जाती। अतः रूहेलखण्ड पर आक्रमण में वारेन हेस्टिंग्स ने अवध के नवाव को केवल प्रोत्साहन ही नहीं दिया, वल्कि उसे सैनिक सहायता भी दी और 1774 ई. में रूहेलखण्ड पर अवध के नवाव का अधिकार हो गया।

1775 ई. में अवध के नवाव शुजाउद्दौला की मृत्यु हो गयी। शुजाउद्दौला का पुत्र आसिफुद्दौला अवध का नवाब बना। वारेन हेस्टिंग्स और उसकी काउन्सिल के बीच मतभेद चल रहा था। गवर्नर-जनरल के प्रत्येक कार्य की समीक्षा काउन्सिल के सदस्य करना चाहते थे। अतः बनारस की सन्धि की भी समीक्षा की गयी और यह तर्क दिया गया कि वह सन्धि शुजाउद्दौला के साथ व्यक्तिगत आधार पर की गयी थी, अतः शुजाउद्दौला की मृत्यु के बाद वह सन्धि समाप्त हो गयी। हेस्टिंग्स की इच्छा के विरुद्ध 1775 ई. में आस्फुिद्दौला से काउन्सिल के सदस्यों ने फैजावाद की सन्धि की।

फैजाबाद की सन्धि में अंगरेजी सेना के व्यय की मात्रा वढ़ा दी गयी और वनारस तथा गाजीपुर का क्षेत्र प्रत्यक्ष रूप से कम्पनी के अधीन कर दिया गया। आसिफुद्दौला को कम्पनी को रकम चुकाने के लिए शुजाउद्दौला की बेगमों से धन वसूलने में सैनिक सहायता दी गयी। फैजाबाद की सन्धि ने अवध राज्य को आर्थिक दृष्टि से खोखला बना दिया। अंगरेजों को पूरी रकम चुकाने की स्थिति में [illegible] रहने के कारण भूतपूर्व नवाब की विधवाओं से बलपूर्वक धन वसूल किया गया।

अवध राज्य पर अंगरेजों का पूर्ण नियंत्रण हो चुका था। अवध के आन्तरिक प्रशासन पर अंगरेजों का प्रभाव बढ़ गया। अंगरेजी सेना रखने के नाम पर प्रतिवर्ष अवध को 74 लाख रुपये देने पड़ते थे। सैनिक-व्यय की पूर्त्ति के फलस्वरूप अवध का कोष रिक्त हो चुका था। अवध के व्यापार पर भी अंगरेजों का नियंत्रण था। कॉर्नवालिस को अवध राज्य के मंत्री हैदरबेग द्वारा अवध की शोचनीय स्थिति की जानकारी मिली। उसने सैनिक-व्यय की रकम घटाकर 50 लाख रुपये प्रतिवर्ष कर दी तथा अंगरेज रेजिडेण्ट को आन्तरिक प्रशासन में हस्तक्षेप न करने की आज्ञा दी परन्तु अवध राज्य की स्थिति में कोई सुधार नहीं आया।

कॉर्नवालिस ने अवध के नवाब द्वारा 50 लाख रुपये सैनिक खर्च के रूप में कम्पनी को देने की बात स्वीकार कर ली थी तथा भविष्य में अंगरेज सैनिकों की संख्या में वृद्धि नहीं करने का आश्वासन दिया था। परन्तु सर जॉनशार ने अफगानों के आक्रमण की आशंका को देखते हुए अवध के नवाब पर सेना में वृद्धि तथा उसके लिए साढ़े पाँच लाख रुपया अतिरिक्त देने के लिए दबाव डाला। नवाब ने सैनिकों में वृद्धि और रुपयों की अतिरिक्त माँग को स्वीकार नहीं किया। सर जॉनशार ने स्वयं लखनऊ पहुँचकर अवध के दीवान झाउलाउ को पदच्युत कर दिया और नवाव पर दवाव डालकर अपनी माँग स्वीकार करवा ली। आसिफुद्दौला को इस घटना से

इतना अधिक आघात पहुँचा कि कुछ दिनों वाद उसकी मृत्यु हो गयी। इसके वाद नवाव के भाई सआदतअली और लड़के वजीरअली में गद्दी के लिए झगड़ा हुआ। सर जॉन शोर ने इस झगड़े में हस्तक्षेप किया और 1798 ई. में सआदतअली को नवाव बना दिया। सआदतअली के साथ एक सन्धि की गयी जिसके अनुसार सैनिक खर्च वढ़ाकर 76 लाख रुपया प्रतिवर्ष कर दिया गया। नवाव बनने के वदले सआदतअली को 12 लाख रुपये कम्पनी को देने पड़े और डेढ़ लाख रुपये पेंशन वजीरअली को। इसके अतिरिक्त इलाहावाद में किले की मरम्मत के नाम पर अंगरेजों ने अवध के नये नवाव से आठ लाख रुपये लिये। अवध को सर जॉनशार ने बिक्री की चीज बना दिया। अवध गा व्यय वढ़ गया और अंगरेजों की सत्ता भी अवध में वढ़ी।

वेलेजली ने आते ही अवध की ओर ध्यान दिया। वह अवध को अंगरेजी राज्य में मिलाना चाहता था। अवध का राज्य अंगरेजों की कूटनीति का शिकार पहले ही हो चुका था। इस राज्य की आर्थिक स्थिति वहुत दयनीय थी मराठा, सिख और अफगानिस्तान के शासक जमानशाह अवध पर आक्रमण करना चाहते थे। अवध का नवाब सआदतअली इस आक्रमण का सामना करने की स्थिति में नहीं था। नवाब की असहाय अवस्था का लाभ उठाकर वेलेजली ने देशी सैनिकों की संख्या में कमी और अंगरेजी सेना की संख्या में वृद्धि का प्रस्ताव सआदतअली के सामने रखा। पहले तो सआदतअली ने वेलेजली का प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया, किन्तु बाद में उसने 10 नवम्बर, 1801 ई. को सहायक सन्धि पर हस्ताक्षर कर दिये।

सन्धि के अनुसार अवध के नवाब को अपनी सेना घटानी पड़ी और सहायक सैनिकों की संख्या बढ़ानी पड़ी। अंगरेजी सेना के खर्च के लिए रुहेलखण्ड तथा दक्षिणी दोआब का समृद्ध क्षेत्र उसे कम्पनी को देना पड़ा। अवध में एक रेजिडेण्ट की नियुक्ति की गयी जो नवाब को आन्तरिक सुधार के सम्बन्ध में परामर्श देने का अधिकारी था। अवध से वेलेजली की बलपूर्वक सन्धि की आलोचना अंगरेज इतिहासकार मिल, विल्सन, अल्फ्रेड लायल आदि ने की है। वेलेजली का व्यवहार अवध के प्रति निन्दनीय था, किन्तु कम्पनी के लिए हितकर।

लॉर्ड वेलेजली के समय अवध के नवाब पर अंगरेजों का पूर्ण नियंत्रण हो चुका था। उसका आधा राज्य भी उससे छीन लिया गया। आन्तरिक शासन में नवाब नाम-मात्र को स्वतंत्र था। उसे अंगरेज रेजिडेण्ट की आज्ञा का पालन करना होता था। नवाब के हाथ में वास्तविक सत्ता नहीं थी, उसकी अपनी सेना भी नहीं थी तथा शासन में अंगरेजों का हस्तक्षेप रहता था। बाह्य आक्रमण से उसकी सुरक्षा का दायित्व अंगरेजों पर था। इस कारण नवाब का शासन खराब होता गया। नवाब और उसके ताल्लुकेदारों के अत्याचार जनता पर बढ़ रहे थे और इससे बचने का भी कोई उपाय

नहीं था, क्योंकि आन्तरिक विद्रोह और वाह्य आक्रमण से नवाब की सुरक्षा अंगरेजों पर निर्भर थी। अवध के कुत्सित शासन के लिए अंगरेज ही जिम्मेवार थे। वे केवल अपने हित में शासन में हस्तक्षेप करते थे। ऐसी स्थिति में कोई योग्य शासक भी शासन की बुराइयों को दूर नहीं कर सकता था। अवध के नवाव को अनेक बार धमकी दी गयी कि यदि उसके शासन में सुधार नहीं हुआ तो उसका राज्य अंगरेजी राज्य में मिला लिया जाएगा। लेकिन अवध को अंगरेजी राज्य में सम्मिलित नहीं किया गया। इसका प्रमुख कारण था कि अवध का हर नवाब अंगरेजों के प्रति वफादार था।

लॉर्ड हेस्टिंग्स ने अवध के नवाब से दो करोड़ रुपया पाया। लॉर्ड एमहर्स्ट के समय नवाव से 50 लाख रुपये लिए गए। लॉर्ड विलियन बेन्टिक के समय अवध की स्थिति काफी दयनीय थी। उस समय अवध का नवाब नसीरुद्दीन हैदर था। उसके शासनकाल में अवध राज्य भ्रष्टाचार, कुशासन और अव्यवस्था का केन्द्र था। नसीरुद्दीन स्वयं तो सुधार नहीं ही लाना चाहता था, बल्कि योग्य मंत्रियों के सुझाव की भी उपेक्षा करता था। कम्पनी के संचालक मण्डल के आदेश पर विलियम बेन्टिक 1831 ई. में अवध गया और नवाब को शासन में सुधार लाने की उसने धमकी दी। नवाब के मंत्री हकीम मेहदी ने शासन में सुधार का प्रयत्न किया और इसके लिए अंगरेजों से सहायता माँगी। लेकिन बेन्टिक ने इनकार कर दिया। अवध की स्थिति पूर्ववत् बनी रही और बेन्टिक ने भी कोई सुधार नहीं किया। सच तो यह था कि "गवर्नर-जनरल का मुख्य उदेश्य अवध के शासन में सुधार लाना नहीं था। वह तो शासन की कुव्यवस्था से अवध को अंगरेजी राज्य में मिलाने का आधार बनाना चाहता था।

अवध के नवाव नसीरुद्दीन हैदर की मृत्यु 1837 ई. में हुई। नवाब की विधवा अवध में विद्रोह का नेतृत्व कर रही थी। ऑकलैण्ड के हस्तक्षेप से विद्रोह शान्त हो गया। मुहम्मद अली अवध का नया नवाब बना। अवध का शासन प्रबन्ध भ्रष्ट हो चुका था। ऑकलैण्ड ने नये नवाब को शासन में सुधार लाने की धमकी दी तथा स्पष्ट कर दिया कि भविष्य में सुधार नहीं होने पर अवध को कम्पनी-राज्य में सम्मिलित कर लिया जाएगा।

अगले दस वर्षों तक अंगरेज सरकार अफगानिस्तान, पंजाव और सिन्ध के युद्ध में व्यस्त रही। अतः उसने अवध की ओर ध्यान नहीं दिया। 1847 ई. में लॉर्ड हार्डिंज ने पुनः अवध की ओर ध्यान दिया। उसने अवध के नवाब वाजिदअली शाह को चेतावनी दी कि यदि दो वर्षों में शासन में सुधार नहीं हुआ तो अवध पर अंगरेज अधिकार कर लेंगे। नवाब शासन में कोई सुधार नहीं ला सका। किन्तु द्वितीय आंग्ल-सिख युद्ध के आरम्भ हो जाने से अवध उस समय बच गया।

आर्ड डलहौजी साम्राज्यवादी था। अवध राज्य उसकी अपहरण-नीति का शिकार वन गया। अंगरेज अवध के राज्य को कम्पनी-साम्राज्य में मिलाने के लिए वहाना ढूँढ़ ही रहे थे। अवध के नवाव पर अंगरेजों के विरुद्ध युद्ध छेड़ने, विद्रोह करने अथवा षड्यंत्र करने का आरोप लगाया नहीं जा सकता था, क्योंकि अवध के नवाव हमेशा अंगरेजों के वफादार थे और उन्हें नियमित रूप से वार्षिक कर देते आ रहे थे। इसलिए अवध के नवाव पर केवल कुशासन का आरोप लगाया जा सकता था। इसी आधार पर भूतपूर्व गवर्नर-जनरल ने भी नवाव को उसका राज्य छीनने की धमकी दी थी। डलहौजी ने भी वही आधार लिया। अवध राज्य में प्रशासनिक अव्यवस्था और भ्रष्टाचार का बोलबाला था। वाजिदअली शाह के समय प्रशासनिक अव्यवस्था और भ्रष्टाचार हद से अधिक बढ़ गया था। डलहौजी ने 1849 ई. में कर्नल स्लीमैन को अवध का रेजिडेण्ट नियुक्त किया। स्लीमैन ने अवध राज्य में व्याप्त प्रशासनिक त्रुटियों, सैनिक दुर्वलता, नवाव की चरित्र सम्बन्धी कमाजेरी और आर्थिक दुर्व्यवस्था की एक रिपोर्ट कम्पनी के संचालक-मण्डल के समक्ष पेश की। 1854 ई. में जनरल आउटम अवध में रेजिडेण्ट नियुक्त हुआ। आउट्रम की रिपोर्ट कर्नल स्लीमैन के कथन की पुष्टि करती थी। अतः संचालक-मण्डल की सहमति पाकर डलहौजी ने अवध को कम्पनी साम्राज्य में मिलाने की योजना बना ली। रेजिडेण्ट आउट्रम को अवध के नवाब से नयी सन्धि करने का आदेश दिया गया। सन्धिपत्र में नवाब द्वारा स्वेच्छा से राज्य अर्पित करने की बात कही गयी थी। सन्धिपत्र पर अवध के नवाव वाजिदअली शाह ने हस्ताक्षर नहीं किया। अवध के नवाब के विरुद्ध सैनिक भेजे गये और उसे बन्दी बनाकर कलकत्ता भेज दिया गया। इस प्रकार 13 जनवरी, 1856 ई. को अवध राज्य कम्पनी-साम्राज्य में मिला लिया गया।

अवध राज्य के अपहरण से देशी राज्यों में आतंक की भावना आ गयी क्योंकि प्रशासनिक अव्यवस्था और भ्रष्टाचार के नाम पर किसी भी राज्य को बलपूर्वक अंगरेजी साम्राज्य में सम्मिलित किया जा सकता था। अवध के अपहरण से देशी शासकों में असन्तोष बढ़ा और वे क्षुब्ध हो उठे। अंगरेजों ने देशी राजाओं के विशेषाधिकार समाप्त कर दिये थे। अवध राजय के प्रति अंगरेजों के व्यवहार ने 1857 ई. के विद्रोह की पृष्ठभूमि तैयार की।

अवध के विलय का औचित्य : अवध का अंगरेजी राज्य में मिलाया जाना न नैतिक था और न लाभकारी। अवध को कुशासन के आधार पर अंगरेजी राज्य में मिलाया गया, लेकिन यह प्रमाणित करना कठिन है कि अवध का शासन उतना खराब था जितना कि स्लीमैन अपनी रिपोर्ट में बतलाता है। स्लीमैन जानता था कि डलहौजी अवध को कम्पनी-राज्य में मिलाना चाहता है। अतः डलहौजी को प्रसन्न करने के लिए अवध के सम्बन्ध में खराब रिपोर्ट तैयार करना स्लीमैन के लिए

स्वाभाविक था। आउट्रम की रिपोर्ट का आधार स्लीमैन की रिपोर्ट थी। अनेक अंगरेज लेखकों ने भी अवध के शासन के सम्बन्ध में लिखा है। उनके अनुसार भी स्पष्ट होता है कि अवध के कुशासन का इतना बोलवाला नहीं था जितना कि स्लीमैन और आउट्रम ने बतलाया। अवध के शासन की अच्छाइयों के बारे में भी हमें जानकारी मिलती है। 1818 ई. में लॉर्ड हेस्टिंग्स ने नवाब को उचित शासन के लिए बधाई दी थी। विशप हीवर और कैप्टन लेकिट का कथन है कि अवध के निवासी अंगरेजों के शासन में जाना पसन्द नहीं करते थे। इस प्रकार अवध का शासन उतना बुरा नहीं था जितना कि अंगरेज साम्राज्यवादी इतिहासकारों ने बतलाया है जिसके आधार पर अवध को अंगरेजी राज्य में मिलाया जाना उचित माना जाए।

डलहौजी तथा उसके समर्थकों को तर्क है कि अवध के नवाब को शासन में सुधार लाने के लिए बार-बार कहा गया, लेकिन उसने इस ओर कोई ध्यान नहीं दिया। इसलिए अवध का अंगरेजी राज्य में मिलाया जाना आवश्यक हो गया। यह तर्क उचित नहीं प्रतीत होता, क्योंकि जिन नवाबों ने सुधार के लिए प्रयत्न किये उन्हें अंगरेजों से कोई सहयोग नहीं मिला। वजीर हकीम मेहदी ने बेन्टिक से सुधार के लिए सहायता माँगी तो बेन्टिग ने सहायता देने से स्पष्ट इनकार किया था। 1848 ई. में जब अवध के तत्कालीन वजीर से सुधार के लिए अंगरेजों से सहायता माँगी जो उसे भी अस्वीकार किया गया। इस प्रकार अंगरेज गवर्नर नवाबों को सुधार के लिए केवल धमकी देते थे, वे नवाबों को किसी प्रकार का सहायोग नहीं देना चाहते थे, अतः अंगरेज अधिकारियों की अवध में सुधार सम्बन्धी बहानेबाजी के पीछे उनकी साम्राज्यवादी मनोवृत्ति छिपी थी। अवध के वास्तविक शासक अंगरेज ही थे और तब तक अवध के शासन में सुधार सम्भव नहीं था जब तक अंगरेज अधिकारी नवाब को सहयोग न देते। स्पष्ट है, अंगरेज गवर्नर- जनरल अवध के शासन में सुधार के इच्छुक नहीं थे, शासन की खराबी को, अवध को कम्पनी-राज्य में मिलाने का बहाना बनाना चाहते थे।

अवध को अंगरेजी राज्य में मिलने से वहाँ के नागरिकों को कोई लाभ नहीं हुआ। अंगरेज अधिकारियों ने लखनऊ के महलों को बर्बाद किया, खजाने लूटे, दुर्बल स्त्रियों को अपमानित किया और नवाब की व्यक्तिगत वस्तुओं को बाजारों में बेचा। अंगरेजों की नयी भूमि-व्यवस्था से जमींदारों की हानि हुई। किसानों को अधिक लगान देने के कारण कष्ट हुआ। अवध की सेना से साठ हजार सैनिकों में पचास हजार को निकाल दिया गया। वस्तुओं की क़ीमतें काफ़ी बढ़ गयीं। नवीन न्याय-व्यवस्था 1857 ई. के विद्रोह के समय स्पष्ट हो गई जब अवध के ताल्लुकेदारों और नागरिकों ने बड़े पैमाने पर विद्रोह में भाग लिया

5. सिन्ध का विलय

अठारहवीं सदी के अन्त में सिन्ध, जो नाम के लिए अफगानिस्तान के राज्य का भाग, वलूची जाति के तालपुरी अमीरों के हाथों में था। ये अमीर तीन थे–एक सिन्ध के ऊपरी भाग में, जिसकी राजधानी खैरपुर थी, दूसरा सिन्ध के निचले भाग में, जिसकी राजधानी हैदरावाद थी और तीसरा जिसकी राजधानी मीरापुर थी, शासन करता था। नाम के लिए दो अमीर हैदरावाद के अमीर के अधीन थे, परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से तीनों अमीर एक-दूसरे से पूर्णतया स्वतंत्र थे। उत्तराधिकार के एक नियम के अनुसार गद्दी अमीर के लड़के को नहीं, बल्कि भाई को प्राप्त होती थी। इन अमीरों के राज्य की सीमाएँ कच्छ तक फैली हुई थीं और अंगरेजी राज्य की सीमाओं से मिलती थीं। इनके राज्य में करौंची का वन्दरगाह, पश्चिम से व्यापार करने का मुख्य स्थान शिकारपुर और गक्खर का किला था जो सिन्धु नदी के जलमार्ग की सुरक्षा करता था।

व्यापारिक दृष्टि से सिन्ध का महत्त्व अंगरेज समझते थे। 1630 ई. में ही उन्होंने मुगल बादशाह का एक फरमान लेकर सिन्ध में अपनी व्यापारिक फैक्टरियाँ बना ली थीं। लेकिन अठारंहवीं सदी के अन्त तक सिन्ध का व्यापार बहुत अधिका नहीं हुआ। नेपोलियन के आक्रमण के समय अंगरेजों को सिन्ध की राजनीतिक उपयोगिता ज्ञात हुई और उन्होंने 1801 ई. में सिन्ध के अमीरों से एक सन्धि की जिसके अनुसार अमीरों ने वायदा किया कि वे फ्रांसीसियों को सिन्ध में नहीं बसने देंगे। 1820 ई. में अमीरों ने यह भी वायदा किया कि वे किसी भी यूरोपियन या अमेरिकन को सिन्ध में नहीं बसने देंगे।

उस समय तक महाराजा रणजीत सिंह ने पंजाब को जीत लिया था और वह सिन्ध को भी जीतना चाहता था। 1823-25 ई. तक के समय के बीच उसने सिन्ध को जीतने की तैयारियाँ पूरी कीं परन्तु अंगरेजों ने यह स्पष्ट कर दिया कि वे सिन्ध में रणजीत सिंह को हस्तक्षेप नहीं करने देंगे। इस कारण रणजीत सिंह सिन्ध को उस समय या बाद में भी न जीत सका। उसके पश्चात् अंगरेजों को रूस के आक्रमण का भय हुआ जिसके कारण प्रथम अफगान युद्ध हुआ। उस समय से सिन्ध का राजनीतिक महत्त्व अधिक बढ़ गया क्योंकि स्थल मार्ग से बोलन दर्रे से होकर भारत में आने का मार्ग सिन्ध के अमीरों की सीमाओं में से होकर था।

सिन्ध से राजनीतिक सम्पर्क बढ़ाने का कार्य, सर्वप्रथम, 1831 ई. में एलेक्जेण्डर बर्न्स को, सिन्धु नदी में जलयात्रा की सुविधाओं की खोज करने के उद्देश्य से भेजने से आरम्भ हुआ। राजा विलियम चतुर्थ ने कुछ घोड़े उपहारस्वरूप रणजीत सिंह को भेजे। अंगरेजों ने उन्हें जल-मार्ग से भेजना चाहा। अंगरेजों ने उन्हें जल-मार्ग से भेजना चाहा। अमीर इसे पसन्द न करते थे परन्तु जब रणजीत सिंह

ने अपना क्रोध प्रकट किया तो उन्हें आज्ञा देनी पड़ी। वर्न्स सिन्धु नदी के जल-मार्ग से लाहौर गया। सिन्ध के नागरिक और अमीर अंगरेजों से कितना डरते थे, यह उस समय के उनके विचारों से स्पष्ट हो जाता है। एक बलूची सैनिक ने वर्न्स से कहा, "बुराई हो चुकी है। तुमने हमारे देश को देख लिया।" एक अन्य सिन्धी ने कहा, "दुख की बात है कि सिन्ध अब गया क्योंकि अंगरेजों ने नदी को देख लिया है जो उनके राज्य-विस्तार का मार्ग है।" ये शब्द सत्य सिद्ध हुए।

वर्न्स ने सिन्धु नदी के व्यापारिक महत्त्व को स्पष्ट किया और अंगरेजों ने कच्छ के रेजीडेण्ट कर्नल पोटिंगर को आदेश दिया कि वह अमीरों से व्यापारिक सन्धि की बातचीत आरम्भ करे। अमीर सन्धि को तैयार न थे। उन्हें भय था कि व्यापार के आधार पर अंगरेज वहाँ अपना राजनीतिक प्रभाव स्थापित करेंगे। उन्होंने अफगानिस्तान के शासक से सहायता माँगी परन्तु कोई लाभ न हुआ और अन्त में हैदराबाद और खैरपुर के अमीरों को 1832 ई. में अंगरेजों को सिन्धु नदी और सिन्ध की सड़कों का प्रयोग करने की आज्ञा निम्न शर्त्तों पर देनी पड़ी :

1. कोई व्यक्ति इन मार्गों पर सैनिक सामान नहीं लायेगा।
2. सिन्धु नदी में कोई सैनिक नाव या जहाज नहीं लायेगा।
3. कोई भी अंगरेज व्यापारी स्थायी रूप से सिन्ध में नहीं रहेगा।

उस समय रणजीत सिंह ने पुनः सिन्ध में अपना प्रभुत्व स्थापित करने का प्रयत्न किया परन्तु अंगरेजों ने उसे रोक दिया। अफगानिस्तान के भागे हुए शासक शाहशुंजा को भी यह स्पष्ट कर दिया गया कि यदि उसने अमीरों की कोई भी सहायता की तो उसकी पेंशन बन्द कर दी जायगी और अंगरेजी सीमाओं में उसे शरण नहीं मिलेगी। इस प्रकार अंगरेजों ने किसी अन्य शक्ति को सिन्ध में हस्तक्षेप नहीं करने दिया और स्वयं अपने प्रभाव में वृद्धि करते रहे। रणजीत सिंह के आक्रमण का भय दिखाकर अंगरेजों ने अमीरों को अप्रैल, 1838 ई. में एक और सिन्ध करने को बाध्य किया। इस सन्धि के अनुसार :

1. अंगरेजों ने अमीरों और रणजीत सिंह के सम्बन्धों को ठीक कराने में सहायता देने का वायदा किया; और

2. एक अंगरेज प्रतिनिधि हैदराबाद के दरबार में रखा गया जो सिन्ध में कहीं भी आ-जा सकता है। और अपनी रक्षा के लिए आवश्यक सैनिक अपने साथ रख सकता था।

इस सन्धि के द्वारा अंगरेजों के प्रभाव में वृद्धि हुई। एक अंगरेज प्रतिनिध को एक अनिश्चित सेना के साथ रखना, "अमीरों के महल में एक ऐसा बम रखना था जो गवर्नर-जनरल की इच्छा से कभी भी फूट सकता था।"

लेकिन अंगरेजों की सन्तुष्टि के लिए यह भी पर्याप्त न था। 1838 ई. में

अंगरेजों, शाहशुजा और रणजीत सिंह में जो त्रिदलीय सन्धि हुई उसमें अमीरों को भी सम्मिलित किया गया। सिन्ध के अमीरों को वाध्य किया गया कि वे शाहशुजा को 25 लाख रुपये कर के रूप में दें। इस कर को न अमीर कभी देते थे और न शाहशुजा, जो अफगानिस्तान का अमीर था, वल्कि 1834 ई. में शाहशुजा ने लिखित रूप से अमीरों को इस कर से मुक्त कर दिया था। इस कारण, अमीरों से यह धन लेना सर्वथा अनैतिक था। यही नहीं, बल्कि अंगरेजों ने स्वयं अमीरों से रुपया लिया। इसके अतिरिक्त अमीरों को यह भी वता दिया गया कि 1832 ई. में की गयी सन्धि का पालन इस समय सम्भव नहीं है और अंगरेजों एवं शाहशुजा की सेनाएँ अफगानिस्तान पर आक्रमण करने के लिए सिन्ध की सीमाओं में से जायेंगी। अंगरेजों ने ये दोनों कार्य इसलिए किये क्योंकि उन्हें धन की आवश्यकता थी और रणजीत सिह ने अंगरेजी सेनाओं को पंजाव से गुजरने की आज्ञा नहीं दी, इसलिए उन्हें सिन्ध से गुजरने का मार्ग चाहिए था।

24 दिस्म्वर, 1838 ई. में को शैरपुर के अमीर को एक सन्धि करने के लिए वाध्य किया गया, जिसके अनुसार :

1. अमीरों ने अंगरेजों की सर्वोच्च्व सत्ता स्वीकार कर ली।

2. अपनी स्थिति के अनुसार अंगरेजों को सैनिक सहायता देने तथा युद्ध में अन्य सहायता देने का वायदा किया।

3. इसके बदले में अमीर प्रति वर्ष 3 लाख रुपये अंगरेजों को देगा।

जुलाई 1841 ई. में मीरपुर के अमीर के साथ भी इसी प्रकार की एक सन्धि की गयी।

इन सन्धियों द्वारा सिन्ध एक प्रकार से अंगरेजों की अधीनता में चला गया। अमीरों का एक-दूसरे से कोई सम्बन्ध न रहा और सभी अमीर अपनी स्वतंत्रता खो बैठे। केवल नाम के लिए सिन्ध को अंगरेजी राज्य में मिलाना बाकी रह गया।

प्रथम अफगान युद्ध के अवसर पर अमीर अंगरेजों के प्रति पूर्णतया वफादार रहे और उनकी सहायता करते रहे। परन्तु जब अफगान युद्ध समाप्त हो गया तब उनकी सेवाओं को स्वीकार नहीं किया गया और तुरन्त सिन्ध को जीतने की योजना बना ली गयी जिसका राजनीतिक महत्त्व अफगान युद्ध के अवसर पर अधिक स्पष्ट हो गया था। यह कहना उचित है, कि "सिन्ध की विजय अफगान युद्ध से सम्वन्धित ही नहीं बल्कि उसका परिणम भी थी।"

लॉर्ड एलनबरों, जो भारत का गवर्नर-जनरल बनकर आया, सिन्ध को जीतने के लिए आरम्भ से ही उत्सुक था। इसी कारण 1842 ई. में आउट्रम के स्थान पर सर चार्ल्स नैपियर को सिन्ध के विषय में सम्पूर्ण सैनिक अधिकार देकर भेजा गया। सिन्ध के अमीरों पर पहले से ही कुछ आरोप लगाये गये थे। नैपिनियर ने उन्हें

स्वीकार कर लिया और अमीरों पर यह आरोप लगाया कि वे अंगरेजों के प्रति वफादार नहीं हैं। उसने अमीरों से माँग की कि :

1. वे सिक्के बनाने का अधिकार अंगरेजों को दे दें।

2. वे उन अंगरेजी जहाजों को, जो सिन्धु नदी में थे, कोयला दें।

3. वे कराँची, थटटा, वक्खर और रोहरी तथा इनके बीच के सभी भाग अंगरेजों को दें।

इसके अतिरिक्त नैपियर ने खैरपुर के अमीर रुस्तम खाँ की मृत्यु के समय अली मुराद को उसका उत्तराधिकारी बनाना स्वीकार कर लिया जबकि रुस्तम खाँ अभी जीवित था और मीर मुहम्मद को अपना उत्तराधिकारी घोषित कर चुका था। नैपियर ने खैरपुर पर आक्रमण किया। 20 जनवरी, 1843 ई. को सभी अमीरों को एक नवीन सन्धि पर हस्ताक्षर करने के लिए बुलाया गया। केवल खैरपुर के अमीर के अतिरिक्त सभी अमीरों ने नवीन सन्धि पर हस्ताक्षर किये। खैरपुर का अमीर उपस्थित न हो सका यद्यपि उसने वायदा किया कि उस सन्धि पर हस्ताक्षर कर देगा। उस समय आउट्रम ने ही इस सन्धि पर अमीरों से हस्ताक्षर कराये थे और तब वह हैदराबाद में था। उसने नैपियर को यह आश्वासन दिया कि सभी अमीरों ने नयी सन्धि पर हस्ताक्षर करने का आश्वासन दिया है। इस कारण उसे सेना लेकर हैदराबाद आने की आवश्यकता नहीं है। परन्तु नैपियर ने यह स्वीकार न किया और वह सेना लेकर हैदराबाद की ओर बढ़ा।

इस प्रकार नैपियर द्वारा निरन्तर अमीरों का अपमान करना और सेना लेकर बढ़ना हैदराबाद में विद्रोह का कारण बन गया। बलूची सैनिकों ने आउट्रम के निवास-स्थान पर आक्रमण कर दिया। आउट्रम भाग गया। लेकिन यही घटना युद्ध का कारण बन गयी। 17 फरवरी, 1843 ई. को नैपियर ने सर्वप्रथम म्यानी के युद्ध में बलूचियों को परास्त किया। हैदराबाद पर अंगरेजों का अधिकार हो गया। 24 मार्च, 1843 ई. को दाबो के युद्ध में नैपियर ने मीरपुर के अमीर शेरमुहम्मद को परास्त किया। सिन्ध के सभी अमीरों ने आत्मसमर्पण कर दिया और 4 अप्रैल को नैपियर ने एलबरो को सूचना भेजी, "मैंने सिन्ध ले लिया है।" शेरमुहम्मद ने एक प्रयत्न और किया परन्तु 14 जून को उसकी पुनः पराजय हुई वह भाग गया। तत्पश्चात् युद्ध समाप्त हो गया। 1843 ई. में सिन्ध को अंगरेजी राज्य में सम्मिलित कर लिया गया।

सिन्ध को अंगरेजी राज्य में मिलाया जाना इतिहास की एक बड़ी अन्यायपूर्ण घटना है। युद्ध का कारण बलूचियों का आउट्रम पर आक्रमण करना बताया जाता है लेकिन स्वयं आउट्रम ने नैपियर को लिखा था अमीर किसी भी प्रकार विद्रोह के लिए उत्तरदायी न थे। उन्होंने स्वयं आउट्रम को बचाने के प्रयत्न किये थे और ठीक

समय से उसे सूचना भेज दी थी। आउट्रम ने नैपियर को लिखा था कि वह सेना लेकर हैदराबाद की ओर न बढ़े अन्यथा अमीर बलूचियों के विद्रोह को न रोक सकेंगे। इस प्रकार युद्ध का वास्तविक कारण नैपियर का सेना के साथ बढ़ना था। अब बलूची सरदारों ने यह अनुभव किया कि सन्धि पर हस्ताक्षर करने और पूरी तरह से आत्मसमर्पण करने के बाद भी अंगरेज सेना लेकर आगे बढ़ रहे थे तब उन्हें विश्वास हो गया कि अंगरेज उन्हें बरबाद करने का निश्चय कर चुके थे। इस कारण आत्मरक्षा के लिए उन्होंने विद्रोह किया। आउट्रम स्वयं लिखता है, "क्या नैपियर यह विश्वास करता था कि अमीर अपनी सेना को दूर भेज देंगे और अपना सीना खोलकर उनके सैनिकों की संगीनों का मुकाबला करने के लिए खड़े हो जायेंगे?"

अंगरेजों द्वारा सिन्ध की विजय अंगरेजों की साम्राज्यवादी नीति का स्पष्ट प्रमाण थी और सभी व्यक्तियों ने इसकी आलोचना की है। हन्स ने लिखा है, 'अगर हमारे भारतीय इतिहास की घटनाओं में अफगान दुर्घटना सबसे हानिकारक है तो सिन्ध की विजय सबसे अनैतिक।" स्वयं नैपियर ने लिखा था, "हमें सिन्ध को जीतने का कोई अधिकार नहीं है, फिर भी हम ऐसा करेंगे और वह एक लाभदायक, उपयोगी तथा मानवतापूर्ण बुराई होगी।" स्वयं डायरेक्टरों की सभा ने इसे "अन्यायपूर्ण, अव्यावहारिक और भारतीय सरकार के यथार्थ सम्मान और हित के विरुद्ध" माना। उन्होंने एलनबरा को वापस बुलाने की धमकी भी दी। एक बार यह भी सोचा गया कि सिन्ध अमीरों को वापस दे दिया जाय, यद्यपि ऐसा नहीं किया गया।

6. मध्य भारत

वेलेजली के बाद तटस्थता की नीति अपनाने के फलस्वरूप भारत में अंगरेज-विरोधी शक्तियों को प्रोत्साहन मिला था। मराठों की शक्ति बिखर चुकी थी। वे एक दूसरे के विरुद्ध संघर्ष कर रहे थे। परन्तु तटस्थता की नीति के चलते वे पुनः शक्तिशाली हो गये। लॉर्ड मिन्टो के शासनकाल में पिन्डारियों के दल सक्रिय लूट-पाट का काम कर रहे थे। मध्य भारत और राजपूताना पिन्डारियों के आक्रमण का केन्द्र था। पठान सरदार अमीर खाँ होल्कर के साथ मिलकर अंगरेजों का विरोध कर रहा था। नेपाल में गोरखों की शक्ति बढ़ गयी थी। उन्होंने भारतीय सीमा में साम्राज्य की स्थिति संकटपूर्ण बना दी थी।

वेलेजली आक्रमण और सहायक सन्धि का जाल बिछाकर कम्पनी-साम्राज्य का विस्तार गंगा-यमुना के मुहाने से लेकर हिसार तक तथा दक्षिण भारत में कृष्णा नदी तक पार कर चुका था। कम्पनी भारत की सार्वभौम शक्ति बन चुकी थी। अतः भारत में शान्ति एवं सुरक्षा की स्थापना कम्पनी का उत्तरदायित्व हो गया था। ऐसी अवस्था में तटस्थता की नीति के प्रति आस्था रखते हुए भी लॉर्ड हेस्टिंग्स को वेलेजली की आक्रमणकारी नीति का अनुसरण करना पड़ा। लॉर्ड हेस्टिंग्स ने मराठों की शक्ति

को नष्ट किया। उसने पिन्डारियों के आतंक को शान्त किया और नेपाल के गोरखों के साथ युद्ध कर भारतीय सीमा को सुरक्षा प्रदान की।

पिन्डारियों का दमन : पिन्डारी लुटेरों का दल था। वे स्वभाव से अत्याचारी और कठोर होते थे। उनका सदर मुकाम मध्य भारत में था। अपने उपद्रवी स्वभाव और लूट-पाट की कार्रवाइयों से वे भारतवर्ष की शान्ति भंग करते रहते थे। हत्या और डकैती पिन्डारियों का जीवन-निर्वाण का मुख्य साधन था। वे दल बनाकर लूट-पाट का काम करते थे। पिन्डारियों का उदय दक्षिण भारत में औरंगजेब के शासनकाल में हुआ था। दक्षिण में मुगल-मराठा युद्ध के सम्बन्ध में पिन्डारियों का उल्लेख मिलता है। चूँकि मुगल अपने प्रान्तों में सुव्यवस्था नहीं रख सके और मराठे लापरवाह होकर वरावर लूटपाट करते रहे, इस कारण बहुतेरे लोग, जिनकी जीविका चली गई थी, संगठित डकैती का जीवन अपनाने लगे। मैलकम के अनुसार, "दुर्वल तथा नष्टप्राय राज्यों के भ्रष्टाचार से पिन्डारियों का जन्म उसी प्रकार हुआ था, जैसे पशु-सड़न के अंश रहते हैं। सौभाग्य से उनमें एकता का कोई ऐसा बन्धन नहीं था, जो मनुष्य को विपत्ति में एक वनाता है। उनमें न तो धर्म और न राष्ट्रीय भावना का बन्धन था।"

विभिन्न मराठा राज्यों ने उन मामूली लुटेरों को अपनी सहायक सेना में काम दिया। उनके प्रधान प्रश्रयदाता होल्कर और सिन्धिया थे। वाजीराव प्रथम ने पिन्डारियों को नियमित घुड़सवार फौज में सम्मिलित कर लिय था। पानीपत की तीसरी लड़ाई के बाद पिन्डारी मालवा में बस गये थे। मराठा सरदार सिन्धिया और होल्कर उन्हें युद्ध के समय काम देते थे। परन्तु मराठों की शक्ति धीरे-धीरे क्षीण होती चली गयी और काम के अभाव में पिन्डारियों ने युद्ध के बदले लूट-पाट का पेशा अपना लिया था। वेलेजली के समय अनेक देशी नरेशों की सेना विघटित कर दी गई। बेकार सैनिक पिन्डारियों के दल में सम्मिलित हो गये। पिन्डारियों के गिरोह में सम्मिलित होने के लिए कोई नियम अथवा अनुशासन नहीं था। चोर, डकैत, लुटेरे आदि इसमें सम्मिलित होते थे। पिन्डारियों के बर्बर अत्याचार से मध्य भारत, राजपूताना, मालवा, गुजरात और दक्षिण भारत विशेष रूप से प्रभावित था। पिन्डारियों को मराठों का संरक्षण प्राप्त था। अतः मराठों की शक्ति को नष्ट करने के लिये पहले लॉर्ड हेस्टिंग्स ने पिन्डारियों का दमन करना आवश्यक समझा।

लॉर्ड हेस्टिंग्स ने पिन्डारियों के दमन के सम्बन्ध में सतर्कता से काम लिया। पिन्डारियों की संख्या काफी बढ़ गयी थी। तटस्थता की नीति के फलस्वरूप उनका लूट-पाट का धन्धा काफी यढ़ गया था। पिन्डारी गुजरात, मिर्जापुर और शाहाबाद में घुसकर लूट-पाट करते थे। हैदराबाद के निजाम की सीमा में भी घुसपैठ कर वे लूट-पाट करने लगे थे। उत्तरी सरकार भी उनके आक्रमण का शिकार बन चुकी थी।

हेस्टिंग्स को इस बात की जानकारी थी कि मराठा सरदार पिन्डारियों को संरक्षण दे सकते हैं। अतः उसने कूटनीति का सहारा लेकर पहले सिन्धिया, भोंसले, राजपूत राजाओं एवं भोपाल के शासक से सन्धि कर उनसे यह आश्वासन ले लिया कि वे पिन्डारियों को किसी प्रकार की सहायता नहीं देंगे। पिन्डारियों को दबाने के उद्देश्य से एक विशाल सेना संगठित की गयी और उन पर आक्रमण किया गया। अन्त में पिन्डारियों के नेता करीम खाँ ने आत्मसमर्पण कर दिया। पिन्डारियों को पूर्णतः समाप्त कर दिया गया। इस प्रकार शान्ति की स्थापना की गयी।

पठानों का दमन : पिन्डारियों की तरह पठानों का भी संगठित समूह था। अपने नेता अमीर खाँ और मुहम्मदशाह खाँ के अधीन पठानों ने प्रधानता प्राप्त की थी। उनमें वही प्रवृत्ति काम कर रही थी जो पिन्डारियों में थी। लेकिन पठानों और पिन्डारियों में अन्तर था। पठानों के अधीन "पिन्डारी सरदारों की सेना से भिन्न ढंग की सेना थी। दोनों वर्गों के बीच अन्तर यह था कि सरकार और शक्तिशाली सरदारों का शिकार करने के लिए पठानों ने अपनी जत्थेबन्दी की थी। इस उद्देश्य से उनकी सेना नियमित युद्धों और घेरों का सामान लेकर चलती थी। इस प्रकार वह राजकुमारों और अधिकारूढ़ व्यक्तियों को डराती थी। उपयुक्त सेना से प्रभावित करके धमकी के द्वारा जितना चन्दा और दूसरा लाभ उठाया जा सकता था, उतना उसने उठाया। इसके विपरीत पिन्डारियों का उद्देश्य व्यापक ढंग से लूट-मार मचाना था।" पठान राजा, महाराजा, जमीन्दार और सरकारी अधिकारियों को लूटते थे। पिन्डारियों का समूह किसी को छोड़ता नहीं था। पठानों के पास अपनी संगठित सेना रहती थी। सैनिकों के आंतक से बचने के लिए बहुत-से जागीरदार पठानों को धन देकर सन्तुष्ट कर देते थे।

पठानों के नेता मुहम्मदशाह खाँ और अमीर खाँ थे। योग्य नेतृत्व के बल पर पठानों ने अपनी शक्ति बढ़ा ली थी। पठानों के आक्रमण का केन्द्र राजपूताना था। राजपूत राजाओं के बीच शत्रुता का लाभ उठाकर पठान लूट-पाट का काम करते थे। 1809 ई. में जोधपुर के राजा ने मुहम्मदशाह खाँ से सैनिक सहायता ली थी। जोधपुर पर सिन्धिया आक्रमण करना चाहता था। जयपुर और जोधपुर के बीच शत्रुता थी। पठानों को राजपूतों के पारस्परिक षड्यंत्रों में हस्तक्षेप करने तथा कई दलों का समर्थन बनने का मौका मिला और उनमें प्रत्येक से उन्होंने कुछ व्यक्तिगत लाभ उठाने की चेष्ट की। अमीर खाँ ने जोधपुर के राजा के खिलाफ जयपुर के राजा जगतसिंह से धन लेकर सहायता दी। 1799 ई. में अमीर खाँ जसवन्तराव होल्कर से मिल गया। वह होल्कर दरबार का शक्तिशाली सरदार था। वस्तुतः पठान आन्तरिक संघर्ष के अवसर पर किसी को सहायता देकर लाभ उठाते थे। 1814 ई. में मुहम्मदशाह खाँ की मृत्यु हो गई। इसके बाद सभी पठानों ने अमीर खाँ के

नेतृत्व को स्वीकार कर लिया। फलतः अमीर खाँ की शक्ति कई गुणा अधिक बढ़ गई। अमीर खाँ ने संगठित सेना के सहारे लूट-पाट करना प्रारम्भ कर दिया। पूरे राजस्थान में अमीर खाँ का आतंक फैल गया।

अमीर खाँ की गतिविधि और क्रिया-कलापों का मेल किसी भी प्रकार से ब्रिटिश शक्ति के सुसंगठन के साथ नहीं हो सकता था। इसलिए अंगरेजों ने 'अमीर खाँ को लुटेरे के जत्थों से हटाने के लिए उसकी आशाओं को कुछ जगाने का निश्चय किया। दिल्ली के ब्रिटिश रेजिडेण्ट सर चार्ल्स मेटकाफ ने अमीर खाँ के साथ वातचीत प्रारम्भ की। मेटकाफ के प्रयत्न से 7 नवम्बर, 1817 ई. को अमीर खाँ और अंगरेजों के बीच एक सन्धि हुई सन्धि के अनुसार, अमीर खाँ ने अपनी सेना को विघटित कर दिया और होल्कर से जो प्रदेश उसे मिले थे, उन पर उसका अधिकार पक्का हो गया। साथ ही अंगरेजों ने अमीर खाँ को टोंक का नवाव स्वीकार कर लिया। इस प्रकार एक लुटेरा और शक्तिशाली पठान नेता, जो ब्रिटिश-विरोधी था, अंगरेजों का मित्र वन गया। मन्दसौर की सन्धि (6 जनवरी, 1818 ई.) के बाद होल्कर ने भी अमीर खाँ की स्वतंत्रता को स्वीकार कर लिया। इस प्रकार पठानों और पिन्डारियों का दमन कर आतंकवादी शक्तियों को खतम कर दिया गया और अंगरेजों की प्रतिष्ठा बढ़ी। राजपूताना के राज्य अंगरेजों के संरक्षण में आ गये। देश में शान्ति और सामाजिक सुव्यवस्था की स्थापना हुई। मराठों को अब न तो पिन्डारियों से मदद प्राप्त हो सकती थी और न पठानों की सैनिक सहायता ही मिल सकती थी।

ब्रिटिश प्रधानता अन्य राज्यों में भी कारगर हुई। भोपाल के नवाव ने देखा कि मध्य भारत में परस्पर-विरोधी शक्तियों के बीच उसकी स्थिति खतरे से खाली नहीं है, इसलिए उसने 27 फरवरी, 1818 ई. में अंगरेजों के साथ 'रक्षात्मक अधीनस्थ सन्धि' की। मालवा के छोटे राज्यों ने भी अंगरेजों की प्रभुत्व-शक्ति को स्वीकार किया। धारा के राजा और देवास के संयुक्त राजाओं (तुकाजी और आनन्दराव) ने ब्रिटिश सरकार के साथ अधीनस्थ मित्रता की सन्धियाँ कीं। अमीर खाँ के बहनोई गफूर खाँ को होल्कर के राज्य से जागीर मिली थी। अंगरेजों ने उसे मान लिया। इस तरह 1818 ई. में मालवा में एक नये राज्य का निर्माण किया गया। होल्कर की सरकार ने गफूर खाँ की स्वतंत्रता को भी स्वीकार कर लिया और वह जावरा का पहला नवाब बनाया गया। इस बीच 1817-1819 ई. की लड़ाइयों का अन्त होने पर मैलकम चार वर्षों तक मालवा की व्यवस्था में लगा रहा। उसने 'बहुत-से छोटे राजाओं और सरदारों के पद, शक्ति एवं अधिकारों को सुनिश्चित किया।'' बुन्देलखण्ड ने भी ब्रिटिश प्रभुत्व-शक्ति को स्वीकार कर लिया। रीवाँ भी ब्रिटिश संरक्षण के अधीन चला आया। 23 दिसम्बर, 1812 ई. की एक सन्धि के अनुसार ओरछा के राजा ने अंगरेजों से मित्रता की सन्धि की। इसकी शर्तें भी रीवाँ राज्य की शर्तों के समान

थीं। दतिया और समथर के सरदार तथा झाँसी के सूबेदार भी ब्रिटिश संरक्षण के अधीन चले आये। 1818 ई. में पेशवा की पराजय के बाद बुन्देलखण्ड में पेशवा के सारे सार्वभौम अधिकार अंगरेजों के हाथ में चले गये। कच्छ के राज्य पर जरेज राजपूत शासन करते थे और यह कई वर्षों से अशान्त अवस्था में था। इस समय यह ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अधिकार में लाया गया।

जिन भारतीय शक्तियों ने अभी तक मुगल साम्राज्य के ध्वंसावशेष पर राजनीतिक प्रभाव के लिए संघर्ष किया था, अब वे ब्रिटिश हथियारों और दबाव के नीचे चली आई। सभी भारतीय राज्यों ने अब अंगरेजों की प्रधानता को स्वीकार किया और राजनीतिक तथा सामरिक सम्बन्धों के द्वारा अंगरेजों की प्रभुत्व-शक्ति हिमालय से लेकर कुमारी अन्तरीप तक और ब्रह्मपुत्र से लेकर सतलुज तक स्थापित हुई। उदयी सिख शक्ति के साथ उनकी मित्रता और सन्धि थी। लॉर्ड हेस्टिंग्स ने उस काम को पूरा किया, जिसे क्लाइव ने आरम्भ किया था और वेलेजली ने आगे बढ़ाया था।

7. आंग्ल-बर्मा सम्बन्ध

भारत के उत्तर-पूरब में बर्मा का राज्य था। अठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में जिस प्रकार गोरखा जाति उत्तरी भारत में एक संगठित राज्य स्थापित कर रही थी, उसी प्रकार भारत की पूर्वी सीमा पर चीनी-तिब्बती मिश्रित एक जाति आवा को राजधानी बनाकर बर्मा का एक शक्तिशाली राज्य स्थापित कर रही थी। उसने बहादुर सरदार अलोमपोरा के नेतृत्व में बर्मा राज्य का बहुत विस्तार किया। उसने इरावदी का मुहाना, पेगू, तनासरम और आरम्भ का प्रदेश जीत कर एक बड़े राज्य की नींव डाली। उसके पश्चात् भी बर्मा का राज्य विभिन्न दिशाओं में बढ़ता ही गया और उन्नीसवीं सदी के आरमी में उसने आसाम, मणिपुर आदि पर भी अधिकार कर लिया जिससे राज्य की सीमाएँ अंगरेजों के भारत के राज्य की सीमाओं से मिलने लगीं।

प्रथम आंग्ल-बर्मा युद्ध (1824-26 ई.) : बर्मा से अंगरेजों के व्यापारिक सम्बन्ध 1857 ई. से थे, परन्तु वे सम्बन्ध बहुत ही मामूली थे। बर्मा और अंगरेजी राज्य की, पूर्व की सीमाएँ जब मिलने लगीं तो इनके आपस के सम्बन्ध खराब होने लगे। अंगरेजों ने अठारहवीं सदी के अन्त में बर्मा से राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया और इस उदेश्य से 1775 ई. में कैप्टन सिम्स को, 1797 ई. में कैप्टन कोक्स को और 1803, 1809 और 1811 ई. में कैप्टन कैनिंग को राजदूत बनाकर बर्मा भेजा। परन्तु बर्मा के दरबार ने इन राजदूतों का स्वागत नहीं किया और इनको भेजने का कोई लाभ नहीं हुआ।

अंगरेजों के, बर्मा से सीमा के झगड़े उसी समय से आरम्भ हो गये थे जबकि बर्मा ने अराकान को जीत लिया था। अराकान के लोग जब भागकर भारत की सीमाओं में आए तो 1794 ई. में ही 5000 बर्मा के सैनिकों ने भारत की सीमा में

प्रवेश करके उन लोगों को अंगरेजों से वापस माँगा। अंगरेजों ने उन्हें वापस कर दिया। इस घटना से वर्मा का सहास बढ़ा। परन्तु लॉर्ड हेस्टिंग्स के समय में अंगरेजों की इस नीति में परिवर्त्तन आ गया। हेस्टिंग्स ने भगोड़ों को वापस करने से इनकार कर दिया, यद्यपि यह आश्वासन दिया कि वह अराकानियों को भारत की सीमा से वर्मा पर आक्रमण नहीं करने देगा। इससे वर्मी लोग सन्तुष्ट नहीं हुए और उनके सम्बन्ध अंगरेजों से खराब हो गये। जब वर्मा ने आसाम को भी जीत लिया तो ये सीमा के झगड़े और बढ़ गये। 1818 ई. में 'रामरी' के वर्मी गवर्नर ने चटगाँव के अंगरेज मैजिस्ट्रेट से रामू, चटगाँव, ढाका और मुर्शिदाबाद माँगा। अंगरेजों द्वारा न देने पर युद्ध की धमकी भी दी गयी। इस प्रकार वर्मा और अंगरेजों के, सीमा के झगड़े बढ़ते ही चले गये। यद्यपि लॉर्ड हेस्टिंग्स ने कड़ा रुख अपना लिया था, परन्तु वह युद्ध को टालता रहा, क्योंकि भारत की सीमाओं में ही उसे अनेक समस्याओं का सामना करना था।

लॉर्ड एम्हर्स्ट के समय वर्मा के युद्ध को टाला न जा सका। युद्ध का मुख्य कारण एक तरफ वर्मा-दरबार का अज्ञान और उद्दण्डता तथा दूसरी तरफ साम्राज्यवाद का स्वाभाविक विस्तार था। वर्मा का राजा और वहाँ के निवासी दोनों ही भारतीय परिस्थितियों से बिल्कुल अनभिज्ञ थे। अराकान, मणिपुर और आसाम जैसे छोटे राज्यों को जीतकर उन्हें शक्ति का अभिमान हो गया था। उन्हें भारत में अंगरेजों की विशाल शक्ति का कोई ज्ञान न था। बर्मा के सेनापति महाबुन्देला ने आसाम को आसानी से जीतकर यह अनुभव किया कि वह अंगरेजों को भी आसानी से परास्त कर सकता है। उसने बर्मा के राजा को एक पत्र भी लिखा जिसमें उसने "बर्मियों को शेर और अंगरेजों को गीदड़ बताया।"

दूसरी तरफ अंगरेज, जो सम्पूर्ण भारत में अपनी सत्ता स्थापित कर चुके थे, पूरब में साम्राज्य-विस्तार के लिए उत्सुक थे। साम्राज्यवाद की स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुसार उन्हें पूरब और पश्चिम दोनों ही सीमाओं पर अपने राज्य का विस्तार करना था। इस कारण, वर्मा और अंगरेजों की बढ़ती हुई साम्राज्यवादी इच्छाओं के कारण युद्ध होना आवश्यक था। छोटे-छोटे झगड़े की बातों को बढ़ाया गया और जल्दी ही युद्ध की स्थिति आ गयी।

कुछ अंगरेजों को चटगाँव की सीमा के निकट बर्मियों ने पकड़ लिया। ऐसी बाधाओं को रोकने के लिए अंगरेजों ने 'टेकनाफ' के दर्रे और शाहपुरी के टापू पर अपनी सैनिक चौकियाँ बना दीं। जनवरी, 1823 ई. में बर्मा ने अंगरेजों से शाहपुरी के द्वीप को खाली कर देने की माँग की। अंगरेजों ने इनकार कर दिया। सितम्बर, 1823 ई. में बर्मियों ने शाहपुरी पर आक्रमण करके उस पर अधिकार कर लिया, परन्तु उसे फिर छोड़ दिया, लेकिन यह धमकी दी कि यदि अंगरेजों ने शाहपुरी पर

फिर अधिकार किया तो वे ढाका और मुर्शिदाबाद को भी जीत लेंगे। इस प्रकार शाहपुरी के छोटे-छोटे और निर्जन द्वीप के कारण, जिस पर किसी का भी कानूनी अधिकार न था, वर्मियों और अंगरेजों में झगड़ा हुआ।

इससे भी अधिक खराब स्थिति उस समय आयी जब वर्मियों ने कछार के शासक गोविन्दचन्द्र को सहायता देकर उसे उसका राज्य वापस दिलवा दिया। लॉर्ड एम्हर्स्ट ने कछार के राजा का बर्मा के संरक्षण में जाना बंगाल की सुरक्षा के लिए खतरनाक माना। एम्हर्स्ट का कहना था कि बंगाल में आने के लिए सबसे आसान दर्रा कछार-राज्य में था। इस कारण कछार का वर्मियों के हाथों जाना बंगाल और सिलहट दोनों के ही लिए खतरनाक था। एम्हर्स्ट तो आसाम पर भी वर्मियों के अधिकार से नाराज था। उसका कहना था कि बर्मी आसाम से ब्रह्मपुत्र नदी के द्वारा अचानक ही केवल पाँच दिन में अपनी बड़ी-से-बड़ी सेनाएँ बंगाल की सीमाओं तक ला सकते थे। इस कारण लॉर्ड सम्हर्स्ट ने गोविन्दचन्द्र को अपने संरक्षण में लिया और एक सेना भी कछार भेज दी। गोविन्दचन्द्र ने अंगरेजी संरक्षण को स्वीकार कर लिया। इस प्रकार जैन्तिया के छोटे राज्य ने भी अंगरेजों का संरक्षण स्वीकार कर लिया। वर्मा इससे असन्तुष्ट था।

इसी बीच शाहपुरी के द्वीप पर फिर झगड़ा हो गया। बर्मियों ने माँग की कि शाहपुरी को तटस्थ घोषित कर दिया जाय, परन्तु अंगरेजों ने इसे अस्वीकार कर दिया। फरवरी 1824 ई. में बर्मियों ने इस द्वीप पर आक्रमण किया और उसे जीत लिया। इसके बाद वे द्वीप को खाली छोड़कर वापस चले गए। परन्तु लॉर्ड एम्हर्स्ट अब तक युद्ध का निर्णय कर चुका था। 24 फरवरी, 1824 ई. को अंगरेजों ने युद्ध की घोषणा कर दी।

वर्मा के जंगल, पहाड़ और नदियों के कारण अंगरेजों को आक्रमण करने में बड़ी कठिनाई हुई, जबकि बर्मियों को रक्षा करने में बड़ी सुविधा थी। युद्ध का आरम्भ भी ठीक अवसर पर न हुआ था, क्योंकि शीघ्र ही वर्षा आरम्भ होने वाली थी। इस कारण इस युद्ध में अंगरेजों को बहुत कठिनाई हुई थी। अंगरेजों ने दो तरफ से सेना भेजी। वर्मी सेनापति महाबुन्देला ने चटगाँव के निकट 'रामू' नामक स्थान पर अंगरेजी सेना को परास्त किया परन्तु दूसरी तरफ 11 मई, 1824 ई. को अंगरेजों ने रंगून को जीत लिया। वर्मी रंगून को खाली करके भाग गये। परन्तु इसी समय वर्षा आरम्भ हो जाने से अंगरेजों का आगे बढ़ना रुक गया और सैनिकों में बीमारी फैल गई। वर्मा के राजा ने महाबुन्देला को सहायता के लिए दक्षिण में बुलाया, लेकिन 15 दिसम्बर, 1824 ई. को उसकी हार हुई और उसे पीछे हटना पड़ा। 1825 ई. में अंगरेजों ने आसाम को जीत लिया और कैम्पबेल ने रंगून में आगे बढ़ना शुरू कर दिया। महाबुन्देला ने एक माह तक अंगरेजों को रोका, परन्तु 1 अप्रैल, 1825

ई. को वह युद्ध में मारा गया जिससे उसकी सेना रात में ही मैदान छोड़कर भाग गई। कैम्पवेल ने 25 अप्रैल को नीचे के वर्मा की राजधानी प्रोम पर अधिकार कर लिया। कुछ समय पश्चात् सन्धि की वार्ता आरम्भ हुई और मामूली तरीके से युद्ध भी चलता रहा। जव अंगरेज वर्मा की राजधानी याण्डवू से केवल 60 मील दूर रह गये तो वर्मियों ने सन्धि का प्रस्ताव किया और 24 फरवरी, 1826 ई. को याण्डवू की सन्धि हो गई।

इस सन्धि के अनुसार

1. वर्मा ने अराकान, तनासरम, येह तबाय और मर्गी के जिले अंगरेजों को दे दिये।

2. वर्मा ने आसाम, कछार और जैन्तिया के राज्य में हस्तक्षेप न करने का वायदा किया।

3. मणिपुर के राज्य को स्वतंत्र मान लिया गया और वर्मा ने वायदा किया कि यदि वहाँ के राजा गम्भीर सिंह वापस आ गया तो वे उसे राजा स्वीकार कर लेंगे।

4. वर्मा एक करोड़ रुपये युदूध के हर्जाने के रूप में धीरे-धीरे देगा।

5. दोनों राज्य एक-दूसरे के राज्य में राजदूत भेजेंगे।

6. दोनों दलों के लाभ के लिए दोनों राज्यों में एक व्यापारिक ..न्धि की जायगी।

7. दोनों राज्य एक-दूसरे के मित्र रहेंगे।

इस युद्ध में अंगरेजों को वहुत लाभ हुआ। उन्हें उत्तर-पूरब में बहुत भूमि प्राप्त हुई और मुख्य वर्मा में भी इनके पैर जम गये जिससे बाद में सम्पूर्ण बर्मा को जीतने में इन्हें सुविधा हुई।

युद्ध में अंगरेजों को धन और सैनिकों की हानि हुई। इस युद्ध की योजना ठीक प्रकार से नहीं बनाई गई थी। यदि मद्रास के गवर्नर वर टॉमस मुनरों ने समय से पर्याप्त सहायता न भेजी होती तो बहुत हानि होती। इन्स लिखता है, "बहुत प्रकार से यह युद्ध हानिकारक था। सेना को जहाँ युद्ध करने के लिए भेजा गया था वहाँ की भौगोलिक परिस्थितियों का ज्ञान नहीं कराया गया था और न उसको ठीक रसद ही दी गई थी।" जहाँ तक वर्मियों का प्रश्न है, उन्होंने बड़ी बहादुरी से युद्ध किया, परन्तु हथियारों और संगठन की दृष्टि से उनका अंगरेजी सेना से कोई मुकाबला न था।

जहाँ तक युद्ध के कारणों का प्रश्न है, अंगरेजों के द्वारा युद्ध घोषित करने का कोई न्यायपूर्ण कारण न था। बर्मा का ढाका, मुर्शिदाबाद आदि को जीतने की धमकी देना अंगरेजों के लिए डर का नहीं, बल्कि हँसी का कारण हो सकता था, क्योंकि वर्मियों को अंगरेजों की शक्ति का ज्ञान न था। शहपुरी के टापू को बर्मियों ने निष्पक्ष

घोषित करने की माँग की थी, अंगरेजों की शक्ति का ज्ञान न था। कछार के मामले में हस्तक्षेप करना अंगरेजों के लिए अनुचित था, क्योंकि पहली बार जब गोविन्दचन्द्र ने उनसे मदद माँगी थी तो उन्होंने इनकार कर दिया था। वर्मा-राज्य का यह शिकायत करना उचित था कि अराकानी अंगरेजी भूमि से उनके राज्य पर आक्रमण करते हैं। इस प्रकार अंगरेजों का मुख्य उद्देश्य केवल साम्राज्य-विस्तार था और इस युद्ध को आरम्भ करने का उनके पास कोई न्यायपूर्ण आधार न था। स्वयं भारत-सरकार ने 23 दिसम्बर, 1825 ई. को जो पत्र कम्पनी के डाइरेक्टरों को लिखा था, उसमें स्वीकर किया था कि सीमा के झगड़े तो मामूली थे, लेकिन बर्मा से युद्ध, कभी-न-कभी आवश्यक ही था। इस कारण जिस समय सफलता की सबसे अधिक आशा थी उसी समय युद्ध आरम्भ किया गया था।

इस प्रकार यह निश्चित है कि युद्ध का मुख्य कारण बर्मा का, भारत की पूर्वी सीमा पर एक मजबूत राज्य की स्थापना करना था। अंगरेजों ने इस राज्य की शक्ति को तोड़ने और बर्मा की भूमि पर अपने पैर जमाने के लिए यह युद्ध आरम्भ किया था। इसी कारण अंगरेजों ने मुख्यतः बर्मा के नीचे के भाग पर हमला किया और उसमें सफलता भी पायी।

द्वितीय आंग्ल-बर्मा युद्ध (1852 ई.)

1826 ई. की याण्डबू की सन्धि से बर्मा और अंगरेजों के सम्बन्धों की कहानी समाप्त नहीं हो जाती। याण्डबू की सन्धि की शर्तें मानने की इच्छा बर्मा-दरबारक की न थी। राजा थारावदी ने उस सन्धि को मानने से इनकार कर दिया और अंगरेजों में सन्देह तथा घृणा का वातावरण फैलने लगा।

द्वितीय बर्मा युद्ध का मुख्य कारण बर्मियों और अंगरेजों की एक-दूसरे के प्रति घृणा और सन्देह की भावना या अंगरेज व्यापारियों की असुविधाएँ न थीं, ये तो युद्ध का बहाना मात्र थे। युद्ध का मुख्य कारण तो यूरोपियन जातियों की साम्राज्यवाद की भावना थी। उस समय यूरोपियन जातियों के लोगों को अपनी सभ्यता और शासन की श्रेष्ठता में विश्वास था और वे पूर्वी सभ्यता, कानून और शासन को निम्न और घृणा की दृष्टि से देखते थे। इस कारण वे अपना अधिकार समझते थे कि वे अपने विचार, अपनी सभ्यता और अपना पूर्वी देशों में वर्चस्व फैलाएँ। वे पहले व्यापार या धर्म-विस्तार के आधार पर पूर्वी देशों में प्रवेश करते थे और यदि उन्हें उन देशों का शासन या व्यवहार पसन्द नहीं आता था तो वे वहाँ पर अपना शासन तलवार की नोंक पर स्थापित करते थे। उनका कहना था कि साधारण जनता को अत्याचारी शासकों से बचाने के लिए वे अपना राज्य स्थापित करते थे, इस कारण वे तो मानवता का कार्य करते थे। इसी आधार पर उनके साम्राज्य का विस्तार होता था। परन्तु यूरोपियन जातियों का, यह मानवता का आधार बिल्कुल गलत और अन्यायपूर्ण

था। यह तो साम्राज्य के विस्तार का वहाना मात्र था, क्योंकि पूर्वी और पश्चिमी सभ्यता का अन्तर यह निश्चित नहीं कर सकता था कि पश्चिमी सभ्यता श्रेष्ठ है। इसमें सन्देह नहीं कि शासन की दृष्टि से यूरोपियन जातियों का शासन पूर्वी राज्यों के शासन की तुलना में अच्छा था, परन्तु विदेशी शासन से अनेक दोष भी उत्पन्न होते थे। इसके अतिरिक्त, पूर्वी नरेशों और जनता पर जबरदस्ती अपने शासन को लादने का अधिकार यूरोपीय जातियों को नहीं था चाहे उनका शासन कितना ही अच्छा क्यों न था। वास्तव में सभी यूरोपियन जातियों का मूल उद्देश्य पूर्वी राज्यों की कमजोरियों से लाभ उठाकर अधिक-से-अधिक अपने साम्राज्य का विस्तार करना था। वर्मा के प्रति भी अंगरेजों की नीति का मुख्य आधार साम्राज्यवाद की यही भावना थी।

वर्मा और अंगरेजों के सम्बन्ध दिन-प्रतिदिन खराव होते जा रहे थे मुख्य झगड़ा व्यापार का था। अंगरेज व्यापारियों की यह शिकायत थी कि बर्मा का राज्य याण्डवू की सन्धि में निश्चित हुए कर से अधिक व्यापारिक कर लेता था। जिस समय लॉर्ड डलहौजी भारत में गवर्नर-जनरल बनकर आया उस समय अंगरेज व्यापारियों को सुअवसर प्राप्त हुआ, क्योंकि डलहौजी की साम्राज्यवादी नीति और पूरब में अंगरेजों के सम्मान की सुरक्षा की नीति उनके हितों की सुरक्षा करने में समर्थ थी। रंगून के अंगरेज निवासियों ने लॉर्ड डलहौजी के पास इस आशय का एक प्रार्थना-पत्र भेजा कि उन्होंने बहुत लम्वे समय तक बर्मा सरकार के अत्याचार और अन्याय को बर्दाश्त किया है और अब उन्होंने गवर्नर-जनरल से सुरक्षा की माँग की है।

लॉर्ड डलहौजी के पास जब यह प्रार्थना-पत्र पहुँचा तो उसने शीघ्र ही निर्णय कर लिया कि अंगरेजी नागरिक और व्यापारियों का यह न्यायपूर्ण अधिकार है कि वे अपनी सरकार से अन्याय के विरुद्ध रक्षा की माँग करें और इस कारण बर्मा के दरवार से तुरन्त क्षतिपूर्ति की माँग की जानी चाहिए। 'लेम्बर्ट' ने रंगून पहुँचकर बर्मा के गवर्नर पर अत्याचार का दोष लगाया और दो पत्र लिखे, एक बर्मा के राजा को और दूसरा रंगून के गवर्नर को दोनों का ही उत्तर बहुत उचित तरीके से आया। गवर्नर ने यह लिखा कि सभी मामलों की पूरी तरह से जाँच की जायगी। उसके बाद रंगून का गवर्नर बदल दिया गया। नये गवर्नर से मिलने के लिए एक अंगरेज दूतमण्डल गया जिससे गवर्नर की भेंट न हो सकी। अंगरेजों ने कहा कि यह उनका अपमान है, जबकि गवर्नर ने बाद में बताया कि जब अंगरेज उनसे मिलने गये तो वे शराब पिये हुए थे और वह स्वयं सो रहा था, इस कारण अंगरेजों को वापस कर दिया गया। लेम्बर्ट ने इस बात को स्वीकार नहीं किया। उसने गवर्नर से माफी माँगने और क्षतिपूर्त्ति के धन को तुरन्त देने की माँग की। कुछ समय पश्चात् ही धन की माँग भी बढ़ा दी गयी। इसी अवसर पर अंगरेजों ने बर्मा के शाही जहाज 'पीले जहाज' को भी पकड़ लिया। इससे झगड़ा और बढ़ गया और अन्त में अंगरेजों ने रंगून के

गवर्नर को हटाने की, वर्मा के राजा द्वारा माफी माँगने की और अप्रैल, 1852 ई. तक 100,000 पौण्ड धनराशि देने की माँग की। इसी बीच डलहौजी ने युद्ध की पूरी तैयारी कर ली। जब वर्मा दरबार से 1 अप्रैल तक कोई उत्तर प्राप्त नहीं हुआ तो सेनापति गोडविन के नेतृत्व में एक बड़ी सेना रंगून भेज दी गयी।

अंगरेजों ने रंगून, बेसीन, प्रोम और पेगू पर अधिकार कर लिया। अक्तूबर, 1852 ई. तक सम्पूर्ण नीचे के वर्मा पर अधिकार कर लिया गया। ऊपरी वर्मा पर अधिकार करने की लॉर्ड डलहौजी की इच्छा भी न थी। वर्मा-दरबार ने सन्धि करने से इन्कार कर दिया, इस कारण बिना सन्धि के ही 20 सितम्बर, 1852 ई. को एक घोषणा द्वारा सम्पूर्ण निचले वर्मा को अंगरेजी राज्य में सम्मिलित कर लिया गया।

वर्मा के निचले भाग पर अधिकार करने से अंगरेजों को न केवल व्यापारिक लाभ ही हुआ, बल्कि एक विस्तृत और उपजाऊ भू-क्षेत्र भी प्राप्त हो गया। इसके अतिरिक्त, बंगाल की खाड़ी में चटगाँव से लेकर सिंगापुर तक सम्पूर्ण समुद्रीतट भी अंगरेजों को प्राप्त हो गया जिसके कारण न केवल वर्मा-राज्य समुद्रतट को पाने के लिए अंगरेजों पर निर्भर हो गया, बल्कि अंगरेजों को पूर्वी साम्राज्य की सुरक्षा में भी सहायता मिली। इस प्रकार निचले वर्मा की जीत अंगरेजों के सम्पूर्ण हितों की रक्षा और वृद्धि करने में सहायक सिद्ध हुई।

5

वारेन हेस्टिंग्स, लॉर्ड कॉर्नवालिस, विलियम बेन्टिंक और लॉर्ड डलहौजी के सुधार

भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी द्वारा सर्वप्रथम बंगाल में राज्य की स्थापना की गयी थी। 1765 ई. में कम्पनी की दीवानी की मंजूरी दी गयी। दिल्ली का नामधारी शासक और बंगाल का नवाव दोनों शक्तिहीन हो चुके थे। फिर भी प्रशासन तंत्र पर उनका परम्परागत अधिकार था। एक ओर कम्पनी के अधिकारी थे और दूसरी ओर दीवान थे तथा दोहरे शासन के अन्तर्गत अव्यवस्था व्यापाक रूप से फैलने लगी थी। भारतीय दीवानों पर संदेह किया जाता था। अतएव 1771 ई. में बंगाल काउन्सिल के अध्यक्ष को स्वयं दीवान के रूप में काम करने तथा कम्पनी के कर्मचारियों को राजस्व वसूलने का आदेश दिया गया। इस आदेश का एकमात्र उद्देश्य राजस्व पर कम्पनी का नियंत्रण स्थापित करना था। राजस्व-व्यवस्था की तरह न्याय-प्रणाली भी उत्पीड़न का अस्त्र बन गयी थी। पुरानी न्याय-पद्धति दोषपूर्ण थी। 1765-72 ई. के बीच कम्पनी के द्वारा मनमाने ढंग से भारतीय नागरिकों एवं शिल्पियों पर जुल्म ढाया गया। अतः राजस्व-व्यवस्था के साथ-साथ न्याय-विभाग में भी सुधार लाना आवश्यक था।

प्रारम्भ में कम्पनी केवल व्यापारिक काम करती थी। सत्ता स्थापित होने के वाद प्रशासन का उत्तरदायित्व संभालने का प्रश्न पैदा हो गया था। इंगलैण्ड की सरकार कम्पनी पर नियंत्रण रखना चाहती थी। इसके लिए यह आवश्यक था कि कम्पनी के कर्मचारियों को प्रत्यक्ष रूप से शासन करने का काम सौंपा जाय। फलतः 1774 ई. में समस्त प्रशासन सम्बन्धी अधिकार संचालक समिति को दिया गया। संचालक समिति को नियुक्ति का अधिकार था। भ्रष्ट साधनों को अपनाकर संचालक समिति नियुक्त करती थी। कम्पनी के कर्मचारी भी भ्रष्टाचार में लिप्त रहते थे। वे अनेक साधनों से धन का संग्रह करते थे। निजी व्यापार, रिश्वत, उपहार आदि प्राप्त करने की उन्हें सुविधा थी। अतः प्रशासन, न्याय-व्यवस्था में व्याप्त अव्यवस्था

के साथ-साथ कम्पनी के कर्मचारियों में फैले हुए घुसखोरी और निजी व्यापार पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए पुराने प्रशासनिक ढाँचे को वदलना अनिवार्य हो गया था। वारेन हेस्टिंग्स, लॉर्ड कार्नवालिस, लॉर्ड हेस्टिंग्स, लॉर्ड विलियम वेंटिंग्स और लॉर्ड डलहौजी ने भारत में अंगरेजी राज्य का विस्तार तो किये ही, उन्होंने प्रशासनिक तथा अन्य सुधारों द्वारा ब्रिटिश राज्य की जड़ें भी मजवूत कीं।

1. वारेन हेस्टिंग्स के सुधार

वारेन हेस्टिंग्स के समक्ष आन्तरिक संकट का प्रश्न कम्पनी की दृष्टि से अत्यन्त गम्भीर था। दीवानी की प्राप्ति के वाद भू-राजस्व की वसूली का काम कम्पनी द्वारा किया जाने लगा था और टीकेदारी की पद्धति अपनाकर मनमाने ढंग से लगान में तीन गुणा वृद्धि कर दी गयी थी। परन्तु द्वैध शासन के फलस्वरूप कम्पनी के कर्मचारियों के द्वारा निजी व्यापार खुलकर किया जाने लगा था। कम्पनी के सार्वजनिक हित की उपेक्षा कर दी गयी थी। भ्रष्टाचार के कारण ईस्ट इण्डिया कम्पनी धीरे-धीरे आर्थिक दिवालियापन की स्थिति में आ गयी थी। कम्पनी के अत्याचार से कृषि, व्यापार तथा उद्योग-धन्धे मृतप्रायः हो चुके थे। भारतीय शिल्पियों और कारीगरों को उचित मूल्य नहीं मिलता था। अंगरेजों ने आन्तरिक व्यापार पर एकाधिपत्य कायम कर वंगाल, विहार और उड़ीसा के निवासियों का जीवन अस्त-व्यस्त कर दिया था। कम्पनी के कर्मचारियों पर नवाव का कोई नियंत्रण नहीं रहा था। वंगाल का नवाव आन्तरिक प्रशासन में सुधार लाने की स्थिति में नहीं था। दूसरी ओर प्रशासन का प्रत्यक्ष दायित्व स्वीकार करने के लिए कम्पनी तैयार नहीं थी। अत्याचार के फलस्वरूप वंगाल में अराजकता का वोलवाला हो गया था। कानून और व्यवस्था का अभाव था। चोरी एवं डकैती की संख्या वढ़ गयी थी। अकाल और महामारी के प्रकोप से आम नागरिकों में कम्पनी शासन के प्रति असन्तोष वढ़ने लगा था। कम्पनी आन्तरिक दुर्वलताओं के कारण नष्ट हो जायेगी-ऐसी संभावना व्यक्त की जा रही थी। ऐसी ही विपम परिस्थिति में हेस्टिंग्स भारत आया था।

भारत आते ही हेस्टिंग्स ने सर्वप्रथम आन्तरिक सुधारों की ओर ध्यान दिया। उस समय कम्पनी के प्रशासन में अनेक खामियाँ थीं। कम्पनी के अधिकारी निजी स्वार्थ की रक्षा करते थे। उन्होंने सत्ता आपस में बाँट रखा था। कर्मचारियों में अनुशासन और उत्तरदायित्व की भावना नहीं थी। कलकत्ता काउन्सिल, पटना और मुर्शिदावाद के लगान वोर्ड के वीच समन्वय नहीं था। सरकार के विभिन्न अंगों के वीच काम करने की कोई निर्धारित पद्धति विकसित नहीं हो पायी थी। द्वैध शासन के फलस्वरूप शान्ति-व्यवस्था का प्रश्न भी गम्भीर हो गया था। व्यापार के क्षेत्र में मनमाना अत्याचार होता था। कृषि एवं उद्योग-धन्धों को नष्ट करने का प्रयास किया जा रहा था। लगान सम्वन्धी नियम भी दोपपूर्ण था। अतः वंगाल के गवर्नर के पद

[illegible] साथ वारेन हेस्टिंग्स ने सबसे पहले [illegible] वर्षों के अन्दर आन्तरिक सुधार का काम प्रारम्भ किया। सुधार का कार्य पूरा करने के लिए कम्पनी से व्यापक अधिकार मिला था। वारेन हेस्टिंग्स के सुधारों का मुख्य उद्देश्य शासन के विभिन्न विभागों में समन्वय स्थापित करना, उनमें पारस्परिक तारतम्य स्थापित करना, कम्पनी के हित में वाधा उत्पन्न करने वाले तत्त्वों को नष्ट करना, कम्पनी शासन को तत्कालीन आवश्यकताओं के अनुरूप ढालना, शान्ति, सुव्यवस्था तथा निष्पक्ष न्याय करना और आर्थिक हितों की सुरक्षा करना था। इन्हीं उद्देश्यों से प्रेरित होकर वारेन हेस्टिंग्स ने साहस और दृढ़ता के साथ सुधार का काम सम्पन्न कर कम्पनी की स्थिति को सुदृढ़ बना दिया। सुधारों का विवरण इस प्रकार है :–

1. द्वैध शासन का अन्त : वारेन हेस्टिंग्स का पहला कार्य द्वैध शासन के दुष्परिणामों को समाप्त कर बंगाल में शान्ति-व्यवस्था की स्थापना करना था। क्लाइव ने 1765 ई. में द्वैध शासन प्रारम्भ किया था। द्वैध शासन के फलस्वरूप शासन में अव्यवस्था आ गयी थी। भारतीय दीवान और कम्पनी के कर्मचारी राजस्व का बहुत बड़ा भाग अपने पास रख लेते थे। अत्याचार को समाप्त करने और राजस्व वसूली का काम कम्पनी द्वारा प्रारम्भ करने का आदेश 1771 ई. में बंगाल काउन्सिल के अध्यक्ष को दिया गया था। 1771 ई. के बाद कम्पनी स्वयं दीवान बन गयी थी। कम्पनी के संचालक समिति द्वारा वारेन हेस्टिंग्स को भारतीय नायाब दीवानों (मुहम्मद रजा खाँ और सिताब राय) को पदच्युत कर धन का गबन और घूसखोरी के अपराध में बन्दी बनाकर मुकदमा चलाने का स्पष्ट आदेश दिया गया था। वारेन हेस्टिंग्स ने संचालक समिति के आदेशानुसार मुहम्मद रजा खाँ और राजा सिताब राय को पदच्युत कर उन पर मुकदमा चलाया। मुकदमा मात्र सन्देह के आधार पर चलाया गया था और राजा सिताब राय को कलकत्ता में नजरबन्द रखा गया। दोनों नायबों को दो वर्षों तक मुकदमे में परेशान किया गया। कम्पनी मुकदमा चलाकर अपनी गिरती हुई प्रतिष्ठा और साख को बचाने में सफल हुई। भारतीय नायब दीवानों से मुक्त होकर कम्पनी ने दीवानी का प्रत्यक्ष अधिकार प्राप्त कर लिया और असैनिक कार्य का दायित्व भी स्वीकार कर लिया। बंगाल के नवाब से निजामत का अधिकार ले लिया गया। नवाब को पहले निजामत का खर्च चलाने के लिए 53 लाख रुपये दिया जाता था। वार्षिक रकम को 1766 एवं 1769 ई. में घटाकर क्रमशः 41 एवं 32 लाख रुपये कर दिया गया था। पुनः 1772 ई. में नवाब को मात्र 16 लाख रुपये वार्षिक पेंशन कर दी गयी।

बंगाल का नवाब नाबालिग था। अतः मीरजाफर की विधवा मुन्नी बेगम को उसका संरक्षक तथा राजा नन्द कुमार के पुत्र गुरुदास को उसके घर का प्रबन्धक नियुक्त किया गया। मुन्नी बेगम का व्यवहार नाबालिग नवाब के प्रति अत्यन्त कठोर

था। कहा जाता है कि मुन्नी बेगम से रिश्वत लेकर हेस्टिंग्स ने उसे संरक्षक नियुक्त किया था। 1775 ई. में मुन्नी बेगम के बदले मुहम्मद रजा खाँ को नवाब का संरक्षक नियुक्त किया गया। वारेन हेस्टिंग्स और राजा नन्द कुमार के बीच शत्रुता थी। राजा नन्द कुमार काउन्सिल के सदस्यों का मित्र था नायब दीवानों पर मुकदमा चलाने में वारेन हेस्टिंग्स ने राजा नन्द कुमार से सहायता ली थी। परन्तु वह राजा नन्द कुमार से भयभीत रहता था। अतः उसने नन्द कुमार पर अभियोग लगाकर उसे फाँसी की सजा दिलवा दी। इस प्रकार भारतीय दीवानों से छुटकारा पाकर वारेन हेस्टिंग्स ने द्वैध शासन की प्रथा को समाप्त कर दिया।

2. लगान सम्बन्धी सुधार : द्वैध शासनकाल में लगान वसूलने का अधिकार भारतीय अधिकारियों को सौंप दिया गया था। कम्पनी राजस्व-व्यवस्था में न तो कोई सुधार लाना चाहती थी और न उत्तरदायित्व स्वीकार करने के लिए तैयार थी। उस समय कम्पनी के पास तीन प्रकार की भूमि थी। पहली श्रेणी में ऐसी भूमि थी जिस पर कोई लगान कम्पनी को नहीं देना पड़ता था। वर्दवान, मिदनापुर और चटगाँव के जिले लगान से मुक्त थे दूसरी श्रेणी में ऐसी भूमि थी जिस पर कम्पनी को जमींदार की तरह अधिकार था। कलकत्ता और चौबीस परगना को क्षेत्र कम्पनी की जमींदारी थी जिसका लगान बंगाल के नवाब को देना पड़ता था। तीसरी श्रेणी में बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी आती थी जिसमें मुगल सम्राट शाह आलम को 26 लाख रुपये प्रतिवर्ष तथा बंगाल के नवाब को निजामत का खर्च पूरा करने के लिए कम्पनी को प्रतिवर्ष एक निश्चित धनराशि देनी पड़ती थी।

वारेन हेस्टिंग्स ने लगान सम्बन्धी व्यवस्था का उत्तरदायित्व स्वीकार कर उसमें संशोधन लाने के उदेश्य से एक लगान-समिति की स्थापना की। लगान-समिति का अध्यक्ष स्वयं वारेन हेस्टिंग्स था। लगान-समिति द्वारा जो रिपोर्ट तैयार की गयी, उसमें निम्नलिखित बातें उल्लेखनीय थीं :–

1. सर्वप्रथम प्रत्येक जिला में लगान की पूरी जानकारी प्राप्त की जाये।

2. लगान वसूल करने का अधिकार उन व्यक्तियों को पाँच वर्षों के लिए दिये जाय जो ऊँची बोली बोलकर अधिक लगान देने का वायदा करें।

3. नये जमींदार किसानों को पट्टा देंगे जिसमें लगान की मात्रा स्पष्ट रूप से लिखी रहेगी।

4. माल विभाग मुर्शिदाबाद से कलकत्ता लाया जाय।

5. निरीक्षकों को कलक्टर का दर्जा देकर लगान वसूलने का अधिकार दिया जाय तथा उनकी सहायता के लिए एक भारतीय नवाब दीवान नियुक्त किया जाय। लगान वसूलने के लिए सभी जिलों को छः भागों में बाँटा गया। वे थे– कलकत्ता, वर्दवान, ढाका, मुर्शिदाबाद, दिनाजपुर और पटना। प्रत्येक भाग में एक लगान-परिषद

की स्थापना की जाय जो लगान से सम्बन्धित प्रश्नों की जाँच करे। प्रत्येक लगान-परिषद का अध्यक्ष कलकत्ता काउन्सिल का एक सदस्य रहता। लगान-परिषद की सहायता के लिए एक भारतीय दीवान रखा जाय। हेस्टिंग्स कलकत्ता काउन्सिल के सदस्यों को मनोनीत करने के पक्ष में नहीं था। लेकिन संचालक मण्डल के दवाव पर उसने इस वात को स्वीकार कर लिया।

6. लगान सम्बन्धी हिसाव-किताव की देखभाल के लिए एक 'राय-रायन' की नियुक्ति की जाय। वह भारतीय हो तथा उसका मासिक वेतन पाँच हजार रुपये हो। पहला भारतीय 'राय-रायन' राजा राजवल्लभ था।

7. एक आयलेख-सचिव के पद की सृष्टि की जाय।

8. लगान-परिषद के प्रत्येक प्रधान को तीन हजार रुपया मासिक वेतन दिया जाय और वह निजी व्यापार नहीं कर सकता था।

हेस्टिंग्स की अध्यक्षता में तैयार की गयी रिपोर्ट के सभी सुझावों से कलकत्ता काउन्सिल के सदस्य सहमत नहीं थे। कलकत्ता काउन्सिल का सदस्य फ्रांसिस ने एक अलग लगान-योजना पेश की जिसमें स्थायी जमींदारी की व्यवस्था का प्रावधान था। वाद-विवाद के वाद कुछ परिवर्त्तन और संशोधन के साथ हेस्टिंग्स ने जो लगान सम्बन्धी योजना स्वीकार उसमें परस्पर समझौता का अभाव था। पंचवर्षीय व्यवस्था के वदले 1778 ई. में वार्षिक व्यवस्था जारी करने की अनुशंसा कम्पनी के काउन्सिल द्वारा स्वीकार की गयी। कलकत्ता काउन्सिल में हेस्टिंग्स के कई विरोधी सदस्य थे। परन्तु फ्रांसिस के स्वदेश लौट जाने से हेस्टिंग्स को स्वतंत्र रूप से काम करने का मौका मिला। हेस्टिंग्स ने लगान-परिषद की जगह एक लगान-वोर्ड की स्थापना की जिसमें प्रत्येक सदस्य को वसूल किये गये लगान का दो प्रतिशत भाग देने की व्यवस्था थी। लगान-वोर्ड की सहायता के लिए एक दीवान की नियुक्ति की गयी। राय-रायन को उच्चतम काउन्सिल के अधीन रखा गया। लगान वसूलने का अधिकार भारतीय कानूनगो को दिया गया।

हेस्टिंग्स ने लगान के सम्बन्ध में कोई स्थायी व्यवस्था नहीं की थी। वस्तुतः दीवानी का उत्तरादायित्व स्वीकार करने के वाद कम्पनी प्रयोग के काल से गुजर रही थी। पंचवर्षीय अथवा एक वर्षीय टीकेदारी की व्यवस्था दोषपूर्ण थी। ऊँची वोली वोलनेवालों को जमीन दी जाती थी। जमींदारों को लगान की रकम पूरा करने के साथ-साथ लाभांश-प्राप्त करने की चिन्ता अधिक रहती थी। टीकेदारी की व्यवस्था में न तो लगान की दर निश्चित की गयी थी और न किसानों के हितों की रक्षा हो पाती थी। लगान वसूलनेवाले अधिकारियों को न्याय का अधिकार देना उचित नहीं था। लगान-व्यवस्था से अंगरेज स्वयं परिचित नहीं थे। वे भारतीय अधिकारियों की सहायता पर निर्भर करते थे। अतः लगान सम्बन्धी अव्यवस्था पूर्ववत वनी रही और

उसके दोषों को दूर करने का कोई प्रयास नहीं किया गया था। परन्तु प्रयोग के माध्यम से हेस्टिंग्स ने भविष्य में सुधार करने का रास्ता खोल दिया था।

3. न्याय-व्यवस्था सम्बन्धी सुधार : बंगाल में 1772 ई. के पहले दो प्रकार की न्याय-पद्धति प्रचलित थी। एक मुगलकालीन पद्धति थी जिसमें काजी और स्थानीय जमींदारों के द्वारा न्यायिक निर्णय दिया जाता था। दूसरे अंगरेजी पद्धति पर आधारित न्यायालय थे जो कलकत्ता या कम्पनी की जागीरदारी में स्थापित किये गये थे। अंगरेजी विधिप्रणाली पर आधारित न्याय-पद्धति में रेगुलेटिंग ऐक्ट द्वारा कुछ परिवर्तन किया गया था। परन्तु न्याय-प्रशासन में कम्पनी के कर्मचारियों द्वारा हस्तक्षेप के फलस्वरूप कृषक, व्यापारी एवं कारीगर सभी आतंकित थे। पुरानी परम्परा के अनुसार दीवानी और फौजदारी मुकदमों में निर्णय जमींदार देते थे जो दण्ड से प्राप्त आय को अपने पास रख लेते थे। कम्पनी के प्रबन्धकों को न्यायालयों पर निगरानी रखने का आदेश भी असफल सिद्ध हो चुका था। दीवानी का प्रबन्ध अंगरेज अधिकारियों के हाथ में देने के फलस्वरूप न्याय-प्रशासन में सुधार लाना आवश्यक हो गया था। अतः वारेन हेस्टिंग्स ने इस दिशा में महत्त्वपूर्ण कदम उठाये।

वारेन हेस्टिंग्स ने प्रत्येक जिले में दो न्यायालय स्थापित किए—एक दीवानी अदालत और दूसरा फौजदारी अदालत। दीवानी अदालत में सम्पत्ति, विवाह, जाति-प्रथा, कर्ज, अनुबन्ध, लगान तथा उत्तराधिकार से सम्बन्धित मामलों के बारे में निर्णय दिये जाता था। फौजदारी या निजामत में चोरी, हत्या, जालसाजी, बलपूर्वक सम्पत्ति हड़पने आदि की सुनवाई होती थी। जिला की दीवानी अदालत को 500 रुपये तक दण्ड देने का अधिकार था। निजामत या फौजदारी अदालत का प्रधान एक भारतीय अधिकारी होता था जो मुफ्ती की सहायता से अपराधियों को दण्ड देता था। फौजदारी अदालत पर कलक्टर का नियंत्रण रहता था। फौजदारी अदालत को मृत्यु-दण्ड या सम्पत्ति जब्त करने का अधिकार नहीं था। जिला अदालत को मृत्यु-दण्ड अथवा सम्पत्ति जब्त करने के लिए निजामत न्यायालय से आज्ञा लेनी पड़ती थी।

कलकत्ता में अपील के लिए दो उच्च न्यायालयों की स्थापना की गयी। एक सदर दीवानी और दूसरा सदर निजामत अदालत था। सदर दीवानी अदालत में गवर्नर, कलकत्ता काउन्सिल के दो सदस्य, दो खालसा के दीवान या राय-रायन एवं प्रमुख कानूनगो रहते थे। सदर निजामत अदालत में नायब-नाजिम, मुख्य काजी, मुफ्ती और तीन मौलवियों की राय से निर्णय लिया जाता था और उसकी पुष्टि नवाब द्वारा की जाती थी। सदर निजामत अदालत पर कम्पनी के काउन्सिल का नियंत्रण रहता था। मुफस्सिल अदालत के निर्णय के विरुद्ध सदर दीवानी एवं सदर निजामत अदालतों में अपील की जाती थी। दीवानी मुकदमों में जातीय कानूनों (हिन्दुओं के

मामले में हिन्दू कानून और मुसलमानों के लिए मुस्लिम कानून) के आधार पर निर्णय लिया जाता था। परन्तु, फौजदारी मुकदमों में मुस्लिम कानून के आधार पर निर्णय दिया जाता था। प्रत्येक न्यायाधीश का वेतन निर्धारित कर दिया गया था और नजराना या उपहार स्वीकार करने पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया था। न्यायाधीशों को निष्पक्ष और ईमानदारी के साथ निर्णय देने का आदेश दिया गया था।

अदालतों की कार्य-पद्धति में भी सुधार लाया गया। न्याय-विभाग को संगठित एवं सुविधाजनक बनाने के उद्देश्य से उसकी कार्यवाही को लिखा जाने लगा। निर्णय देने में विलम्ब की पद्धति को समाप्त करने के लिए प्रत्येक मुकदमा में निर्णय लेने की अवधि निर्धारित कर दी गयी। कठोर दण्ड अथवा महाजनों के अत्याचार से कर्जदारों की सुरक्षा की व्यवस्था की गयी। दस रुपये से अधिक लागतवाले मुकदमों को न्यायालयों में उपस्थित करने के लिए प्रोत्साहन दिया गया। वारेन हेस्टिंग्स हिन्दू और मुस्लिम कानूनों का एक संग्रह भी तैयार करवाया था। कानून की व्यवस्था हिन्दू पण्डितों और मौलवियों द्वारा की जाती थी। वादी एवं प्रतिवादी की राय से पंच-निर्णय की भी व्यवस्था थी। प्रत्येक जिला में एक फौजदार नियुक्त किया गया था जो अपराधियों को पकड़कर न्यायालय के सामने उपस्थित करता था।

रेगुलेटिंग एक्ट के द्वारा उच्चतम न्यायालय की स्थापना की गयी जिसमें एक प्रधान और तीन अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति इंगलैण्ड के राजा द्वारा की गयी थी। उच्चतम न्यायालय का क्षेत्र बंगाल, बिहार और उड़ीसा तक विस्तृत था। परन्तु उच्चतम न्यायालय के निर्माण या कार्यवाही में वारेन हेस्टिंग्स का कोई हाथ नहीं था। उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों द्वारा झंझट अधिक पैदा किया गया था। हेस्टिंग्स का कोई हाथ नहीं था। हेस्टिंग्स के न्यायिक सुधर के फलस्वरूप कम्पनी के कर्मचारियों का अब न्याय-विभाग पर पूर्ण नियंत्रण कायम हो गया था। कम्पनी की सर्वोच्चता स्थापित हो गयी। इस प्रकार हेस्टिंग्स ने निष्पक्ष न्याय-व्यवस्था स्थापित करने की दिशा में प्रशंसनीय प्रयास किया था।

4. व्यापारिक सुधार : कम्पनी के संचालकों के आदेश पर वारेन हेस्टिंग्स ने व्यापार सम्बन्धी सुधार का काम भी पूरा किया और व्यापारिक क्षेत्र में प्रचलित अनेक बुराइयों को दूर करने का प्रयास किया। 1772 ई. में 'दस्तक' की छूट का विशेषधिकार ही समाप्त कर दिया गया। व्यापार के द्वार सभी के लिए खोल दिया गया। चुंगी वसूली की अनियमितताओं को करने के उदेश्य से सभी छोटी-छोटी चुंगी चौकियों को बन्द कर दिया गया। कलकत्ता, हुगली, मुर्शिदाबाद, ढाका और पटना में बड़ी-बड़ी चौकियों की स्थापना की गयी। छोटी चौकियों पर व्यापारियों से चुंगी वसूलने के चलते व्यापार को नुकसान पहुँचता था। नमक, पान और तम्बाकू को छोड़कर शेष सभी वस्तुओं पर 2.1/2 चुंगी की दर निर्धारित की गयी। चुंगी वसूली

के सम्बन्ध में भारतीय और यूरोपीय व्यापारियों के बीच कोई भेदभाव नहीं रखा जाता था। नमक और अफीम के व्यापार पर सरकार का नियंत्रण था। हेस्टिंग्स ने कम्पनी की साख को बढ़ाने के उद्देश्य से मुद्रा में सुधार लाया। उसने कलकत्ता में एक टकसाल की स्थापना की। अब निश्चित आकार और मूल्य के सिक्के ढाले जाने लगे। मुद्रा में सुधार से व्यापार में लाभ हुआ और कलकत्ता में एक बैंक की स्थापना की गयी। तिब्बत, भूटान, जेद्दा और मिस्र से व्यापारिक सम्बन्ध कायम किए गए। कारीगरों को गुमाश्तों के अत्याचार से बचाने के प्रयास किए गए। गुमाश्तों को स्पष्ट आदेश दिए गए कि वे कारीगरों से जबर्दस्ती काम नहीं करवाएँ और उनसे 'ददनी' वसूल नहीं करें। व्यापारिक सुधार के फलस्वरूप कम्पनी की आय में वृद्धि हुई और बिना किसी बाधा के वस्तुएँ बंगाल की दूरस्थ सीमाओं में आ-जा सकती थीं।

5. सार्वजनिक कल्याण के कार्य : द्वैध शासनकाल में कानून का पालन नहीं हो पाता था। चोरी और डकैती की संख्या बढ़ गयी थी। अतः हेस्टिंग्स ने चोरी और डकैती को समाप्त करने के लिए कठोर दण्ड-व्यवस्था की नीति अपनायी। डकैतों को फाँसी के तख्ते पर चढ़ा दिया जाता था। उनके परिवार को दास बना लिया जाता था। संन्यासियों का आतंक छाया हुआ था। संन्यासी साधु या भिक्षुओं के वेष में यात्रा करते थे और जनता को लूटते या छोटे-छोटे बच्चों का अपहरण कर लेते थे। संन्यासियों के गिरोह में हिन्दू और मुसलमान दोनों सम्मिलित थे। वारेन हेस्टिंग्स ने सेना भेजकर संन्यासियों के गिरोह में हिन्दू और मुस्लमान दोनों सम्मिलित थे। वारेन हेस्टिंग्स ने सेना भेजकर संन्यासियों के गिरोह को नष्ट कर डाला। उसने कूच-विहार के भूटियों के गिरोह को बाहर निकाल दिया। शान्ति-व्यवस्था कायम रखने के उद्देश्य से पुलिस अधिकारियों के अधिकार बढ़ा दिए गए। प्रत्येक जिला में एक फौजदार की नियुक्ति की गयी जिसका मुख्य काम शान्ति-व्यवस्था कायम रखना था। वारने हेस्टिंग्स ने विवाह पर चुंगी कर समाप्त कर दिया। बच्चों को चुराकर दास बनाने की प्रथा भी समाप्त कर दी गयी।

सुधारों का महत्त्व : क्लाइव के द्वारा भारत में अंगरेजी राज्य की नींव डाली गयी थी। क्लाइव द्वैध शासन प्रारम्भ कर चला गया था। द्वैध शासन के फलस्वरूप नव-स्थापित राज्य की स्थिति अत्यन्त शोचनीय हो गयी थी। अव्यवस्था और भ्रष्टाचार के फलस्वरूप कम्पनी की आर्थिक समृद्धि और राजनीतिक सुरक्षा पर संकट आ गया था। वारेन हेस्टिंग्स ने कम्पनी के अधिकारियों द्वारा निजी व्यापारिक लाभ अर्जित करने की प्रक्रिया को समाप्त कर दिया था। फलस्वरूप कम्पनी की आमदनी में वृद्धि हुई। उसने भारतीयों के लाभ के लिए सार्वजनिक कल्याण की नीति अपनायी थी। भारतीय कारीगरों के साथ अच्छा व्यवहार करने का आदेश उसने गुमाश्तों को दिया था। 'ददनी' की प्रथा को उसने समाप्त कर दिया। उसने चोरी-डकैती को भी

रोकने का प्रयास किया। वारेन हेस्टिंग्स ने सुधार का काम प्रारम्भ किया था लेकिन उसे पूर्ण सफलता नहीं मिली। फिर भी सुधार की नीति अपनाकर उसने अंगरेजी राज्य की इमारत को सुदृढ़ बनाने का प्रयास किया था। हण्टर के अनुसार, "हेस्टिंग्स ने असैनिक शासन की दृढ़ नींव डाली जिसपर कार्नवालिस ने भवन का निर्माण किया।" इस दृष्टि से वारेन हेस्टिंग्स को कॉर्नवालिस का पथ-प्रदर्शक कहा जाता है।

हेस्टिंग्स के अधीन सांविधानिक विकास

वारेन हेस्टिंग्स का शासनकाल सांविधानिक विकास के लिए भी महत्त्वपूर्ण। है। उसके शासनकाल में कम्पनी के विधान में महत्त्वपूर्ण परिवर्त्तन किए गए। यह परिवर्त्तन दो विधानों के द्वारा सम्भव हुआ। ये विधान थे-रेगुलेटिंग ऐक्ट पिट्स इण्डिया ऐक्ट।

रेगुलेटिंग ऐक्ट : ईस्ट इण्डिया कम्पनी मुख्यतः एक स्वतंत्र व्यापारिक कम्पनी थी। कम्पनी का प्रबन्ध एक संचालक समिति द्वारा होता था। स्वतंत्र संस्था होने के कारण इंगलैण्ड की संसद का नियंत्रण कम्पनी पर नहीं था। भारत में बंगाल, बिहार और उड़ीसा में कम्पनी का शासन पहले प्रारम्भ हो चुका था। 1765 ई. में दीवानी प्राप्त हो जाने के बाद कम्पनी का स्वरूप बदल गया। व्यापार के साथ राजनीतिक प्रभुत्व प्राप्त करने के बाद कम्पनी के अधिकार-क्षेत्र में वृद्धि हुई द्वैध शासनकाल में अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो गई थीं। कम्पनी के कर्मचारी लूट-खसोट करने लगे और शासन में भ्रष्टाचार का बोलाबाला हो गया। कम्पनी को इंगलैण्ड की सरकार की ओर से अधिकार-पत्र मिलता था। दीवानी प्राप्त होने के बाद लाभांश को लेकर कम्पनी के साझेदारों में विवाद उत्पन्न हो गया। अतः संसद के द्वारा कम्पनी के काम में हस्तक्षेप प्रारम्भ हुआ। कम्पनी ने राजनीतिक सुरक्षा के लिए इंगलैण्ड की सरकार को प्रतिवर्ष चार लाख पौण्ड वार्षिक रकम देना स्वीकार कर ली।

द्वैध शासन के फलस्वरूप कम्पनी की आमदनी में वृद्धि हुई थी लेकिन कम्पनी के कर्मचारियों की लूट-खसोट की नीति के कारण कम्पनी की आर्थिक स्थिति शोचनीय हो गई थी। 1770 ई. में भीषण अकाल के कारण कम्पनी की आर्थिक स्थिति दयनीय हो गयी और इंगलैण्ड की सरकार को वार्षिक रकम देने में कम्पनी असमर्थ हो गई। लाभांश की पूर्त्ति करना कम्पनी के लिए असम्भव हो गया था। एक तरफ कम्पनी की आर्थिक हालत बिगड़ती जा रही थी और दूसरी तरफ कम्पनी के अधिकारियों की समृद्धि बढ़ती जा रही थी। वह सरकार को दी जाने वाली रकम भी नहीं दे रही थी और इंगलैण्ड की सरकार से कर्ज माँग रही थी। इंगलैण्ड की सरकार ने कर्ज देना स्वीकार कर लिया परन्तु कम्पनी के प्रशासन को सुधारने तथा राजनीतिक सत्ता पर नियंत्रण बढ़ाने के उद्देश्य से इंगलैण्ड की संसद ने 1773 ई. में रेगुलेटिंग ऐक्ट पास किया। यह ऐक्ट 1774 ई. में लागू किया गया।

रेगुलेटिंग ऐक्ट के उदेश्य : ईस्ट इण्डिया कम्पनी पर सरकार का नियंत्रण स्थापित करना, संचालक समिति के संगठन को बदलना तथा कम्पनी के राजनीतिक अस्तित्व को स्वीकार कर उसके व्यापारिक ढाँचे को राजनीतिक कार्यों को चलाने के योग्य बनाना रेगुलेटिंग ऐक्ट का मुख्य उदेश्य था।

रेगुलेटिंग ऐक्ट की मुख्य धाराएँ : रेगुलेटिंग ऐक्ट के द्वारा कम्पनी के संविधान को भारत और इंगलेण्ड में बदल दिया गया। इंगलेण्ड में कम्पनी के प्रोप्राइटरों की योग्यता 550 पौण्ड से 1000 पौण्ड कर दी गयी। एक हजार पौण्ड के हिस्सेदारों को चुनाव में मतदान का अधिकार दिया गया। अधिक रकम वाले हिस्सेदारों को 4 मत तक देने का अधिकार दिया गया। उदाहरण के लिए 3, 6, और 10 हजार पौण्ड वाले हिस्सेदारों का क्रमशः 2, 3, 4, मत देने का अधिकार था।

डाइरेक्टर्स का चुनाव पहले एक वर्ष के लिए होता था। अब उनका निर्वाचन चार वर्षों के लिए होने लगा। डाइरेक्टरों की संख्या 24 कर दी गयी जिसमें 25% प्रतिवर्ष अवकाश ग्रहण करते। डाइरेक्टरों को यह आदेश दिया गया कि "वे वित्त विभाग के सामने भारत प्रशासन एवं राजस्व सम्बन्धी राजसचिव के सम्मुख सैनिक और असैनिक प्रशासन सम्बन्धी सभी पत्र-व्यवहार प्रस्तुत करें। इस धारा के द्वारा भारतीय मामलों पर ब्रिटिश मंत्रिमण्डल को नियंत्रण करने का अधिकार मिल गया। यह अधिकार अपूर्ण था।"

बंगाल के गवर्नर को गवर्नर-जनरल का पद प्रदान किया गया तथा गवर्नर-जनरल के काउन्सिल में चार सदस्यों की नियुक्ति की व्यवस्था की गयी। काउन्सिल का कार्यकाल पाँच वर्षों के लिए निर्धारित किया गया। सदस्य सम्राट की आज्ञा से हटाये जा सकते थे। गवर्नर-जनरल काउन्सिल का पदेन अध्यक्ष होता था तथा समान मत आने पर उसे निर्णायक मत देने का अधिकार प्राप्त था। गणपूर्ति तीन का था।

गवर्नर-जनरल की काउन्सिल को सैनिक एवं असैनिक अधिकार दिया गया तथा मद्रास और बम्बई की सरकार को बंगाल सरकार के अधीन कर दिया गया। मद्रास और बम्बई की सरकार के गवर्नर को युद्ध अथवा सन्धि करने के लिए बंगाल की सरकार से अनुमति लेनी पड़ती थी।

बोर्ड ऑफ कंट्रोल की अनुमति के बिना गवर्नर-जनरल किसी भारतीय नरेश के साथ न तो युद्ध कर सकता था और न किसी राज्य को सहायता का आश्वासन दे सकता था। इस अधिनियम में यह स्पष्ट घोषणा की गयी थी कि "भारत में राज्य-विस्तार अथवा विजय इंगलैण्ड की नीति, प्रतिष्ठा और इच्छा के विरुद्ध है।"

1774 ई. के रेगुलेटिंग ऐक्ट के द्वारा एक सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना कलकत्ता में की गयी और उसमें मुख्य न्यायाधीश के अतिरिक्त तीन उप-न्यायाधीश रखे गये। सर्वोच्च न्यायालय को साम्य न्याय, सामान्य कानून, नौ-सेना विधि के

न्यायालय तथा धार्मिक न्यायालय के रूप में काम करता था। सर्वोच्च न्यायालय के कार्य-क्षेत्र के अन्दर कम्पनी के सभी कर्मचारियों को रखा गया। प्रस्तावित न्यायालय में इंगलैण्ड की न्याय-पद्धति को प्रयोग में लाने का अधिकार दिया गया था और प्रायमिक तथा पुर्निविचार करने का अधिकार भी उसे प्राप्त था। मुकदमे की सुनवाई जूरी या पंचों के द्वारा की जाती थी। सर एलीजाह इम्पे मुख्य न्यायाधीश थे तथा उप-न्यायाधीशों में चैम्बर्स, लिमैंस्टर और हाइड की नियुक्ति की गयी थी।

कम्पनी के अधीन काम करने वाला कोई भी सैनिक और असैनिक अधिकारी किसी व्यक्ति से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में उपहार, दान, पारितोषिक, रिश्वत आदि नहीं ले सकता था। कम्पनी के अधिकारी निजी व्यापार नहीं कर सकते थे। निजी व्यापार अधिकारियों के लिए दण्डनीय अपराध था।

अधिनियम के द्वारा कम्पनी के मुलजिमों को वेतन बढ़ा दिया गया। गवर्नर-जनरल का वार्षिक वेतन 25 हजार पौण्ड था। मुख्य न्यायाधीश को 8 हजार पौण्ड तथा उप-न्यायाधीश को 6 हजार पौण्ड वार्षिक वेतन देना निश्चित किया गया था। पार्षदों को दस हजार पौण्ड वार्षिक वेतन दिया गया था। इतना वेतन उस समय विश्व के किसी देश में अधिकारियों को नहीं दिया जाता था।

रेगुलेटिंग ऐक्ट के दोष : रेगुलेटिंग एक्ट में कुछ मौलिक और व्यावहारिक दोष थे। सर्वप्रथम संचालकों के निर्वाचन के लिए मतदाता की संख्या घट दी गयी और बड़े-बड़े हिस्सेदारों को एक से अधिक मत देने का अधिकार दिया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि मतदाताओं की संख्या सीमित हो गयी और 30 सदस्यों में छः एक वर्ष के लिए अवकाश पर रहते थे। इस परिस्थिति में भ्रष्टाचार को और अधिक बढ़ावा मिला।

गवर्नर-जनरल की सहायता के लिए काउन्सिल की व्यवस्था की गई थी। काउन्सिल के सदस्य सहयोग देने के बदले असहयोग करने लगे। फलतः प्रशासनिक कार्यों में गतिरोध उत्पन्न हो गया और अधिनियम में गवर्नर-जनरल को विशेषाधिकार ने देकर एक भूल की गयी थी।

सर्वोच्च न्यायालय के कार्य-क्षेत्र के सम्बन्ध में स्पष्ट व्याख्या नहीं की गयी थी। गवर्नर-जनरल की काउन्सिल को कार्यकारिणी और व्यवस्थापिका सम्बन्धी अधिकार था। दोनों में कौन सर्वोपरि था इस प्रश्न पर मतभेद उत्पन्न हो जाता था। वारेन हेस्टिंग्स को इस कठिनाई का सामना करना पड़ा।

बंगाल की सरकार के अधीन बम्बई और मद्रास की सरकार को रख दिया गया था। परन्तु मद्रास और बम्बई के गवर्नर संचालकों के साथ सम्पर्क रख सकते थे और सामान्य नीति के संचालन की भी उन्हें पूरी स्वतंत्रता थी। इस प्रबन्ध-व्यवस्था के कारण भविष्य में कठिनाई पैदा हुई और बंगाल की सरकार को कई युद्धों में फंस

जाना पड़ा। पूर्ण नियंत्रण नहीं रहने के कारण व्यावहारिक दृष्टि से रेगुलेटिंग ऐक्ट उपयोगी सिद्ध नहीं हो सका।

इंगलैण्ड की सरकार और संसद कम्पनी के मामलों में पूर्णतया हस्तक्षेप नहीं कर सकते थे, क्योंकि कम्पनी प्रादेशिक एवं राजनीतिक शक्ति प्राप्त कर चुकी थी। एसी अवस्था में ब्रिटेन की सरकार को कम्पनी पर सीधा एवं प्रभावोत्पादक नियंत्रण रखना चाहिए था। वह नियंत्रण असफल एवं अधूरा था।

आलोचना : रेगुलेटिंग ऐक्ट भारतीय प्रशासन में कम्पनी के काम पर पहली वार हस्तक्षेप करनेवाला प्रयास था। यह अधिनियम ब्रिटिश संसद द्वारा उस समय पास किया गया जवकि वर्क और एडम स्मिथ व्यक्ति की सम्पत्ति के अधिकार के लिए झगड़ रहे थे और कम्पनी की नीति में हस्तक्षेप नहीं चाहते थे। विरोध की स्थिति में ब्रिटिश सरकार साहसपूर्ण कदम नहीं उठा सकी।

रेगुलेटिंग ऐक्ट महत्त्वपूर्ण कानून था। इसके द्वारा ब्रिटिश सरकार ने कम्पनी के मामलों का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेना आरम्भ कर दिया और शासन में केन्द्रीयकरण के नवयुग का सूत्रपात हुआ। पहले बंगाल, मद्रास और वम्बई में पृथक सत्ताएँ थीं। और उनका सीधा सम्बन्ध लन्दन से था। परन्तु अव बंगाल के गवर्नर-जनरल को भारत के अधिकृत प्रदेशों को मुख्य प्रवन्धक वना दिया गया।

रेगुलेटिंग ऐक्ट के दोषों को दूर करने के लिए 1781 ई. में संशोधन अधिनियम और 1784 ई. में पिट्स इण्डिया ऐक्ट आदि को पास किया गया। 1781 ई. के संशोधन अधिनियम द्वारा सर्वोच्च न्यायालय का कार्य-क्षेत्र निश्चित कर दिया गया। प्रान्तीय न्यायालयों तथा काउन्सिल सम्बन्धी नियम वनाने तथा प्रान्तीय अदालतों के निर्णय के विरुद्ध अपील सुनने का अधिकार सर्वोच्च को दिया गया। आगे चलकर गवर्नर-जनरल को विशेषाधिकार भी प्राप्त हुआ। इस दृष्टि से रेगुलेटिंग ऐक्ट के द्वारा भारत में जो प्रशासनिक ढाँचा तैयार किया गया, उसमें संशोधन और परिवर्त्तन लाकर उसे वहुत वर्षों तक व्यवहार में लाया गया।

रेगुलेटिंग ऐक्ट का महत्त्व : रेगुलेटिंग ऐक्ट की आलोचना करते हुए वर्क ने इसे "राष्ट्रीय न्याय, विश्वास और अधिकार का उल्लंघन" माना था। कुछ ने इसे संविधान का उल्लंघन भी कहा था। रेगुलेटिंग ऐक्ट जॉर्ज तृतीय ने शासनकाल में पारित हुआ था। जॉर्ज निरंकुश राजतंत्र का पृष्ठपोषक था। कम्पनी के शासन में जो दोष उत्पन्न हो गये थे, उसे दूर करने की दिशा में रेगुलेटिंग ऐक्ट का योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। यह ब्रिटिश भारत का प्रथम लिखित संविधान था और इसके द्वारा भारत में एकात्मक शासन की नींव डाली गयी। इस अधिनियम के अन्दर पहली वार ब्रिटेन की सरकार ने कम्पनी के कार्य में हस्तक्षेप किया था। कम्पनी के अधिकारियों के भ्रष्ट आचरण पर इसके द्वारा अंकुश लगाया गया था। और उन्हें

सच्चाई और ईमानदारी से काम करने के लिए उनका वेतन बढ़ा दिया गया था। प्रो. कील के अनुसार, "इस अधिनियम ने कम्पनी की इंगलेण्ड स्थित संस्थाओं के विधान में परिवर्तन किया, भारत सरकार के स्वरूप में सुधार किया, कम्पिनी के समस्त विजित भागों पर शक्ति का नियंत्रण स्थापित किया और किसी अंश तक कम्पनी को ब्रिटिश मंत्रिमण्डल की देख-रेख में लाने का प्रयास किया।" इस ऐक्ट के द्वारा कम्पनी के राजनीतिक लक्ष्य तथा अस्तित्व को स्पष्ट रूप से स्वीकार कर लिया गया। भारत-सरकार को विधायिनी शक्ति प्राप्त हुई और गवर्नर-जनरल की स्वेच्छाचारिता पर अंकुश रखने के लिए बहुल प्रणाली का सूत्रपात किया गया।

1781 ई. का संशोधन ऐक्ट : रेगुलेटिंग ऐक्ट के दोष को दूर करने के लिए 1781 ई. में संशोधन ऐक्ट पास किया गया। संशोधन कानून की धाराएँ क्रमशः इस प्रकार थीं—

1. गवर्नर-जनरल एवं अन्य अधिकारी सरकारी सेवक की हैसियत से किये गये कार्यों के लिए सर्वोच्च न्यायालय के अधिकार-क्षेत्र से बाहर आ गए।

2. सर्वोच्च न्यायालय का अधिकार-क्षेत्र स्पष्ट कर दिया गया तथा कलकत्ता के सभी निवासियों पर उनका कानून चल सकेगा। सर्वोच्च न्यायालय प्रतिवादी के निजी कानून का प्रयोग करेगी।

3. सर्वोच्च न्यायालय को अपनी आज्ञाएँ या आदेश लागू करने के समय भारत के धार्मिक और सामाजिक रीतिरिवाजों का ध्यान रखना चाहिए तथा सरकार को भी नियम एवं विनियम बनाते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए। प्रान्तीय न्यायालयों के विरुद्ध अपील उच्चतम न्यायालय नहीं सुन सकेगी। इसके स्थान पर अब अपील सुनने का अधिकार सपरिषद गवर्नर-जनरल को दिया गया। 5000 पौण्ड से अधिक के मामलों में अपील इंगलैण्ड के सपरिषद-सम्राट के पास भेजी जा सकती थी।

4. सपरिषद गवर्नर-जनरल के द्वारा जो नियम एवं विनियम बनाए जायें, उसे उच्चतम न्यायालय के पास पंजीकृत करने की आवश्यकता नहीं है।

5. भूमि लगान सम्बन्धी विषय उच्चतम न्यायालय के कार्य-क्षेत्र में नहीं आयेगा। ललान वसूलने वाले अधिकारी और न्यायिक अधिकारी सरकारी कामों के लिए उच्चतम न्यायालय के कार्य-क्षेत्र से बाहर रहेंगे।

1781 ई. के संशोधन कानून का एकमात्र उद्देश्य सरकार को सुदृढ़ करना था। राजस्व इकट्ठा करने में कोई कानूनी रूकावट नहीं डाली जाय और भारत में कानून बनाते समय वहाँ की धार्मिक, सामाजिक रीति-रिवाजों को ध्यान में रखा जाय। संशोधन कानून में भी एक दोष शेष रह गया था। गवर्नर-जनरल को काउन्सिल के बहुमत का निर्णय मानना पड़ता था। 1786 ई. में संसद कानून द्वारा काउन्सिल की

उपेक्षा करने की अनुमति दी गयी। 1793 इ. के चार्टर ऐक्ट के द्वारा यह दोष पूर्ण रूप से दूर कर दिया गया और गवर्नर-जनरल अपनी जिम्मेदारी पर काउन्सिल के निर्णय की उपेक्षा कर सकता था।

पिट्स इण्डिया ऐक्ट (1784 ई.)

पारित होने की घटनाएँ : भारतीय प्रश्नों पर दिलचस्पी लेने का काम 1772 ई. से प्रारम्भ हुआ था और इंगलेण्ड के संसद में भारतीय मामलों पर खुलकर बहसें होती थीं। 1772 ई. और 1781 ई. में कम्पनी के मामलों की जाँच के लिए एक प्रवर समिति तथा एक गुप्त समिति की स्थापना की गयी थी। प्रवर समिति ने उच्चतम न्यायालय और बंगाल परिषद के आपसी सम्बन्धों की छानबीन की और गुप्त समिति ने मराठा युद्ध के कारणों की जाँच की। दोनों समितियों की रिपोर्टों पर इंगलेण्ड के संसद में वाद-विवाद हुआ और संसद द्वारा हस्तक्षेप करना अनिवार्य हो गया। मराठा युद्ध में भाग लेने के कारण कम्पनी की आर्थिक कठिनाई बढ़ गयी थी और 10 लाख पौण्ड कर्ज की माँग की गयी थी। गुप्त समिति के अध्यक्ष डंडास ने प्रस्तावित विधेयक को अस्वीकृत कर दिया फॉक्स नामक संसद सदस्य ने एक विधेयक संसद में प्रस्तुत किया जो फॉक्स इण्डिया विधेयक कहा जाता है। विधेयक तैयार करने में बर्क और फिलिप फ्रांसिस का मुख्य हाथ था। फॉक्स के विधेयक में कम्पनी की राजनीतिक और सैनिक शक्ति को सात आयुक्तों के परिषद के हाथ में सौंपने तथा व्यापारिक कार्य को नौ उप-निदेशकों के हाथ में रखने की सिफारिश की गयी थी। फॉक्स का प्रस्तावित विधेयक कॉमन्स सभा द्वारा स्वीकार कर लिया गया किन्तु लार्ड सभा ने उसे अस्वीकार कर दी। इस प्रश्न पर लार्ड नार्थ और फॉक्स की संयुक्त सरकार को पद-त्याग करना पड़ा। भारतीय मामले पर सरकार टूटने की यह पहली घटना थी। 1784 ई. में पिट इंगलैण्ड का प्रधानमंत्री था। उस समय भारतीय मामलों के सम्बन्ध में एक नया विधेयक संसद में प्रस्तुत किया गया किन्तु मंत्रिमण्डल के विघटन के कारण विधेयक पास नहीं हो सका। दूसरी बार 1784 ई. में पिट पुनः इंगलैण्ड का प्रधानमंत्री बना। इस बार संसद में पिट को बहुमत था। अतः पुराने विधेयक को पुनः संसद में प्रस्तुत किया गया और उसे दोनों सदनों की स्वीकृति भी मिल गयी। पिट ने विधेयक को पेश करने के पहले कम्पनी की स्वीकृति ले ली थी। फॉक्स के विधेयक में कम्पनी के संरक्षण को समाप्त कर देने का प्रावधान था, किन्तु पिट के विधेयक में संरक्षण नहीं हटाने की बात कही गई थी। इस विधेयक के सम्बन्ध में पिट ने स्वयं कहा था—"फॉक्स के विधेयक से व्यक्तियों को स्थायित्व मिलना था। मेरे विधेयक से एक प्रणाली को स्थायित्व मिला।"

पिट्स इण्डिया ऐक्ट धाराएँ : पिट्स इण्डिया ऐक्ट का एकमात्र उद्देश्य

रगुलेटिंग एक्ट के दोषों को दूर करना था। इस अधिनियम की मुख्य धाराएं इस प्रकार थी –

1. पिट्स इण्डिया एक्ट के द्वारा लन्दन स्थित प्रशासन में परिवर्त्तन हुआ। कम्पनी द्वारा अधिकृत भारतीय क्षेत्र के नागरिक, सैनिक एवं राजस्व सम्बन्धी विषयों के निरीक्षण, निर्देशन तथा नियंत्रण के लिए विस्तृत अधिकार सहित एक नियंत्रण बोर्ड की स्थापना की गयी। इसे बोर्ड ऑफ कंट्रोल कहा जाता था। नियंत्रण बोर्ड में छः कमिश्नर थे जिन्हें–"भारत के विषयों के लिए कमिश्नर कहा जाता था। कमिश्नरों की नियुक्ति प्रिवी काउन्सिल के सदस्यों में से सम्राट के द्वारा की जाती थी। बोर्ड ऑफ कंट्रोल में एक चांसलर ऑफ एक्सचेकर, एक राज्य सचिव और चार प्रिवी काउन्सिल के सदस्य थे। तीन डाइरेक्टरों की एक गुप्त समिति द्वारा बोर्ड के सभी आदेश भारत भेजे जाते थे। इन आदेशों को बदलने का अधिकार कोर्ट ऑफ डाइरेक्टर्स को नहीं थाह। भारत में कर्मचारियों की नियुक्ति कोर्ट ऑफ डाइरेक्टर्स के द्वारा ही की जाती थी, परन्तु किसी कर्मचारी या अधिकारी को बोर्ड ऑफ कंट्रोल द्वारा हटाया जा सकता था अथवा उन्हें वापस बुलाया जा सकता था।

2. कोर्ट ऑफ प्रोप्राइटर्स की समिति को समाप्त कर दिया गया और अब वे केवल कम्पनी के हिस्सेदार रहे। उनके राजनीतिक अधिकार खत्म हो गये थे और वे केवल डाइरेक्टर का चुनाव कर सकते थे तथा लाभांश प्राप्त कर सकते थे।

3. तीन डाइरेक्टरों की एक गुप्त समिति बनायी गयी और उसके अधीन सभी राजनीतिक और सैनिक प्रश्नों को सौंप दिया गया।

4. भारत में कार्यरत अथवा अवकाश प्राप्त कम्पनी के अधिकारियों के अपराधों पर विचार करने के लिए तीन न्यायाधीशों, चार पियरों (लॉर्ड सभा के सदस्य) और छः कॉमन्स सभा के सदस्यों की एक विशेष न्यायालय का गठन किया गया। यह अदालत लन्दन में थी और अपराधी अधिकारियों को दण्ड देने का उसे पूर्ण अधिकार था।

5. गवर्नर-जनरल के काउन्सिल के सदस्य की संख्या तीन कर दी गयी। इन तीन में से एक स्थान सेनापति का था। प्रेसीडेंसी के गवर्नरों की काउन्सिल में भी तीन सदस्य रखे गये। इनकी नियुक्ति का अधिकार डाइरेक्टरों को दिया गया। सम्राट अथवा बोर्ड ऑफ कंट्रोल की आज्ञा द्वारा उन्हें हटाया जा सकता था। गवर्नर-जनरल या प्रेसिडेंसी गवर्नरों को निर्णायक मत देने का अधिकार था।

6. प्रेसीडेंसी पर गवर्नर-जनरल का नियंत्रण बढ़ा दिया गया। गवर्नर-जनरल उनके कार्यों का निरीक्षण, नियंत्रण एवं निर्देशन कर सकता था। प्रेसीडेंसी की सरकार स्वयं किसी भारतीय नरेश के साथ युद्ध, सन्धि अथवा राजस्व के मामलों में निर्णय नहीं नहीं ले सकती थी। आज्ञा की अवहेलना करने पर प्रेसीडेंसी की सरकार को

मुअत्तल करने का अधिकार गवर्नर-जनरल को प्राप्त था। बंगाल की सरकार के नियंत्रण में प्रेसीडेंसी की सरकार को लाना एक साहसिक कदम था।

7. कम्पनी को अपनी व्यवस्था सुधारने की आज्ञा दी गयी।

8. कम्पनी के द्वारा भारत में राज्य-विस्तार या विजय को इंगलैण्ड की प्रतिष्ठा और नीति के विरुद्ध माना गया। गवर्नर-जनरल भी बिना डाइरेक्टर्स या बोर्ड की आज्ञा से युद्ध, सन्धि अथवा किसी प्रकार का समझौता किसी भारतीय नरेश के साथ नहीं कर सकते थे।

9. भारत में कम्पनी के अधिकृत प्रदेशों को पहली बार "ब्रिटिश अधिकृत प्रदेश" का नाम दिया गया।

पिट्स इण्डिया ऐक्ट का महत्त्व : भारत के प्रशासनिक एवं संवैधानिक विकास के मार्ग में पिट्स इण्डिया ऐक्ट एक मील के पत्थर की तरह महत्त्वपूर्ण था। कम्पनी के बदले ब्रिटिश सरकार के हाथ में भारतीय शासन को लाने की दिशा में यह पहला प्रयत्न था। भारतीयों से सम्बन्धित प्रश्न अब ब्रिटिश संसद के नियंत्रण में चला गया और इंगलैण्ड की सरकार का अधिकार निश्चित हो गया। बोर्ड ऑफ कंट्रोल का अध्यक्ष मंत्रिमण्डल का एक सदस्य होता था और बोर्ड ऑफ कंट्रोल व्यावहारिक रूप में एक संसदीय समिति थी जो संसद के प्रति उत्तरदायी थी।

पिट्स इण्डिया ऐक्ट के द्वारा यह स्पष्ट कर दिया गया कि कम्पनी मात्र व्यापारिक संस्था है और राजनीति पर उसका अधिकार नहीं है। व्यापारियों के हाथ में शासन के कारण जो बहुत सी बुराइयाँ थीं; उन्हें सुधारने में इस ऐक्ट का योगदान महत्त्वपूर्ण था। भारत की राजनीतिक व्यवस्था अब इंगलैण्ड के कुशल राजनीतिज्ञों के हाथ में आ गयी। भारतीय प्रशासन को संगठित करने तथा प्रेसीडेंसी की सरकार पर गवर्नर-जनरल का अधिकार निश्चित तथा विस्तृत कर दिया। इस ऐक्ट में नियुक्ति का अधिकार संचालकों के हाथ में रहने दिया गया जिससे वे सरकार के नियंत्रण को स्वीकार करने में अनाकानी नहीं करें। इलवर्ट का यह कथन सत्य है कि पिट ने कम्पनी के संविधान में भारी परिवर्तन किए बिना ही सरकार का नियंत्रण स्थापित कर दिया। पिट्स इण्डिया ऐक्ट के द्वारा दोहरी प्रणाली प्रारम्भ हुई जिससे टकराव की सम्भावना बढ़ गयी। दोहरी प्रणाली 1858 ई. में समाप्त हुई। सी. एच. फिलिप्स का यह विचार उपयुक्त है कि 1784 ई. का अधिनियम "एक चतुर एवं कुटिल प्रस्ताव था जिसने संचालक समिति की राजनीतिक सत्ता को मंत्रिमण्डल के गुप्त एवं प्रभावशाली नियंत्रण में कर दिया था।"

लॉर्ड कॉर्नवालिस के सुधार

लॉर्ड कॉर्नवालिस का शासनकाल प्रशासनिक सुधारों के लिए अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। वह एक योग्य और ईमानदार शासक उसने वारेन हेस्टिंग्स के सुधारों

को पूर्णता प्रदान करने में सफलता प्राप्त की। असैनिक सेवा को संगठित कर उसने हेस्टिंग्स के अधूरे काम को पूरा कर दिखाया। वारेन हेस्टिंग्स की तुलना में कॉर्नवालिस को व्यापक अधिकार मिला था। अब गवर्नर-जनरल के साथ-साथ वह प्रधान सेनापति भी था। वह न्याय, नैतिकता और निष्पक्षता में विश्वास रखता था। कम्पनी शासन में निष्पक्षता और दृढ़ता लाने में वह बहुत अंश तक सफल रहा। उसने वारेन हेस्टिंग्स के अनुभव से लाभ उठाकर कम्पनी के कर्मचारियों के वेतन में वृद्धि कर भ्रष्टाचार को दूर करने का प्रयास किया। कॉर्नवालिस के समय प्रत्येक अंगरेज कर्मचारी को भारत से लौटने के पहले अपनी अर्जित सम्पत्ति का विवरण देना पड़ता था। न्याय एवं लगान विभाग को संगठित किया गया। कम्पनी की सेवा में सुधार लाने का काम वारेन हेस्टिंग्स ने प्रारम्भ किया था। परन्तु कम्पनी का आन्तरिक प्रशासन भ्रष्टाचार, उपहार और व्यक्तिगत व्यापार का केन्द्र बन चुका था। अतएव कॉर्नवालिस ने आन्तरिक सुधार को प्राथमिकता दी। उसने कम्पनी की सेवा, लगान-व्यवस्था, न्याय एवं व्यापार सम्बन्धी अनेक सुधार के काम किए।

सेवा-सुधार : कम्पनी की सेवा में अनेक तरह के दोष क्लाईव और वारेन हेस्टिंग्स के सुधार के बावजूद मौजूद थे। रिश्वत, उपहार और सगे-सम्बन्धियों के नाम से व्यक्तिगत व्यापार चलाकर कम्पनी के कर्मचारी मालोमाल हो रहे थे। कम्पनी के कर्मचारी निजी स्वार्थ की पूर्ति में संलग्न रहते थे। कम्पनी के हित की चिन्ता कर्मचारियों को कम रहती थी। अधिकांश कर्मचारी अयोग्य, भ्रष्ट और लालची थे कम्पनी सेवा में व्याप्त भ्रष्टाचार को दूर करने के उद्देश्य से कॉर्नवालिस ने रिश्वत, उपहार और रिश्तेदारों के नाम से व्यापार करने पर प्रतिबन्ध लगा दिया। कम्पनी के अधिकारियों को वेतन कम मिलता था। बंगाल में कर्मचारियों को एक निश्चित वेतन के साथ लगान का कुछ अंश मिलता था जो पर्याप्त नहीं था। बंगाल में कर्मचारियों के वेतन में वृद्धि कर दी। कलक्टर को वेतन 1500 रुपये प्रतिमाह तथा जिला के लगान का एक प्रतिशत भाग दिया जाने लगा। छोटे कर्मचारियों के वेतन में भी वृद्धि की गयी। वेतन में वृद्धि कर कॉर्नवालिस ने कम्पनी के कर्मचारियों को ईमानदार और कर्त्तव्यपरायण बनाने का प्रयास किया।

सिफारिश के आधार पर नियुक्ति की प्रथा को समाप्त कर कॉर्नवालिस ने योग्यता के आधार पर नियुक्ति की प्रथा को प्राथमिकता दी। कर्त्तव्यपरायण व्यक्ति को विशेष महत्त्व दिया जाने लगा। लॉर्ड कॉर्नवालिस भारतीयों की येग्यता एवं चरित्र के प्रति अविश्वास का भाव रखता था। अतः उच्च पदों पर अधिक-से-अधिक संख्या में अंगरेजों की नियुक्ति की गयी। पाँच सौ पौण्ड के वार्षिक वेतनवाले पदों पर किसी भारतीय की नियुक्ति नहीं की जाती थी। सैनिक सेवा में भी भारतीयों और अंगरेजों के बीच भेदभाव रखा जाता था। भारतीयों को अधिक-से-अधिक सेना में जमादार

या सूबेदार का पद दिया जाता था। असैनिक सेवा में भारतीय सदर-अमीन, रजिस्ट्रार या मुन्सिफ के पद पर नियुक्त हो सकते थे। वास्तव में कॉर्नवालिस ने प्रशासनिक सेवा में भारतीयों के लिए उच्च पदों का द्वार बन्द कर दिया था।

प्रशासन सम्बन्धी सुधार : प्रशासन में अनावश्यक व्यय एवं भ्रष्ट-पद्धति को सुधारने की ओर कॉर्नवालिस का ध्यान आकृष्ट हुआ। शासन सम्बन्धी सुधार के काम में कॉर्नवालिस की सहायता सर जॉन शोर, चार्ल्स ग्रान्ट, जेम्स ग्रान्ट और डंकन जैसे अनुभवी अधिकारियों ने की। सर्वप्रथम कॉर्नवालिस ने बंगाल को 23 जिलों में बाँट दिया। बंगाल का विभाजन भारतीय प्रशासन की दृष्टि से कॉर्नवालिस की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि मानी जाती है। प्रशासन में अनावश्यक व्यय कम करने के उद्देश्य से बहुत-से-अनुपयोगी पदों को समाप्त कर दिया गया। कॉर्नवालिस ने कलक्टर के कार्य-क्षेत्र से न्याय का काम अलग कर दिया। कलक्टर के बदले न्याय का काम लगान-बोर्ड या असैनिक न्यायालयों को सौंप दिया गया। कार्यपालिका एवं न्याय-विभाग का कार्य-क्षेत्र पृथक् कर कॉर्नवालिस ने निष्पक्ष न्याय-व्यवस्था को जन्म दिया।

पुलिस-व्यवस्था में सुधार : प्रारम्भ में कम्पनी ने पुलिस का प्रबन्ध जमींदारों के हाथ में सौंप रखा था। जमींदार अपने-अपने क्षेत्र में शान्ति-व्यवस्था कायम रखने तथा अपराधियों को दण्ड देने के लिए पुलिस का प्रबन्ध करते थे। नगरों में पुलिस की पर्याप्त व्यवस्था नहीं थी। कॉर्नवालिस ने जमींदारों के हाथ से पुलिस का प्रबन्ध छीन लिया और उसके स्थान पर थाना की स्थापना की। प्रत्येक थाने में दारोगा और कुछ सिपाही रखे गये। उसके बाद पुलिस अधीक्षक के पद का सृजन किया गया। पुलिस कर्मचारियों के वेतन में वृद्धि की गयी। अपराधियों को पता लगाने पर पुलिस को इनाम दिया जाता था। दारोगा के पद पर अंगरेजों की ही नियुक्ति की जाती थी। पुलिस-व्यवस्था का उत्तरदायित्व मैजिस्ट्रेट को दिया गया।

सैनिक सुधार : कम्पनी के द्वारा सैनिकों की भर्ती करने का कोई निश्चित नियम नहीं था। योग्य व्यक्तियों के साथ-साथ अयोग्य व्यक्ति भी सैनिक सेवा में भर्ती कर लिए जाते थे। कॉर्नवालिस ने सैनिकों की नियुक्ति के सम्बन्ध में नियंत्रण बोर्ड के सदस्य डण्डास को निजाम निश्चित करने का अनुरोध किया। कॉर्नवालिस के अनुरोध पर योग्य व्यक्ति की नियुक्ति सेना में होने लगी। परन्तु कॉर्नवालिस ने भारतीयों के बदले यूरोपियनों को नियुक्ति में प्राथमिकता देकर एक भयानक भूल की थी।

न्याय-विभाग में सुधार : न्याय-विभाग को संगठित करने का श्रेय वारेन हेस्टिंग्स को दिया जाता है। उसने फौजदारी और दीवानी अदालत की स्थापना की थी। परन्तु न्याय विभाग के कार्य-क्षेत्र और अधिकार के सम्बन्ध में स्पष्ट व्याख्या नहीं की गयी थी। कलक्टर प्रशासन और न्याय दोनों कार्यों में हस्तक्षेप कर,अपने

अधिकार का दुरुपयोग करते थे। अतः कॉर्नवालिस ने कार्यकारिणी और न्यायपालिका दोनों को पृथक् कर आम जनता तक न्याय पहुँचने की व्यवस्था की । कॉर्नवालिस ने प्रत्येक जिला में एक न्यायाधीश की नियुक्ति की जो जिला न्याय-विभाग का प्रधान होता था तथा फौजदारी, दीवानी और लगान सम्बन्धी मामलों में निर्णय देता था। जिला जज की सहायता के लिए भारतीय सहायक की नियुक्ति की जाती थी। भारतीय सहायक हिन्दू और इस्लामी कानून के विशेषज्ञ होते थे।

जिला अदालत के नीचे सबसे छोटी अदालत मुन्सिफ की थी। मुन्सिफ के रूप में भारतीयों की नियुक्ति की जाती थी। उन्हें केवल 50 रुपये तक की लागत के मुकदमों का फैसला करने का अधिक था। मुन्सिफ अदालत के ऊपर रजिस्ट्रार का न्यायालय था। रजिस्ट्रार भी भारतीय ही होते थे। उन्हें दो सौ रुपये तक की लागत के मुकदमों की जाँच करने का अधिकार था। छोटी एवं जिला अदालतों के अतिरिक्त कॉर्नवालिस ने चार प्रान्तीय न्यायालयों का निर्माण किया था। ये न्यायालय ढाका, मुर्शिदावाद, कलकत्ता और पटना में स्थापित किये गये थे। प्रान्तीय न्यायालय में तीन अंगरेज न्यायाधीश और भारतीय सहायक रहते थे। जिला जज के निर्णय के विरुद्ध इसमें अपील की जाती थी। प्रान्तीय न्यायालय के न्यायाधीश अपने क्षेत्र में दौरा करके निर्णय देने का काम करते थे। प्रत्येक न्यायाधीश को अपने क्षेत्र में प्रतिवर्ष दो बार दौरा करना पड़ता था।

अपील की सबसे बड़ी अदालत सदर-दीवानी और सदर-निजामत की स्थापना कलकत्ता में की गयी थी। इस न्यायालय में गवर्नर-जनरल और उसकी काउन्सिल के सदस्य निर्णय देने का काम करते थे। गवर्नर-जनरल और काउन्सिल के सदस्यों की सहायता के लिए हिन्दू और इस्लामी कानून के विशेषज्ञ न्यायाधीश भी उसमें बैठते थे। ये अपील की उच्चतम न्यायालय थी। प्रान्तीय न्यायालयों के निर्णय के विरुद्ध इसमें अपील की जाती थी। उच्चतम न्यायालय की संस्था के बाद इंगलैण्ड के राजा के पास अन्तिम अपील की जाती थी।

दीवानी न्यायालयों की तरह फौजदारी न्यायालयों को भी व्यवस्थित किया गया। प्रत्येक जिला में अंगरेज न्यायाधीश की अध्यक्षता में फौजदारी न्यायालय की स्थापना की गयी। न्यायाधीश दौरा कर निर्णय देते थे। प्रान्तीय स्तर पर ढाका, मुर्शिदाबाद, कलकत्ता और पटना में चार प्रान्तीय फौजदारी अदालतों की स्थापना की गयी। बड़े न्यायालयों में अंगरेज न्यायाधीश की मदद के लिए भारतीय सहायक भी रहते थे।

न्यायालयों को संगठित कर कानून संग्रह करने का काम भी कॉर्नवालिस ने पूरा किया। उसने हिन्दू और मुसलमानों के प्रचलित कानूनों का एक संग्रह तैयार करवाया जिसे कॉर्नवालिस कोड कहा जाता है। कॉर्नवालिस कोड में जातीय नियमों

के साथ-साथ शासन, व्यापार एवं अन्य नियमों को भी सम्मिलित कर दिया गया था। कॉर्नवालिस कोड में व्यक्ति की स्वतंत्रता पर अधिक वल दिया गया था।

वकीलों का फीस निर्धारित कर दी गई थी। अधिक फीस लेने वाले वकीलों को अयोग्य घोपित कर दिया जाता था। नियमों और आज्ञाओं को प्रकाशित करने की व्यवस्था भी की गयी थी। न्यायाधीशों के वेतन में वृद्धि की गयी। योग्य, ईमानदार एवं प्रतिभावान व्यक्ति को न्याय-विभाग में नियुक्त किया जाने लगा। न्यायाधीश भेंट, उपहार तथा रिश्वत नहीं ले सकते थे। प्रत्येक न्यायाधीश को अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह करना पड़ता था। अपराधी अधिकारियों के विरुद्ध मुकदमा चलाया जा सकता था। गवर्नर-जनरल किसी व्यक्ति की सजा को कम या माफ कर सकता था। अन्तिम अपील सपरिषद-राजा के यहाँ की जा सकती थी। इस प्रकार कॉर्नवालिस को आधुनिक न्याय-व्यवस्था का जन्मदाता कहा जाता है।

भूमि-सुधार : स्थायी बन्दोबस्त : ईस्ट इण्डिया कम्पनी को 1765 ई. में वंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी प्राप्त हुई थी। 1765 ई. तक भूराजस्व-व्यवस्था का उत्तरदायित्व भारतीयों के हाथ में सौंपकर कम्पनी प्रत्यक्ष उत्तरदायित्व से मुक्त रही। द्वैध शासनकाल में भूराजस्व सम्वन्धी अनेक प्रयोग किये गये। 1769 ई. में नायव-दीवान के अधीन अंगरेज सुपरवाइजर नियुक्त किए गए। द्वैध शासन की समाप्ति 1772 ई. में हुई। डाक बोलनेवाली प्रथा 1772 ई. में प्रारम्भ हुई। अधिक वोली बोलने वालों को पाँच वर्षों के लिए भूमि बन्दोबस्त की जाती थी। पंचवर्षीय व्यवस्था उत्पीड़क थी। किसानों से भूपतिवर्ग अधिक-से-अधिक रकम वसूल कर लाभ कमाने की कोशिश करते थे। अतः 1777 ई. में नीलाम के माध्यम से भूमि दी जाने वली व्यवस्था की अवधि घटाकर एक वर्ष कर दी गयी। वार्षिक प्रबन्ध के सम्वन्ध में वारेन हेस्टिंग्स और काउन्सिल के सदस्य फ्रांसिस दोनों एक दूसरे का विरोध करते थे। फ्रांसिस भूपतियों के साथ स्थायी प्रबन्ध करने का पक्षपाती था। परन्तु उस समय मराठों के साथ युद्ध में व्यस्त रहने के कारण वारेन हेस्टिंग्स को अधिक पैसे की आवश्यकता थी। अतः भूमि-व्यवस्था में सुधार लाने का प्रश्न ज्यों-का-ज्यों बना रहा।

1786 ई. में कॉर्नवालिस गवर्नर-जनरल नियुक्त हुआ। उसके समय में भारतीय कृषि का ह्रास हो गया था। उत्पादन में कमी आ गयी थी और कृषकों की आर्थिक हालत शोचनीय थी। कॉर्नवालिस को व्यापक अधिकार देकर भारत भेजा गया था। इंगलैण्ड के प्रधानमंत्री पिट और बोर्ड ऑफ कंट्रोल के अध्यक्ष डण्डास उसके मित्र और समर्थक थे। अतः कॉर्नवालिस ने 1789 ई. में दस वर्षीय व्यवस्था जारी करने की घोपणा की और इंगलैण्ड की सरकार की स्वीकृति पाकर उसे स्थायी बनाने की इच्छा व्यक्त की। कॉर्नवालिस और सर जान शोर दोनों एकजुट होकर भूमि

समस्या का स्थायी निदान ढूंढ़ना चाहते थे। परन्तु सुधार के सम्बन्ध में दो प्रश्नों पर सरकारी अधिकारों और कॉर्नवालिस के बीच मतभेद था। प्रश्न यह था कि क्या भूपति मात्र लगान वसूलने वाले अधिकारी हैं अथवा भूमि के स्थायी स्वामी हैं। इंगलैण्ड की सामन्ती व्यवस्था में जमींदारों को भूस्वामी माना जाता था। कॉर्नवालिस और सर जान शोर जमींदारों को भूस्वामी मानने के लिए तैयार थे। दूसरा प्रश्न लगान-व्यवस्था के सम्बन्ध में था। लगान की रकम उपज के आधार पर किसानों से कितनी वसूल की जाय तथा जमींदारों की आय का कितना भाग सरकार को मिलना चाहिए? सर जान शोर जमींदारों के साथ दस अथवा वीस वर्षों का समझौता करना चाहता था। इस बीच भूमि की पैदाइश एवं लगान को निर्धारित कर वह जमींदारों के साथ स्थायी समझौता करना चाहता था। परन्तु कॉर्नवालिस अपने शासनकाल में भूमि-व्यवस्था को पूरा करने के लिए व्यग्र था।

कॉर्नवालिस ने दस वर्षीय व्यवस्था के अधीन जमींदारों को व्यापक अधिकार दिया था। रैयतों के स्वार्थ की रक्षा का इसमें कोई प्रावधान नहीं था। कॉर्नवालिस इंगलैण्ड की तरह जमींदारों के हाथ में रैयतों का कल्याण, कृषि एवं उद्योग-धन्धों के विकास का दायित्व सौंपना चाहता था। अतः 1790 ई. में बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल के अध्यक्ष को एक पत्र लिखकर कॉर्नवालिस ने दस वर्षीय व्यवस्था को स्थायी रूप से स्वीकार करने का प्रस्तव रखा। फ्रांस की क्रान्ति के कारण स्वीकृति मिलने में विलम्ब हुआ। इंगलैण्ड के प्रधानमंत्री पिट और बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल के अध्यक्ष कॉर्नवालिस के पक्ष में थे। परन्तु सर जान शोर और चार्ल्स ग्रान्ट स्थायी समझौता का विरोध करते थे। फिर भी अन्ततः 1793 ई. में स्थायी बन्दोबस्त की वात स्वीकार कर ली गयी।

स्थायी बन्दोबस्त की व्यवस्था के पक्ष और विपक्ष में अनेक तरह के तर्क पश्चिमी और भारतीय विद्वानों द्वारा पेश किया गया है। और स्थायी बन्दोबस्त की आलोचना प्रशासक और वित्त विशेषज्ञों के द्वारा भी की गयी है। सर्वप्रथम इस व्यवस्था की मुख्य विशेषताओं का परिचय आवश्यक है।

स्थायी बन्दोबस्त के आधार पर जमींदार भूमि के स्वामी बना दिये गये। भूमि पर जमींदारों का वंशानुगनत अधिकार हो गया। जब तक जमींदार सरकार को निश्चित लगान देते रहते उनका भूमि पर अधिकार सुरक्षित रहता था। लगान नहीं देने पर उन्हें भूमि के अधिकार से वंचित कर दिया जा सकता था। भूस्वामी की हैसियत से जमींदार भूमि की खरीद या विक्री कर सकते थे। सरकार के साथ किसानों को कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं था। जमींदारों से लगान की रकम सदा के लिए निश्चित कर दिया गया। किसी भी परिस्थितिक में लगान की रकम में कोई छूट जमींदारों को नहीं दी जाती थी। लगान की रकम पट्टे में अंकित कर दी जाती थी और उसमें वृद्धि सरकार की स्वीकृति के द्वारा ही की जा सकती थी।

स्थायी वन्दोवस्त को व्यावहारिक रूप देकर कॉर्नवालिस भारत में जमींदारों का एक शक्तिशाली वर्ग तैयार करना चाहता था जो ब्रिटिश सरकार के हितचिन्तक रहे। जमींदार वर्ग का समाज पर प्रभुत्व छा गया। लगान की रकम निश्चित कर देने से अंगरेज अधिकारी प्रतिवर्ष के झंझट से मुक्त हो गये। वे अपना ध्यान दूसरी दिशा में लगाने लगे। कम्पनी की भूराजस्व से आय में कोई कटौती नहीं पाती थी।

स्थायी बन्दोबस्त से लाभ : स्थायी बन्दोबस्त का लाभ सर्वप्रथम जमींदारों को मिला। अस्थायी एवं अनिश्चित अधिकारी के बदले वे अब स्थायी रूप में जमीन के मालिक वन गये। जमींदारों की स्थिति शक्तिशाली हो गयी। वे सरकार को निर्धारित लगान देकर जमीन के वास्तविक स्वामी वन गये। भूपतियों को वंशानुगत अधिकार मिल गया। जमींदार वर्ग भारत में ब्रिटिश सरकार की जड़ को सुदृढ़ बनाने में सहायक हो गया। यह वर्ग अंगरेंजी राज्य के प्रति सच्ची भक्ति प्रदर्शित करने लगा। भूमि पर स्थायी स्वामित्व प्राप्त करने से जमींदारों के द्वारा कृषि विकास के कार्य में अभिरुचि प्रदर्शित की जाने लगी। उत्पादन में वृद्धि होने से जमींदारों को अधिक लाभ प्राप्त होता था। जमींदारों को निश्चित लगान देने के बाद काफी धन वच जाता था। संचित धन का उपयोग व्यापार एवं उद्योग-धन्धों के विकास में किया जाने लगा। भूमि की कीमत वढ़ गयी। जमींदार अब वड़े-वड़े नगरों में बसने लगे। समाज में जमींदारों की प्रतिष्ठा बढ़ी और वे किसानों से भेंट, उपहार, बेगार आदि लेने लगें। कुछ उदार जमींदारों के द्वारा शिक्षा, कला एवं साहित्य के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया गया। बंगाल में अधिकतर भूमि आवाद नहीं हो पाती थी। परन्तु स्थायी वन्दोबस्त के वाद कृषि-योग्य भूमि का क्षेत्र बढ़ा और बंगाल पुनः आर्थिक दृष्टि से ब्रिटिश भारत का एक सम्पन्न प्रान्त वन गया।

स्थायी बन्दोबस्त के फलस्वरूप किसानों की आर्थिक स्थिति में भी सुधार हुआ। किसानों को निश्चित लगान देने के बाद जीवन-निर्वाह के लिए सम्पत्ति वचने लगी। सम्पत्ति के सहारे वे कृषि या व्यवसाय का काम करने लगे। अब किसानों को अकाल या दुर्भिक्ष से छुटकारा मिल गया। किसानों से मनमाना लगान वसूल नहीं किया जाता था।

कम्पनी को प्रतिवर्ष स्थायी आय प्राप्त होने लगी। भूराजस्व की वसूली में कम्पनी को कोई खर्च नहीं करना पड़ता था। बार-बार लगान निर्धारित करने अथवा वसूलने के झंझट से कम्पनी को मुक्ति मिल गयी। लगान वसूलने के लिए कम्पनी को अब कर्मचारियों को नियुक्त नहीं करना पड़ता था। आय के अनुपात में व्यय की मात्रा कुछ नहीं थी। लगान व्यवस्था में संलग्न कर्मचारियें को शासन सम्बन्धी कामों में लगाकर प्रशासनिक क्षमता के अनुसार बढ़ाया गया।

उद्योग-धन्धों के विकास एवं उत्पादन में वृद्धि होने से कम्पनी भी लाभान्वित

हुई। सरकार को लगान के अतिरिक्त अन्य स्रोतों से आय होने लगी। कम्पनी न्याय, शासन एवं व्यापार के काम को बढ़ाने में सफल हो गयी। स्थायी वन्दोवस्त से कम्पनी शासन की लोकप्रियता बढ़ी बंगाल में जमींदारों के ऐसे वर्ग ने जन्म लिया जिससे सरकार का प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित हो गया। जमींदारों के हाथ से न्याय और शासन का अधिकार ले लिया गया। परन्तु स्थायी बन्दोबस्त ने जमींदारों को देश का धनीमानी वर्ग बना दिया था। वे ब्रिटिश सरकार के एक अंग बन गये और विद्रोह या विप्लव के अवसर पर सरकार की सहायता करने लगे। स्थायी प्रबन्ध ने कम्पनी और जमींदार दोनों को एक धरातल पर ला दिया।

स्थायी बन्दोबस्त से हानि : स्थायी बन्दोबस्त का परिणाम अमंगलकारी सिद्ध हुआ। इस व्यवस्था में कम्पनी को आशानुकूल सफलता नहीं मिली। सर्वप्रथम स्थायी बन्दोबस्त जल्दबाजी में प्रारम्भ किया गया था। भूमि की पैमाइस, लगान की दर उपज के आधार पर निर्धारित किया गया था और जंगल एवं वंजर भूमि आदि का कोई आंकड़ा तैयार नहीं किया गया था। जमींदार बंजर भूमि और जंगल को कृषि-योग्य भूमि में बदलकर उससे अधिक आय प्राप्त करने लगे। परन्तु सरकार को लगान पूर्ववत दी जाती थी। वस्तुस्थिति की सही जानकारी मिलने पर यह पता चला कि जमींदार सरकारी लगान की तुलना में किसानों से पन्द्रह या सोलह गुना अधिक लगान वसूल करते थे। स्थायी बन्दोबस्त करने में सरकार जमींदरों से समझौता की थी। अतः किसानों को जमींदारों की दया पर छोड़ दिया गया था। फलतः जमींदार किसानों का शोषण करने लगे। वे किसानों वे वेगार, भेंट, उपहार आदि लेने लगे। अधिकार धन प्राप्त करने की चाह बढ़ गयी जिससे किसानों को अनेक तरह की यातनाएँ जमींदारों द्वारा दी जाने लगी। किसानों को भूमि पर कोई अधिकार नहीं रहा। जमींदार वर्ग भोग-विलास में लिप्त रहने लगा। वस्तुतः नई व्यवस्था किसानों के प्रति अन्याय थी।

भारतीय जमींदारों को निश्चित समय पर लगान देने की आदत नहीं थी। जो जमीन्दार निर्धारित तिथि और समय पर लगान नहीं दे पाते थे, उनकी जमींदारी सरकार द्वारा अधिकृत कर नये जमींदारों के यहाँ बेच दी जाती थी। राजशाही, नदिया, दिनाजपुर आदि स्थानों में अनेक जमींदारों की जमींदारी जब्त कर ली गयी थी। नये जमीन्दार किसानों के प्रति असहिष्णु थे और पुराने जमींदार असन्तुष्ट होकर ब्रिटिश सरकार के लिए संकट पैदा करने लगे। नये जमींदार जागीदारी के विकास का कोई काम नहीं करते थे।

स्थायी बन्दोबस्त का प्रभाव अन्य प्रान्तों पर भी पड़ा। बंगाल की तरह ब्रिटिश भारत के अन्य प्रान्तों में भी लगान की दर बढ़ा दी गयी। लगान में वृद्धि से किसान और जमींदार दोनों को हानि हुई। स्थायी बन्दोबस्त की व्यवस्था से ब्रिटिश सरकार

भूमि सम्बन्धी समस्या के प्रति असावधान हो गयी। लगान-व्यवस्था में सुधार, किसानों के स्वार्थ की रक्षा एवं शोषण की प्रक्रिया को रोकने के लिए अधिकारियों के द्वारा कोई काम नहीं किया गया।

अंगरेजी सरकार स्थायी बन्दोवस्त से बड़ी रकम प्राप्त करने की आशा रखती थी। परन्तु सरकार की आशा पर शीघ्र पानी फिर गया। सरकार ने जमींदारों को भूमि का स्वामित्व देकर बहुत बड़ी भूल की। जमींदार किसानों से मनमाना लगान वसूल करने लगे। बंगाल में स्थायी बन्दोबस्त से सरकार को पौने चार करोड़ रुपये की आय प्राप्त हुई जबकि जमींदारों के द्वारा तेरह करोड़ रुपये लगान के रूप में किसानों से वसूल किया जाता था। अतः सरकार की आय ज्यों की त्यों बनी रही, परन्तु जमींदारों की आय में कई गुना अधिक वृद्धि हुई।

स्थायी बन्दोवस्त के तीन लक्ष्य थे—निश्चित समय पर निर्धारित लगान की प्राप्ति, कृषि का विस्तार एवं उत्पादन में वृद्धि। निश्चित समय पर लगान वसूलने की सरकारी आशा पर पानी फिर गया। बहुत—से जमींदारों की जागीदारी नीलाम कर दी गयी। उनके स्थान पर छोटे-छोटे जमींदारों को ज़ागीरदारी दी गयी। बंजर भूमि को आबाद कर उत्पादन बढ़ाने का लक्ष्य भी पूरा नहीं हो सका। कम्पनी को अधिक चिन्ता लगान वसूल करने की रहती थी। अतः कृषि के विकास और उत्पादन में वृद्धि पर कोई ध्यान नहीं दिया गया।

स्थायी प्रबन्ध से किसानों की गरीबी दिन-प्रतिदिन बढ़ती गयी। जमींदार किसानों को पट्टा लिखने में मनमानी करते थे। अधिकांशतः किसानों को निर्धारित लगान के अतिरिक्त रकम जमींदारों को देनी पड़ती थी। गरीब किसानों को अपने अधिकारों की रक्षा के लिए कोई कानूनी संरक्षण प्राप्त नहीं था। जमींदार किसानों का शोषण कर धनवान हो गये और किसानों की दरिद्रता पूर्ववत कायम रही।

स्थायी बन्दोबस्त से भूमि-व्यवस्था में स्थिरता आ गयी थी। विकासोन्मुख समाज की दृष्टि से यह स्थिरता अमंगलकारी थी। स्थायी प्रबन्ध के बदले यदि दस या बीस वर्ष के लिए जमींदारों के साथ समझौता किया जाता तो व्यावहारिक रूप से प्राप्त अनुभव के आधार पर उसके दोषों को दूर किया जा सकता था। परन्तु स्थायी बन्दोबस्त ने सुधार के रास्ते को बन्द कर दिया था।

भारतीय राष्ट्रीय जीवन में स्थायी बन्दोबस्त के कारण अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो गयीं। आर्थिक शोषण और सामाजिक विषमता की खाई बढ़ गयी। जमींदार वर्ग ब्रिटिश सरकार का भक्त बन गया। अतः आर. सी. दत्त ने ठीक ही कहा है, "यदि सार्थक प्रबन्ध का अर्थ बंगाल में पूर्ण रूप से राजभक्त जमींदारों और समृद्ध किसानों का वर्ग पैदा करना था तो इस उदेश्य में आशातीत सफलता मिली।" जमींदार भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के मार्ग में बाधक बन गए। यह राष्ट्रीय जीवन

की एक दुखद घटना थी।

स्थायी वन्दोवस्त के गुण एवं दोष की समीक्षा के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इससे लाभ की अपेक्षा अधिक हानि हुई। लाभ का अधिकांश भाग जमींदारों को मिला। परन्तु अन्ततः भूमि के वँटवार, नीलामी एवं मुकदमेवाजी के कारण जमींदारों को भी हानि हुई। इससे समाज में निर्धनता और असन्तोष वढ़ा। वंगाल और बिहार में स्थायी बन्दोवस्त के फलस्वरूप पुराना सामाजिक एवं आर्थिक ढाँचा चरमरा गया। सम्पन्न क्षेत्र आर्थिक निर्धनता और सामाजिक अवनति के फलस्वरूप राष्ट्र का पिछड़ा प्रान्त वन गया।

व्यापारिक सुधार : ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने व्यापारिक काम के संचालन के लिए एक व्यापार बोर्ड की स्थापना 1774 ई. में की थी। व्यापार बोर्ड में ग्यारह सदस्य थे। यह बोर्ड वस्तुओं की खरीद एवं बिक्री के कामों की देखभाल करता था। व्यापार बोर्ड के सदस्यों द्वारा निजी व्यापार को नियंत्रित करने की दिशा में कोई प्रभावकारी कदम नहीं उठाया गया था। अतः वोर्ड के सदस्यों के वदले यह काम रेजिडेन्टों को सौंप दिया गया। परन्तु रेजिडेन्ट और व्यापार बोर्ड के सदस्यों की भ्रष्ट नीति के कारण कम्पनी को व्यापार में वांछित लाभ प्राप्त नहीं होता था। भारतीय कारीगरों को लाचारी में अपना माल अंगरेज कर्मचारियों के हाथ घाटा उठाकर बेंच देना पड़ता था। कम्पनी के कर्मचारी पेशगी के रूप में भारतीय कारीगरों को अग्रिम देते थे और बदले में कम मूल्य पर उन्हें तैयार माल बेचने के लिए विवश कर देते थे। कॉर्नवालिस ने व्यापार के क्षेत्र में व्याप्त असन्तोष को दूर करने के लिए निम्नलिखित सुधार किए :–

1. व्यापार बोर्ड के सदस्यों की संख्या ग्यारह से घटाकर पाँच कर दी गयी।
2. व्यापार वोर्ड को कलकत्ता काउन्सिल के नियंत्रण में रखा गया।
3. कम्पनी के नौकरों के द्वारा माल खरीदने के लिए ठेके की प्रथा बन्द कर दी गयी।
4. माल खरीदने का काम हिन्दुस्तानी व्यापारियों को सौंप दिया गया और कम्पनी के नौकरों को कमीशन एजेन्ट बना दिया गया।
5. भारतीय कारीगरों एवं व्यापारियों के हित को संरक्षण प्रदान किया गया। कम्पनी के नौकर पेशगी से अधिक मूल्य की वस्तुएँ जुलाहों को वेचने के लिए बाध्य नहीं कर सकते थे। कम्पनी के सुधार से कम्पनी की आर्थिक स्थिति में सुधार हुआ।

कॉर्नवालिस के सुधारों का मूल्यांकन : कॉर्नवालिस ने भारतीय ब्रिटिश साम्राज्य की प्रशासनिक व्यवस्था को सुधारने का प्रयास किया। प्रशासनिक सेवा को स्थायी एवं दोषरहित बनाने की दिशा में उसका प्रयत्न प्रशंसनीय माना जाता है। शासन, न्याय-विभाग, राजस्व-व्यवस्था, पुलिस-व्यवस्था में कॉर्नवालिस ने जो परिवर्तन किया, उसने भविष्य के शासकों के लिए पथ-प्रदर्शन का काम किया। लगभग बीस

वर्षों तक कॉर्नवालिस द्वारा प्रारम्भ की गयी व्यवस्था में कोई परिवर्त्तन नहीं किया गया। पी. ई. रावर्टस ने कॉर्नवालिस के सुधार के सम्बन्ध में कहा है कि "बहुत कम व्यक्ति उतना स्थायी कार्य कर सके जितना कॉर्नवालिस ने किया और वह भी मुख्यतया आन्तरिक प्रशासन के क्षेत्र में।" वस्तुतः कॉर्नवालिस ने हेस्टिंग्स द्वारा स्थापित नींव पर ब्रिटिश साम्राज्य की इमारत खड़ी की। परन्तु कॉर्नवालिस के सभी कामों का परिणाम अन्ततः लाभदायक नहीं रहा। स्थायी बन्दोबस्त कृपकों के लिए हानिकारक था। किसानों को जमींदारों की दया पर छोड़ देने से उनकी स्थिति शोचनीय हो गयी थी। न्यायालय असुविधाजनक और खर्चीला था। साधारण व्यक्ति सुविधा से न्याय नहीं पा सकता था। कॉर्नवालिस की व्यवस्था में जो दोष थे, उन दोषों को आगे चलकर सुधारने का प्रयास किया गया था।

लॉर्ड बिलियन बेन्टिंग के सुधार : लॉर्ड विलियम बेन्टिंग जुलाई, 1828 ई. में भारत का गवर्नर-जनरल नियुक्त हुआ था। उसका शासनकाल आन्तरिक सुधारों के लिए महत्त्वपूर्ण है। वह 'उन्मुक्त व्यापार और उन्मुक्त प्रतियोगिता की नीति का समर्थक था। वह अत्यन्त उदार और सुधारवादी था। वह प्रजा के कल्याण में ही शासक की शक्ति की वृद्धि चाहता था। वह युद्ध के बदले शान्ति एवं सुव्यवस्था चाहता था। संयोग से भारत की राजनीतिक स्थिति बेन्टिंग के विचारों के अनुकूल थी। लॉर्ड हेस्टिंग्स और लॉर्ड एमहर्स्ट के समय लगातार युद्ध के फलस्वरूप भारत एवं भारतीय सीमा के वाहर कम्पनी के साम्राज्य का विस्तार हो चुका था। विस्तृत साम्राज्य की सुरक्षा तथा युद्ध के व्यय को पूरा करने के लिए कम्पनी के लिए शान्ति की नीति का पालन करना अधिक उपयोगी था। उस समय कम्पनी के आदेश पत्र की अवधि भी समाप्त होने वाली थी और चीन से व्यापार करने के एकाधिपत्य पर भी खतरा आ गया था। अतः देश-विदेश की परिस्थिति, कम्पनी की आर्थिक स्थिति में सुधार लाने के उदेश्य से लॉर्ड विलियम बेन्टिक को तटस्था, अहस्तक्षेप, शान्ति और सुधार की नीति अपनानी पड़ी। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं होता है कि विलियम वेन्टिंग अंगरेजों की मूल नीति से हटकर कोई क्रान्तिकारी कदम उठाना चाहता था। भारतीयों से धन चूसकर इंगलैण्ड को समृद्ध करना ब्रिटिश सरकार का मूल उदेश्य था। वस्तुतः विलियम बेटिंग पुरानी लीक पर ही चल रहा था। डॉ. ईश्वरी प्रसाद का विचार है कि "बेन्टिंग की कोई निश्चित नीति नहीं थी। वह परिस्थिति के अनुसार कार्य करता था।"

लॉर्ड विलियम बेन्टिंग के सुधार : देशी रियासतों के साथ सम्बन्ध, अंग्रेजी साम्राज्य की सीमा और प्रतिष्ठा को बढ़ाने की अपेक्षा भारतीय प्रशासन, सामाजिक सुधार और शिक्षा की प्रगति की दृष्टि से विलियम बेन्टिंग का शासनकाल आधुनिक भारत के इतिहास में अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है। विलियम बेन्टिंक के पहले

भारत के गवर्नर-जनरल के द्वारा साम्राज्यवादी विकास के कार्यक्रम को अपनाया गया था। युद्ध का मुख्य लक्ष्य साम्राज्य की स्थापना एवं सुदृढ़ करना था। प्रशासन का उद्देश्य कम्पनी साम्राज्य की सुरक्षा थी। भारतीयों की स्थिति में परिवर्तन लाने की बात कोई सोच नहीं पाता था। विलियम वेन्टिंग का पहला गवर्नर-जनरल था जिसने कम्पनी में व्याप्त आर्थिक अस्त-व्यस्तता और प्रशासनिक दोषों को सुधारने के साथ-साथ कुछ लोक कल्याणकारी काम भी किया जिससे भारतीयों को लाभ प्राप्त हुआ।

आर्थिक सुधार

बेन्टिंग के आगमन के समय कम्पनी की आर्थिक स्थिति अत्यन्त शोचनीय थी। लगातार युद्ध में संलग्न रहने के फलस्वरुप कम्पनी को वार्षिक आय की तुलना में एक करोड़ रुपये से अधिक खर्च उठाना पड़ा था। आर्थिक सन्तुलन लाने के लिए खर्च में कटौती और आय में वृद्धि करना आवश्यक था। दूसरे शब्दों में, मितव्ययिता, व्यय में कमी और आय में वृद्धि को विलियम बेन्टिक ने आर्थिक सुधार की नीति का आधार बनाया था। वेन्टिंग की नीति के फलस्वरूप कम्पनी की आय में न केवल सन्तुलन आया बल्कि वार्षिक आय में डेढ़ करोड़ रुपये की बचत होने लगी।

आर्थिक सुधार के काम को सम्पन्न करने के लिए बेन्टिंक ने दो समितियों की स्थापना की-एक सैनिक समिति और दूसरी असैनिक समिति थी। समिति से प्राप्त रिपोर्ट के आधार पर तथा संचालक मण्डल की स्वीकृति प्राप्त कर बेन्टिंग ने निम्नलिखित सुधार किये :

1. भत्ते में कमी : सर्वप्रथम असैनिक सेवा में काम करने वाले कर्मचारियों के भत्ते में कटौती की गयी। वेतन में भी पहले की अपेक्षा कसौटी की गयी। बहुत से अनावश्यक पदों को समाप्त कर दिया गया। सैनिक सेवा में अधिकांशतः सैनिक का खर्च राज्य की ओर से दिया जाता था। कम्पनी की आर्थ-व्यवस्था पर सैनिक व्यय का विशेष प्रभाव नहीं पड़ता था। परन्तु राज्यों के विलयन के बाद व्यय का भार कम्पनी सरकार पर आ गया था। अतः सैनिकों के वेतन और भत्ते में सुधार लाना आवश्यक हो गया। जो सैनिक अधिकारी कलकत्ता से 400 मील से अधिक दूरी पर रहते थे उनके भत्ते की रकम आधी कर दी गयी। भत्ते में कटौती लाने से सैनिकों में असन्तोष फैला, लेकिन कम्पनी को केवल इसी मद में 20,000 पौण्ड की वार्षिक बचत हुई।

2. अधिक वेतन में कमी और सरकारी पदों का भारतीयकरण करना : कम्पनी प्रशासन में अंगरेजों और भारतीय कर्मचारियों के बीच वेतन एवं पद सम्बन्धी असमानता थी। अंगरेजों को ऊँचे-ऊँचे पद तथा अधिक वेतन दिया जाता था। भारतीय कर्मचारियों के लिए प्रोन्नति का मार्ग अवरुद्ध था अथवा वे छोटे-छोटे पदों

पर प्रान्नत कर लिए जाते थे। कॉर्नवालिस ने विभेद की नीति को व्यावहारिक रूप देकर प्रशासनिक खर्च को बढ़ा दिया था जिससे भारतीयों में असन्तोष फैल गया था। विलियम बेन्टिंग ने सरकारी सेवाओं में अधिक-से-अधिक भारतीयों को नियुक्त करने का निर्णय लिया। भारतीयों को कम वेतन दिया जाता था। अतः अंगरेजी अधिकारियों की तुलना में उन पर लागत व्यय कम होने लगी। बचत की दृष्टि से विलियम बेन्टिंग का यह निर्णय आर्थिक दृष्टि से कम्पनी सरकार के लिए लाभदायक रहा। इस प्रकार अधिक वेतन में कमी लाकर उसने कम्पनी के राजस्व की स्थिति सुदृढ़ कर ली थी।

3. अदालतों में कमी लाना : लॉर्ड कॉर्नवालिस के द्वारा दौरा एवं अपील की अदालतों की स्थापना की गयी थी। यह चलता-फिरता न्यायालय था। इसमें न्यायाधीश देश के अन्दर गाँवों में घूम-घूमकर न्याय का काम करते थे। ऐसी अदालतों के रख-रखाव पर कम्पनी का बहुत खर्च बैठता था। दौरा जज एवं उसके काम करने वाले कर्मचारियों का व्यवहार भारतीयों के साथ अच्छा नहीं रहता था। बेन्टिंक की नजर में दौरा जज की अदालतें विश्राम-गृह की तरह थीं जहाँ अयोग्य कर्मचारियों को उत्तरदायित्व के पद पर बैठाया जाता था। कल्याण के बदले ये अदालतें उत्पीड़न का केन्द्र बन गयी थीं। अतः बेन्टिंक ने धन-बचत करने के उदेश्य से दौरा एवं अपील की अदालत को समाप्त करने की घोषणा की। भारतीयों को सब-जज के पद पर नियुक्त किया जाने लगा तथा उनके वेतन और सुविधाओं में वृद्धि की गयी। न्याय के क्षेत्र में बेन्टिंक का यह सुधार महत्त्वपूर्ण एवं अधिक उपयोगी माना जाता है।

4. कर-मुक्त भूमि का अपहरण : भारतीय नरेशों के द्वारा बहुत-से व्यक्तियों को भूमि दान में दी गयी थी। दान की हुई भूमि कर-मुक्त थी। दान दी गयी भूमि का सर्वेक्षण किया गया और जो अपने अधिकार को प्रमाणित नहीं कर पाये उनकी भूमि छीन ली गयी तथा उस पर लगान लगा दिया गया। बेन्टिंक की यह योजना मन्दिरों, मठों एवं धार्मिक संस्थाओं के लिए कष्टप्रद साबित हुई, लेकिन कम्पनी को लगान से 30 लाख रुपये की आय प्राप्त हुई।

5. पश्चिमोत्तर प्रदेश में भूमि का बन्दोबस्त : बेन्टिंक ने नये पश्चिमोत्तर प्रदेश की भूमि-व्यवस्था को ठीक किया। भूमि का सर्वेक्षण करने के लिए इलाहाबाद में एक बोर्ड ऑफ रेवेन्यू की स्थापना की गयी जिसके निरीक्षण में भूमि की माप, वर्गीकरण आदि काम पूरा किया गया तथा 30 वर्षों के लिए भूमि का बन्दोबस्त किया गया। नई भूमि-व्यवस्था में किसानों और जमींदारों के नाम रजिस्टर में दर्ज करवाया गया। भूमि पर किसानों के अधिकार की सुरक्षा प्रदान की गयी। लगान का भार अधिक था। अतः किसानों को भूमि के बन्दोबस्त से विशेष लाभ नहीं हुआ,

लेकिन कम्पनी की आय में वृद्धि हुई। 19 1/2 करोड़ रुपये का घाटा होता था जो अब दो करोड़ रुपये की बचत में बदल गया। पश्चिमोत्तर प्रदेश की तरह बंगाल, बिहार और उड़ीसा में भी लगान-व्यवस्था को सुधारा गया।

6. अफीम के निर्यात पर नियंत्रण : मध्य भारत में मालवा का क्षेत्र अफीम के उत्पादन का मुख्य केन्द्र था। पहले मालवा से अफीम कराँची लाया जाता था और वहाँ से चीन या पूर्वी द्वीप समूहों में भेजा जाता था। अफीम के व्यापार का लाभ सिन्ध के अमीरों को प्राप्त होता था अथवा पुर्तगालियों को लाभ मिलता था। अफीम का व्यापार व्यक्तिगत आधार पर होता था। अफीम के व्यापार से कम्पनी को विशेष लाभ नहीं होता था। अतः बेन्टिक ने कराँची के बदले बम्बई को अफीम के निर्यात का मुख्य केन्द्र बनाया और व्यापारियों को लाइसेंस दिया जाने लगा। बम्बई की दूरी कराँची की अपेक्षा कम थी। मार्ग-व्यय में कमी आयी और लाभांश कम्पनी सरकार के कोष में जमा होने लगा। अफीम अधिक मात्रा में बाहर भेजा जाने लगा। अफीम के निर्यात पर नियंत्रण करने के फलस्वरूप कम्पनी की आय सुदृढ़ हो गयी।

7. मलाक उपनिवेश की व्यय में कमी : मलाक उपनिवेश पर प्रशासन के नाम पर अधिक खर्च होता था। खर्च की तुलना में आय नहीं होती थी। अतः मितव्ययिता के नाम पर बेन्टिंक ने मलाका उपनिवेश के व्यय में कमी कर दी।

विलियम बेन्टिक का आर्थिक सुधार महत्त्वपूर्ण माना जाता है। विलियम बेन्टिक के आगमन के समय सरकार को प्रतिवर्ष एक करोड़ रुपये घाटा हो रहा था। आर्थिक सन्तुलन रखना घाटे के बजट में सम्भव नहीं था। परन्तु बेन्टिक की कुशल आर्थिक नीति के फलस्वरूप घाटे का बजट बचत का बजट बन गया। बेन्टिक के जाने के समय कम्पनी सरकार को प्रति वर्ष दो करोड़ रुपये की बचत होने लगी थी।

शासन एवं न्याय सम्बन्धी सुधार

प्रारम्भ में अंगरेजी साम्राज्य की स्थापना सीमित क्षेत्र में हुई थी। धीरे-धीरे साम्राज्यवादी विस्तार की नीति अपनाकर कम्पनी का साम्राज्य विस्तृत हो गया। पुरानी शासन-व्यवस्था को दोषों के दूर करने की दिशा में पहला प्रयास लॉड कॉर्नवालिस ने किया था। कॉर्नवालिस के बाद ब्रिटिश साम्राज्य का विस्तार द्रुत गति से हुआ किन्तु प्रशासनिक यंत्रों को युद्ध में संलग्न गवर्नर-जनरलों के द्वारा सुधारने का कोई प्रयास नहीं किया गया। शासन और न्याय सम्बन्धी अनेक दोष दृष्टिगोचर होने लगे थे। लॉर्ड विलियम बेन्टिक ने इस अभाव को दूर करने का प्रयास किया।

1. प्रशासन में भारतीयों की भर्त्ती : बेन्टिक का विचार कॉर्नवालिस से भिन्न था। बेन्टिंक भारतीयों की योग्यता और ईमानदारी में विश्वस रखता था। अतः प्रशासनिक सेवा में भारतीयों और अंगरेजों के बीच भेदभाव की नीति को दूर करने

का प्रयास किया गया। योग्यता के आधार पर भारतीयों की नियुक्ति सदर अमीन के पद पर की जाने लगी जिसका मासिक वेतन 700 रुपये था। बेन्टिक के विचार का अनुमोदन 1833 ई. के कम्पनी के आदेश-पत्र में किया गया था। आदेश पत्र के अनुसार "धर्म, जाति, जन्म, वंश या रंग के आधार पर किसी भी व्यक्ति को कम्पनी की सेवाओं से वंचित नहीं रखा जाता है।"

2. लगान-व्यवस्था में सुधार : कम्पनी सरकार में लगान-व्यवस्था एकरूपता के सिद्धान्त पर आधारित नहीं थी। बंगाल, बिहार और उड़ीसा में स्थायी बन्दोबस्त की व्यवस्था थी। परन्तु पश्चिमोत्तर प्रदेश का निर्माण होने के बाद वहाँ पंचवर्षीय भूमि-व्यवस्था प्रारम्भ की गयी थी। पंचवर्षीय व्यवस्था के अन्दर जमींदार किसानों पर मानमाना अत्याचार करते थे। अतः बेन्टिक की लगान-व्यवस्था निर्धारित करने के लिए भूमि का सर्वेक्षण करवाया और किसान तथा जमींदारों के सम्बन्ध में भूमि सम्बन्धी बातों का रजिस्टर तैयार करवाया। लगान सम्बन्धी व्यवस्था को संगठित करने के उद्देश्य से इलाहाबाद में बोर्ड ऑफ रेवेन्यू की स्थापना की गयी। राजस्व-विभाग में कमिश्नर, कलक्टर और डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट के कार्य और अधिकार को संयुक्त किया गया। प्रशासन में सरलता, अल्प व्यय को प्राथमिकता दी गयी।

पुलिस-विभाग में कुछ आवश्यक सुधार लाया गया। थानेदारों का अधिकार और दायित्व पूर्ववत रहने दिया गया, परन्तु जमींदारों और पटेलों को कुछ पुलिस सम्बन्धी अधिकार दिये गये। प्रत्येक जिला में कुछ कर्मचारियों को बराबर तैनात रहने का नियम बनाया गया ताकि अपराधियों को बन्दी बनाने में सुविधा हो। प्रशासन तंत्र को चुस्त करने की दिशा में बेन्टिक का सुधार महत्वपूर्ण माना जाता है।

3. आगरा में सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना : सर्वप्रथम कलकत्ता में सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना रेगुलेटिंग ऐक्ट के द्वारा की गयी थी। परन्तु नवनिर्मित आगरा या पश्चिमोत्तर प्रदेश की दूरी कलकत्ता से अधिक थी। साम्राज्य के विस्तृत हो जाने के कारण कलकत्ता न्यायालय का कार्यक्षेत्र बढ़ गया था और जनसाधारण को भी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। अतः आगरा में सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना कर बेन्टिक ने आगरा या पश्चिमोत्तर प्रान्त के नागरिकों को सुविधा प्रदान की।

4. दौरा न्यायालयों की समाप्ति : साम्राज्य के अन्दर घूम-घूमकर न्याय करने वाले दौरा न्यायालयों को बेन्टिक ने समाप्त कर दिया। इस तरह के न्यायालय अधिक कीमती थे और उसमें देर अधिक लगती थी। 6 प्रान्तीय न्यायालयों तथा बोर्ड ऑफ रेवेन्यू को समाप्त कर दिया गया। धन और समय के अपव्यय से कम्पनी तथा आम नागरिकों को मुक्ति मिली।

5. सदर दीवानी और सदर निजामत अदालत की स्थापना : इलाहाबाद या प्रयाग में सदर दीवानी और सदर निजामत अदालत की स्थापना कर बेन्टिंक ने उस क्षेत्र के निवासियों को कलकत्ता आने-जाने के खर्च से राहत दिलायी।

6. फौजदारी अधिकारों का हस्तान्तरण : फौजदारी के अधिकारी सेशन जज होते थे। बेन्टिंक ने डिस्ट्रिक्ट जज को फौजदारी का अधिकार दिया तथा सहायता के लिए सब-जजों की नियुक्ति की। मामलों का निर्णय शीघ्र देने की व्यवस्था की गयी और फारसी के सथान पर प्रान्तीय भाषाओं का प्रचलन प्रारम्भ हुआ। जजों की संख्या बढ़ायी गयी और दण्ड विधान में संशोधन लाया गया। उदाहरण के लिए, कोड़े मारने का दण्ड समाप्त कर दिया गया। छोटे न्यायालयों में भारतीयों को मुन्सिफ और सदर-अमीन के पद पर नियुक्त किया जाने लगा।

7. नये पदाधिकारियों की नियुक्ति : कई जिलों के जिलाधीशों पर एक कमिश्नर की नियुक्ति की प्रथा बेन्टिक ने प्रारम्भ की थी। कमिश्नर प्रान्तीय अदालतों, पुलिस अधीक्षक, जिलाधीशों, जजों एवं मैजिस्ट्रेटों के कार्य का निरीक्षण करता था।

प्रशासन एवं न्याय-व्यवस्था में सुधार लाकर बेन्टिंक ने शीघ्र निर्णय दिलवाने तथा कानून को सरल बनाने का प्रयास किसा था। सीमा सम्बन्धी दरों से उत्पन्न कठिनाइयों को दूर करने का प्रयास किया और भारतीयों के सहयोग से प्रशासन एवं न्याय-विभाग के काम को चलाने की प्रथा प्रारम्भ की गई। साधारण व्यक्ति भी न्याय पाने की आशा रखने लगे। न्याय-व्यवस्था को सरल बनाने में बेन्टिक की देन उल्लेखनीय थी।

शिक्षा-सुधार

लॉड विलियम बेन्टिंक शिक्षा की नवीन नीति का जन्मदाता माना जाता है। कम्पनी सरकार के द्वारा शिक्षा सम्बन्धी कोई स्पष्ट नीति अब तक निर्धारित नहीं की गयी थी। स्कूल और कॉलेजों की स्थापना छिट-फूट रूप में की गयी थी। 1813 ई. के चार्टर द्वारा प्रति वर्ष एक लाख रुपया शिक्षा के मद में व्यय करने का प्रस्ताव स्वीकार किया जा चुका था। परन्तु भारत में शिक्षा प्राचीन प्रचलित पद्धति के आधार पर दी जाय अथवा अंगरेजी पद्धति का प्रचार किया जाय इस सम्बन्ध में विवाद था। शिक्षा सम्बन्धी व्यवस्था के लिए एक सर्वजन शिक्षा-समिति की नियुक्ति की गयी। समिति के सदस्यों में शिक्षा नीति पर गहरा मतभेद था। प्राच्य भाषा के समर्थकों का नेतृत्व विल्सन और प्रिंसेप कर रहे थे जो प्राचीन भारतीय शिक्षा-पद्धति को जारी रखना चाहते थे तथा संस्कृत और अरबी भाषा एवं साहित्य का प्रकाशन करवाना चाहते थे। परन्तु विरोधी दल यूरोपीय साहित्य एवं विज्ञान का प्रचार करना चाहते थे। इस दल का नेतृत्व सर चार्ल्स ट्रेविलियन तथा राजा राममोहन राय जैसे व्यक्ति

कर रहे थे। विलियम बेन्टिंक ने अपने कानूनी सदस्य लॉर्ड मैकाले को सर्वजन शिक्षा-समिति का अध्यक्ष नियुक्त किया और विवाद को समाप्त करने का दायित्व उसे सौंप दिया। 2 फरवरी, 1835 ई. को मैकाले ने अपना मन्तव्य प्रकाशित किया जिसमें भारतीय धर्म एवं साहित्य का उपहास किया गया था। मैकाले का विचार था "क्या अनुदान की धनराशि उस इतिहास की शिक्षा पर व्यय की जानी चाहिए जिसमें तीस-तीस फुट लम्बे और तीस-तीस हजार वर्ष तक राज्य करने वाले राजाओं का वर्णन भरा पड़ा है और क्या उस भूगोल की शिक्षा देनी चाहिए जिसमें शीरे और मखान के सागर हैं.......क्या हमें मिथ्या इतिहास, मिथ्या ज्योतिष, मिथ्या औषधियों की शिक्षा देनी है, क्योंकि हम उन्हें मिथ्या धर्म में पाते हैं।" मैकाले की उक्ति थी कि "स्थायी मातृभाषाएँ न तो साहित्यिक दृष्टि से उत्कृष्ट है और न ही वैज्ञानिक दृष्टि से बहुमूल्य। एक अच्छे पाश्चात्य पुस्तकालय की एक आलमारी में जितना ज्ञान एकत्रित होता है; उतना भारत तथा अरब के समस्त साहित्य में भी नहीं है।" मैकाले ने इस बात पर बल दिया कि "अंगरेजी शासक वर्ग की भाषा है और वह समस्त पूरब की व्यापार की भाषा बनने वाली है। वह हमारी देशी प्रजा के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध होगी।"

मैकाले के उपयुक्त विचार विवादपूर्ण हैं। मैकाले अंगरेजी भाषा का अन्ध भक्त था। वह अपनी शिक्षा सम्बन्धी योजना के माध्यम से भारत में एक ऐसा वर्ग, एक ऐसा जन-समूह तैयार करना चाहता था जो "रक्त (नस्ल) और रंग में तो भारतीय हो, परन्तु जो आस्वाद, विचारधारा, चरित्र, नैतिकता और बुद्धि में अंगरेज हो।" मैक ले द्वारा अपने पिता को लिखे गये पत्र से उसकी भावना का स्पष्ट आभास मिल जाता है। उसने लिखा था कि—"यदि हमारी शिक्षा-प्रणाली पर आचरण किया जाय तो आज से तीस वर्ष के पश्चात् बंगाल की सामान्य जातियों में एक भी मूर्त्तिपूजक नहीं रह जायेगा।"

विलियम बेन्टिंक ने 3 मार्च, 1835 ई. को मैकाले के प्रस्ताव को स्वीकार कर यह घोषणा की कि "भारत की सरकारी भाषा अंगरेजी होगी और सरकारी नौकरियों में प्रवेश पाने के लिए अंगरेजी आवश्यक होगी। उच्च स्तर पर होनेवाली अदालती न्याय अंगरेजी भाषा में ही होंगे। अरबी और संस्कृत की शिक्षा को बन्द न किया जाय, परन्तु अंगरेजी साहित्य शिक्षा को विशेष प्रोत्साहन दिया जाय।" मार्च, 1835 ई. में कलकत्ता कॉलेज की नींव डाली गयी और पाश्चात्य औषधि विज्ञान की शिक्षा भारतीय विद्यार्थियों को दी जाने लगी। अंगरेजी भाषा और पाश्चात्य शिक्षा के प्रचार से भारत में आधुनिकीकरण और प्रगति को सहायता मिली।

सामाजिक सुधार

भारतवर्ष कई शताब्दियों से सामाजिक कुरीतियों से आक्रान्त था। सामाजिक

जीवन में अनेक तरह की विसंगतियाँ एवं अमानवीय कृत्यों को रूढ़िगत मान्यता प्राप्त थी। अंगरेजी राज्य की स्थापना के बाद भारतीय सामाजिक कुरीतियों को सुधारने की दिशा में कोई प्रयास नहीं किया गया था। अंगरेज भारतीयों के सामाजिक जीवन में हस्तक्षेप कर विरोध उत्पन्न करना नहीं चाहते थे। परन्तु विलियम बेन्टिक के समय कुछ प्रबुद्ध भारतीयों के द्वारा सामाजिक बुराइयों को दूर करने के सम्बन्ध में भरपूर सहयोग देने का आश्वासन दिया गया। राजा राममोहन राय प्रबुद्ध भारतीयों का नेतृत्व कर रहे थे। भारत के किसी गवर्नर-जनरल ने अब तक सामाजिक सुधार का साहसिक कार्य नहीं किया था। विरोध के बावजूद विलियम बेन्टिंक ने सामाजिक जीवन के अभिशाप को मिटाने का भरपूर प्रयास किया और उसने भारतीय समाज को एक नई दिशा दी।

1. सती-प्रथा एवं कन्या-वध की प्रथा को समाप्त करना : भारतीय समाज में सती-प्रथा और कन्या-वध की परम्परा थी। सती का अर्थ पवित्र एवं गुणवती नारी होता है। यह प्रथा इण्डोसिथियन शासक की देन मानी जाती है। पति के मरने के बाद उसकी जलती चिता में पत्नी स्वेच्छा से अपने-आप को जला डालती थी। प्रारम्भ में यह न जो सार्वलौकिक थी और न सभी जातियों के बीच प्रचलित थी। सती-प्रथा पति के प्रति अटूट भक्ति का प्रतीक थी। धीरे-धीरे समाज और धर्म द्वारा स्वेच्छा को अनिवार्य नियम का रूप दे दिया गया। वह प्रथा निर्मम, अमानुषिक एवं बर्बर थी। कभी-कभी बलपूर्बक स्त्रियों को पति के साथ चिता में जलने के लिए विवश कर दिया जाता था। पूर्व के मुगल शासकों में अकबर ने सती-प्रथा को बन्द करवाने का प्रयास किया था। परन्तु मुगलों को उसमें विशेष सफलता नहीं मिली। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने सामाजिक और धार्मिक जीवन में हस्तक्षेप नहीं करने की नीति अपनायी। परन्तु अंगरेजी साम्राज्य के विस्तार के बाद कॉर्नवालिस, वेलेजली, मिन्टो और लॉर्ड हेस्टिंग्स ने सती-प्रथा की संख्या को कम करने के उद्देश्य से प्रतिबन्ध लगाया था। पुलिस संरक्षण की व्यवस्था प्रारम्भ कर बलपूर्वक चिता में विधवाओं को जलाने की प्रक्रिया पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। परन्तु सती-प्रथा बन्द नहीं हो पायी थी।

राजा राममोहन राय ने और देवेन्द्रनाथ टैगोर जैसे समाज-सुधारकों के द्वारा सती-प्रथा को गैर-कानूनी घोषित करने की माँग की गयी। विलियम बेन्टिंक ने सती-प्रथा को गैर-कानूनी घोषित करने के पहले सावधानी से काम लिया और प्रजा को अपने पक्ष में लाने का प्रयास किया। समाज के प्रमुख व्यक्तियों की राय प्राप्त कर जब वह आश्वस्त हो गया कि विद्रोह की आशंका नहीं है तो 1829 ई. में बेन्टिक द्वारा सती-प्रथा को गैर-कानूनी घोषित किया गया। प्रारम्भ में प्रतिबन्ध केवल बंगाल के लिए था। परन्तु 1830 ई. में मद्रास और बम्बई प्रान्तों में सती-प्रथा को गैर-कानूनी घोषित किया गया। विधवाओं को जलाना दण्डनीय अपराध समझा जाने

लगा। फौजदारी अदालतों को यह अधिकार दिया गया कि वे जलाने वाले व्यक्तियों को हत्या आरोप में कैद और जुर्माना कर सकते हैं। कानून के विरोध में सुप्रीम कोर्ट में अपील की गयी, परन्तु राजा राममोहन राय और देवेन्द्रनाथ टैगोर ने कानून के समर्थन में अपील इंगलैण्ड के राजा के पास भेजी। बेन्टिंक के साहस की चर्चा करते हुए इतिहासकार वूल्जले हेग ने लिखा है, ''यह कम्पनी सरकार द्वारा भारत की सामाजिक-धार्मिक प्रथाओं में हस्तक्षेप करने का अत्यन्त साहसिक कदम था।''

वाल-हत्या और नर-बलि की प्रथा को भी गैर-कानूनी घोषित किया गया। राजपूतों के वीच वालिकाओं को जन्म लेने के साथ ही मार देने की प्रथा थी। देवी-देवताओं को प्रसन्न रखने के लिए नर-बलि दी जाती थी। वेन्टिक ने सती, नर-वलि एवं वाल-हत्या पर प्रतिवन्ध लगाकर सामाजिक जीवन से कोढ़ को हटाने की चेष्टा की।

2. ठगी प्रथा का अन्त : ठगी प्रथा को समाप्त करना विलियम बेन्टिंक की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि मानी जाती है। ठग व्यावसायिक लुटेरे और हत्यारे थे जो निरपराध व्यक्तियों की हत्या कर धन लूटने का काम करते थे। मुगल-शासन की कमजोरी का लाभ उठाकर ठग दल संगठित करके लूट-पाट का काम करने लगे थे। देशी रियासतों के अधिकारियों का इन्हें अप्रत्यक्ष समर्थन प्राप्त था। लूट का हिस्सा अधि कारियों की जेब में स्वयं पहुँच जाता था। मध्य भारत, अवध, हैदराबाद, बुन्देलखण्ड और राजस्थान में ठगों का अत्याचार विशेष रूप से अधिक था। हिन्दू और मुसलमान दोनों धर्मों के लोग इसमें सम्मिलित थे और वे काली पूजा के नाम पर मरे हुए व्यक्तियों का सिर काली मन्दिर में चढ़ाते थे। ठगों के अत्याचार से व्यापार एवं यात्रा सुरक्षित नहीं थी। व्यापारियों के गिरोह में ये भेष बदलकर सम्मिलित हो जाते थे और अवसर पाकर हत्या और लूट का काम कर डालते थे। ठगों का अपना संकेत-चिन्ह था। वे कई गिरोहों में बँटे थे और अनुशासन के नियमों में बँधे रहते थे।

विलियम बेन्टिक ने ठगी प्रथा को समाप्त करने में देशी शासकों का सहयोग प्राप्त किया। ठगी प्रथा एक सामाजिक अभिशाप था। प्रजा के द्वारा इसमें विरोध को कोई प्रश्न नहीं उठता था। अतः 1830 ई. में ठगों के विरुद्ध कार्यवाही करने का दायित्व कर्नल स्लीमन को सौंपा गया। स्लीमेन की सहायता के लिए एक बड़ी सेना संगठित की गयी। 1831-37 ई. के बीच स्लीमेन ने ठगों के सारे गिरोह एवं ठिकानों को नष्ट कर डाला। लगभग 1500 ठगों को आजीवन कारावास या मृत्यु दण्ड की सजा दी गयी। कुछ ठगों को जबलपुर के शिल्पकला विद्यालय में प्रशिक्षण का काम दिया गया और उन्हें योग्य नागरिक बनने का अवसर दिया गया।

अन्य सुधार सम्बन्धी कार्य : विलियम बेन्टिक के शासनकाल में कुछ अन्य सुधार विशेष महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं। प्रेस की स्वतंत्रता का संरक्षण किया गया। प्रेस

विलियम वेन्टिंक के सुधार का आलोचक था। परन्तु कटु आलोचना के बावजूद विलियम वेन्टिक के समय प्रेस को क्रियात्मक रूप में पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त थी। भारत में लगाये गये अनेक प्रतिवन्धों को आगे चलकर चार्ल्स मेटकाफ ने दूर किया। दूसरा महत्त्वपूर्ण सुधार नये सिक्के का प्रचार था। मुगल सम्राट के बदले इंगलैण्ड की आकृति सिक्कों पर खुदवायी गयी। 1833 ई. का चार्टर ऐक्ट बेन्टिक के समय में पास हुआ जिसमें अन्य बातों की अपेक्षा भारत से दास-प्रथा को हटाना सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य था।

बेन्टिक का मूल्यांकन : विलियम बेन्टिक ने सात वर्षों तक गवर्नर-जनरल के रूप में काम किया। उसका शासनकाल 'सुधारों का काल' कहा जाता है। बेन्टिक के आगमन के समय कम्पनी सरकार की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी। व्यावहारिक आर्थिक नीति अपनाकर उसने कम्पनी की अर्थ-व्यवस्था को सन्तुलित किया और घाटे को बचत के रूप में परिणत कर दिया। सरकारी सेवाओं में भारतीयों को अधिक संख्या में नियुक्त कर उसने भारतीयों के प्रति सच्ची सहानुभूति प्रकट की थी। भारत के प्रति बेन्टिक की नीति उदारता, दूरदर्शिता और बुद्धिमता का प्रतीक माना जाता है। सामाजिक जीवन में रूढ़िवादी प्रथाओं को समाप्त कर उसने भारतीय सामाजिक जीवन को आधुनिक बनाने का प्रयास किया। कम्पनी प्रशासन के द्वारा भारतीयों के प्रति अपमानजनक व्यवहार में सुधार किया। सार्वजनिक विचारों को प्रकट करने की स्वतंत्रता प्रदान की गयी थी। थॉर्टन ने विलियम बेन्टिक को अच्छे प्रशासक और योग्य सैनिक की श्रेणी में नहीं रखा है। इसमें सन्देह नहीं है कि विलियम बेन्टिक के समय कोई महत्त्वपूर्ण युद्ध नहीं हुआ। लेकिन उसने कम्पनी साम्राज्य के अन्दर शान्ति-व्यवस्था स्थापित कर दी थी। भारतीयों को कम्पनी शासन के प्रति अधिक उत्तरदायी बनाने के लिए अंगरेजी भाषा को सेवा का अनिवार्य शर्त्त रखा था। आर्थिक दृष्टि से कम्पनी को लाभप्रद स्थिति में लाने तथा प्रशासन सम्बन्धी अनेक दोषों को दूर कर बेन्टिक ने कम्पनी की स्थिति को दृढ़ बना दिया था। वस्तुतः उसकी सफलता प्रशंसाओं से कहीं अधिक महान है।

बेन्टिक एक लोकप्रिय गवर्नर-जनरल था : उसने शक्ति के बदले जनता की सद्‌िच्छा और सद्‌भावना पर साम्राज्य की आधारशिला रखने का प्रयास किया था। भारतीय जनता को उन्नत बनाने की दिशा में उसका प्रयत्न प्रशंसनीय माना जाता है। बेन्टिक ने शिक्षा-प्रचार और लोकहितकारी कार्यों के माध्यम से भारतीय प्रशासन को नई दिशा दी थी। शासन का उद्देश्य केवल कर-संग्रह करना नहीं है। निर्माण का कार्य जनता की भलाई के लिए करना भी शासक का उत्तरदायित्व होता है। आर. सी. दत्त के शब्दों में—"विलियम बेन्टिक के सात वर्षों का शासन शान्ति, छंटनी और सुधार का युग है। उसने ईस्ट इण्डिया कम्पनी के उपनिवेशों में शान्ति स्थापित की

तथा भारतीय शासकों के साथ शान्तिपूर्वक रहा। उसने सार्वजनिक ऋण को घटाया, वार्षिक व्यय को कम किया और लाभ दिखाया। उसने भारत में संशोधित भूमि-व्यवस्था प्रारम्भ की जिससे जमींदारों और कृषकों, दोनों को सहायता मिली। उसने राजस्व तथा न्याय-विभाग में सुशिक्षित भारतीयों को उच्च स्थान पर नियुक्त किया। उसने सती-प्रथा को समाप्त किया तथा ठगों के अपराध को दबाया। उसने भारत में अंगरेजी शिक्षा को प्रोत्साहित किया तथा इस नियम का पालन किया कि भारत की शासन व्यवस्था मुख्य रूप से लोगों के हित के लिए है।"

4. लॉर्ड डलहोजी के सुधार :

लॉर्ड डलहौजी साम्राज्यवादी के साथ-साथ कुशल प्रशासक भी था। उसने साम्राज्य-विस्तार की नीति अपनाकर भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की सीमा बढ़ा दी और कम्पनी भारत की सर्वोच्च शक्ति बन गयी। विस्तृत साम्राज्य को संगठित और आधुनिक रूप देने के उद्देश्य से उसने प्रशासन के प्रत्येक अंग में आवश्यक सुधार किया और ब्रिटिश साम्राज्य को स्थायी एवं सुदृढ़ बनाने का प्रयास किया। भारत में अंगरेजी शासन को जनता के प्रति उत्तरदायी बनाने तथा अंगरेजों के अधिकार में वृद्धि करने के लिए डलहौजी ने सुधार नीति अपनाई। डलहौजी को 'आधुनिक भारत का निर्माता भी कहा जाता है।

प्रशासनिक सुधार : डलहौजी का शासनकाल आठ वर्षों का था। उसने भारतीय प्रशासन को सुधारने की दिशा में कई महत्त्वपूर्ण काम किए। सर्वप्रथम 1854 ई. में बंगाल प्रान्त के लिए एक अलग लेफ्टिनेंट-गवर्नर की नियुक्ति की गयी। कमिश्नर प्रत्यक्ष रूप से गवर्नर-जनरल के प्रति उत्तरदायी थे। केन्द्र सरकार के विभिन्न विभागों को संगठित कर उस पर गवर्नर-जनरल द्वारा नियंत्रण रखने की व्यवस्था की गयी। प्रान्तीय सरकार गवर्नर-जनरल और उसकी काउन्सिल के प्रति उत्तरदायी थी। प्रान्तीय सरकार के अधीन शान्ति-सुव्यवस्था, कर वसूलना तथा फौजदारी मुकदमों का निर्णय करना था। लोकहितकारी कार्य केन्द्रीय सरकार के अधीन रखा गया। प्रान्तीय सरकारों में कम-से-कम अधिकारियों के द्वारा काम चलाने की व्यवस्था की गयी थी। जिला के प्रमुख पदाधिकारी को प्रशासन, राजस्व और पुलिस विभाग में सम्बन्धित कार्यों का सम्पादन करना पड़ता था। जिलाधीशों अथवा कमिश्नरों के सामने कोई निश्चित कानून नहीं थे। साधारणतः वे गवर्नर-जनरल के आदेशानुसार काम करते थे। डलहौजी का मुख्य उदेश्य केन्द्रीय सरकार की सत्ता को सुदृढ़ करना था।

सैनिक सुधार : डलहौजी के समय अंगरेजी साम्राज्य का विस्तार बंगाल से लेकर सिन्ध तक हो गया था। बंगाल से पंजाब, सिन्ध या पश्चिमोत्तर प्रान्तों पर नियंत्रण रखने में प्रशासनिक कठिनाई होती थी। अंगरेज एशिया में साम्राज्य की

स्थापना करना चाहते थे। अतः साम्राज्य-विस्तार और शान्ति-सुव्यवस्था की दृष्टि से सैनिकों को संगठित करना आवश्यक हो गया था। कलकत्ता से सैनिकों का स्थायी केन्द्र हटाकर शिमला कर दिया गया। शिमला पहाड़ी प्रदेश था और सैनिक सुरक्षा तथा जलवायु की दृष्टि से अंगरेजों के लिए उपर्युक्त स्थान था। कलकत्ता से तोपखाना हटाकर मेरठ लाया गया। अधिक संख्या में भारतीय सैनिकों की संख्या घटाकर अंगरेज या यूरोपीय सैनिकों की संख्या बढ़ाना चाहता था। भारतीय सैनिकों की संख्या कम कर दी गयी थी। परन्तु कमी के वावजूद 1856 ई. में भारतीय सैनिकों की संख्या, 2,33,000 थी, जबकि यूरोपीय सैनिकों की संख्या केवल 45,000 थी। डलहौजी भारतीय सैनिकों की अपेक्षा यूरोपीय सैनिकों को अधिक संख्या में रखना चाहता था। डलहौजी के प्रस्ताव के अनुसार अंगरेज सैनिकों की तीन नयी रेजीमेण्ट तैयार की गयीं। यूरोपीय रेजीमेण्ट को भारत से चीन और फारस भेजने का विरोध डलहौजी ने किया था। पंजाब में एक नवीन सेना का गठन किया गया। गोरखों को कम्पनी की सेना में भर्ती किया जाने लगा। गोरखा सैनिकों को कम्पनी की सेना में आने के लिए प्रोत्साहित किया जाने लगा। गोरखा सैनिक 1857 ई. में अंगरेजों के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध हुए।

रेल, तार और डाक-विभाग की स्थापना : भारत में कम्पनी के विस्तृत साम्राज्य की सुरक्षा के लिए रेल, तार और डाक-विभाग की स्थापना करना आवश्यक था। डलहौजी ने सर्वप्रथम यातायात के साधनों को विकसित करने की ओर ध्यान दिया। उसने ग्राण्ड ट्रंक रोड का पुनर्निर्माण करवाया तथा रेल एवं तार भेजने की व्यवस्था प्रारम्भ की। संचार के साधनों का विकास कम्पनी की सुरक्षा को ध्यान में रखकर किया गया था। परन्तु, उसका दूरवर्ती परिणाम भारतवासियों के लिए लाभदायक रहा। सर्वप्रथम डलहौजी ने नयी रेलवे-लाइन के निर्माण का कार्य प्रारम्भ किया। रेलवे-निर्माण का काम अंगरेजों को ठेके पर दिया गया। बम्बई से थाना, कलकत्ता से रानीगंज और मद्रास में रेलवे-लाईन बिछाने का काम डलहौजी के समय ही प्रारम्भ हुआ था।

1852 ई. में डलहौजी ने भारतीय डाक-तार व्यवस्था की स्थापना की। डलहौजी के पहले डाक-तार व्यवस्था अत्यन्त दोषपूर्ण थी। डाक-महसल की दर विभिन्न क्षेत्रों में अलग-अलग थी। डाक कर्मचारियों के द्वारा जनसाधारण से अधिक महसूल बसूल किया जाता था। परन्तु 'डलहौजी ने 1854 ई. में डकखाना ऐक्ट' पास कर डाक-दर में एकरूपता लाया। भारत के किसी क्षेत्र में आधा तोला तक डाक-महसूल दो पैसा से अधिक नहीं लिया जा सकता था। डाक-विभाग के लिए एक डायरेक्टर-जनरल की नियुक्ति की गयी और विभिन्न स्थानों में डकखाना की स्थापना की गयी। डाक की तरह तार-विभाग की भी स्थापना की गयी। पेशावर, कलकत्ता, बम्बई, मद्रास एवं

अन्य प्रमुख नगरों को मिलाने के लिए लगभग 4000 मील तार-व्यवस्था की स्थापना की गयी। वर्मा में रंगून से मडाले तक तार की व्यवस्था की गयी।

डाक-तार एवं रेल-व्यवस्था से अंगरेज शासकों को लाभ हुआ। आवागमन एवं यातायात की सुविधा से अंगरेजी साम्राज्य अधिक सुदृढ़ हो गया। वैज्ञानिक साधनों के प्रयोग से ब्रिटिश साम्राज्य की सुरक्षा हुई और जनसाधारण को भी सुविधा मिली। भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक समाचार भेजना सरल हो गया।

लोकसेवा-विभाग की स्थापना : लोकसेवा-निर्माण-विभाग का प्रबन्ध पहले सैनिक बोर्ड के अधीन था। डलहौजी ने एक अलग लोकसेवा-निर्माण-विभाग की स्थापना की। लोकसेवा-निर्माण-विभाग का प्रधान मुख्य इंजीनियर होता था। इस विभाग को पर्याप्त धन की मंजूरी दी गयी और सड़क, पुल, नहर, शिक्षा आदि कामों का दायित्व सौंपा गया। मुख्य इंजीनियर की सहायता के लिए सैंकड़ों इंजीनियर आदि नियुक्त किये गये। रुड़की, मद्रास, बम्बई और कलकत्ता में इंजीनियरिंग कालेजों की स्थापना की गयी। ग्रांण्ड ट्रंक रोड का पुनर्निर्माण किया गया। गंगा नदी से नहर-निकालने का काम डलहौजी ने ही प्रारम्भ करवाया था। पंजाब में अनेक नहरों का निर्माण किया गया। इस प्रकार लोकसेवा-निर्माण-विभाग की स्थापना कर डलहौजी ने सरकार का उत्तरदायित्व बढ़ाया और सार्वजनिक कल्याण का काम प्रारम्भ किया। नहरों के निर्माण से कृषि के लाभ पहुँचा।

व्यापारिक सुधार : डलहौजी मुक्त व्यापार नीति का समर्थन करता था। उसने भारत के सभी बन्दरगाहों को व्यापार के लिए स्वतंत्र कर दिया। करौंची, बम्बई और कलकत्ता के बन्दरगाहों को विस्तृत तथा सुधारा गया। इन बन्दरगाहों में ज्योति-स्तम्भों का निर्माण किया गया। अधिक-से-अधिक जहाजों को बन्दरगाह में आने-जाने की व्यवस्था की गयी। डलहौजी ने चाय, कपास आदि की खती को प्रोत्साहन दिया। भारत से कच्चा माल इंगलैण्ड भेजने की व्यवस्था की गयी तथा इंगलैण्ड से तैयार माल भारत में भेजा जाने लगा। व्यापार में प्रगति से अंगरेजों को अधिक लाभ हुआ।

सामाजिक सुधार : डलहौजी ने समाज-सुधार का काम भी किया था। पहले जो भारतीय ईसाई धर्म स्वीकार कर लेते थे, उन्हें पैतृक सम्पत्ति में कोई हिस्सा नहीं मिलता था। परन्तु 1850 ई. में डलहौजी ने कानून बनाकर ईसाई धर्म स्वीकार करनेवाले हिन्दुओं को पैतृक सम्पत्ति पर अधिकार सुरक्षित कर दिया। 1855 ई. में विधवा-विवाह को कानूनी मान्यता दी गयी। सामाजिक एवं धार्मिक जीवन में हस्तक्षेप करने के फलस्वरूप भारत में असन्तोष फैला और डलहौजी के सामाजिक सुधार ने 1857 ई. की क्रान्ति को प्रभावित किया।

शिक्षा : भारत में शिक्षा सम्बन्धी व्यवस्था के लिए इंगलैण्ड की सरकार ने

एक समिति की स्थापना की थी जिसका प्रधान चार्ल्स वुड था। 1854 ई. में चार्ल्स वुड की रिपोर्ट तैयार हुई। वुड की रिपोर्ट के आधार पर 1857 ई. में कलकत्ता, बम्बई और मद्रास में विश्वविद्यालयों की स्थापना की गयी। इन विश्वविद्यालयों में अनेक कॉलेजों को सम्बद्ध किया गया। विश्वविद्यालय का मुख्य काम परीक्षा-संचालन था। डिग्री और इंटरमिडियेट की शिक्षा कालेजों में दी जाती थी। कॉलेजों के नीचे वर्नाक्यूलर और हाई स्कूल थे। स्कूल में शिक्षा प्रान्तीय भागाओं में दी जाती थी और कॉलेजों में शिक्षा का माध्यम अंगरेजी भाषा थी। गैर-सरकारी संस्थाओं को भी सरकारी अनुदान दिया जाते था। प्रत्येक जिला में एक सरकारी स्कूल की स्थापना की गयी। शिक्षा-विभाग का प्रवन्धक डायरेक्टर जनरल ऑफ एजुकेशन होता था जिसके अधीन कई निरीक्षक रहते थे। शिक्षा के प्रचार से भारतीयों में राष्ट्रीयता, एकता और स्वतंत्रता की भावना विकसित हुई।

डलहौजी की सुधार-योजना का लक्ष्य ब्रिटिश साम्राज्य की सुरक्षा और हित की पूर्त्ति करना था। उसने सुधार के माध्यम से ब्रिटिश साम्राज्य को सर्वोच्च शक्ति का रूप दिया। सरकार की आय में वृद्धि हुई। उत्तरदायी शासन-व्यवस्था प्रारम्भ की गयी। यातायात एवं आवागमन के साधनों को विकसित करने के फलस्वरूप भारत में नवीन राष्ट्रीयता का उदय हुआ। राजनीतिक एकता की स्थापना सम्भव हुई। प्रत्यक्ष रूप से डलहौजी का सुधार ब्रिटिश साम्राज्य के लिए लाभकारी सिद्ध हुआ। जनभावना, धार्मिक रीति-रिवाज एवं परम्परा की उपेक्षा कर डलहौजी ने भारतीयों को असन्तुष्ट कर दिया था। सार्वजनिक कल्याण के कार्य के पीछे भी ब्रिटेन और अंगरेजों की भलाई डलहौजी की नीति का मुख्य आधार था। यह सच है कि आगे चलकर डलहौजी की सुधार-योजना से भारतीय भी लाभान्वित हुए। अतः इस दृष्टि से डलहौजी को 'आधुनिक भारत का निर्माता' कहा जाता है।

6

प्रशासनिक संयंत्र का विकास : वारेन हेस्टिंग्स, कॉर्नवालिस, बेन्टिंक एवं डलहौजी

अंगरेजों के आने के पूर्व भारत में साम्राज्य स्थापित करनेवाली सभी विदेशी जातियों ने भारत को अपना निवासस्थान वना लिया था और यहाँ के रीति-रिवाज, परम्परा और व्यवहार के अनुकूल कानून का निर्माण एवं न्याय-विभाग का संचालन किया था। संविधान एवं प्रशासन का निर्माण राष्ट्रीय परिस्थिति और परम्परा को ध्यान में रखकर किया जाता है। मुगल काल से ही भारत में यूरोपीय जातियों का आगमन व्यापारी के रूप में प्रारम्भ हो चुका था। मुगल साम्राटों एवं अन्य देशी राज्यों से सनद प्राप्त कर वे धीरे-धीरे अपना व्यापारिक कारोबार बढ़ाने लगे। मुगल साम्राज्य के विघटन के बाद भारत की राजनीतिक दुर्वलता का लाभ उठाकर यूरोपीय जातियों ने भारत की राजनीति में हाथ वँटाना प्रारम्भ किया। अंगरेजों ने अपने प्रतिद्वन्द्वियों को परास्त कर भारत में अपना वर्चस्व स्थापित करने में सफलता प्राप्त की। पलासी और वक्सर के युद्धों में सफलता प्राप्त करने से अंगरेजों की महत्त्वाकांक्षा वढ़ी। भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी द्वारा सर्वप्रथम वंगाल में राज्य की स्थापना की गयी। 1765 ई. में ईस्ट इण्डिया कम्पनी को पुरस्कारस्वरूप मुगल सम्राट शाह आलम से बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी प्राप्त हुई। दीवानी प्राप्त होने से भारत के एक समृद्ध क्षेत्र को मनमाने ढंग से लूटने का अवसर कम्पनी को मिला। अपनी आर्थिक स्थिति सुदृढ़ कर कम्पनी ने भारत के स्वाधीन राज्यों की स्वतंत्रता नष्ट कर साम्राज्य-विस्तार का काम प्रारम्भ कर दिये। एक व्यापारी कम्पनी जब साम्राज्य-निर्माण कर आशातीत सफलता प्राप्त करने लगी तो इंगलैण्ड की सरकार ने कम्पनी के मामले में हस्तक्षेप करने का निर्णय लिया। इंगलैण्ड की सरकार को कम्पनी ने चार लाख पौण्ड प्रतिवर्ष देना स्वीकार कर लिया जो आगे चलकर बढ़ाया गया। अप्रत्याशित ढंग से लाभ प्राप्त करने के कारण अंगरेजों के बीच निजी लाभ दाखिल करने की मनोवृत्ति उत्पन्न हुई और कम्पनी द्वारा लूट में अधिक-से-अधिक धन स्वयं अधिकारी वर्ग प्राप्त करने लगा।

फलस्वरूप आशा के अनुकूल ईस्ट इण्डिया कम्पनी को लाभ प्राप्त नहीं हो सका।

भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी की प्रारम्भिक गतिविधयाँ सीमित थीं। कम्पनी का मुख्य उद्देश्य व्यापार करना था और उस पर क्षेत्रीय प्रशासन का उत्तरदायित्व नहीं था। प्रारम्भ में कम्पनी अपने को राजनीतिक उलझनों में फँसाना नहीं चाहती थी। इसलिए वह मुगल शासन के अधीन रहकर व्यापार करती रही। लेकिन समय के साथ-साथ परिस्थिति वदली और ईस्ट इण्डिया कम्पनी की अन्य पश्चिमी राष्ट्रों की कम्पनी से होड़ होने लगी। इसलिए अपनी वित्तीय स्थिति को अधिक मजबूत एवं सुदृढ़ करने के उद्देश्य से कम्पनी ने भूमि पर नियंत्रण स्थापित कर लगान वसूलना प्रारम्भ कर दिया। भारतीय प्रान्तों पर आर्थिक नियंत्रण स्थापित करने के लिए राजनीतिक नियंत्रण आवश्यक प्रतीत होने लगा। इस प्रकार आर्थिक नियंत्रण प्राप्त करने से कम्पनी के संगठन और स्वरूप में परिवर्त्तन करना आवश्यक हो गया। इससे न्याय और प्रशासन के विभिन्न विभागों का विकास हुआ और नयी लगान नीति और उसके अनुकूल कार्यपालिका की स्थापना हुई।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासनकाल में आन्तरिक प्रशासन के विकास में ब्रिटिश सरकार का योगदान भी महत्त्वपूर्ण था। रेगुलेटिंग ऐक्ट तक ईस्ट इण्डिया कम्पनी ब्रिटिश सरकार पर अनेक तरह से आधारित थी। कम्पनी का अस्तित्व ही चार्टर पर निर्भर था जो ब्रिटिश सरकार प्रदान करती थी। भारतीय शक्तियों का मुकावला करने के लिए भी कम्पनी ब्रिटिश सरकार की प्रतिष्ठा का उपयोग करती थी। ब्रिटिश सरकार युद्धों में राष्ट्रीय विषयों से उत्पन्न तनावों को कम्पनी की गतिविधियों को प्रभावित किया था। कम्पनी और सरकार के आन्तरिक सम्वन्ध जटिल और अस्पष्ट थे। भारत में कम्पनी का कार्य और स्वरूप बदला जा रहा था। कम्पनी के संगठन में परिवर्त्तन आवश्यक होता जा रहा था। कम्पनी के राजनीतिक जीवन में निजी और जनहित में स्पष्ट अन्तर नहीं था। इस स्थिति का लाभ कम्पनी के कर्मचारी उठा रहे थे। 1766 ई. में ब्रिटिश सरकार ने कम्पनी के कार्य में हस्तक्षेप किया। इसका मुख्य उद्देश्य यह था कि वह भारतीय राजस्व पर नियंत्रण रखना चाहती थी। इस हस्तक्षेप से भारत में कम्पनी प्रशासन का विकास शुरू हुआ।

दीवानी का अधिकार प्राप्त होने के वाद ईस्ट इण्डिया कम्पनी को राजस्व की वसूली और असैनिक कानून लागू करने की सुविधा मिल गयी थी। बंगाल का नवाब और दिल्ली सम्राट नामधारी शासक थे और उनकी आर्थिक तथा सैनिक स्वतंत्रता समाप्त हो गयी थी। भारतीय परिस्थिति की सही जानकारी नहीं रहने के कारण कम्पनी द्वारा उप-दीवान के पद की सृष्टि की गयी थी। बंगाल में मुहम्मद रजा खाँ और बिहार में राजा सिताब राय को उप-दीवान नियुक्त किया गया था। उप-दीवान अपने अधिकारों का अनुचित लाभ उठाकर निजी स्तर पर धन-संग्रह करने लगे।

अधिकारी वर्ग भी निजी लाभ के लिए विशेष चिन्तित रहता था। फलस्वरूप कम्पनी की आर्थिक स्थिति बिगड़ गयी और उसकी साख भी गिर गयी। अतएव परिस्थिति की गम्भीरता को देखते हुए ब्रिटिश सरकार ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी की प्रबन्ध-व्यवस्था में हस्तक्षेप करने का निर्णय लिया।

जब वारेन हेस्टिंग्स को बंगाल का गवर्नर बनाकर भेजा गया उस समय ईस्ट इण्डिया कम्पनी के समक्ष अनेक प्रशासनिक समस्याएँ उपस्थित थीं। क्लाइव द्वारा स्थापित द्वैध शासन-व्यवस्था के दोष स्पष्ट होने लगे थे। बंगाल में प्रशासनिक अव्यवस्था व्याप्त थी। कम्पनी के कर्मचारी भ्रष्ट और धनलोलुप हो गये थे। वे निजी व्यापार के माध्यम से अधिक-से अधिक धन प्राप्त करने का प्रयास करते थे वे भारतीय व्यापारियों से रिश्वत, उपहार भी लेते थे। वे कम समय में भ्रष्ट साधनों को अपनाकर धनवान हो जाते थे। वे इंगलैण्ड लौटकर भारतीय नवाबों की तरह शान-शौकत से रहते थे। भारत से अर्जित धन को वे चुनाव में खर्च करते थे और पैसे के बल पर वे इंगलैण्ड में चुनाव को प्रभावित करने लगे थे। भ्रष्टाचार और कुशासन के कारण कम्पनी का कोष खाली हो गया था और ब्रिटिश सरकार से ऋण प्राप्त करने का प्रयास करने लगी। क्लाइव ने कर्मचारियों के भ्रष्टाचार को रोकने का प्रयास किया था लेकिन उसके चले जाने के बाद भ्रष्टाचार में और भी अधिक वृद्धि हुई। इंगलैण्ड की जनता कम्पनी के मामलों में हस्तक्षेप की माँग करने लगी।

बंगाल दोहरे शासन की चपेट में दुर्दशा के कगार पर पहुँच चुका था। जनता को कष्ट से मुक्ति पाने का कोई रास्ता दिखाई नहीं पड़ता था। द्वैध शासन में जनता की पीड़ा और कष्ट को दूर करने का उत्तरदायित्व कम्पनी सरकार पर नहीं था। शासन नामधारी शासकों के नाम पर चलाया जाता था जबकि राजस्व कम्पनी वसूल करती थी। द्वैध शासन के फलस्वरूप बंगाल की आर्थिक स्थिति जर्जर हो गयी थी। दूषित शासन-व्यवस्था की जानकारी जब इंगलैण्ड के लोगों को हुई तो वे कम्पनी की प्रबन्ध-व्यवस्था में परिवर्तन की माँग करने लगे। अत्याचार की चक्की में पिस रही बंगाल की जनता को 1770 ई. में भीषण अकाल का सामना करना पड़ा। यह अकाल सबसे अधिक भयानक था और बंगाल की जनसंख्या का 1/5 भाग अकाल के कारण नष्ट हो गया। सरकार अकाल पीड़ित जनता के लिए राहत की कोई व्यवस्था नहीं कर सकी। उल्टे, लोगों की मजबूरी का लाभ उठाकर अंगरेज व्यापारियों ने प्रायः सभी वस्तुओं की कीमत बढ़ा दी और अनुचित ढंग से लाभ कमाने लगे। बंगाल की जनता की भयावह स्थिति की सूचना पाकर इंगलैण्ड के नागरिकों ने कम्पनी के कार्यों की सरकारी जाँच की माँग की और अन्त में सरकार को कम्पनी के कार्य पर नियंत्रण रखने के लिए कानून बनाना पड़ा।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी को सोने की

चिड़िया समझती थी। अनुमानतः बंगाल की कुल आय 40 लाख पौण्ड थी और कम्पनी को 16,50,000 पौण्ड की वार्षिक लाभ की प्राप्ति की आशा की गयी थी। कम्पनी धन कमाने में व्यस्त थी और लाभ प्राप्ति की आशा में कम्पनी ने 1767 ई. में लाभांश की दर 6 प्रतिशत से बढ़ाकर 10 प्रतिशत कर दी और बाद में इसे 121/2 प्रतिशत करने की भी योजना बनाई थी। लाभांश की वृद्धि को देखते हुए कम्पनी के हिस्से को खरीदने की माँग बढ़ गयी। लेकिन एक दूसरा पक्ष भी था। भारतीय नरेशों के बीच आपसी फूट का लाभ उठाकर कम्पनी की फौज युद्ध में विजय प्राप्त कर लेती थी, लेकिन हैदरअली ने कम्पनी की सेना को बुरी तरह पराजित किया था और स्वेच्छानुसार मद्रास सरकार से अपनी शर्तें मनवा ली थीं। जब कम्पनी की पराजय और दिवालियापन का हाल इंगलैण्ड की जनता को ज्ञात हुआ तो शेयरों का मूल्य बाजार में घट गया। पराजय और अपमान का समाचार पाकर इंगलैण्ड की जनता और सरकार क्षुब्ध हो उठी। अतएव आर्थिक असन्तुलन को दूर करने एवं राष्ट्र की प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए ईस्ट इण्डिया कम्पनी की नीति पर कुछ नियंत्रण रखना आवश्यक हो गया था।

बंगाल के आर्थिक संसाधनों का ईस्ट इण्डिया कम्पनी, उसके कर्मचारियों और पदाधिकारियों ने व्यक्तिगत लाभ के लिए पूरा उपयोग किया था। परिणामस्वरूप कम्पनी के संचालकों तथा अधिकारियों की व्यक्तिगत सम्पत्ति में काफी वृद्धि हुई, जबकि कम्पनी की आर्थिक स्थिति खराब हो गयी। कम्पनी ब्रिटिश सरकार को वार्षिक खिराज देने में भी असमर्थ हो गयी थी। कम्पनी को प्रतिवर्ष 4,00,000 पौण्ड की रकम ब्रिटिश सरकार को देनी पड़ती थी। आमदनी कम नहीं होती थी लेकिन भ्रष्ट अधिकारी एवं कर्मचारी निजी लाभ के लिए कम्पनी को दिवालियापन की स्थिति में पहुँचा चुके थे। कम्पनी की आर्थिक हालत दयनीय हो गयी थी और उस पर ऋण का भार बढ़ता ही जा रहा था। एक ओर कम्पनी ब्रिटिश सरकार को वार्षिक खिराज नहीं दे रही थी और दूसरी ओर उसने सरकार से दस लाख पौण्ड की राशि कर्ज के रूप में माँग की। एक ओर ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने इंगलैण्ड की सरकार से कर्ज पाने के लिए प्रार्थना-पत्र दिया था और दूसरी ओर लाभांश में दस से साढ़े बारह प्रतिशत वृद्धि की घोषणा कर इंगलैण्ड की सरकार को भी आश्चर्यचकित कर दिया था। ब्रिटिश संसद द्वारा कम्पनी के कार्यों की जाँच के लिए दो समितियों की नियुक्ति की गयी जिनकी रिपोर्ट कम्पनी के विरुद्ध थी। रिपोर्ट में कम्पनी के कार्य एवं नीति की निन्दा की गयी। ऋण की माँग ने कम्पनी की स्वतंत्रता को समाप्त कर दिया और ब्रिटिश सरकार को हस्तक्षेप करने का एक अच्छा सुअवसर मिल गया।

तत्कालीन स्थिति में इस बात की आवश्यकता महसूस की गयी कि ईस्ट

इण्डिया कम्पनी की गतिविधियों पर प्रभावशाली नियंत्रण स्थापित करने के लिए तत्काल कदम उठाये जायँ। ब्रिटिश राजनीतिज्ञों का मुख्य उद्देश्य ईस्ट इण्डिया कम्पनी और इंगलैण्ड के विभिन्न वर्गो के हितों की सुरक्षा का उचित प्रवन्ध करना और उनमें समन्वय स्थापित करना था। वंगाल में कम्पनी के कुशासन से उत्पन्न कुव्यवस्था और असहनीय स्थिति के बारे में इंगलैण्ड में प्रचार बढ़ता जा रहा था। इस कुशासन और वढ़ते हुए भ्रष्टाचार को रोकने के लिए तथा कम्पनी के राजनीतिक अधिकारों पर नियंत्रण रखने के लिए ब्रिटिश सरकार ने कम्पनी के कार्यों में हस्तक्षेप करना आवश्यक समझा। अतएव कम्पनी की गतिविधियों को नियंत्रित एवं निर्देशित करने के लिए 1773 ई. में ब्रिटिश संसद में रेगुलेटिंग ऐक्ट पास किया गया।

रेगुलेटिंग ऐक्ट के उद्देश्य : ईस्ट इण्डिया कम्पनी पर सरकार का नियंत्रण स्थापित करना, संचालक समिति के संगठन को बदलना तथा कम्पनी के राजनीतिक अस्तित्व को स्वीकार करे उसके व्यापारिक ढाँचे को राजनीतिक कार्यो को चलाने के योग्य वनाना रेगुलेटिंग ऐक्ट का मुख्य उद्देश्य था।

रेगुलेटिंग ऐक्ट की मुख्य धाराएँ : रंगुलेटिंग ऐक्ट के द्वारा कम्पनी के संविधान को भारत और इंगलैण्ड में वदल दिया गया। इंगलैण्ड में कम्पनी के प्रोप्राइटरों और डाइरेक्टरों की योग्यता बढ़ा दी गयी। शेयर होल्डर प्रोप्राइटरर्स की योग्यता 550 पौण्ड से 1000 पौण्ड कर दी गयी। एक हजार पौण्ड के हिस्सेदारों का चुनाव में मतदान का अधिकार दिया गया। अधिक रकम वाले हिस्सेदारों को 4 मत तक देने का अधिकार दिया गया। उदाहरण के लिए 3, 6, और 10 पौण्ड वाले हिस्सेदारों को क्रमशः 2, 3, 4, मत देने का अधिकार था।

डाइरेक्टर्स का चुनाव एक वर्ष के लिए होता था। अब उनका निर्वाचन चार वर्षों के लिए होने लगा। डाइरेक्टरों की संख्या 24 कर दी गयी जिसमें 25% प्रतिवर्ष अवकाश ग्रहण करते। डाइरेक्टरों को यह आदेश दिया गया कि 'वे वित्त विभाग के सामने भारत प्रशासन एवं राजस्व सम्बन्धी राजसचिव के सम्मुख सैनिक और असैनिक प्रशासन सम्वन्धी सभी पत्र-व्यवहार प्रस्तुत करें। इस धारा के द्वारा भारतीय मामलों पर ब्रिटिश मंत्रिमण्डल को नियंत्रण करने का अधिकार मिल गया। यह अधि ाकार अपूर्व था।

बंगाल के गवर्नर को गवर्नर-जनरल का पद प्रदान किया गया तथा गवर्नर-जनरल के काउन्सिल में चार सदस्यों की नियुक्ति की व्यवस्था की गयी। काउन्सिल का कार्यकाल पाँच वर्षों के लिए निर्धारित किया गया। सदस्य सम्राट की आज्ञा से हटाये जा सकते थे। गवर्नर-जनरल काउन्सिल का पदेन अध्यक्ष होता था तथा समान मत आने पर उसे निर्णायक मत देने का अधिकार प्राप्त था। गणपूर्ति तीन का था।

गवर्नर-जनरल की काउन्सिल को सैनिक एवं असैनिक अधिकार दिया गया तथा मद्रास और बम्बई की सरकार को बंगाल की सरकार के अधीन कर दिया गया। मद्रास और बम्बई की सरकार के गवर्नर को युद्ध अथवा सन्धि करने के लिए बंगाल की सरकार से अनुमति लनी पड़ती थी।

बोर्ड ऑफ कंट्रोल की अनुमति के बिना गवर्नर-जनरल किसी भारतीय नरेश के साथ न तो युद्ध कर सकता था और न किसी राज्य को सहायता का आश्वासन दे सकता था। इस अधिनियम में स्पष्ट घोषणा की गयी थी कि "भारत में राज्य-विस्तार अथवा विजय इंगलैण्ड की नीति, प्रतिष्ठा और इच्छा के विरुद्ध है।"

1774 ई. के रेगुलेटिंग ऐक्ट के द्वारा एक सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना कलकत्ता में की गयी और उसमें मुख्य न्यायाधीश के अतिरिक्त तीन अन्य उप-न्यायाधीश रखे गये। सर्वोच्च न्यायालय को सामान्य न्याय, सामान्य कानून, नौ सेना विधि के न्यायालय तथा धार्मिक न्यायालय के रूप में काम करना था। सर्वोच्च न्यायालय के कार्य-क्षेत्र के अन्दर कम्पनी के सभी कर्मचारियों को रखा गया। प्रस्तावित न्यायालय में इंगलैण्ड की न्याय-पद्धति को प्रयोग में लाने का अधिकार दिया गया था और प्राथमिक तथा पुनर्विचार करने का अधिकार भी उसे प्राप्त था। मुकदमे की सुनवाई जूरी या पंचों के द्वारा की जाती थी। सर एलीजाह इम्पे मुख्य न्यायाधीश थे तथा उप-न्यायाधीशों में चेम्बर्स, लिमैंस्टर और हाइड की नियुक्ति की गयी थी।

कम्पनी के अधीन काम करने वाला कोई भी सैनिक अधिकारी किसी व्यक्ति से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में उपहार, दान, पारितोषिक, रिश्वत आदि नहीं ले सकता था। कम्पनी के अधिकारी निजी व्यापार नहीं कर सकते थे। निजी व्यापार अधिकारियों के लिए दण्डनीय अपराध था।

अधिनियम के द्वारा कम्पनी के मुलाजिमों का वेतन बढ़ा दिया गया। गवर्नर-जनरल का वार्षिक वेतन 25 हजार पौण्ड था। मुख्य न्यायाधीश का 8 हजार पौण्ड था तथा उप-न्यायाधीश को 6 हजार पौण्ड वार्षिक वेतन देना निश्चित किया गया था। पार्षदों को सात हजार पौण्ड वार्षिक वेतन दिया गया था। इतना वेतन उस समय विश्व के किसी भी देश में अधिकारियों को नहीं दिया जाता था।

रेगुलेटिंग ऐक्ट के दोष : रेगुलटिंग ऐक्ट में कुल मौलिक और व्यावहारिक दोष थे। सर्वप्रथम संचालकों के निर्वाचन के लिए मतदाताओं की संख्या घटा दी गयी और बड़े-बड़े हिस्सेदारों को एक से अधिक मत देने का अधिकार दिया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि मतदाताओं की संख्या सीमित हो गयी और 30 सदस्यों में से छः एक वर्ष के लिए अवकाश पर रहते थे। इस परिस्थिति में भ्रष्टाचार को और अधिक बढ़ावा मिला।

गवर्नर-जनरल की सहायता के लिए काउन्सिल की व्यवस्था की गई थी। काउन्सिल के सदस्य सहयोग देने के बदले असहयोग करने लगे। फलतः प्रशासनिक कार्यों में गतिरोध उत्पन्न हो गया और अधिनियम में गवर्नर-जनरल को विशेषाधिकार न देकर एक भूल की गयी थी।

सर्वोच्च न्यायालय के कार्य-क्षेत्र के सम्बन्ध में स्पष्ट व्याख्या नहीं की गयी थी। गवर्नर-जनरल की काउन्सिल को कार्यकारिणी और व्यवस्थापिका सम्बन्धी अधिकार था। दोनों में कौन सर्वोपरि था इस प्रश्न पर मतभेद उत्पन्न हो जाता था। वारेन हेस्टिंग्स को इस कठिनाई का सामना करना पड़ा।

बंगाल सरकार के अधीन बम्बई और मद्रास की सरकार को रख दिया गया था। परन्तु मद्रास और बम्बई के गवर्नर संचालकों के साथ सीधा सम्पर्क रख सकते थे और सामान्य नीति के संचालन की भी उन्हें पूरी स्वतंत्रता थी। इस प्रबन्ध-व्यवस्था के कारण भविष्य में कठिनाई पैदा हुई और बंगाल सरकार को कई युद्धों में फँस जाना पड़ा। पूर्ण नियंत्रण नहीं रहने के कारण व्यावहारिक दृष्टि से रेगुलेटिंग ऐक्ट उपयोगी सिद्ध नहीं हो सका।

इंगलैण्ड की सरकार और संसद कम्पनी के मामलों में पूर्णतया हस्तक्षेप नहीं कर सकते थे क्योंकि कम्पनी प्रादेशिक एवं राजनीतिक शक्ति प्राप्त कर चुकी थी। एसी अवस्था में ब्रिटेन की सरकार को कम्पनी पर सीधा एवं प्रभावोत्पादक नियंत्रण रखना चाहिए था। वह नियंत्रण असफल एवं अधूरा था।

आलोचना : रेगुलेटिंग ऐक्ट भारतीय प्रशासन में कम्पनी के काम पर पहली वार हस्तक्षेप करनेवाला प्रसास था। वह अधिनियम ब्रिटिश संसद द्वारा उस समय पास किया गया जबकि बर्क और एडम स्मिथ व्यक्ति की सम्पत्ति के अधिकार के लिए झगड़ रहे थे और कम्पनी की नीति में हस्तक्षेप नहीं चाहते थे। विरोध की स्थिति में ब्रिटिश सरकार साहसपूर्ण कदम नहीं उठा सकी।

रेगुलेटिंग ऐक्ट एक महत्त्वपूर्ण कानून था। इसके द्वारा ब्रिटिश सरकार ने कम्पनी के मामलों का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेना आरम्भ कर दिया और शासन में केन्द्रीयकरण के नवयुग का सूत्रपात्र हुआ। पहले बंगाल, मद्रास और बम्बई में पृथक् सत्ताएँ थीं और उनका सीधा सम्बन्ध लन्दन से था। परन्तु अब बंगाल के गवर्नर-जनरल को भारत के अधिकृत प्रदेशों का मुख्य प्रबन्धक बना दिया गया।

रेगुलेटिंग ऐक्ट के दोषों को दूर करने के लिए 1781 ई. में संशोधन अधिनियम और 1784 ई. में पिट्स इण्डिया ऐक्ट पास किया गया। 1781 ई. के संशोधन अधिनियम द्वारा सर्वोच्च न्यायालय का कार्य-क्षेत्र निश्चित कर दिया गया। प्रान्तीय न्यायालयों तथा काउन्सिल सम्बन्धी नियम बनाने तथा प्रान्तीय अदालतों के निर्णय के विरुद्ध अपील सुनने का अधिकार सर्वोच्च न्यायालय को दिया गया।

आगे चलकर गवर्नर-जनरल को विशेषाधिकार भी प्राप्त हुआ। इस दृष्टि से रेगुलेटिंग ऐक्ट के द्वारा भारत में जो प्रशासनिक ढाँचा तैयार किया गया, उसमें संशोधन और परिवर्तन लाकर उसे बहुत वर्षों तक व्यवहार में लाया गया।

रेगुलेटिंग ऐक्ट का महत्त्व : रेगुलेटिंग ऐक्ट की आलोचना करते हुए बर्क ने इसे "राष्ट्रीय न्याय, विश्वास और अधिकार का उल्लंघन" माना था। कुछ ने इसे संविधान का उल्लंघन भी कहा था। रेगुलेटिंग ऐक्ट जॉर्ज तृतीय के शासनकाल में पारित हुआ। जॉर्ज निरंकुश राजतंत्र का पृष्ठपोषक था। कम्पनी के शासन में जो दोष उत्पन्न हो गये थे, उसे दूर करने की दिशा में रेगुलेटिंग ऐक्ट का योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। यह ब्रिटिश भारत का प्रथम लिखित संविधान था और इसके द्वारा भारत में एकात्मक शासन की नींव डाली गयी। इस अधिनियम के अन्दर पहली वार ब्रिटेन की सरकार ने कम्पनी के कार्य में हस्तक्षेप किया था। कम्पनी के अधिकारियों के भ्रष्ट आचरण पर इसके द्वारा अंकुश लगाया गया था और उन्हें सच्चाई और ईमानदारी से काम करने के लिए उनका वेतन बढ़ा दिया था। प्रो. कीथ के अनुसार "इस अधिनियम ने कम्पनी की इंगलैण्ड स्थित संस्थाओं के विधान में परिवर्त्तन किया, भारत सरकार के स्वरूप में सुधार किया, कम्पनी के समस्त विजित भागों पर एक शक्ति का नियंत्रण स्थापित किया और किसी अंश तक कम्पनी को ब्रिटिश मंत्रिमण्डल की देख-रेख में लाने का प्रयास किया।" इस ऐक्ट के द्वारा कम्पनी के राजनीतिक लक्ष्य तथा अस्तित्व को स्पष्ट रूप से स्वीकार कर लिया गया। भारत सरकार को विधायनी शक्ति प्राप्त हुई और गवर्नर-जनरल की स्वेच्छाचारिता पर अंकुश रखने के लिए बहुल प्रणाली का सूत्रपात किया गया।

1781 ई. का संशोधन ऐक्ट : रेगुलेटिंग ऐक्ट के दोष को दूर करने के लिए 1781 ई. में संशोधन सेक्ट पास किया गया। संशोधन कानून की धाराएँ क्रमशः इस प्रकार थीं—

1. गवर्नर-जनरल एवं अन्य अधिकारी सरकारी सेवक की हैसियत से किये गये कार्यों के लिए सर्वोच्च न्यायालय के अधिकार-क्षेत्र से बाहर आ गए।

2. सर्वोच्च न्यायालय का अधिकार-क्षेत्र स्पष्ट कर दिया गया तथा कलकत्ता के सभी निवासियों पर उसका कानून चल सक़ेगा। सर्वोच्च न्यायालय प्रतिवादी के निजी कानून का प्रयोग करेगी।

3. सर्वोच्च न्यायालय को अपनी आज्ञाएँ या आदेश लागू करने के समय भारत के धार्मिक और सामाजिक रीतिरिवाजों का ध्यान रखना चाहिए तथा सरकार को भी नियम एवं विनियम बनाते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए। प्रान्तीय न्यायालयों के विरुद्ध अपील उच्चतम न्यायालय नहीं सुन सकेगी। इसके स्थान पर अब अपील सुनने का अधिकार सपरिषद गवर्नर-जनरल को दिया गया। 5000 पौण्ड से

अधिक के मामलों में अपील इंगलैण्ड के सपरिषद सम्राट के पास भेजी जा सकती थी।

4. सपरिषद गवर्नर-जनरल के द्वारा जो नियम एवं विनियम बनाए जायें, उसे उच्चतम न्यायालय के पास पंजीकृत करने की आवश्यकता नहीं है।

5. भूमि लगान सम्बन्धी विषय उच्चतम न्यायालय के कार्य-क्षेत्र में नहीं आयगा। लगान वसूलने वाले अधिकारी और न्यायिक अधिकारी सरकारी कामों के लिए उच्चतम न्यायालय के कार्य-क्षेत्र से बाहर रहेंगे।

1781 ई. के संशोधन कानून का एकमात्र उद्देश्य सरकार को सुदृढ़ करना था। राजस्व इकट्ठा करने में कोई कानूनी रुकावट नहीं डाली जाय और भारत में कानून बनाते समय वहाँ की धार्मिक, सामाजिक रीति-रिवाजों को ध्यान में रखा जाय। संशोधन कानून में भी एक दोष शेष रह गया था। गवर्नर-जनरल को काउन्सिल के बहुमत का निर्णय मानना पड़ता था। 1786 ई. में संसद कानून द्वारा काउन्सिल की उपेक्षा करने की अनुमति दी गयी। 1793 ई. के चार्टर ऐक्ट के द्वारा यह दोष पूर्णरूप से दूर कर दिया गया और गवर्नर-जनरल अपनी जिम्मेदारी पर काउन्सिल के निर्णय की उपेक्षा कर सकता था।

पिट्स इण्डिया ऐक्ट (1784 ई.)

पारित होने की घटनाएँ : भारतीय प्रश्नों में दिलचस्पी लेने का काम 1722 ई. से प्रारम्भ हुअ था और इंगलैण्ड के संसद में भारतीय मामलों पर खुलकर बहसें होती थीं। 1722 ई. और 1781 ई. में कम्पनी के मामलों की जाँच के लिए एक प्रवर समिति तथा एक गुप्त समिति की स्थापना की गयी थी प्रवर समिति ने उच्चतम न्यायालय और बंगाल परिषद के आपसी सम्बन्धों की छानबीन की ओर गुप्त समिति ने मराठा-युद्ध के कारणों जाँच की। दोनों समितियों के रिपोर्टों पर इंगलैण्ड के संसद में वाद-विवाद हुआ और संसद द्वारा हस्तक्षेप करना अनिवार्य हो गया। मराठा-युद्ध में भाग लेने के कारण कम्पनी की आर्थिक कठिनाई बढ़ गयी थी और 10 लाख पौण्ड कर्ज की माँग की गयी थी। गुप्त समिति के अध्यक्ष डंडास ने प्रस्तावित विधेयक को अस्वीकृत कर दिया। फॉक्स नामक संसद सदस्य ने एक विधेयक संसद में प्रस्तुत किया जो फॉक्स इण्डिया विधेयक कहा जाता है। विधेयक तैयार करने में बर्क और फिलिफ फ्रॉसिस का मुख्य हाथ था। फाक्स के विधेयक में कम्पनी की राजनीतिक और शक्ति को सात आयुक्तों के परिषद के साथ में सौंपने तथा व्यापारिक कार्य को नौ उप-निदेशकों के हाथ में रखने की सिफारिश की गयी थी। फॉक्स का प्रस्ताविक विधेयक कामन्स सभा द्वारा स्वीकार कर लिया गया, किन्तु लार्ड सभा ने उसे अस्वीकार कर दिया। इस प्रश्न पर लॉर्ड नार्थ और फॉक्स की ससक्त सरकार को पदत्याग करना पड़ा। भारतीय मामले पर सरकार टूटने की यह पहली घटना थी। 1784 ई. में पिट इंगलैण्ड का प्रधानमंत्री बना। उस समय भारतीय

मामलों के सम्बन्ध में एक नया विधेयक संसद में प्रस्तुत किया गया, किन्तु मंत्रिमण्डल के विघटन के कारण विधेयक पास नहीं हो सका। दूसरी बार 1784 ई. में पिट पुनः इंगलैण्ड का प्रधानमंत्री वना। इस बार संसद में पिट को बहुमत था। अतः पुराने विधेयक को पुनः संसद में प्रस्तुत किया गया और उसे दोनों सदनों की स्वीकृति भी मिल गयी। पिट ने स्वयं कहा था—"फॉक्स के विधेयक से व्यक्तियों को स्थायित्व मिलना था। मेरे विधेयक से एक प्रणाली को स्थायित्व मिला।"

पिट्स इण्डिया ऐक्ट की धाराएँ : पिट्स इण्डिया ऐक्ट का एकमात्र उद्देश्य रेगुलेटिंग ऐक्ट के दोषों को दूर करना था। इस अधिनियम की मुख्य धाराएँ इस प्रकार थीं—

1. पिटस् इण्डिया ऐक्ट के द्वारा लन्दन स्थित प्रशासन में परिवर्त्तन हुआ। कम्पनी द्वारा अधिकृत भारतीय क्षेत्र के नागरिक, सैनिक एवं राजस्व सम्बन्धी विषयों के निरीक्षण, निर्देशन तथा नियंत्रण के लिए विस्तृत अधिकार सहित एक नियंत्रण बोर्ड की स्थापना की गयी। इसे बोर्ड ऑफ कंट्रोल कहा जाता था। नियंत्रण बोर्ड में छः कमिश्नर थे जिन्हें "भारत के विषयों के लिए कमिश्नर कहा जाता था।" कमिश्नरों की नियुक्ति प्रिवी काउन्सिल के सदस्यों में से सम्राट के द्वारा की जाती थी। बोर्ड ऑफ कंट्रोल में एक चांसलर ऑफ एक्सचेकर, एक राज्य-सचिव और चार प्रिवी काउन्सिल के सदस्य थे। तीन डाइरेक्टरों की एक गुप्त समिति द्वारा सभी को आदेश भारत भेजा जाता था। इन आदेशों को बदलने का अधिकार अधिकारी को बोर्ड ऑफ कंट्रोल द्वारा हटाया जा सकता था अथवा उन्हें वापस बुलाया जा सकता था।

2. बोर्ड ऑफ प्रोप्राइटर्स की समिति को समाप्त कर दिया गया और अब वे केवल कम्पनी के हिस्सेदार रहे। उनके राजनीतिक अधिकार खत्म हो गये और वे केवल डाइरेक्टर का चुनाव कर सकते थे तथा लाभांश प्राप्त कर सकते थे।

3. तीन डाइरेक्टरों की एक गुपत समिति बनायी गयी और उसके अधीन सभी राजनीतिक और सैनिक प्रश्नों को सौंप दिया गया।

4. भारत में कार्यरत अथवा अवकाश प्राप्त कम्पनी के अधिकारियों के अपराधों पर विचार करने के लिए तीन न्यायाधीशों, चार पियरों (लॉर्ड सभा के सदस्य) और छः कॉमन्स सभा के सदस्यों के द्वारा एक विशेष न्यायालय का गठन किया गया। यह अदालत लन्दन में थी और अपराधी अधिकारियों को दण्ड देने का उसे पूर्ण अधिकार था।

5. प्रेसीडेन्सी पर गवर्नर-जनरल का नियंत्रण बढ़ा दिया गया। गवर्नर-जनरल उसके कार्यों का निरीक्षण, नियंत्रण एवं निर्देशन कर सकता था। प्रेसीडेन्सी की सरकार स्वयं किसी भारतीय नरेश के साथ युद्ध, सन्धि अथवा राजस्व के मामलों में

निर्णय नहीं ले सकती थी। आज्ञा की अवहेलना करने पर प्रेसीडेन्सी की सरकार को मुअत्तल करने का अधिकार गवर्नर-जनरल को प्राप्त था। बंगाल की सरकार के नियंत्रण में प्रेसीडेन्सी की सरकार को लाना एक साहसिक कदम था।

6. गवर्नर-जनरल की काउन्सिल के सदस्यों की संख्या तीन कर दी गयी। इन तीन में एक स्थान सेनापति का भी था। प्रेसीडेन्सी के गवर्नरों की काउन्सिल में भी तीन सदस्य रखे गये। इनकी नियुक्ति का अधिकार डाइरेक्टरों को दिया गया। सम्राट अथवा बोर्ड कंट्रोल की आज्ञा द्वारा उन्हें हटाया जा सकता था। गवर्नर-जनरल या प्रेसीडेन्सी के गवर्नरों को निर्णायक मत देने का अधिकार था।

7. कम्पनी को अपनी व्यवस्था सुधारने की आज्ञा दी गयी।

8. कम्पनी के द्वारा भारत में राज्य-विस्तार या विजय की नीति को इंगलैण्ड की प्रतिष्ठा और नीति के विरुद्ध माना गया। गवर्नर-जनरल भी बिना डाइरेक्टर्स या बोर्ड की आज्ञा से युद्ध, सन्धि अथवा किसी प्रकार का समझौता किसी भारतीय नरेश के साथ नहीं कर सकते थे।

9. भारत में कम्पनी के अधिकृत प्रदेशों को पहली बार ''ब्रिटिश अधिकृत प्रदेश'' का नाम दिया गया।

पिट्स इण्डिया ऐक्ट का महत्त्व : भारत के प्रशासनिक एवं संवैधानिक विकास के मार्ग में पिट्स इण्डिया ऐक्ट एक मील के पत्थर की तरह महत्त्वपूर्ण था। कम्पनी के बदले ब्रिटिश सरकार के हाथ में भारतीय शासन को लाने की दिशा में यह पहला प्रयत्न था। भारतीयों से सम्बन्धित प्रश्न अब ब्रिटिश संसद के नियंत्रण में चला गया और इंगलैण्ड की सरकार का अधिकार निश्चित हो गया। बोर्ड ऑफ कंट्रोल का अध्यक्ष मंत्रिमण्डल का एक सदस्य होता था और बोर्ड कंट्रोल का अध्यक्ष मंत्रिमण्डल का एक सदस्य होता था और बोर्ड ऑफ कंट्रोल व्यावहारिक रूप में एक संसदीय समिति थी जो संसद के प्रति उत्तरदायी थी।

पिट्स इण्डिया ऐक्ट के द्वारा यह स्पष्ट कर दिया गया कि कम्पनी मात्र व्यापारिक संस्था है और राजनीति पर उसका अधिकार नहीं है। व्यापारियों के हाथ में शासन रहने के कारण जो बहुत सी बुराइयाँ आ गयी थीं; उन्हें सुधारने में इस ऐक्ट का योगदान महत्त्वपूर्ण था। भारत की राजनीतिक व्यवस्था अब इंगलैण्ड के कुशल राजनीतिज्ञों के हाथ में आ गयी। भारतीय प्रशासन को संगठित करने तथा प्रेसीडेन्सी की सरकार पर गवर्नर-जनरल का अधिकार निश्चित तथा विस्तृत कर दिया गया। इस ऐक्ट में नियुक्ति का अधिकार संचालकों के हाथ में रहने दिया गया जिनसे वे सरकार के नियंत्रण को स्वीकार करने में आनाकानी नहीं करें। अलबर्ट का यह कथन सत्य है कि पिट्स ने कम्पनी के संविधान में भारी परिवर्तन किए बिना ही सरकार का नियंत्रण स्थापित कर लिया। पिट्स इण्डिया ऐक्ट के द्वारा

दोहरी प्रणाली प्रारम्भ हुई जिससे टकराव की सम्भावना बढ़ गयी। दोहरी प्रणाली 1858 ई. में समाप्त हुई। सी. ए. फिलिप्स का यह विचार उपयुक्त है कि 1784 ई. का अधिनियम "एक चतुर एवं कुटिल प्रस्ताव था जिसने संचालक समिति की राजनीतिक सत्ता को मंत्रिमण्डल के गुप्त एवं प्रभावशाली नियंत्रण में कर दिया था।"

1786 ई. का अधिनियम : वारेन हेस्टिंग्स के बाद लॉर्ड कॉर्नवालिस को पिट्स भारत का गवर्नर-जनरल बनाना चाहता था। कॉर्नवालिस गवर्नर-जनरल के साथ-साथ सेनापत्ति के पद पर नियुक्त होना चाहता था। अतः इंगलैण्ड के संसद में इस आशय का एक विधेयक पेश किया गया और उसे स्वीकार कर लिया गया। 1786 ई. के अधिनियम के अनुसार गवर्नर-जनरल को विशेष प्रकार की परिस्थिति में परिषद के नर्णयों को रद करने तथा अपने निर्णय को लागू करने का अधिकार दिया गया।

1739 ई. का चार्टर ऐक्ट : 1786 ई. से लेकर 1858 ई. के बीच कई कानून पास हुए जिसका सम्बन्ध कम्पनी के चार्टर से सम्बन्धित था। सर्वप्रथम 1793 ई. के चार्टर ऐक्ट के द्वारा कम्पनी के एकाधिकार को बीस वर्षों के लिए बढ़ा दिया गया। प्रशासनिक क्षेत्र में गवर्नर-जनरल को काउन्सिल के निर्णय को बदलने का अधिकार दिया गया। परन्तु अब गवर्नर-जनरल मुख्य सेनापति नहीं हो सकता था। इस ऐक्ट के द्वारा कुछ महत्त्वपूर्ण प्रशासनिक पद्धतियों को जन्म दिया गया, जैसे उच्च पद वाले नौकरी में प्राचीनता के आधार पर दिया जाने लगा, उसके लिए योग्यता आधार नहीं रहा। इसके अतिरिक्त बोर्ड ऑफ कंट्रोल के सदस्यों तथा कर्मचारियों को वेतन भारतीय राजस्व से दिया जाने लगा। यह व्यवस्था 1919 ई. तक चलती रही।

1813 ई. का चार्टर ऐक्ट : बीस वर्ष की अवधि समाप्त होने वाली थी। कम्पनी के साम्राज्य का विस्तार हो चुका था और साम्राज्य तथा व्यापार दोनों कार्यों को चलाने में कम्पनी शासन की उपलब्धियाँ ब्रिटेन के राजनीतिज्ञों की नजर के सामने नष्ट हो चुकी थीं। नेपोलियन की महाद्वीपीय व्यवस्था के कारण व्यवस्था के कारण ब्रिटेन का यूरोपीये व्यापार बन्द हो गया था। अतः इंगलैण्ड में कम्पनी के व्यापारिक अधिकार को समाप्त करने की आत राय स्पष्ट हो चुकी थी।

1813 ई. के चार्टर के अनुसार निम्नलिखित परिवर्त्तन हुए

1. कम्पनी के भारत के साथ व्यापार के एकाधिकार को समाप्त कर दिया गया। चीन के साथ अगले बीस वर्षों के लिए व्यापार करने का अधिकार दिया गया। भारतीय व्यापार सभी व्यापारियों के लिए उन्मुक्त व्यापार की नीति के अनुसार खोल दिया गया। केवल चाय का व्यापार कम्पनी के हाथ में रहने दिया गया।

2. भारतीय राजस्व का 10 1/2 प्रतिशत लाभांश कम्पनी को दी गयी और भारतीय

प्रदेशों एवं राजस्व पर अंगरेजी साम्राज्य की वैधानिक स्थिति स्पष्ट कर दी गयी।

3. भारत में कुछ ईसाई अफसरों की सुविधा के लिए एक विशप तथा तीन छोटे पादरियों की नियुक्ति करने की व्यवस्था की गयी।

4. शिक्षा के विकास के लिए एक लाख रुपये का वार्षिक व्यय स्वीकार किया गया।

5. कम्पनी की सेनाओं की संख्या बीस हजार निश्चित की गयी।

6. यूरोपवासियों को अनुमति पत्र लेकर भारत में रहने की आज्ञा दी गयी।

1813 ई. के चार्टर ऐक्ट को विशेष महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इसकी कुछ धाराएँ बहुत उपयोगी थीं। इस अधिनियम में पहली वार सामाजिक एवं सांस्कृतिक विकास के लिए सरकार द्वारा धन का आवंटन किया गया। शिक्षा, साहित्य, कर्मचारियों को धार्मिक सुविधा आदि बातें कम महत्त्व की नहीं थीं। इसके अतिरिक्त, स्वतंत्र व्यापार को एकाधिकार समाप्त करने का प्रोत्साहन मिला और 1813 ई. के अधिनियम के अधार पर 1833 ई. का चार्टर कानून पास किया गया।

1833 ई. का चार्टर ऐक्ट-ऐक्ट पारित होने की परिस्थिति : बीस वर्ष के वाद कम्पनी के चार्टर का नवीनीकरण होता था। 1813 ई. और 1833 ई. के बीच इंगलैण्ड में बहुत तरह के परिवर्तन हो चुके थे। औद्योगिक क्रान्ति के कारण बड़े पैमाने पर उत्पादन होने लगा था। उत्पादन में वृद्धि तथा निर्यात के कारण जीवन-स्तर ऊँचा हो गया था। वस्तुएँ सस्ती दर पर मिलने लगी थीं और बाहर से निर्यात के कारण धन इंगलैण्ड आने लगा था। समृद्धि, स्वतंत्रता ने वर्ग चेतना को जन्म दिया तथा बुद्धिजीवी वर्ग श्रमिकों के अधिकार की रक्षा के लिए आन्दोलन आरम्भ कर दिया। सुधार की माँग साहित्यकारों एवं राजनीतिज्ञों के द्वारा की जाने लगी।

1830 ई. में हिग दल सत्तारूढ़ हुआ। हिग उदारवादी थे और जनमत को ध्यान में रखकर 1832 ई. के सुधार कानून को पास करने में उन्हें कोई हिचकिचाहट नहीं हुई। फ्रांस की क्रान्ति मानव अधिकार की गरिमा को स्पष्ट कर चुकी थी। सर्वत्र वातावरण में सुधार की माँग व्याप्त थी।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन में परिवर्त्तन लाने की बात असंगत नहीं थी। चार्ल्स ग्रान्ट व्यापार के अतिरिक्त और कोई चीज कम्पनी के हाथ नहीं रखना चाहता था। लॉर्ड लैंसडम प्रशासन में भारतीयों को स्थान देने के पक्षधर थे। कुछ कम्पनी को समाप्त कर क्राउन द्वारा भारत पर शासन करना चाहत था। जेम्स मिल और मैकाले के विचार का प्रभाव अधिक था। अतः इन लोगों की विचारधारा के अनुकूल 1833 ई. के चार्टर ऐक्ट को उदारवादी सरकार ने संसद द्वारा पास कर दिया।

1833 ई. के चार्टर ऐक्ट की मुख्य धाराएँ

1. कम्पनी के व्यापारिक एकाधिकार समाप्त कर दिये गये और चाय एवं

चीनी के एकाधिकार को भी कम्पनी के हाथ में नहीं रहने दिया गया। दूसरे शब्दों में, कम्पनी को व्यवसाय वन्द करने का आदेश दिया गय।

2. यूरोपवालों को विना अनुमति-पत्र के भारत में आने तथा रहने की आज्ञा दी गयी।

3. भारत में दास-प्रथा को गैर-कानूनी घोषित किया गया और भारत से दास-प्रथा को समाप्त करने का आदेश गवर्नर-जनरल को दिया गया।

4. विशपों की संख्या बढ़ाकर तीन कर दी गयी और कलकत्ता के विशप को मुख्य विशप घोषित किया गया।

5. बड़ी-बड़ी नौकरियाँ केवल योग्यता के आधार पर दी जाने लगीं। यह घोषणा की गयी कि भारत में कम्पनी के किसी भारतीय प्रजाजन को कम्पनी के अधीन किसी पद को ग्रहण करने से उसके धर्म, जन्म-स्थान, निवास तथा वर्ण-भेद के कारण अयोग्य नहीं समझा जायेगा

6. बंगाल के गवर्नर-जनरल को भारत का गवर्नर-जनरल माना जाने लगा। भारत के सभी ब्रिटिश प्रदेशों के निरीक्षण, निर्देशन, नियंत्रण एवं राजस्व का पूरा प्रवन्ध काउन्सिल-स्थित गवर्नर-जनरल के हाथ में दे दिया गया।

7. गवर्नर-जनरल की काउन्सिल की सदस्य-संख्या चार कर दी गयी। अन्तिम सदस्य कनून का सदस्य था और उसका काम केवल कानून से सम्बन्धित था। काउन्सिल की बैठक में कानून-सदस्य की उपस्थिति और सहमति आवश्यक नहीं थी। लॉर्ड मैकाले प्रथम कानून-सदस्य के रूप में नियुक्त हुआ था।

8. कानून बनाने के कार्य का पूर्णतया केन्द्रीकरण कर दिया गया। भविष्य में सुपरिषद गवर्नर-जनरल को ही कानून बनाने का अधिकार दिया गया। प्रेसीडेंसियों के गवर्नरों को कानून बनाने के अधिकार से वंचित कर दिया गया। काउन्सिल-स्थित गवर्नर-जनरल सभी विषयों पर कानून बना सकता था और वे कानून ब्रिटिश भारत में सभी चीजों एवं व्यक्तियों पर लागू हो सकते थे। देश के सभी न्यायालयों को उन कानूनों के पालन करने के लिए आवश्यक कारवाई करनी पड़ती थी। कोई भी न्यायालय उन कानूनों को लागू करने से इनकार नहीं कर सकता था। काउन्सिल स्थित गवर्नर-जनरल को अधिकार दिया गया कि वह युद्ध सम्बन्धी धाराएँ एवं सैनिक अनुशासन-सम्बन्धी संहिता बनाये तथा न्याय-व्यवस्था का उचित प्रबन्ध करे। गवर्नर-जनरल को भारत में लागू होने वाले सभी कानूनों को बनाने, लागू करने, संशोधन तथा परिवर्त्तन करने का अधिकार था। इस सम्बन्ध में गवर्नर-जनरल पर यह प्रतिबन्ध था कि वह कम्पनी के विधान में परिवर्त्तन करने का अधिकार था। इस सम्बन्ध में गवर्नर-जनरल पर यह प्रतिबन्ध था कि वह कम्पनी के विधान में परिवर्त्तन नहीं कर सकता है और न अधिकार-पत्र में संशोधन कर सकता है। वह

इंगलैण्ड के कानून के विरुद्ध कोई विशेप कानून नहीं वना सकता था और न सम्राट के असाधारण अधिकारों में कोई परिवर्तन कर सकता था।

9. गवर्नर-जनरल को अधिकार दिया गया कि वह कानूनी अदालतों के कार्य-क्षेत्र, नियमों, शक्ति एवं कार्य-प्रणाली की जाँच करने के लिए कम्पनी की पुलिस-सम्बन्धी एवं न्याय-सम्वन्धी व्यवस्था की जाँच-पड़ताल करने के लिए और उसमें सुधार एवं परिवर्त्तन का सुझाव प्रस्तुत करने के लिए पाँच सदस्यों का एक आयोग नियुक्त कर सकता था।

10. इस ऐक्ट द्वारा कम्पनी का नाम संक्षिप्त कर दिया गया और इसे "यूनाइटेड कम्पनी ऑफ मर्चेन्ट ट्रेडिंग विद ईस्ट इण्डिज" के स्थान पर 'ईस्ट इण्डिया कम्पनी' नाम दिया गया।

1833 ई. के ऐक्ट की विशेषताएँ—1833 ई. के ऐक्ट द्वारा भारतीय प्रशासन पद्धति में केन्द्रीकरण की नीति स्थापित की गयी। दास-प्रथा पर पतिवन्ध लगाने तथा मुक्त व्यापार की नीति अपनाकर सरकार ने अपनी उदारता का परिचय पहली वार दिया था। कानूनी प्रक्रिया सरल हो गयी। भारतीयों को ऊँचे पदों पर नियुक्त करने का द्वार खुल गया तथा पुलिस और न्याय-विभाग को सुगम बना दिया गया। व्यापार पर कम्पनी का एकाधिकार समाप्त हो गया। धीरे-धीरे अन्य क्षेत्रों में भी कम्पनी को कारोवार समेटना पड़ा।

1833 ई. के ऐक्ट में कुछ दोष भी थे—इस ऐक्ट में संचालन समिति और वोर्ड ऑफ कंट्रोल के बीच सम्वन्ध को सुधारने का कोई प्रयास नहीं किया गया था। मात्र सदस्यों की संख्या 24 से घटाकर 18 कर दी गयी थी और छः सदस्य राजमुकुट के द्वारा मनोनीत होते थे। गणपूर्त्ति 10 रखी गयी थी। निदेशकों का संरक्षण समाप्त कर दिया गया था। कम्पनी के अधिकारों को समाप्त करनेवाले भले ही सन्तुप्ट हों, परन्तु उससे प्रशासन के क्षेत्र में कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन नहीं लाया जा सकता।

सुपरिषद गवर्नर-जनरल को शक्ति-सम्पन्न बनाना भी हानिकारक सिद्ध हुआ। दूर के प्रान्तों की कठिनाइयों अथवा आवश्यकताओं की सही जानकारी गवर्नर-जनरल को नहीं मिल पाती थी। यातायात के साधनों का अभाव था। एक व्यक्ति के हाथ में व्यापक अधिकार प्रदान करना तथा स्थानीय अधिकारियों की शक्ति पर प्रतिवन्ध लगा देना एवं उनकी क्षमता और वुद्धिमत्ता का भरपूर लाभ नहीं उठाना अदूरर्शिता का काम था। प्रोन्नत करने तथा भारतीयों को ऊँचे पदों पर नियुक्त करने की नीति को व्यावहारिक रूप में नहीं लाया जा सका। भारतीयों को कानून बनाने का अधिकार नहीं था। सर वार्टल फ्रेयर ने यह कहा था कि—"यह करोड़ों लोगों के लिए कानून बनाने का प्रयोग था जिसमें केवल विद्रोह के अतिरिक्त और कोई ऐसा मार्ग नहीं था कि कह सके कि यह कानून हमारे अनुकूल है अथवा

प्रतिकूल।''

1853 ई. का चार्टर ऐक्ट—1833 ई. के बाद पुनः 1853 ई. में नया चार्टर ऐक्ट पास किया गया। 1833 ई. से 1853 ई. के बीच इंगलैण्ड में जा राजनीतिक चढ़ाव-उतार हुआ उसका प्रभाव भारतीय प्रशासन-व्यवस्था पर भी पड़ा। 1844 ई. में एलेनबरो को वापस बुलाने के बाद इंगलैण्ड का जनमत संचालक समिति के अधिकार को घटाने के पक्ष में हो गया था। फलतः बीस वर्ष बाद पुनः 1853 ई. का नया चार्टर कानून इंगलैण्ड की सरकार को पास करना पड़ा।

1853 ई. के चार्टर ऐक्ट के अनुसार पिछले कानूनों की तरह कम्पनी के अधिकारों को बीस वर्षों के लिए बढ़ाया नहीं गया। इसमें केवल यह कहा गया कि कम्पनी भारतीय क्षेत्रों पर साम्राज्ञी तथा उसके उत्तराधिकारियों की ओर से तब तक अधिकार रखे जब पार्लियामेण्ट की ओर से कोई अन्य व्यवस्था न की जाय। भारतीयों द्वारा प्रतिनिधित्व की मांग को स्वीकार नहीं किया गया। एक व्यापारी कम्पनी को मात्र अधिकारी के रूप में रखने का प्रबन्ध नये ऐक्ट में किया गया था। संचालक समिति की सदस्य संख्या 24 से घटाकर 18 कर दी गयी। इनमें 6 सदस्यों की नियुक्ति क्राउन के द्वारा होती और शेष 12 में 6 सदस्य ऐसे होते जिन्हें भारत में 10 वर्षों तक नौकरी करने का अनुभव हो। इस प्रकार संचालक मण्डल का स्वरूप भारत विशेषज्ञों की एक समिति की तरह हो गयी और भारतीय सेवाओं में नियुक्ति का अधिकार कम्पनी के हाथ से छीन लिया गया। प्रतियोगिता के आधार पर नियुक्ति की जाने लगी।

1853 ई. के ऐक्ट के अनुसार गवर्नर-जनरल की काउन्सिल की सदस्य-संख्या चार कर दी गयी तथा कानूनी सदस्य को भी सामान्य सदस्य बना दिया गया। संचालक मण्डल और बोर्ड ऑफ कंट्रोल की राय लेकर गवर्नर-जनरल उप-प्रान्तों या कमिश्नरियों का गठन कर सकता था।

कानून बनाने के लिए बारह सदस्यों की एक लेजिस्लेटिव काउन्सिल का गठन किया गया। गवर्नर-जनरल के कार्यकारिणी समिति के चार सदस्यों के अतिरिक्त चारों प्रान्त से गवर्नर द्वारा मनोनीत एक सदस्य, सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश तथा एक अन्य न्यायाधीश को लेजिस्लेटिव काउन्सिल में स्थान दिया गया। इस प्रकार काउन्सिल में दो काउन्सिल सदस्य, दो सेनाध्यक्ष, दो गवर्नर-जनरल और छः अतिरिक्त सदस्यों को मिलाकर काउन्सिल का गठन किया गया। प्रत्येक नियम उसी समय वैध माना जाता था जब उसे गवर्नर-जनरल की स्वीकृति मिल जाती थी।

बंगाल के लिए एक अलग गवर्नर को नियुक्त किया गया और सम्राट को यह अधिकार दिया गया कि वह एक कानून आयोग की नियुक्ति करे जो भारतीय

कानूनी आयोग के द्वारा छोड़े हुए अधिनियमों के मसविदों तथा रिपोर्टों की जाँच करे और उन्हें कार्यान्वित करे।

1853 ई. के चार्टर ऐक्ट का महत्व—भारत में लेजिस्लेटिव काउन्सिल का निर्माण पहली बार 1853 ई. के ऐक्ट द्वारा किया गया। आगे चलकर समय-समय पर काउसिन्ल की सदस्य संख्या में वृद्धि की गयी किन्तु उसके मौलिक स्वरूप में कोई परिवर्त्तन नहीं किया गया। लेजिस्लेटिव काउन्सिल सरकारी सदस्यों की संस्था थी। बाद में गैर-सरकारी सदस्यों की भी नियुक्ति की जाने लगी।

इस काउन्सिल की रचना डलहौजी के समय इंगलैण्ड की संसद के आधार पर की गयी थी। सरकारी और विपक्षी सदस्यों की भूमिका क्रमशः सरकारी और अतिरिक्त सदस्यों के द्वारा प्रारम्भ की गई। इसे देखकर डलहौजी ने यह लिखा था कि "हमारी युवा पार्लियामेण्ट सफलतापूर्वक कार्य कर रही है। कानून बनाने की प्रक्रिया इंगलैण्ड की तरह भारत में भी प्रारम्भ की गई है

इस ऐक्ट के द्वारा कम्पनी का अवसान समीप आ गया। नियंत्रण बोर्ड की शक्ति और अधिकार में वृद्धि कर दी गयी थी। निदेशकों के अधिकार को घटा दिया गया और कम्पनी के बदले क्राउन द्वारा शासन प्रारम्भ करने की पृष्ठभूमि तैयार कर दी गयी।

इस प्रकार कम्पनी शासन के स्वरूप में वारेन हेस्टिंग्स से लेकर डलहौजी के समय तक काफी परिवर्तन किया गया और इंगलैण्ड की संसदीय पद्धति को भारत में विकसित करने का प्रारम्भिक ढाँचा 1853 ई. तक तैयार कर लिया गया। कम्पनी के बदले प्रत्यक्ष रूप से इंगलैण्ड की सरकार के हाथ में शासन आ जाने की दिशा में विभिन्न कानूनों एवं चार्टर ऐक्टों का स्थान महत्त्वपूर्ण माना जाता है।

न्याय-प्रशासन में सुधार—अंगरेजों के पूर्व भारत की न्याय-प्रणाली मुगल-पद्धति पर आधारित थी और कम्पनी के शासनकाल में मुगलकालीन न्याय-व्यवस्था को प्रारम्भ में मान्यता दी गयी। दीवानी की मंजूरी से लेकर 1772 ई. तक न्याय-प्रणाली में कोई परिवर्त्तन नहीं किया गया। परन्तु 1772 ई. में अंगरेजी विधि व्यवस्था को लागू करने का प्रयास हुआ। 1773-74 ई. के रेगुलेटिंग ऐक्ट में भी न्याय-प्रशासन में सुधार लाने का प्रावधान था।

पुरानी मुगल-प्रणाली और कम्पनी शासन के बीच न्याय-व्यवस्था में मनमाना करने की छूट थी। जमींदार और कम्पनी के कर्मचारी के अत्याचारी से किसान, कारीगर, व्यापारी सभी तबाह थे। दण्ड-विधान का कोई निश्चित आधार नहीं था। दण्ड की रकम अपने पास रख ली जाती थी। इस अव्यवस्था को नियंत्रित करने के लिए 1769 ई. में कलकत्ता काउन्सिल द्वारा अंगरेज सुपरवाइजरों को न्यायालयों पर निगरानी रखने की आज्ञा दी गयी थी। परन्तु वह आज्ञा बेकार सिद्ध हुई। अतः

1772 ई. में दीवानी और फौजदारी अदालतों को संगठित करने का प्रयास वारेन हेस्टिंग्स के द्वारा किया गया और उसके अधूरे कार्य को कॉर्नवालिस ने आगे चलकर पूरा किया।

1772 ई. में प्रत्येक जिले में दीवानी और फौजदारी या निजामत अदालतों की स्थाना की गयी—दीवानी अदालतों के अधीन सम्पत्ति, विवाह, जातीय-प्रथा, ऋण, अनुवन्ध, लगान तथा उत्तराधिकार सम्वन्धी मुकदमों की जाँच की जाती थी। फौजदारी अदालत में चोरी, हत्या, जालसाजी, वलपूर्वक सम्पत्ति का अपहरण आदि मुकदमों की सुनवाई होने लगी। कलकत्ता में सदर दीवानी और सदर निजामत अदालतों में जिला न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध अपील की जा सकती थी। जिला में दीवानी अदालत का अध्यक्ष कलक्टर होता था। जिला निजामत न्यायालय में काजी और मुफ्ती मौलवियों की सहायता से न्याय किया जाता था। सदर दीवानी अदालत का अध्यक्ष स्वयं गवर्नर था और उसके काउन्सिल के सदस्य सदर दीवानी अदालत के पदेन सदस्य होते थे। सदर निजामत का न्यायाधीश दारोगा-ए-अदालत नाजिम कहलाता था। नाजिम की नियुक्ति बंगाल का नवाब करता था, परन्तु कलकत्ता काउन्सिल का उस पर नियंत्रण था।

कम्पनी स्वयं जमींदार थी। अतः कुछ न्यायालयों की स्थापना कम्पनी के कर्मचारियों ने भी कर ली थी जिसमें वे अपने ढंग से अधिकार का अतिक्रमण कर निर्णय देते थे। ऐसे न्यायालयों की कार्य-प्रणाली सन्तोपजनक नहीं थी। अतः इन दोपों को दूर करने के लिए रेगुलेटिंग ऐक्ट के द्वारा सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना की गयी।

सर्वोच्च न्यायालय में एक मुख्य न्यायाधीश और तीन अन्य न्यायाधीश रखे गये थे। इन न्यायाधीशों की नियुक्ति सम्राट द्वारा की जाती थी। सर्वोच्च न्यायालय के कार्य-क्षेत्र में समस्त अंगरेज अधिकारी और वंगाल, विहार और उड़ीसा के क्षेत्र थे। दीवानी मुकदमों में किसी निर्णय के विरुद्ध राजा के पास अपील इंगलैण्ड में की जा सकती थी। निजामत सम्बन्धी मुकदमों में सर्वोच्च न्यायालय से अनुमति प्राप्त कर अपील की जा सकती थी।

सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना कम्पनी के कर्मचारियों के अनुचित कार्यों पर प्रतिबन्ध लगाने के उद्देश्य से की गयी थी। परन्तु यह काम कम्पनी के कर्मचारियों को प्रभावित किये विना सम्भव नहीं था। कलकत्ता काउन्सिल प्रशासकीय और सैनिक कार्यों में सर्वोच्च थी तो सर्वोच्च न्यायालय न्याय-विभाग में सर्वोच्च था। दोनों में मतभेद हो जाने पर किसकी सर्वोच्चता स्वीकार की जाय, यह स्पप्ट नहीं था। काउन्सिल के सदस्य व्यक्तिगत रूप से अपने कार्य के लिए उत्तरदायी नहीं थे। न्यायालय में कौन—सी प्रणाली अपनायी जाय-अंगरेजी अथवा भारतीय, यह भी स्पप्ट

नहीं किया गया था। इन दोनों को दूर करना आवश्यक था।

1781 ई. में एक्ट पास कर काउन्सिल और सर्वोच्च न्यायालय के बीच होने वाले संघर्षों को दूर करने का प्रयास किया गया। कलकत्ता काउन्सिल को सामूहिक तथा उसके सदस्यों को व्यक्तिगत रूप से सर्वोच्च न्यायालय के नियंत्रण से मुक्त कर दिया गया। सर्वोच्च न्यायालय का कार्य-क्षेत्र कलकत्ता के निवासियों तक सीमित रखा गया। सर्वोच्च न्यायालय में हिन्दू एवं मुसलमानों के उत्तराधिकार सम्बन्धी मुकदमों की सुनवाई हो सकती थी। सदर दीवानी अदालत में लगान सम्बन्धी मुकदमों को रखा गया। इस प्रकार सर्वोच्च न्यायालय और सदर दीवानी अदालत दोनों 1861 ई. तक काम करती रही।

1783-1793 ई. के बीच न्याय प्रशासन में आंशिक परिवर्तन लाया गया। कॉर्नवालिस ने 1786 ई. में जज, कलक्टर और मैजिस्ट्रेट का काम एक व्यक्ति के हाथ में सौंप दिया और यह व्यवस्था 1793 ई. तक चलती रही। इस परिवर्तन का एकमात्र लक्ष्य था जमींदारों पर नियंत्रण रखना। 1793 ई. में स्थायी भूमि-व्यवस्था लागू होने के वाद भू-राजस्व और न्याय का काम अलग कर दिया गया। मुर्शिदाबाद, ढाका और कलकत्ता में चार प्रान्तीय अपील न्यायालयों की स्थापना की। प्रान्तीय अपील अदालत में तीन अंगरेज न्यायाधीश रहते थे और वे 1000 रुपये तक के मुकदमों का फैसला कर सकते थे। मुकदमा करने के लिए धन की आवश्यकता समाप्त कर दी गयी। वकीलों को आज्ञा-पत्र न्यायालय की ओर से दिया जाता था। न्याय का काम कॉर्नवालिस केवल यूरोपियनों के हाथ में रखना चाहता था, परन्तु भारतीय न्यायाधीशों को 50 रुपए की लागत के मुकदमो में निर्णय देने का अधिकार दिया गया।

निजामत विभाग में भारतीय न्यायाधीशों की स्थिति अच्छी नहीं थी। सेवा की गारंटी के अभाव में भ्रष्ट साधनों को अपनाना आम बात थी। न्यायाधीश ईमानदार और योग्य भी होते थे। मुकदमों की संख्या अधिक थी और एक मुकदमे का फैसला देने में 8 या 10 वर्षों का समय भी लग जाता था। अपराधी गवाह के अभाव में बच जाता था। कॉर्नवालिस ने निजामत अदालतों में अंगरेज न्यायाधीशों की नियुक्ति की थी और सर्किट कोर्ट का भी प्रबन्ध किया था। सदर निजामत अदालत की बैठक सप्ताह में एक बार अवश्य होती थी ताकि अधिक-से-अधिक मुकदमों की सुनवाई हो सके। पुलिस और जेल का प्रबन्ध कम्पनी के अधीन था। प्रत्येक जिला में मैजिस्ट्रेट को जेल अधिकारी बना दिया गया तथा हर जिला में एक पुलिस अधीक्षक की नियुक्ति की गयी। प्रत्येक पुलिस अधीक्षक को चोरी का माल खोज लेने का 10% कमीशन दिया जाता था।

न्यायिक सुधार की समीक्षा—भारत में प्रचलित पुरानी न्याय-व्यवस्था के

स्थान पर अंगरेजी न्याय-प्रणाली का प्रचार-प्रसार कम्पनी काल में इंगलेण्ड की सरकार का मुख्य उद्देश्य था। कोर्ट में जमानत की रकम जमा करने की प्रथा समाप्त कर दी गयी। अपील की सुविधा तथा परिभ्रमण अदालतों या सर्किट कोर्ट की व्यवस्था से न्याय को सुलभ बनाने का प्रयास किया गया।

न्याय-व्यवस्था का लक्ष्य पूरा नहीं हो सका। कॉर्नवालिस भारतीयों के बदले यूरोपीय न्यायाधीशों को नियुक्त करना चाहता था। वह अंगरेजी विधि-व्यवस्था को लागू करना चाहता था। उसके न्यायिक सुधार का सबसे बड़ा दोष यह था कि भारतीय प्रथा एवं रीति-रिवाज का उसमें कोई स्थान नहीं था। अंगरेज न्यायाधीश गवाहों के बयान पर निर्णय देते थे। परन्तु भारतीय परम्परा और प्रथाओं की जानकारी के अभाव में वे तथ्य तक नहीं पहुँच पाते थे।

स्थायी बन्दोबस्त के बाद भूमि सम्बन्धी मुकदमों में बाढ़ सी आ गयी थी। जमींदार अनावश्यक रूप से किसानों को मुकदमे के जाल में फँसाकर जमीन हड़प लेते थे। विलम्ब और खर्च अधिक होने से न्यायालय में उचित निर्णय प्राप्त करना किसानों के लिए सम्भव नहीं रहा। इस परिस्थिति में कॉर्नवालिस को 1795 ई. में धन जमा करने और अपील की सुविधा को कम करने की आज्ञा पुनः निकालनी पड़ी। न्याय पाना मंहगा हो गया। पुलिस-सुधार के बावजूद चोरी, डकैती एवं अन्य अपराधों की संख्या बढ़ गयी। धन-जन स्वाभाविक कायम रखने का उत्तर कायम रखने के लिए 1807 ई. में स्थानीय जमींदारों को शान्ति-व्यवस्था कायम रखने का उत्तरदायित्व सौंपना पड़ा। इस प्रणाली में भारतीयों के प्रति अविश्वास की भावना काम कर रही थी। स्वाभाविक रूप से भारतीयों में हीनता की भावना जन्म ले ली और अंगरेजी न्याय-प्रणाली के सामाजिक ढाँचे पर भी प्रभाव पड़ा। भारत के सामाजिक जीवन को प्रभावित करने की गति बहुत मन्द थी। जातीय लाभ से भारतीयों को वंचित रह जाना पड़ा।

प्रशासनिक व्यवस्था में परिवर्तन—1853 ई. में चार्टर ऐक्ट में कम्पनी के एकाधिकार को बीस वर्षों के लिए पुनः अधिकृत करने की अवधि की घोषणा नहीं की गयी थी। ब्रिटिश संसद जब चाहती तब कम्पनी के हाथ से शासन-प्रबन्ध ले सकती थी। 1857 ई. के विद्रोह से कम्पनी की स्थिति नाजुक हो गयी। विद्रोह में भारत के सभी वर्गों का हाथ था और कम्पनी शासन के प्रति असन्तोष की भावना की चरम परिणति 1857 ई. के विद्रोह के रूप में प्रकट हुई थी। विद्रोह के कारण अंगरेज अपने को चारों ओर से घिरे हुए पा रहे थे और व्यापारिक कम्पनी के हाथ में राजनीतिक शक्ति को रखना खतरे से खाली नहीं था। इस परिस्थिति में राजमुकुट द्वारा सत्ता पर अधिकार करना आवश्यक माना गया। फलतः 1858 ई. में लॉर्ड पामर्स्टन ने एक विधेयक इंगलैण्ड की संसद में पेश किया। विधेयक का उद्देश्य

भारत में एक ऐसी प्रशासन-व्यवस्था को प्रारम्भ करना था जो पूर्णतया संसद के प्रति उत्तरदायी हो और दोहरे शासन की जटिल, विवेकरहित और भद्दी प्रक्रिया को समाप्त कर दे। पामर्स्टन मंत्रिमण्डल के पतन के बाद 1858 ई. का अधिनियम, 2 अगस्त, 1858 ई. को साम्राज्ञी की स्वीकृति पाकर लागू किया जा सका।

1858 ई. के अधिनियम की धाराएँ : 1858 ई. के अधिनियम के पारित होने के साथ भारतीय इतिहास में एक नया युग प्रारम्भ हुआ। इस अधिनियम की मुख्य धाराएँ क्रमशः इस प्रकार थीं :

1. भारत का शासन ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हाथ से लेकर ब्रिटिश-क्राउन के हाथ में सौंप दिया गया और यह निश्चय किया गया कि भविष्य में भारत का प्रशासन ब्रिटेन की सम्राज्ञी के नाम से चलेगा।

2. कम्पनी की जल एवं थल सेना को पूर्णतया ब्रिटिश ताज के नियंत्रण में कर दिया गया और उनके कार्य-क्षेत्र, उनकी शर्तें, पद, वेतन, भत्ता, विशेषाधिकार आदि पूर्ववत बना रहेगा।

3. इस अधिनियम के द्वारा बोर्ड ऑफ कंट्रोल, संचालक समिति तथा प्रोप्राइटर्स को समाप्त कर दिया गया और उसके स्थान पर भारत मंत्री का एक नया पद कायम किया गया। कम्पनी के अधीन काम करने वाली सभी संस्थाओं के सारे अधिकार भारत मंत्री के हाथों में आ गये। भारत मंत्री ब्रिटिश मंत्रिमण्डल का सदस्य होता था तथा अन्य मंत्रियों की तरह वह भी ब्रिटिश संसद के प्रति उत्तरदायी था। संसद के सदस्यों द्वारा भारत के सम्बन्ध में पूछे गये प्रश्नों का उत्तर उसे देना पड़ता था। संसद-सदस्य को भारत से सम्बन्धित विधेयक प्रस्तुत करने का अधिकार दिया गया और वे किसी एक पहलू पर मंत्रिमण्डल के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव भी ला सकते थे। भारतीय शासन के निरीक्षण का दायित्व भारत मंत्री को दिया गया। भारत मंत्री का वेतन भारतीय राजस्व से देने का भी निर्णय लिया गया।

4. भारत मंत्री के कार्यों में सहायता प्रदान करने के लिए एक भारत-परिषद की स्थापना की गयी। भारत-परिषद के सदस्यों की संख्या 15 निर्धारित की गयी जिसमें सात सदस्यों का मनोनयन संचालक समिति द्वारा किया जाता और आठ इंगलैण्ड की सरकार द्वारा। 15 सदस्यों में 9 सदस्य ऐसे होने चाहिए जो दस वर्ष भारत में रह चुके हों और भारत से इंगलैण्ड लौटे हुए उन्हें दस वर्ष से अधिक न हुआ हो। परिषद के प्रत्येक सदस्य को भारतीय राजस्व से वेतन देने की व्यवस्था थी।

5. भारतीय परिषद का अध्यक्ष भारत मंत्री होता था और उसे समान मत की स्थिति में निर्णायक मत देने का अधिकार था। भारतीय परिषद् यदि भारत मंत्री के किसी प्रस्ताव पर सहमत न हो तो उस अवस्था में भारत मंत्री को वीटो प्रयोग करने

का अधिकार था और परिषद की राय को रद्द करने के पूर्व उसे एक स्पष्टीकरण देना पड़ता था। भारतीय राजस्व के अनुदान एवं विनियोग के सम्बन्ध में परिषद के बहुमत निर्णय को स्वीकार करना भारत मंत्री के लिए आवश्यक था। इसके अतिरिक्त क्रय-विक्रय, भारतीय सम्पत्ति से सम्बन्धित प्रश्न, अधिकारियों को निदर्शन अथवा कार्यों में भारत मंत्री को भारतीय परिषद के बहुमत को मानना पड़ता था। भारत मंत्री गवर्नर-जनरल के साथ गुप्त पत्र-व्यवहार कर सकता था। गुप्त पत्र-व्यवहार की जानकारी भारतीय परिषद को देना आवश्यक नहीं था।

6. इस अधिनियम के अनुसार पद-नियुक्ति के अनुग्रहाधिकार को सुपरिषद ताज, भारत मंत्री और भारतीय अधिकारियों के बीच बाँट दिया गया। असैनिक सेवाओं में नियुक्ति प्रतियोगिता परीक्षाओं के द्वारा की जाती। इन परीक्षाओं के नियम लोक-सेवा आयोग की सहायता से सपरिषद भारत मंत्री बनाया जायेगा।

7. भारत मंत्री के लिए प्रत्येक वर्ष ब्रिटिश संसद के दोनों सदनों के समक्ष भारत का राजस्व ब्रिटिश संसद के दोनों सदनों की स्वीकृति के बिना भारतीय सीमाओं के बाहर किसी सैनिक कार्य के लिए प्रयुक्त नहीं होगा।

8. इस अधिनियम में यह स्पष्ट कर दिया गया कि भारत राजस्व ब्रिटिश संसद के दोनों सदनों की स्वीकृति के बिना भारतीय सीमाओं के बाहर किसी सैनिक कार्य के लिए प्रयुक्त नहीं होगा।

9. अधिनियम में भारत-परिषद और गवर्नर-जनरल को एक संयुक्त निकाय घोषित किया गया, जो भारत और ब्रिटेन में अभियोग का वादी अथवा प्रतिवादी हो सकता था।

10. भारत में अथवा भारत-मंत्री द्वारा बनाये गये नियमों एवं उपनियमों को हाउस-ऑफ-कॉमन्स के टेबुल पर उपस्थित करना अनिवार्य कर दिया गया।

1858 ई. के ऐक्ट का महत्त्व : 1858 ई. के अधिनियम का आधुनिक भारत के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान है। गुरुमुख निहाल सिंह के अनुसार, इस ऐक्ट ने भारतीय इतिहास के एक अध्याय को बन्द किया और एक नये जमाने की शुरुआत की। इस जमाने में ताज का सीधा नियंत्रण स्थापित हुआ।

1858 ई. के अधिनियम द्वारा कम्पनी के बदले क्राउन के हाथ में सत्ता का हस्तान्तरण मात्र औपचारिकता थी। 1784 ई. में भी पिट्स इण्डिया ऐक्ट के समय से ही भारतीय प्रशासन पर इंगलैण्ड की सरकार का नियंत्रण प्रारम्भ किया जा चुका था और क्रमशः कम्पनी एकाधिकार को कम कर इंगलैण्ड की सरकार का नियंत्रण बढ़ाया जाने लगा था। 1858 ई. में भी भारतीय प्रशासन ब्रिटिश संसद द्वारा बनाये गये नियमों के आधार पर चलना था। जॉन स्टूअर्ट मिल ने लिखा है कि—"अंगरेजी सरकार के पास [illegible] निर्णायक शक्ति थी और भारत [illegible] जो कुछ [illegible]

सत्ता उनका उत्तरदायित्व उस पर ही है।" गवर्नर-जनरल पहले भी नाम के लिए ही कम्पनी के अधीन था। वस्तुतः वह ब्रिटिश मंत्रिमण्डल के प्रति अधिक उत्तरदायी था। निदेशक की अधिकार शक्ति तो 1858 ई. के पूर्व नाममात्र के लिए रह गयी थी।

कम्पनी का प्रशासन सम्बन्धी अधिकार चार्टर ऐक्टों के द्वारा पहले ही कम कर दिया गया था। भारतीय प्रदेशों और राजस्व पर राजमुकुट की प्रभुसत्ता धीरे-धीरे बढ़ती गयी। रेम्जे म्यूर ने ठीक ही कहा था कि–"वह (कम्पनी) एक अनावश्यक पाँचवें पहिए के समान थी" अथवा यह भी कह सकते हैं कि कम्पनी एक राजनीति सत्ता के रूप में बहुत पहले मर चुकी थी केवल उसकी खाल को जीवित-सा मान कर संभाला हुआ था।

भारतीय प्रशासन पर संसद का नियंत्रण स्थापित हो जाने से ब्रिटिश सांसदों की अभिरुचि धीरे-धीरे घट गयी। सत्ता स्थापित होने के पूर्व वे भारतीय प्रश्नों के बारे में अधिक चर्चा करते थे। परन्तु अधिकार स्थापित हो जाने के बाद वे भारतीय समस्याओं के प्रति उपेक्षा का भाव रखने लगे। भारतीय प्रशासन-व्यवस्था की सारी जिम्मेदारी भारत मंत्री, गवर्नर-जनरल और अन्य अधिकारियों के हाथों में सौंप दी गयी। ये सभी सांसदों की तुलना में अधिक योग्य और अनुभवी थे। अतः भारतीय विषयों की चर्चा के समय ब्रिटिश संसद में अधिकांश सदस्य उपस्थित भी नहीं रहते थे। रेल, तार, डाक की आधुनिक व्यवस्था के कारण भारतीय घटनाओं की सूचना शीघ्र ही इंगलैण्ड पहुँच जाती थी और उसमें हस्तक्षेप करना विशेष लाभदायक नहीं समझा जाता था।

1858 ई. के अधिनियम के अनुसार, कम्पनी को भारत में साम्राज्य स्थापित करने में जो कुछ खर्च हुआ था अथवा जो ऋण लिया गया था, उसका सारा भार भारत के राजस्व पर लाद दिया गया। कम्पनी को मुआवजा नहीं दिया गया जो उपनिवेशवाद या साम्राज्यवाद के इतिहास में भी एक अद्वितीय चीज थी।

भारत मंत्री वस्तुतः बोर्ड ऑफ कंट्रोल का दूसरा नाम था। नौकरशाही की व्यवस्था पूर्ववत् कायम रही और सारा व्यय भारतीय राजस्व को वहन करना पड़ता था। इस प्रकार भारत की स्थिति पूर्ववत् बनी रही और अन्तर केवल नाममात्र का ही रहा।

इस प्रकार 1757 ई. से 1857 ई. के बीच ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अधीन एक प्रशासनिक ढाँचे का विकास किया गया। क्लाइव, वारेन हेस्टिंग्स, लॉर्ड कॉर्नवालिस, विलियम बेन्टिंक और लॉर्ड डलहौजी के प्रयासों के फलस्वरूप कम्पनी का प्रशासन सुसंगठित हो चुका था, यद्यपि इसमें अभी भी अनेक खामियाँ थीं। वारेन हेस्टिंग्स से लेकर लॉर्ड डलहौजी के शासनकाल तक जितने भी कानून बनाये गये



उन कानूनों ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी और उसके भारतीय प्रशासन को पूरी तरह ब्रिटिश सरकार के अधीन कर दिया। साथ ही इस बात को भी स्वीकार किया गया कि भारत के दिन-प्रतिदिन के शासन को इंगलैण्ड से नहीं चलाया जा सकता था, यहाँ तक कि उसकी देखरेख भी सम्भव नहीं थी। इसलिए गवर्नर-जनरल को अपनी काउन्सिल की सहायता से सर्वोच्च सत्ता को काम में लाने का अधिकार दिया गया। गवर्नर-जनरल ही भारत का वास्तविक और प्रभावकारी शासक बन गया था। वह ब्रिटिश सरकार की देखरेख, नियंत्रण तथा मार्गदर्शन के अन्तर्गत काम करता था। भारतीयों को अपने ऊपर प्रशासन में कोई हिस्सा नहीं दिया गया था। जहाँ तक भारत का सम्बन्ध था, तीन प्रकार के सत्ता के केन्द्र थे—कम्पनी का निदेशक मण्डल, ब्रिटिश सरकार का प्रतिनिधित्व करने वाली बोर्ड ऑफ कंट्रोल और गवर्नर-जनरल। इनमें से किसी के साथ भारतीय का दूर का या किसी भी हैसियत से सम्बन्ध नहीं होता था। अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अंगरेजों ने प्रशासन की एक नयी व्यवस्था कायम की थी। किसी भी देश की प्रशासनिक व्यवस्था का मुख्य उद्देश्य उसके शासकों के लक्ष्यों और उद्देश्यों को पूरा करना होता है। अंगरेजों का मुख्य उद्देश्य ईस्ट इण्डिया कम्पनी से लेकर लंकाशायर के विनिर्माताओं तक विभिन्न ब्रिटिश हितों के अधिकतम लाभ के लिए भारत का आर्थिक दृष्टि से शोषण करने में समर्थ होना था। साथ ही भारत को अपने आप पर विजय और विदेशी शासन के ऊपर खर्च को उठाने में समर्थ बनाना था।

7

ब्रिटिश शासन और भारतीय अर्थ-व्यवस्था आर्थिक परिवर्त्तन

भारत में ब्रिटिश शासन की स्थापना का प्रभाव न केवल भारत के राजनीतिक एवं सामाजिक जीवन पर पड़ा बल्कि आर्थिक जीवन भी प्रभावित हुआ। भारतीयों के लिए अंगरेजों का शासन अन्य विदेशी शासनों से सर्वथा भिन्न था। अंगरेजों के आने के पहले भी अनेक विदेशी आक्रमणकारी भारत आए और उन्होंने भारत को ही अपना निवास-स्थान बना लिया था। साथ ही उन्होंने अपने आपको भारतीय सामाजिक तथा आर्थिक ढाँचे के अनुसार ढाल लिया था। अंगरेजों और अन्य विदेशी आक्रमणकारियों में एक और अन्तर था। भारत में अंगरेजों से पहले कोई ऐसा विदेशी शासक नहीं आया जिसका आर्थिक केन्द्र भारत या भारत से बाहर था, जो प्रारम्भ में अन्त तक भारत में विदेशी ही बना रहा और जिसने भारत की समस्याओं को भारतीय दृष्टिकोण से सुलझाने का प्रयास नहीं किया। अंगरेज शासकों ने अपनी आवश्यकताओं और स्वार्थों से प्रेरित होकर ऐसी आर्थिक नीति अपनाई जिसके परिणामस्वरूप साधन-सम्पन्न भारत दरिद्रता, अकाल, महामारी और बेरोजगारी का देश हो गया। अंगरेजों की आर्थिक नीतियों के परिणामस्वरूप भारत की सम्पदा का निष्कासन हुआ और परम्परागत उद्योग-धन्धों का विनाश हुआ। उन्होंने एक नई भूमि-व्यवस्था कायम की जो आम भारतीयों के लिए कष्टदायक एवं उत्पीड़क साबित हुई। ब्रिटिश शासकों ने भारत की पुरानी अर्थ-व्यवस्था को छिन्न-भिन्न कर दिया था। इसमें सन्देह नहीं कि भारत की पुरानी अर्थ-व्यवस्था अधिक समय तक टिक नहीं पाती। विश्व में बढ़ते हुए पूँजीवाद का प्रभाव भारत की अर्थ-व्यवस्था पर पड़ना स्वाभाविक और अवश्यम्भावी था। लेकिन भारत के आर्थिक ढाँचे में जो परिवर्त्तन लाया गया, वह स्वाभाविक न होकर उस पर थोपा गया था। पंडित जवाहरलाल नेहरू के अनुसार, ''भारत विश्व बाजार का एक अंग नहीं बन पाया पर वह अंगरेजी ढाँचे का एक औपनिवेशिक एवं सांस्कृतिक उपांग अवश्य बन गया।''

भारत प्राकृतिक साधन की दृष्टि से एक सम्पन्न राष्ट्र था। अंगरेजों के आने के पहले बाहर से जितने विदेशी आक्रमणकारी आये, वे या तो सम्पत्ति लूटकर चलते बने अथवा साम्राज्य की स्थापना कर भारत को ही अपना निवास-स्थान बना लिया। मध्यकाल तक भारत की आर्थिक स्थिति में चढ़ाव-उतार के बावजूद कोई क्रान्तिकारी परिवर्त्तन दिखाई नहीं पड़ता है। विदेशी शासक अधिकतर नगरों में रहते थे और भारत के ग्रामीण-जीवन एवं अर्थ-व्यवस्था पर उनका प्रभाव नाममात्र के लिए पड़ा था। जो बड़े उद्योग-धन्धों पर ही निर्भर करते थे। वाणिज्य-व्यापार का प्रभाव भी शहरों तक ही सीमित था। साधारणतः भारत का प्रत्येक गाँव सवावलम्बी और स्वशासित था। ग्रामवासियों को शहरों पर बहुत कम निर्भर करना पड़ता था। वे बाहरी संसार के प्रभाव से मुक्त थे। आवश्यकता की वस्तुएँ गाँवों में ही उत्पन्न कर ली जाती थीं। गावों में कृषि के साथ-साथ अनेक उद्योग-धन्धों जैसे कपड़ा तैयार करने, मिट्टी के बरतन बनाने, धातु (लोहा, सोना, पीतल, ताँबा) के सामान बनाने, कृषि में प्रयुक्त होनेवाले तथा अन्य घरेलू उपकरण बनाने, लकड़ी, चमड़ा, तेल तैयार करने के उद्योगों को विकसित किया गया था। केवल नमक और लोहा के लिए ग्रामीणों को बाहर का मुँह जोहना पड़ता था। गाँवों में पेशेवर लोग रहते थे। सभी पेशेवर परिवारों को ग्रामीण उपज का एक अंश मिलता था। ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था का स्वरूप सन्तुलित था।

ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था की तुलना में भारतीय नगरों की स्थिति सर्वथा भिन्न थी। धार्मिक, राजनीतिक एवं व्यापारिक तीन तरह के नगर थे। बनारस, दिल्ली, आगरा, लाहौर, सूरत, भड़ौंच जैसे शहरों में बड़े उद्योगों का विकास हुआ था। इन नगरों में हस्तकला का स्वरूप विकसित अवस्था में था। इन नगरों में उत्तम प्रकार के वस्त्र, सोने के आभूषण, पत्थर और चीनी मिट्टी के सामान तथा हाथी-दाँत के सामान तैयार किये जाते थे। भारतीय वस्त्र, पत्थर एवं धातु के सामान, चीनी मिट्टी के बरतन, हाथी-दाँत के सामान की मांग विदेशों में अधिक थी। युद्ध के सामान, मन्दिर तथा मस्जिद के निर्माण एवं राजप्रसाद बनाने के काम से रोजगार मिल जाता था। भारतीय कारीगरों की कुशलता एवं प्रवीणता अन्तराष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कर चुकी थी। संक्षेप में, भारतीय ग्राम और नगर धन से परिपूर्ण माने जाते थे। भारत की सम्पदा, समृद्धि और विदेशों में भारतीय वस्तुओं की बढ़ती हुई मांग के कारण ही उससे लाभ कमाने की आशा में यूरोपीय व्यापारिक कम्पनियाँ भारतीय व्यापार की ओर आकर्षित हुई थीं। पुर्तगाली, डच, फ्रांसीसी तथा अंगरेज भारत में व्यापार करने आये और उन्होंने भारतीय व्यापार पर एकाधिपत्य स्थापित करना चाहा। फलस्वरूप उनमें संघर्ष प्रारम्भ हुआ और इस संघर्ष में अन्ततः अंगरेज ही सफल हुए।

1600 ई. से 1757 ई. के बीच भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी की भूमिका एक व्यापारिक निगम की थी। भारतीय व्यापार से धन कमाने के लोभ में ही अंगरेज

यहाँ व्यापार करने आये थे। उनका मुख्य उद्देश्य भारतीय व्यापार से अधिक-से-अधिक मुनाफा कमाना था। कैप्टन हॉकिन्स इसी उद्देश्य से भारत आया था। 1613 ई. में मुगल बादशाह जहाँगीर ने अंगरेजों को सूरत में व्यापारिक कोठी स्थापित करने की आज्ञा दी थी। बाद में सर टॉमस रो ने अंगरेजों के लिए अधिक व्यापारिक सुविधाएँ प्राप्त कीं। अंगरेजों को भारत में स्वतंत्र व्यापार करने और व्यापारिक कोठियाँ खोलने का अधिकार मिला। शाहजहाँ ने अंगरेजों को बंगाल में बिना चुंगी दिए व्यापार करने का अधिकार दिया। इन व्यापारिक सुविधाओं का लाभ उठाकर अंगरेजों ने अपने व्यापार का क्षेत्र अधिक विस्तृत कर लिया। ईस्ट इण्डिया कम्पनी बाहर से वस्तुएँ तथा बहुमूल्य धातुएँ लाती थी और उनका विनिमय कपड़ों, मसालों आदि भारतीय वस्तुओं से करती थी और फिर उन्हें विदेशों में जाकर बेचती थी। कम्पनी को मुनाफा भारतीय वस्तुओं को विदेशों में बेचने से मिलता था। अतएव कम्पनी ने अधिक मुनाफा कमाने के लिए दो कार्य किए—एक तो विदेशों में भारतीय वस्तुओं के लिए नए बाजार खोलने की कोशिश की और दूसरे भारतीय वस्तुओं के उत्पादन को प्रोत्साहित किया। कम्पनी की इस नीति से भारत की आर्थिक समृद्धि बढ़ी। यही कारण था कि भारतीय शासकों ने कम्पनी के व्यापार और कारखानों की स्थापना पर प्रतिबन्ध लगाने के बजाय उन्हें संरक्षण और सुविधाएँ प्रदान कीं।

अंगरेजों ने धीरे-धीरे भारतीय राजनीति में प्रवेश कर राजनीतिक सत्ता स्थापित करने में सफलता प्राप्त की। साम्राज्य की स्थापना के बाद वे अपनी आर्थिक आवश्यकताओं के अनुसार भारत के आर्थिक ढाँचे को बदलने का प्रयास किया। कम्पनी शासन के पूर्व और प्रारम्भिक काल में भारत के व्यापारिक विकास में तीव्रता आयी थी और भारत में तैयार वस्तुओं की माँग विश्व में बढ़ गयी थी। उदाहरण के लिए, ढाका की मलमल, मुर्शिदाबाद का रेशमी और ऊनी शाल, कश्मीर का गलीचा, बनारस की जरी आदि यूरोप के बाजारों में अधिक प्रचलित थे। कम्पनी भारत से इन वस्तुओं को इकट्ठा कर यूरोप के बाजारों में बेचती थी और माल एकत्र करने के लिए अंगरेजों ने जगह-जगह कारखाना खोल रखा था। विदेश से सोना-चाँदी भारत आने लगा और भारत बहुमूल्य धातुओं का भण्डार बन गया। एडवर्ड टेरी, सर टॉमस रो आदि विदेश से सोना-चाँदी भारत आने लगा और भारत बहुमूल्य धातुओं का भण्डार बन गया। एडवर्ड टेरी, सर टॉमस रो आदि विदेशी यात्रियों ने भारत की अतुल सम्पत्ति की चर्चा अपने यात्रा-विवरण में की है। भारतीय वस्त्रों की लोकप्रियता इंगलैण्ड के बाजारों में काफी बढ़ गयी थी। पहनावे के फैशन में परिवर्तन हुआ और हल्के सूती कपड़ों ने अंगरेजों के मोटे ऊनी कपड़ों का स्थान लेना आरम्भ कर दिया। धीरे-धीरे ब्रिटिश विनिर्माताओं में अपने वस्त्रउद्योग की गिरती हुई अवस्था से चिन्ता उत्पन्न हुई। इस स्थिति का वर्णन डेफो ने अपने प्रसिद्ध उपन्यास राबिन्सन क्रूसो

में इस प्रकार किया है। ''भारतीय कपड़ा हमारे घरों, आलमारियों और सोने के कमरों में घुस गया है; परदे, गद्दे, कुर्सियाँ और अन्त में, बिस्तर के रूप में और कुछ नहीं बल्कि या भारतीय सामान है।'' अतएव इंगलैण्ड के वस्त्र-उद्योगपतियों ने इंगलैण्ड में भारतीय वस्तुओं की बिक्री को नियंत्रित करने और उन पर पाबन्दी लगाने के लिए अपनी सरकार पर दबाव डालना प्रारम्भ किया। बाध्य होकर इंगलैण्ड की सरकार को अंगरेजी वस्त्र-उद्योग के लिए सुरक्षात्मक नीति अपनानी पड़ी। इस प्रकार भारत से निर्यात की वस्तुओं पर प्रतिबन्ध लगाने का काम अंगरेजों ने प्रारम्भ किया। इंगलैण्ड में औद्योगिक क्रान्ति के बाद वस्त्र का उत्पादन अधिक मात्रा में होने लगा था। परन्तु भारतीय वस्त्रों के अनुपात में इंगलैण्ड में निर्मित वस्त्रों की खपत नहीं हो पाती थी। अतः भारतीय माल के आयात पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए इंगलैण्ड में जोरदार आन्दोलन चला। कम्पनी के अधिकारियों के द्वारा भारत की ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था एवं नगरीय शिल्पकला को नष्ट करने की भरपूर चेष्टा की गयी। कार्ल मार्क्स ने लिखा है कि अंगरेजों ने भारतीय चरखे और करघे को तोड़ डाला और अपने देश में तैयार सूत कपड़ों को भारत में बेचने के लिए छल, बल एवं सत्ता का प्रयोग किया। भारत में मुक्त व्यापार की नीति लागू की गयी। भारतीय माल पर चुंगी की दर बढ़ा दी गयी और यातायात के साधनों को विकसित कर विदेशी वस्त्रों से भारत के बाजारों को भर दिया गया। भारतीय कच्चा माल विदेश जाने लगा और भारतीय शिल्पियों को व्यापारिक रहस्य बताने के लिए बाध्य किया गया। भारत का निर्यात घट गया और विदेश से आने वाली वस्तुओं का आयात बढ़ गया। भारत आकर अंगरेज चाय, कॉफी, नील पटसन आदि की खेती करने लगे। भारतीय साधनों के सहारे अंगरेजों ने अच्छी भूमि पर आधिपत्य कायम कर तथा कम मजदूरी देकर खेती एवं बागवानी का काम अपने लाभ के लिए प्रारम्भ किया। कृषि मुद्रा अर्जित करने का साधन बन गयी और अंगरेजी पूँजी भारतीय अर्थतंत्र पर छा गयी। भारत का धन बाहर जाने लगा और वही धन भारत को ऋण के रूप में दिया जाने लगा तथा ब्याज के कुचक्र में भारत पर ऋण का भार बढ़ता गया। भारतीय प्रशासन का खर्च भारत से ही वसूल किया जाता था। अधिकारियों को पेंशन भारत के साधनों से ही दी जाती थी।

इंगलैण्ड में भारतीय वस्तुओं के आयात पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए ब्रिटिश सरकार को कई कानून भी बनाने पड़े। 1700 ई. में सरकार ने एक कानून बनाकर इंगलैण्ड में विदेशी वस्त्रों के प्रयोग पर पाबन्दी लगा दी। 1702 ई. में विदेशी सूती वस्त्रों पर 15% शुल्क लगा दिया गया। यह प्रतिबन्ध केवल छींट एवं रंगीन सूती कपड़े पर ही था। इसलिए श्वेत सूती वस्त्र पहले की तरह व्यवहार में आते रहे। 1720 ई. में सूती वस्त्र पहननेवालों और उसके विक्रेताओं के लिए क्रमशः 5 और 20 पौण्ड जुर्माने की रकम निश्चित की गयी। 1760 ई. में एक महिला को 200

पौण्ड जुर्माने के रूप में देना पड़ा, क्योंकि उसके पास एक विदेशी रूमाल था। इन कानूनों के कारण इंगलैण्ड में भारतीय वस्त्र की मांग कम हो गयी थी, फिर भी इसका प्रचलन पूरी तरह बन्द नहीं हुआ था। हॉलैण्ड को छोड़कर यूरोप के अन्य देशों में भी भारतीय वस्त्रों के आयात पर पाबन्दी लगा दी गयी थी अथवा भारी आयात शुल्क लगा दिया गया था। लेकिन इन कानूनों के बावजूद भारतीय रेशमी और सूती कपड़े अठारहवीं सदी के मध्य तक विदेशी बाजारों में जमे रहे। अठारहवीं सदी के मध्य में ब्रिटिश सूती कपड़ा उद्योग नयी और उन्नत टेक्नोलोजी के आधार पर विकसित होने लगा। जब अंगरेजों ने भारत से तैयार माल मंगाने की अपेक्षा भारत से कच्चे माल का आयात करना प्रारम्भ किया। उन्होंने कच्चे माल की सहायता से अनेक उद्योगों को विकसित करने तथा भारतीय उद्योग-धन्धों को नष्ट करने की नीति अपनाई। बंगाल में राजनीतिक सत्ता की स्थापना के पश्चात् ईस्ट इण्डिया कम्पनी की आर्थिक नीति में भी महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। 1757 ई. से 1857 ई. के बीच अंगरेजी आर्थिक नीति मुख्य रूप से कम्पनी के व्यापारिक एकाधिकार, मुक्त व्यापार और भारत में ब्रिटेन-नियंत्रित उद्योगों की स्थापना से सम्बन्धित रही।

1757 ई. में पलासी के युद्ध के बाद भारत के साथ ईस्ट इण्डिय कम्पनी के व्यापारिक सम्बन्धों में गुणात्मक परिवर्त्तन आया। अब कम्पनी बंगाल में अपनी राजनीतिक सत्ता का उपयोग अपने भारतीय व्यापार को बढ़ाने और अपने साम्राज्य के विस्तार के लिए कर सकती थी। इसके अतिरिक्त, कम्पनी बंगाल के राजस्व का इस्तेमाल भारतीय वस्तुओं के निर्यात का खर्च पूरा करने के लिए कर सकती थी। अब कम्पनी ने भारतीय व्यापार का एकाधिकार स्थापित करने का निश्चत किया और शीघ्र ही कम्पनी के अधिकारियों ने इस दिशा में कदम उठाया। कम्पनी ने अपनी राजनीतिक शक्ति का इस्तेमाल बंगाल के बुनकरों पर अपनी शर्तें लादने के लिए किया। कम्पनी के द्वारा भारतीय विनिर्माताओं को प्रोत्साहन नहीं दिया गया। बंगाल के बुनकरों को अपनी वस्तुएँ सस्ती दरों एवं कम्पनी द्वारा निश्चित कीमत पर बेचने के लिए बाध्य किया गया। श्रमिकों को कम मजदूरी कम कम्पनी के लिए काम करने को विवश किया गया। उन्हें भारतीय उद्योगपतियों और व्यापारियों के यहाँ काम करने से रोक दिया गया। इस आदेश का उल्लंघन करनेवालों को दण्डित किया जाता था। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने अपने प्रतिद्वन्द्वी भारतीय एवं विदेशी व्यापारियों को मैदान से हटा दिया और उन्हें बंगाल के दस्तकारों को अधिक मजदूरी या कीमत देने से रोक दिया। इतना ही नहीं, कम्पनी के कर्मचारियों ने कपास की बिक्री पर एकाधिकार कायम कर लिया और बंगाल के बुनकरों को ज्यादा कीमत चुकाने के लिए विवश किया। कम्पनी की इस नीति से बुनकरों को खरीददार और बिक्रेता दोनों ही रूप में नुकसान सहना पड़ता था। एक ओर ब्रिटिश सरकार अंगरेजी वस्त्र-उद्योग

की सुरक्षा के लिए इंगलैण्ड में आयातित भारतीय वस्त्रों पर अधिक शुल्क लगाकर अपने उद्योग को संरक्षण प्रदान कर रही थी तो दूसरी ओर कम्पनी के कर्मचारी निजी व्यापार कर रहे थे। यह एक विषम परिस्थिति थी। बंगाल के नवाब निःसहाय होकर इन घटनाओं को देख रहे थे, लेकिन इन्हें रोकने का उनके पास कोई उपाय नहीं था।

ब्रिटिश सरकार अपने उदीयमान मशीन उद्योग की रक्षा के लिए कृतसंकल्प थी। प्रतिकूल परिस्थितियों के बावजूद भी उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भिक चरण तक बंगाल का गृह-उद्योग पूरी तरह नष्ट नहीं हो पाया था। अभी भी भारतीय उत्पादन की मांग कुछ बाजारों में थी। ब्रिटिश मशीनी उद्योग के उत्पादन सस्ते और बेहतर भारतीय वस्तुओं के मुकाबले में टिक नहीं पाते थे। लेकिन भारतीय हस्तकला उद्योग को तब अधिक क्षति पहुँची जब वह विदेशी बाजारों के साथ-साथ अपने भारतीय बाजारों को भी खो दिया। भारत में अंगरेजी आर्थिक नीति इंगलैण्ड में प्रचलित विचारधाराओं से और अंगरेजों के आर्थिक हितों से प्रभावित थी। इंगलैण्ड से मुक्त व्यापार और औद्योगिक प्रगति का प्रभाव था। फलस्वरूप अंगरेजी सरकार भारत में अधिक-से-अधिक उत्पादित वस्तुओं का आयात और कच्चे माल का निर्यात करना चाहती थी। अठारहवीं सदी में इंगलैण्ड के उद्योगों को सुरक्षित रखने के लिए भारत द्वारा निर्मित वस्तुओं के इंगलैण्ड में आयात पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया था। लेकिन 19वीं सदी में कम्पनी के व्यापार का स्वरूप बदला। 1813 ई. के चार्टर ऐक्ट के द्वारा भारत का व्यापार (चाय व्यापार को छोड़कर) मुक्त कर दिया गया और इंगलैण्ड के सामान्य व्यापारियों को भारत से व्यापार करने की पूरी छूट दे दी गई। इसका एक ओर यह प्रभाव हुआ कि भारत में इंगलैण्ड से उत्पादित वस्तुओं का आयात बढ़ा और दूसरी ओर भारत में निर्मित वस्त्रों तथा कुटीर उद्योगों की वस्तुओं के निर्यात में भारी कमी आ गई। इसके स्थान पर कच्चे माल का निर्यात बढ़ा। उदाहरण के लिए 1794 ई. में भारत में आयात किए गए उत्पादित वस्त्रों का मूल्य केवल 156 पौण्ड था जो 1813 ई. में घटकर एक लाख दस हजार पौण्ड का हो गया। 1814 ई. में इंगलैण्ड से केवल 8 लाख गज के लगभग कपड़ा आयात किया जाता था। 1835 ई. में यह मात्रा 5 करोड़ 17 लाख गज से अधिक हो गई। इसके विपरीत, 1814 ई. में 12½ लाख हजार गज कपड़ा भारत से निर्यात किया जाता था तो 1835 ई. से घटकर केवल 3 लाख गज रह गया। स्पष्ट है कि भारतीय गृह-उद्योग धीरे-धीरे अपने बाजारों को खोता जा रहा था।

अंगरेजों की नीति में इस परिवर्तन के अनेक कारण थे। ब्रिटेन की औद्योगिक क्रान्ति ने ब्रिटिन की अर्थ-व्यवस्था और भारत के साथ उसके आर्थिक सम्बन्धों को पूरी तरह परिवर्तित कर दिया था। अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और उन्नीसवीं

शताब्दी के पहले कुछ दशकों के दौरान ब्रिटेन में सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन हुए। ब्रिटिश उद्योग आधुनिक मशीनों, कारखाना-प्रणाली और पूँजीवाद के आधार पर विकसित हुआ और उसका तेजी से विस्तार भी हुआ। ब्रिटेन ने व्यापार का औपनिवेशिक ढाँचा विकसित कर लिया था जिससे औद्योगिक क्रान्ति को सहायता मिली। यह ढाँचा ऐसा था कि उपनिवेश और अर्द्ध-विकसित देश इंगलैण्ड को कृषिजन्य तथा खनिज कच्चे माल निर्यात करते थे जबकि इंगलैण्ड उन्हें तैयार माल बेचता था। इंगलैण्ड के औद्योगिक पूँजीपति तथा उत्पादक वर्ग ने कम्पनी को अपनी आर्थिक नीति में परिवर्त्तन करने के लिए बाध्य किया। उनकी दिलचस्पी भारत से आयातित वस्तुओं में नहीं थी, बल्कि वे अपने मालों को बेचने के लिए बाजार चाहते थे तथा अपने उद्योगों को चलाने के लिए कच्चा माल चाहते थे। वे ईस्ट इण्डिया कम्पनी, पूर्वी व्यापार पर उसके एकाधिकार और भारत के राजस्व तथा निर्यात व्यापार पर नियंत्रण के जरिए भारत के शोषण के तरीकों को अपने सपनों को साकार होने के मार्ग में प्रमुख अवरोधक मानते थे। अतएव उन्होंने 1793 ई. और 1813 ई. के बीच ईस्ट इण्डिया और उसके विशेषाधिकारों के विरुद्ध जबर्दस्त आन्दोलन चलाया और भारतीय व्यापार पर कम्पनी के एकाधिकार को समाप्त करवाने में सफलता प्राप्त की। सरकार को मुक्त व्यापार की नीति अपनाने के लिए बाध्य किया गया। इसके साथ ही भारत और ब्रिटेन के आर्थिक सम्बन्धों में नया दौर प्रारम्भ हुआ। मुक्त व्यापार की नीति के फलस्वरूप कृषि-प्रधान भारत को औद्योगिक इंगलैण्ड का आर्थिक उपनिवेश बना दिया गया।

भारत सरकार ने मुक्त व्यापार की नीति अपनायी। इस नीति के फलस्वरूप ब्रिटिश वस्तुओं को भारत में बेरोकटोक प्रवेश की अनुमति दी जाती थी। मुक्त व्यापार की नीति भारतीय उद्योगों के लिए घातक साबित हुई। भारतीय दस्तकारियों को ब्रिटेन के मशीनी उत्पादनों की भयंकर एवं असमान प्रतिद्वन्द्विता का मुकाबला करना पड़ा और उनके सामने उनके अस्तित्व की समाप्ति का खतरा आ गया। अब ब्रिटेन में निर्मित वस्तुएँ निःशुल्क अथवा नाममात्र के सीमा-शुल्क पर भारत में आने लगी। भारत सरकार ने नये क्षेत्रों पर अधिकार करने तथा अवध जैसे संरक्षित राज्यों पर सीधा कब्जा करने की नीति अपनाकर ब्रिटिश वस्तुओं के उपभोक्ताओं की संख्या बढ़ाने की कोशिश की। अनेक ब्रिटिश अधिकारियों, राजनीतिज्ञों एवं व्यवसायियों ने भूराजस्व में कमी की सलाह दी जिससे भारतीय किसान विदेशी वस्तुओं को खरीदने में समर्थ हो सकें। उन्होंने भारत को आधुनिक बनाने की भी सलाह दी जिससे अधिकाधिक भारतीयों में ब्रिटिश वस्तुओं की खरीद के लिए रुचि उत्पन्न हो सके। भारतीय दस्तकारी की वस्तुएँ ब्रिटिश मिलों में निर्मित सस्ती वस्तुओं का मुकाबला करने में असमर्थ थी। ब्रिटिश कारखानों में नवीन आविष्कारों के प्रयोग और

भाप शक्ति के व्यापक इस्तेमाल से उत्पादक क्षमता बढ़ायी जा रही थी। ऐसी स्थिति में भारतीय हितों से प्रतिबद्ध सरकार ही भारतीय उद्योगों को ऊँचे सीमा-शुल्कों की दीवार खड़ी करके बचा सकती थी। लेकिन ब्रिटिश शासक अंग्रेजी हितों से प्रभावित थे। उन्होंने भारतीय उद्योगों को कोई सुरक्षा प्रदान नहीं, उल्टे विदेशी वस्तुओं के प्रवेश के लिए भारत के दरवाजे खोल दिए।

एक ओर भारत के दरवाजे विदेशी वस्तुओं के प्रवेश के लिए खोल दिए गए थे, दूसरी ओर भारतीय वस्तुओं पर ब्रिटेन में प्रवेश करने पर भारी शुल्क लगा दिए गए थे। भारी शुल्क के कारण भारतीय वस्तुओं की कीमत बहुत चढ़ जाती थी। फलस्वरूप विदेशों में भारतीय वस्तुओं की मांगें घट गई। 1824 ई. में भारतीय केलिको पर 62. 1/2 प्रतिशत और भारतीय मलमल पर 37. 1/2 प्रतिशत शुल्क लगाया गया था। ब्रिटेन में प्रवेश करने पर भारतीय चीनी पर जो शुल्क देना पड़ता था, वह लागत-कीमत के तिगुने से भी अधिक थी। कुछ परिस्थितियों में तो इंगलैण्ड में 400 प्रतिशत शुल्क लगाया गया था। ऐसे निषेधात्मक आयात शुल्कों और मशीनी उद्योगों के फलस्वरूप विदेशों में निर्यात की जाने वाली भारतीय वस्तुओं में कमी हुई। ब्रिटिश इतिहासकार एच.एच. विल्सन ने ब्रिटिश व्यापारिक नीति के अनौचित्य को इन शब्दों में व्यक्त किया है, "......इस काल तक भारत की सूती और रेशमी वस्तुएँ ब्रिटिश बाजार में इंगलैण्ड की बनी वस्तुओं की अपेक्षा 50 से 60 प्रतिशत कीमतों पर बेचकर मुनाफा प्राप्त कर सकती थी। फलस्वरूप यह जरूरी हो गया कि ब्रिटिश वस्तुओं के संरक्षण के लिए भारतीय वस्तुओं के मूल्य पर 70 से 80 प्रतिशत शुल्क लगाए जायें या उनके आयात पर पाबन्दी लगा दी जाय। अगर यह स्थिति नहीं होती और इस प्रकार के निषेधात्मक शुल्क नहीं लगाए गए होते तथा आज्ञाप्तियाँ नहीं होतीं तो पेस्ले और मेनचेस्टर की मिलें आरम्भ में ही बन्द हो गयी होती। उनका निर्माण भारतीय विनिर्माण के बलिदान से हुआ। अगर भारत स्वतंत्र होता तो उसने बदले की कार्रवाई की होती, ब्रिटिश वस्तुएँ उसके ऊपर लाद दी गयी; विदेशी विनिर्माताओं ने राजनीतिक अन्याय का सहारा एक ऐसे प्रतिद्वन्द्वी को दबाने और अन्ततोगत्वा दबोच देने के लिए लिया जिसके मुकाबले में वह समान शर्तों पर नहीं टहर सकता था। अब भारत को तैयार माल निर्मात करने के बदले कपास, कच्चा रेशम, अफीम, नील, चाय तथा अनाज निर्यात करने के लिए विवश किया गया। कच्चा माल ब्रिटिश उद्योगों को चलाने के लिए अत्यन्त आवश्यक था। 1856 ई. में भारत से 43,00,000 पौण्ड मूल्य का कपास, 8,10,000 पौण्ड मूल्य का कपड़ा, 29,00,000 पौण्ड मूल्य का अनाज, 17,30,000 पौण्ड मूल्य का नील और, 7,70,000 पौण्ड मूल्य का कच्चा रेशम निर्यात किया गया था। इस प्रकार 1813 ई. के बाद ईस्ट इण्डिया कम्पनी की व्यापारिक नीति ब्रिटिश उद्योगों की जरूरतों के

अनुकूल रखी और चलाई गई। उसका मुख्य लक्ष्य भारत को ब्रिटिश तैयार माल के उपभोक्ता और कच्चे माल के संभरक के रूप में बदल देना था।

1. सम्पदा का निष्कासन

अंगरेजों की आर्थिक नीति का सबसे घातक प्रभाव जो भारतीय अर्थ-व्यवस्था पर पड़ा वह था भारतीय पूँजी और अन्य वस्तुओं का भारत से बाहर इंगलैण्ड में जाना और उसके बदले में भारत को कुछ भी प्राप्त नहीं होना। दूसरे शब्दों में भारतीय सम्पदा का निष्कासन हुआ। ईस्ट इण्डिया कम्पनी की नीति से बंगाल और बिहार के कुटीर उद्योगों का अठारहवीं सदी के अन्त तक प्रायः पतन हो चुका था। 1813 ई. के पश्चात् इंगइलैण्ड के निजी व्यापारियों को भारत से व्यापार की खुली छूट और औद्योगिक प्रगति के फलस्वरूप भारत के शेष भाग के कुटीर उद्योग भी अंगरेजी नीति एवं निर्मित वस्तुओं (विशेषकर कपड़ा) के आयात के सामने नहीं ठहर सके। इस प्रकार अठारहवीं सदी में उत्तम प्रकार की निर्मित वस्तुओं को इंगलैण्ड का निर्यात करनेवाला भारत अब आर्थिक विकास में पीछे पड़ता चला गया। भारत के इस आर्थिक पिछड़ेपन के लिए प्रमुख कारण अंगरेजी सरकार की वह आर्थिक नीति थी जिसके अनुसार धन निष्कासन करके भारत को निर्धन बना दिया गया। धन-निष्कासन के कारण भारत में पूँजी का संचय नहीं हो सका। भारत को औपनिवेशिक अर्थ-व्यवस्था के साथ जोड़ दिया गया और इंगलैण्ड में निर्मित वस्तुओं को भारत के बाजारों में अत्यधिक संख्या में भेजना आरम्भ हुआ जिससे यहाँ औद्योगिक विकास की आवश्यकता ही न हो। भारत से कच्चा माल के निर्यात को बढ़ावा दिया गया। इस प्रकार भारत को औद्योगिक पिछड़ेपन की स्थिति में रखा गया। फलस्वरूप भारत की निर्धनता बढ़ती गयी। भारत की निर्धनता का मुख्य कारण अंगरेजी सरकार की आर्थिक नीति थी जिसका एक प्रमुख अंग धन का निष्कासन था।

अंगरेजों ने भारतीय सम्पदा और संसाधनों का एक हिस्सा इंगलैण्ड को किया जिसके बदले में भारत को कुछ नहीं मिला। आर्थिक निष्कासन की नीति भारत में अंगरेजों ने ही अपनाई थी। 1757 ई. के पहले यूरोपीय व्यापारी विदेशों से भारत में धन लाते थे। इसका कारण यह था कि यूरोप में भारतीय वस्तुओं जैसे सूती और रेशमी वस्त्रों की मांग अधिक थी। यूरोप के व्यापारी बाहर से धन लाकर इन वस्तुओं को खरीदते थे और अपना मुनाफा रखकर उन्हें विदेशी बाजारों में बेचते थे। लेकिन बंगाल में अंगरेजी सत्ता की स्थापना के साथ ही परिस्थिति बदल गयी। अब भारत से ही धन अधिक मात्रा में इंगलैण्ड जाने लगा। भारतीय इतिहास में ऐसा पहली बार हुआ था। अंगरेजों के आने के पूर्व जितने भी विदेशी भारत आये, उन्होंने भारत को ही अपना निवास-स्थान बना लिया और भारत की जनता से उगाहे गये राजस्व को देश के अन्दर ही खर्च किया गया। उन्होंने कृषि, उद्योग, नहरों तथा मार्गों के

निर्माण, महलों, मन्दिरों तथा मस्जिदों के निर्माण, युद्ध एवं कला के विकास पर राजस्व का अधिकांश खर्च किया। उन्होंने कृषि के विकास के लिए सिंचाई की व्ययवस्था की और भारतीय व्यापार तथा उद्योग को बढ़ावा दिया जिससे भारती वासियों को रोजगार के अवसर प्राप्त हुए। दूसरे शब्दों में, उन्होंने भारतीय धन का सदुपयोग अथवा दुरुपयोग भारतवासियों को रोजगार के अवसर प्राप्त हुए दूसरे शब्दों में, उन्होंने भारतीय धन का सदुपयोग अथवा दुरुपयोग भारत के लिए, भारत के अन्दर ही किया। लेकिन अंगरेज ऐसा नहीं कर सके, क्योंकि ये भारत में हमेशा विदेशी ही बने रहे। वे भारत को अपना उपनिवेश समझते थे। उन्होंने भारत का शोषण कर इसकी विपन्नता को बढ़ाने का भरपूर प्रयास किया। भारत में काम करने वाले तथा व्यापार में लगे अंगरेज प्रायः हमेशा स्वदेश लौटने की योजना बनाते रहते थे और भारत सरकार पर व्यापारियों की एक विदेशी कम्पनी और ब्रिटिश सरकार का नियंत्रण था। फलस्वरूप अंगरेजों ने भारत से प्राप्त राजस्व का एक बड़ा भाग भारत में नहीं बल्कि ब्रिटेन में खर्च किया।

धन-निष्कासन का स्वरूप—भारतीय धन का निष्कासन अंगरेजी आर्थिक निति का मूलाधार था। वह धन जो भारत से इंगलैण्ड को भेजा जाता था और जिसके बदले में भारत को कुछ प्राप्त नहीं होता था (अप्रतिदत्त निर्यात), सम्पदा का निष्कासन कहलाया। यह धन-निष्कासन धातु मुद्रा के रूप में कम और वस्तुओं के निर्यात व्यापार के रूप में अधिक होता था। भारत से धन-निष्कासन का एक माध्यम 'अतिरिक्त निर्यात व्यापार था। जिन वस्तुओं को भारत से बाहर भेजा जाता था उनका मूल्य व्यक्ति को अवश्य दिया जाता था लेकिन भारत को उसके बदले में कुछ भी लाभ प्राप्त नहीं होता इस प्रकार कम्पनी दोनों तरह से धन कमा रही थी लेकिन भारत को उसके बदले में कुछ प्राप्त नहीं होता था। ईस्ट इण्डिया कम्पनी जितना राजस्व भारत से कमाती थी उसी धन से वस्तुएँ खरीदकर बाहर भेजती थी। इस प्रकार कम्पनी दोनों तरह से धन कमा रही थी लेकिन भारत को उन वस्तुओं के बदले में धातु मुद्रा उपलब्ध नहीं होती थी। 1858 ई. के पश्चात् कम्पनी पर चढ़ा हुआ ऋण भारत पर ऋण हो गया और कम्पनी की देनदारी भी इंगलैण्ड सरकार पर मढ़ दी गयी। 1858 ई. के पश्चात् इस ऋण और देनदारी के अतिरिक्त इंगलैण्ड सरकार के अन्य खर्चो और सेवामुक्त अंगरेज अधिकारियों को दी जाने वाली पेंशन की राशि बढ़ती गई।

अंगरेज शासक भारतीयों की खाल उधेड़ने के लिए अनेक उपाय रच रखे थे। जैसे-जैसे भारत में अंगरेजी सत्ता का विकास होता गया, वैसे-वैसे कम्पनी के धन निवेश और धन के निष्कासन में वृद्धि होती चली गई। बंगाल से प्राप्त होने वाले राजस्व से कम्पनी ने भारतीय सामानों को खरीदकर निवेश पद्धति द्वारा इंगलैण्ड

भेजना प्रारम्भ कर दिया। अन्य तरह से भी इंगलैण्ड को धन भेजा जाता था। भारत का प्रशासन अंगरेजों के लिए था। परन्तु भारत को गृह-प्रभार देना पड़ता था। भारतीय प्रशासन में संलग्न पदाधिकारियों का वेतन, भत्ता, पेंशन, अन्य व्यय आदि का खर्च जो करोड़ों रुपये प्रतिवर्ष होता था, भारत का प्रशासन अंगरेजों के लिए था। परन्तु भारत को गृह-प्रभार देना पड़ता था। जो भारतीय प्रशासन से वसूल किया जाता था। साम्राज्यवादी युद्ध का खर्च और व्यय की रकम पर ब्याज भी भारत को देनी पड़ती थी। इंगलेण्ड में सेना और नौसेनिक संस्थाओं का कुल व्यय भारत की सुरक्षा के नाम पर ली जाती थी और प्रतिवर्ष खर्च की रकम इंगलेण्ड की सरकार ही तय करती थी। इंगलैण्ड में पागलखाने का खर्च भी भारत को देना पड़ता था। ईरान और चीन में ब्रिटिश दूतावास का खर्च भी भारत को उठाना पड़ता था। इसके अतिरिक्त भारत स्थित सैनिक एवं असैनिक अधिकारियों के सारे खर्च पूरा करने का दायित्व भारत पर ही था। कुल मिलाकर प्रतिवर्ष भारत का धन करोड़ों के अंक में इंगलैण्ड चला जाता था।

भारत में अंगरेजी सत्ता की स्थापना बंगाल से प्रारम्भ हुई थी, इसलिए धन का निष्कासन भी बंगाल से 1757 ई. में प्रारम्भ हुआ। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के कर्मचारियों ने भारतीय शासकों, जमींदारों, व्यापारियों, बंगाल के नवाब और उसके अधिकारियों तथा आम जनता से वसूल किए गए अपार धन को इंगलैण्ड भेजना प्रारम्भ किया। ऐसा अनुमान किया जाता है कि 1758-1765 ई. के बीच लगभग 60 लाख पौण्ड की रकम इंगलैण्ड भेजी गई। इस रकम में कम्पनी का व्यापारिक मुनाफा शामिल नहीं था जो प्रायः गैर-कानूनी तरीके से प्राप्त किये जाते थे। जब 1765 ई. में कम्पनी को बंगाल की दीवानी प्राप्त हुई तो उसे बंगाल के राजस्व पर अधिकार कर लिया। कम्पनी ने अपने कर्मचारियों से भी अधिक सक्रियता और तत्परता के साथ धन-निष्कासन की सीधी व्यवस्था की। उसने बंगाल से प्राप्त राजस्व से भारतीय वस्तुओं को खरीदकर निर्यात करना प्रारम्भ कर दिया। 1765 ई. से 1770 ई. तक कम्पनी ने वस्तुओं के रूप में लगभग 40 लाख पौण्ड की रकम इंगलैण्ड भेजा। धन का वास्तविक निष्कासन इससे भी अधिक था क्योंकि कम्पनी के कर्मचारियों के वेतन तथा अन्य आय और अंगरेज व्यापारिक लाभ का अधिकांश भाग ब्रिटेन भेजा गया था।

अभी तक धन के वार्षिक निष्कासन की सही रकम का हिसाब नहीं लगाया जा सका है और इतिहासकारों के बीच इसकी राशि को लेकर मतभेद बना हुआ है। फिर भी धन-निष्कासन के तथ्य को अंगरेज अधिकारियों ने स्वीकार किया है। लॉर्ड एलेनबरो ने 1840 ई. में स्वीकार किया कि भारत से "अपेक्षा है कि वह इस देश को (ब्रिटेन) थोड़े मूल्य में सैनिक सामानों के अलावा बदले में बिना कुछ लिए, हर

साल बीस और तीस लाख पौण्ड के बीच रकम भेजे।" भारत से धन-निष्कासन का बड़ा ही सटीक वर्णन बोर्ड ऑफ रेवेन्यू, मद्रास, के अध्यक्ष जान सुल्लिवान ने इन शब्दों में किया है। "हमारी व्यवस्था बहुत कुछ स्पंज की तरह काम करती है, उसके जरिए गंगा तट से सारी अच्छी चीजों को सोख लिया जाता है और भारतीय इतिहासकारों ने अलग-अलग अनुमान लगाया है। 1859 ई. में जॉर्ज दिगनेट ने 1834-51 ई. के बीच प्रतिवर्ष 42,21,611 पौण्ड की रकम भारत से निर्गम होने का अनुमान लगाया था। विलियम डिग्वी के अनुसार, 1715 ई. से 1815 ई. में दस करोड़ पौण्ड की रकम भारत से इंगलैण्ड भेजी गयी। अमेरिकन विद्वान प्रोफेसर हॉल्डन फरवर के अनुसार, 1783 ई. से 1793 ई. के बीच भारत से प्रतिवर्ष 19 लाख पौण्ड की रकम इंगलैण्ड जाती थी। यह वह समय था जबकि कम्पनी का अधिकार क्षेत्र सीमित कर दिया गया था। भारतीय विद्वानों में दादा भाई नौरोजी, जी. वी. जोशी, डी. वाई. वाचा और आर. सी. दत्त जैसे राष्ट्रवादी लेखकों ने 1883 ई. से 1892 ई. के बीच प्रतिवर्ष 359 करोड़ रुपये निर्गम होने का अनुमान लगाया है। डी. वाई. वाचा के अनुसा, 1860 ई. और 1900 ई. के बीच भारत से प्रतिवर्ष 30 से 40 करोड़ रुपये निर्गम होता था। आर.सी.दत्त ने यह राशि 220 लाख पौण्ड प्रतिवर्ष आँकी है। उपर्युक्त आँकड़ा स्वयं इस बात का प्रमाण पेश करता है कि भारत में ब्रिटिश सरकार मनमाने ढंग से धन की लूट करती थी।

धन-निष्कासन का परिणाम—अंगरेजों की धन-निष्कासन की नीति भारतीय अर्थ-व्यवस्था और आम जनता के लिए हानिकारक सावित हुई। साम्राज्यवादी विचारधारा से प्रभावित इतिहासकारों का वर्ग इस तथ्य को अस्वीकार करता है कि अंगरेजों ने भारत का आर्थिक रूप से शोषण किया था। इस वर्ग के इतिहासकारों का मत है कि इंगलैण्ड को जो धन प्राप्त हुआ, वह भारत की सेवा करने के बदले प्राप्त हुआ था। जॉन स्ट्रेची ने तो यहाँ तक कह डाला कि भारत में उत्तम प्रशासनिक व्यवस्था, कानून और न्याय की स्थापना के बदले ही इंगलैण्ड भारत से धन प्राप्त करता था। लेकिन इस प्रकार का तर्क वास्तविकता से बहुत दूर है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अगरेजों ने भारत का आर्थिक रूप से शोपण किया था और धन-निष्कासन की नीति अपनाकर भारतीयों को दरिद्र बना दिया था। दादाभाई नौरोजी पहले व्यक्ति थे जिन्होंने धन-निष्कासन की प्रक्रिया के दूरगामी परिणामों को समझ सके। उन्होंने धन-निष्कासन को 'अंगरेजों द्वारा भारत के रक्त चूसने' की संज्ञा दी और इसे भारतीयों की निर्धनता का मुख्य कारण बतलाया। एक लेखक ने भारत की अवस्था, का वर्णन करते हुए लिखा है, "भारत की अवस्था बहुत बुरी है। उसकी अवस्था स्वामी और दास की नहीं, उससे भी बुरी है। यह तो उन लुटेरों के हाथों में लूटे जानेवाले देश की अवस्था में है, जो सब कुछ लूट रहे हैं। अंगरेजों के

आने से पूर्व विदेशी लुटेरे लूटकर चले जाते थे, परन्तु अंगरेज की लूट तो चल ही रही है।" अनेक भारतीय राष्ट्रीय लेखकों ने अंगरेजों की धन-निष्कासन की नीति की तीखी आलोचना की है। आर.सी.दत्त ने लिखा है, "भारतीय राजाओं द्वारा कर लेना तो सूर्य द्वारा भूमि से पानी लेने के समान है जो पुनः वर्षा के रूप में भूमि पर उर्वरता बिखेरकर लौट आता है। परन्तु अंगरेजों द्वारा लिया गया कर भारत के बदले इंगलैण्ड में पानी बरसाता है।"

धन-निष्कासन की नीति का परिणाम यह हुआ कि भारत को अपनी राष्ट्रीय आय में प्रतिवर्ष 'अप्रतिदान निर्यात' की राशि निकालनी पड़ती थी। अनेक मुद्दों में दिए जानेवाले धन की उत्तरोत्तर बढ़नेवाली राशि को पूरा करने के लिए अधिक निर्यात करना पड़ता था। फलस्वरूप देश में जीवन-स्तर निरन्तर गिरता गया तथा पूँजी संचय के लिए धन उपलब्ध नहीं हुआ। धन-निष्कासन का प्रभाव देश के भीतर भी पड़ता था। सरकार की आमदनी का 75% से अधिक भाग गांव और कृषक वर्गों से प्राप्त होता था लेकिन राजस्व का नगण्य भाग गांवों पर खर्च किया जाता था। खर्च का प्रायः 60% भाग प्रशासन, प्रतिरक्षा और शान्ति-व्यवस्था से सम्बन्धित था जो शहरों में खर्च होता था। इस प्रकार गांवों से कर लिया जाता था जैसे भारत में आर्थिक विकास हो रहा हो। लेकिन यह केवल देश के एक भाग से पूँजी इकट्ठी करके भारत से 'अप्रतिदत्त निर्यात' के रूप में जा चुकी थी। इस प्रकार भारत से निष्कासित धन सार्वजनिक ऋण के रूप में पुनः आता था जिसे चुकाने के लिए और अधिक धन निष्कासित करना पड़ता था। यह क्रम दूसरे विश्वयुद्ध के आरम्भ तक चलता रहा।

निरन्तर धन-निष्कासन का एक बुरा प्रभाव यह हुआ कि करों का बोझ भारतीयों पर अत्यधिक बढ़ गया। उन्नीसवीं सदी के अन्त में भारत में प्रति व्यक्ति पर कर का बोझ 2 शिलिंग 6 पैंस था जबकि इंगलैण्ड में प्रति व्यक्ति कर का बोझ 2 पौण्ड 10 शिलिंग के लगभग था। भारत में यह कर-भार भी प्रति व्यक्ति की आय का 14% से अधिक था जबकि इंगलैण्ड में यह 7% से भी कम था। इसके अतिरिक्त, एक निर्धन अथवा कम आयवाले व्यक्ति पर कर का बोझ प्रतिवर्ष बढ़ता रहता था। भारत में लिए जाने वाले करों को भारतीयों पर खर्च नहीं किया जाता था। इसलिए उन करों का बोझ उत्तरोत्तर अधिक होता गया। इस प्रकार धन-निष्कासन के कारण भारत की निर्धनता बढ़ी, कुटीर उद्योगों का विनाश हुआ, कृषि पर अत्यधिक निर्भरता बढ़ी और भूमिहीन श्रमिकों की संख्या में वृद्धि हुई। अप्रतिदत्त निर्यात' का परिणाम यह हुआ कि कृषकों को पास आवश्यकता के समय काम आनेवाली पूंजी संचित नहीं हो पाती थी। लोगों के पास अनाज खरीदने के लिए धन नहीं था। वे गरीबी और भुखमरी के शिकार होने लगे।

भारतीय धन की लूट के कारण से निर्धनता बढ़ी और भारतवासी प्रतिवर्ष अधिकाधिक संख्या में दरिद्र होते चले गये। ब्रिटिश सरकार और उसके अधिकारी केवल भारतीयों का चूसने को काम करते थे। कृषि और उद्योगों पर अंगरेजों का एकाधिपत्य हो जाने से केवल धन अर्जित करनेवाली फसलों को उपजाया जाता था। देश में अकाल और अभाव का खतरा हमेशा बना रहता था। अकाल बार-बार पड़ता था और उसकी चपेट में लाखों की जानें चली जाती थीं। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में 24 बार भारत में अकाल पड़ा जिसमें दो करोड़ पच्चीस लाख व्यक्ति मरे। बीसवीं सदी में भी लूट के क्रम में कोई विशेष परिवर्त्तन नहीं हुआ। 1943 ई. में अकेले बंगाल के अकाल में लाखों व्यक्ति मरे थे। भारत में बार-बार अकाल पड़ने का मुख्य कारण यह था कि अनाज बाहर भेज दिया जाता था और ब्रिटिश सरकार द्वारा अकाल क्षेत्र में पर्याप्त अनाज की पूर्त्ति नहीं की जाती थी।

धन के निष्कासन के कारण भारत में मूल्य में वृद्धि हुई। भारतीय गांव जो पहले स्वावलम्बी थे, जब परावलम्बी हो गए। गृह-उद्योग नष्ट हो गया। बेकारों की संख्या बढ़ी और देश के औसत किसान परिवार का जीवन कष्टमय हो गया। जमींदारों के स्थानीय अत्याचार और ब्रिटिश शोषण के कारण भारत में ऐसी निर्धनता बढ़ी जिसकी तुलना विश्व के किसी भी देश के साथ नहीं की जा सकती है। यह वैसा ही था जैसा पानी में रहकर भी कोई प्यासा हो। वस्तुतः धन के निष्कासन ने भारतीय अर्थ-व्यवस्था को छिन्न भिन्न कर दिया था।

भारतीय जीवन स्तर में उत्तरोत्तर गिरावट आती गयी और भूमिहीन कृषकों की संख्या भी बढ़ती गयी। भारत में पूँजी का अभाव हो गया। परन्तु अंगरेजी अर्थनीति का सही ज्ञान प्राप्त कर लेने के बाद भारतीयों में उग्र राष्ट्रीयता की भावना बढ़ी। अंगरेजों द्वारा जनकल्याण के नाम पर पैसा लूटने का पर्दाफाश हो गया। इस प्रकार अंगरेजी प्रशासन के लिए जनकल्याण अथवा सम्पन्नता को प्रोत्साहन देने का दावा निराधार सिद्ध हुआ।

2. ब्रिटिश भारत में दरिद्रता और अकाल

भारत मूलतः एक कृषि प्रधान देश रहा है। यहाँ की कृषि मानसून पर निर्भर है। अच्छी एवं समय पर वर्षा होने से अच्छी फसल की आशा की जाती है। और अनावृष्टि अकाल की स्थिति उत्पन्न कर देती है। अकाल भारत जैसे विशाल देश के लिए कोई नई बात नहीं है। प्राचीन और मध्यकाल में भी भारत में अकाल पड़ा था। प्रजाहित सरकार ऐसे अवसर पर अकालपीड़ितों को राहत उनके प्राणों की रक्षा करती थी। मुगलकाल में भी पोषण अकाल के कारण हजारों व्यक्ति काल के गाल में समा गये थे। अंगरेजी शासनकाल में भी भारत में भीषण अकाल पड़े और लाखों की संख्या में लोगों की जानें गई। इसके लिए अंगरेजी सरकार की आर्थिक नीति

जिम्मेवार थी जिसके कारण भारतीयों की आर्थिक विपन्नता तेजी से बढ़ी। भारतीयों की निर्धनता के लिए ब्रिटिश सरकार की धन-निष्कासन की नीति, भू-राजस्व नीति, भारत को आर्थिक उपनिवेश में बदलने की नीति, कुटीर उद्योगों की नीति के कारण भारतीयों के जीवनस्तर में लगातार गिरावट आयी और वे भुखमरी तथा बेरोजगारी के शिकार हुए। भारत से अनाज का निर्यात किया जाता था जिससे लोगों को खाने के लिए पूरा अनाज भी नहीं मिल पाता था। फलस्वरूप 19वीं-20वीं शताब्दियों में भारत में बार-बार अकाल पड़े और लाखों की संख्या में लोगों की मृत्यु हुई।

कम्पनी शासन के प्रारम्भिक वर्षों में खासकर बंगाल और बिहार में भीषण अकाल पड़ा। कुल आबादी का एक-तिहाई भाग मौत का शिकार हो गया। इस भयंकार अकाल की स्थिति में भी कम्पनी ने अकालपीड़ितों को सहायता एवं राहत पहुँचाने का प्रयास नहीं किया। उल्टे, कम्पनी के कर्मचारियों एवं अधिकारियों ने इस विषम स्थिति से लाभ उठाने का ही प्रयास किया। राहत के नाम पर कम्पनी के कर्मचारियों ने जगह-जगह अनाज-भण्डार खोलकर अनाज का संग्रह किया, किन्तु अकालपीड़ितों के बीच सस्ते दर पर अनाज बेचने के बदले अभाव का लाभ उठाकर अनाज को ऊँचे भाव पर बेचा और आर्थिक लाभ प्राप्त किया। एक ओर जनता भूख से मर रही थी और दूसरी ओर कम्पनी के कर्मचारी उनकी विवशता का लाभ उठाकर धन बटोर रहे थे। इसकी प्रतिक्रिया में बंगाल में संन्यासी विद्रोह' हुआ। संन्यासियों के नेतृत्व में कम्पनी के गोदामों और कोषों पर आक्रमण हुए। बंकिमचन्द्र चटर्जी ने अपने उपन्यास आनन्दमठ में संन्यासी विद्रोह का उल्लेख किया है। वारेन हेस्टिंग्स ने कठोरतापूर्वक इस विद्रोह का दमन किया। 1781 ई. में. मद्रास में सूखा पड़ा। 1784 ई. में पूरा उत्तर भारत सूखा से पीड़ित था। परन्तु सरकार ने राहत के कार्य के प्रति उदासीन नीति से काम ली। 1792 ई. में मद्रास में पुनः अकाल पड़ा। इस बार सरकार अकालपीड़ितों को राहत दी थी। 1794 ई. में शोलापुर में भीषण सूखा पड़ा। नागरिकों के राहत के लिए उपयुक्त प्रबन्ध नहीं किया गया। इस प्रकार अठारहवीं सदी में कम्पनी सरकार की अकाल-नीति आलोचना का विषय बना रहा।

उन्नीसवीं सदी में भारत में कई बार भीषण अकाल और सूखा पड़ा। भारत के राजनीतिक मानचित्र पर युद्ध और विभाजन का खतरा मंडरा रहा था। ऐसे अवसर पर 1803 ई. में उत्तर प्रदेश और बम्बई में अकाल पड़ा। अकाल के कारण सरकार ने कर में छूट दी। राहत-केन्द्र खोले गये। तालाब, कुएँ और अस्थायी अस्पतालों का निर्माण किया गया। तकावी कर्ज देने की व्यवस्था की गयी। इस अकाल में पेशवा ने कम्पनी के साथ सहायता के कार्य में सहयोग दिया था। बनारस, इलाहाबाद, कानपुर और फतेहगढ़ में समस्त आयात किए गए अनाज पर सरकार की ओर से विशेष पुरस्कार या बाउन्टी दी गयी। परन्तु अकाल से निपटने के लिए सरकार की

ओर से कोई नीति जनसाधारण के लिए घोषित नहीं की गयी। अकाल के अवसर पर मनुष्य के अतिरिक्त पशुओं की भी जानें जाती थीं और उससे यातायात प्रभावित हो जाता था।

1807 ई. में कर्नाटक में अकाल पड़ा। 1812-13 ई. के बीच बम्बई, कच्छ, काठियावाड़ और गुजरात के क्षेत्र अकाल से पीड़ित हो गयी। आयात पर बाउन्टी देने की घोषणा कम्पनी सरकार द्वारा की गयी। 1823-24 ई. तथा 1832-33 ई. के बीच दो बार अकाल पड़ा, अकेले गुंटूर जिले में पाँच लाख व्यक्तियों में से दो लाख की मृत्यु हुई। अकाल की भयावहता को पहचानने में सरकार ने देर कर दी। राहत-कार्य समय पर सम्पन्न नहीं हो सका। 1837 ई. में उत्तर भारत में भीषण अकाल पड़ा। इस अकाल में आठ लाख व्यक्तियों की जानें चली गयीं। सरकार ने सार्वजनिक कार्य आरम्भ किए किन्तु असहाय और कमजोर वर्ग के व्यक्तियों को विशेष राहत नहीं मिली। धार्मिक संस्थाएँ राहत देने का काम करने लगीं। स्थानीय अधिकारियों की देख-रेख में राहत का काम किया जाता था। 1854-55 ई. में मद्रास, दक्षिण डेक्कन तथा हैदराबाद में अकाल पड़ा। पूरे कम्पनी काल में अकाल से बचने के लिए कोई योजना निश्चित नहीं की गयी थी। राहत-कार्य जिला प्रशासन पड़ा। पूरे कम्पनी काम में अकाल से बचने के लिए कोई योजना निश्चित नहीं की गयी थी। राहत-कार्य जिला प्रशासन के हाथ में सौंप दी जाती थी। अनाज भण्डार, जमाखोरों को दण्ड, अनाज के आयात पर पुरस्कार, कुएँ खुदवाना आदि कार्यों के लिए सरकार कर्ज देती थी।

कम्पनी के स्थान पर 1857 ई. के विद्रोह के बाद क्राउन का शासन प्रारम्भ हुआ। भारत के आर्थिक विकास और राजनीतिक सुरक्षा को ध्यान में रखकर रेलवे एवं संचार के अन्य साधनों को विकसित करने का प्रयत्न प्रारम्भ हुआ विदेश व्यापार को उन्नत बनाने का प्रयत्न आरम्भ हुआ। सिंचाई की सुविधाओं में विस्तार किया गया, कृषि से सम्बन्धित कानूनों में सुधार लाया गया और निवारक प्रयत्नों के द्वारा निपटने के लिए पहली बार नई नीति निर्धारित की गयी।

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में दस अकाल और कई बार सूखा पड़ा। 1860-61 ई. में दिल्ली, आगरा और उत्तर-पश्चिम सीमा प्रान्त में अकाल पड़ा। सरकार द्वारा दरिद्रशालाओं को राहत के लिए खोला गया और अकाल के कारणों की जाँच तथा निदान के लिए एक समिति की स्थापना की गयी। कर्नल बैयर्ड उस समिति के अध्यक्ष थे। परन्तु बैयर्ड समिति की रिपोर्ट लगभग बेकार साबित हुआ।

1865 ई. में सुखाड़ हुआ और 1866 ई. में उड़ीसा, मद्रास, उत्तरी बंगाल और बिहार में अकाल पड़ा। उड़ीसा में अकाल अधिक भयावह था। अकाल से निबटने के लिए सरकार का प्रयत्न लगभग नहीं के बराबर था। स्वस्थ शरीरवालों को काम

दिया गया। स्वयंसेवी संस्थाओं द्वारा राहत कार्य करने में विशेष सफलता नहीं मिली। फलतः अकेले उड़ीसा में 13 लाख व्यक्तियों की मृत्यु हुई।

उड़ीसा के अकाल ने सरकार की आँखें खोल दीं। सर जॉर्ज केम्पबेल की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की गयी जिसने अपना प्रतिवेदन 1880 ई. में दिया। राजकीय आयोग की सिफारिश के अनुसार स्वयंसेवी संस्थाओं के हाथ राहत का उत्तरदायित्व सौंपना छोड़ दिया गया। रेवले और नहरों का निर्माण करने के लिए ऋण लेना स्वीकृत हुआ तथा प्रत्येक जिलाधिकारी को सम्भावित मृत्यु रोकने का उत्तरदायित्व सौंपा गया। 1868 ई. में उत्तर-पश्चिम भारत और मध्य भारत में अकाल पड़ा। 1868 ई. का अकाल ने राजपूताना और मध्य भारत को विशेष रूप से प्रभावित किया था। सरकारी राहत अपर्याप्त थी। अतः मृतकों की संख्या बहुत अधिक थी। अनुमानतः 1/4 या 1/3 भाग आबादी नष्ट हुई थी। अकाल के समय भूखे व्यक्ति दूसरे क्षेत्रों में आ जाते थे; 1874-75 ई. में बिहार में अकाल पड़ा। इस बार सरकार राहत के काम में पूर्णतया सचेष्ट दिखाई पड़ी और अनाज एवं पैसे से राहत का काम करने में आनाकानी नहीं की। सारन और तिरहुत क्षेत्र में अकाल का प्रभाव अधिक भयानक था।

1876-78 ई. के बीच सर्वाधिक भयावह अकाल पड़ा जिससे बम्बई, मद्रास, उत्तर प्रदेश, मध्य भारत, पंजाब आदि क्षेत्र प्रभावित हुए। लगभग 2,57000 वर्गमील में रहने वाले 5 करोड़ 80 लाख व्यक्ति अकला की चपेट में आ गये थे। अनेक गाँव उजड़ गए और अधिकांश कृषि क्षेत्र की भूमि परती रह गयी। आर. सी. दत्त के अनुसार, 50 लाख व्यक्ति मृत्युग्रस्त हुए। सरकारी राहत-व्यवस्था अपर्याप्त थी। जीवन की रक्षा करने में सरकार की विफलता मृत्यु की संख्या से स्वतः प्रमाणित हो जाती है।

स्ट्रेची अकाल आयोग : अकाल की सम्भावना को रोकने के उद्देश्य से 1880 ई. में स्ट्रेची आयोग की स्थापना की गयी। सर रिचर्ड स्ट्रेची आयोग की सिफारिश इस प्रकार थी–

1.भूख से प्रभावित होने के पहले लोगों को काम दिया जाय और समय-समय पर मजदूरी की दर निश्चित की जाय ताकि लोगों को खाना मिल सके।

2. असहाय व्यक्तियों को मुफ्त भोजन और रहने की सुविधा दी जाय तथा उनके लिए दरिद्रशाला और सहायता शिविर खोले जायें।

3. प्रभावित क्षेत्र में अनाज के संभरण पर ध्यान रखा जाय। अनाज के निजी व्यापारियों पर विश्वास रखा जाय और पूरे राष्ट्र की अन्न स्थिति को ध्यान में रखकर अनाज का निर्यात किया जाय।

4. भूमिकर तथा अन्य करों में छूट देने की नीति निश्चित की जाय।

5. प्रान्तीय सरकार को अकाल का खर्च वहन करना चाहिए और आवश्यकतानुसार केन्द्रीय सरकार को सहायता देनी चाहिए।

6. सुखाड़ से प्रभावित क्षेत्र से पशुओं को हरे-भरे क्षेत्रों में भेज दी जाय और उनके स्थानान्तरण में सरकार को सहायता देनी चाहिए।

स्ट्रेची आयोग की सिफारिशों को सरकार ने स्वीकार कर लिया और एक अकाल कोप का निर्माण किया। 1883 ई. में अकाल संहिता निश्चित की गयी। अकाल संहिता में बचाव, राहत एवं अधिकारियों के कर्त्तव्य का स्पष्ट उल्लेख किया गया था। सरकार इन सुझावों में संशोधित करने में सक्षम थी।

मैकडानल आयोग : 1896-97 ई. के अकाल ने सभी प्रान्तों को प्रभावित किया था। कहीं अकाल अधिक भयावह था और कहीं उसका प्रभाव आंशिक रूप से हुआ था। इस अकाल में लगभग 3 करोड़ 40 लाख व्यक्ति प्रभाति हुए थे। मध्यप्रान्त में मृत्यु अधिक हुई। अन्य स्थानों में पर्याप्त राहत की व्यवस्था रहने के कारण मृत्यु कम हुई। सरकार का कुल खर्च 2 करोड़ 27 लाख था। 1899-1900 ई. में सुखाड़ और अकाल की चपेट में भारत का 189,000 वर्ग मील का क्षेत्र आ गया। सरकार ने सुस्ती से प्रारम्भ में राहत का काम किया, परन्तु अन्त में राहत पाने वालों की संख्या इतनी अधिक हो गयी कि स्वयं सरकारी तंत्र अस्त-व्यस्त हो गया। इस बार सहायता के मद में सरकार को दस करोड़ रुपये का खर्च उठाना पड़ा।

लॉर्ड कर्जन ने सर एन्टोनी मैकडानल की अध्यक्षता में एक आयोग की पुनः स्थापना की। मैकडानल की रिपोर्ट 1901 ई. में प्रकाशित हुई। इस रिपोर्ट में नैतिक नीति से लाभ, पशु तथा बीजों का वितरण, अस्थायी कुएँ का निर्माण, गैर-सरकारी स्तर पर सहायता का आयोजन, ग्रमीण स्तर पर कार्य प्रारम्भ करने तथा अकाल प्रभावित क्षेत्र के लिए एक अकाल आयुक्त की नियुक्ति पर बल दिया गया था। इसके अतिरिक्त, रिपोर्ट में यातायात की सुविधा, कृषि बैंकों की स्थापना, सिंचाई की सुविधा में विस्तार और आधुनिक कृषि-प्रणाली को अपनाने का भी सुझाव दिया गया था। मैकडानल आयोग के सुझाव को कर्जन ने स्वीकार कर उसके अनुकूल व्यवस्था करने की माँग की । फलतः 1909 ई. से लेकर 1941 ई. के बीच अकाल और सुखाड़ की संख्या कम हो गयी। केवल 1906 ई. से 1908 ई. के बीच कुछ क्षेत्रों में दुर्भिक्ष का स्वरूप अधिक भयंकर था।

ब्रिटिश भारत के अन्तिम चरण में 1942-43 ई. में बंगाल में अकाल पड़ा। वस्तुः इस अकाल का मुख्य कारण लगातार 1938 ई. से फसलों की बर्बादी थी। द्वितीय विश्वयुद्ध के कारण वर्मा से बंगाल में चावल का आयात बन्द हो गया था और अनाज के अभाव को पहचान कर व्यापारियों ने गल्ला छिपा दिया था ताकि वे ऊँची दर पर उसकी बिक्री कर सकें। सरकार युद्ध में व्यस्त रहने के कारण राहत

के कार्य में चुस्ती नहीं ला सकी। प्रान्तीय सरकार का साधन अपर्याप्त था। अतः कई हजार व्यक्तियों की जान चली गयी।

अपर्युक्त विवरण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ब्रिटिश भारत में अकाल और सूखा का प्रकोप बराबर बना रहा और प्राकृतिक कारणों के साथ-साथ सरकार की अक्षमता मुख्य रूप से अकाल में नरसंहार के लिए उत्तरदायी थी। 1947 ई. में अजादी के बाद अधिक अन्न का उत्पादन करना सरकार ने अपना लक्ष्य बनाया। प्रथम पंचवर्षीय योजना में लक्ष्य की पूर्ति नहीं हो पायी। विदेश से अनाज मंगाकर अभाव की पूर्त्ति कर ली जाती थी.। किन्तु उसके साथ देश पर कर्ज का बोक्ष बढ़ने लगा था। अतः हरित क्रान्ति के माध्यम से अनाज उत्पादन में वृद्धि लाने का प्रयास किया गया। स्वाधीनता के बाद क्षेत्रीय आधार पर अनावृष्टि, बाढ़ या प्राकृतिक प्रकोप के कारण फसलें नष्ट हो जाती हैं। पंरन्तु राहत-कार्य के प्रति सक्रियता की नीति अपनाने के कारण तथा समाजसेवी संस्थाओं के सहयोग से अकालपीड़ित क्षेत्र की रक्षा करने में सरकार को विशेप सफलता मिली है। अकाल की छाया की आशंका अब देश के मानचित्र पर मंडराती नजर नहीं आती है।

3. रेलवे-निर्माण की नीति

यातायात का एक प्रमुख साधन रेल है। आधुनिक युग में किसी भी राष्ट्र के औद्योगिक एवं आर्थिक विकास में रेल की भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। रेल के माध्यम से वस्तुओं के आयात-निर्यात में सुविधा होती है और व्यापक पैमाने पर उत्पादित वस्तुओं का व्यापार करने में कठिनाई नहीं होती है। भारत में रेल-निर्माण की योजना को व्यापारिक रूप देने का श्रेय अंगरेजों को दिया जाता है। भारत में औद्योगिक विकास एवं आधुनिकीकरण में रेलवे का हाथ था। भारत में रेल-निर्माण का काम प्रारम्भ तो किया गया किन्तु उसका विकास जापान, जर्मनी, कनाडा या आस्ट्रेलिया जैसा नहीं हुआ।

कम्पनी शासनकाल में रेल का निर्माण व्यापारिक एवं राजनीतिक दृष्टि से 1844 ई. में उपयोगी माना गया। सेना को एक स्थान से दूसरे स्थान में भेजने, उपद्रवों को दबाने तथा साम्राज्य को सुरक्षित रखने के लिए रेल-निर्माण के कार्य को प्रोत्साहन देने के लिए कहा गया था। हार्डिंग और सर चार्ल्स वुड ने रेल-विस्तार की योजना का समर्थन किया था। कपास का निर्यात बढ़ाने में रेल-सेवा सहायता होती तथा भारतीय कपास के अधिकाधिक निर्यात करने से इंगलैण्ड अमेरिका पर निर्भर रहना छोड़ सकता था। कच्चे माल के निर्यात और इंगलैण्ड में उत्पादित वस्तुओं को भारतीय बाजारों में भेजने के लिए रेल सर्वाधिक उपयोगी साधन था। साम्राज्य को व्यवस्थित और नियंत्रित रखने के लिए रेल का निर्माण आवश्यक था। भारतीय उपनिवेश को इंगलैण्ड की अर्थ-व्यवस्था के अधीन रखने में रेल से सहयोग मिलता।

गारंटी पद्धति : भारत में रेल-निर्माण का काम सबसे पहले डलहौजी के समय 1853 ई. में प्रारम्भ हुआ। रेल-निर्माण का काम प्राइवेट कम्पनियों को सौंपा गया था जो गारंटी पद्धति के अनुसार काम करते थे। निजी कम्पनी अपनी पूँजी लगाती थी और उस पर 4½ या 5% व्याज की गारंटी दी जाती थी। रेल-निर्माण करनेवाली कम्पनियों को भूमि मुफ्त में दी जाती थी और वे अपने कर्मचारियों को नियुक्त करते थे। गारंटी पद्धति में यदि अधिक लाभ मिलता था तो लाभ का आधा भाग सरकार उस राशि को पूरा करने के लिए ले लेती थी जो लाभ नहीं होने वाले वर्षों में कम्पनी को दी गयी थी। बीस या पच्चीस वर्षों के बाद सरकार रेलों को खरीद सकती थी। गारंटी पद्धति का प्रारम्भ इस आधार पर किया गया था कि भारत में पूँजी विनियोग के लिए उपलब्ध नहीं थी। अंगरेज पूँजी लगाने के पहले गारंटी चाहते थे। रेल का निर्माण आवश्यक था। अतः भारत में गारंटी पद्धति को प्रधानता दी गयी।

गारंटी पद्धति की आलोचना : इंगलैण्ड में पूँजी का अभाव उन्नीसवीं सदी में नहीं था। अंगरेज पूँजीपति विदेश जाकर बिना किसी गारंटी के पूँजी लगाते थे। आस्ट्रेलिया, कनाडा, दक्षिणी अमेरिका में उनके द्वारा पूँजी लगायी जा चुकी थी। अतः भारत में रेल-निर्माण की गारंटी पद्धति को चालू करने के पीछे कोई नैतिक आधार नहीं था।

भारतीय रेल-निर्माण में निजी कम्पनियों के द्वारा अधिक खर्च किया जाता था। शीघ्रता से काम पूरा करने क बदले वे धीमी गति से विकास का काम करते थे। इससे फिजूलखर्च होता था। निजी कम्पनी को पूँजी पर लाभ की गारंटी थी। इससे कम्पनी और सरकार दोनों लाभान्वित होते थे। निजी कम्पनी रेल-सेवा में आवश्यकता से अधिक व्यक्तियों की नियुक्ति कर लेती थी और सारा खर्च पूँजी विनियोग में सम्मिलित हो जाता था। भारत में रेल-निर्माण का खर्च प्रति मी. 20 या 30 हजार पौण्ड बैठता था जबकि इंलैण्ड में केवल 9000 पौण्ड प्रति मील खर्च होता था।

रेल-निर्माण में लगायी जानेवाली पूंजी तथा उसका 4.5% व्याज को लौटाना पड़ता था। पूँजी विदेशी रहने के कारण उसे राष्ट्रीय सम्पत्ति भी घोषित नहीं की जा सकती थी। फिजूलखर्ची को रोककर जो पूँजी बचती उससे उद्योग खोला जा सकता था। परन्तु रेल-निर्माण के कारण भारत में सहायता उद्योग-धन्धों का कोई विकास नहीं हुआ। इसका मुख्य कारण यह था कि रेल-निर्माण के लिए सभी बड़े-छाटे यंत्र या औजार इंग्लैण्ड से ही मंगाये जाते थे। प्रथम विश्वयुद्ध के अवसर पर आयात बन्द हो जाने से रेल कम्पनियों को अत्यधिक कठिनाई हुई। इसके अतिरिक्त, निजी रेलवे कम्पनियों का प्रधान कार्यालय भारत के बदले इंगलैण्ड में था और ऐसी कम्पनी के लिए भारत में सहायक उद्योगों का विकास आवश्यक नहीं था।

रेल-निर्माण का काम भारत के लिए आर्थिक दृष्टि से भी हानिकारक था। रेल-निर्माण के कारण भारत का धन इंगलैण्ड जाने लगा। निर्माण का पूरा खर्च व्याज सहित भारत को वहन करना पड़ता था। इससे भारत की राष्ट्रीय सम्पत्ति में वृद्धि नहीं हुई।

निर्माण की प्रगति : 1849-50 ई. में रेल-निर्माण का कार्य प्रारम्भ करने के लिए ई. आई. आर. और जी. आइ. पी. आर. नामक निजी कम्पनियों से समझौता किया गया। बम्बई से थाना तक पहली रेल लाइन 1853 ई. में खोली गयी। धीरे-धीरे रेलवे लाइनों का जाल भारत में बिछाया जाने लगा और नई लाइनों के निर्माण होने से आयाता एवं निर्यात में वृद्धि हुई।

निजी कम्पनियों के साथ किये गये समझौते की अवधि समाप्त हो जाने के बाद सरकार ने नई जमानत व्यवस्था के अन्दर अधिकांश रेलों को खरीद की। रेल-प्रबन्ध का अधिकार कम्पनी के अधीन ही रहने दिया गया। 1905 ई. रेलवे बोर्ड का निर्माण कर कम्पनी को सरकारी नियंत्रण में लाया गया। बीसवीं सदी में रेल-निर्माण की गति में तीव्रता आयी और रेलवे से लाभ भी होने लगा। प्रथम विश्वयुद्ध के समय विकास के कार्य में बाधा उत्पन्न हो गयी और युद्ध का व्यय एवं भारी खर्च के कारण रेलवे-निर्माण का काम लगभग रुक गया।

1919 ई. में रेलवे की कार्वाही की जाँच करने तथा उसके विकास के लिए एक समिति की स्थापना सर विलियम एडवर्थ की अध्यक्षता में की गयी। समिति की सिफारिश के अनुसार प्रति पाँच वर्षों में रेलवे पर डेढ़ सौ करोड़ रुपये खर्च करने का अनुरोध किया गया। रेलवे को सरकारी प्रबन्ध में लाने तथा नई लाइनों के निर्माण सरकारी स्तर पर करने का भी सुझाव दिया गया। एक नया परिवहन विभाग की स्थापना, रेलवे बोर्ड का पुनः संगठन, रेलेवे बजट की अलग व्यवस्था तथा एक रेलवे कर-विचारालय की स्थापना की अनुशंसा समिति के द्वारा की गयी थी। निजी कम्पनियों के विरुद्ध भारत के आम नागरिक थे और लाभांश भारत के बाहर चला जाता था। निजी कम्पनियाँ भारतीय हित के प्रति उदासीन थीं।

भारत में प्रबल जनमत को देखते हुए ब्रिटिश सरकार ने धीरे-धीरे निजी कम्पनियों का प्रबन्ध अपने हाथ में ले ली। उदाहरण के लिए, 1925 ई. में ईस्ट इंडियन रेलवे, 1925 ई. में ही ग्रेट इंडियन पेनिनसुलर रेलवे का प्रबन्ध सरकार ने अपने हाथ में ले लिया। 1929 ई. में बर्मा रेलवेज और 1930 ई. के बाद नई लाइनों का निर्माण सरकारी स्तर पर किया जाने लगा और रेलवे बोर्ड को भी पुनः संगठित किया गया। रेलवे बोर्ड में एक प्रधान कमिश्नर, एक वित्तीय कमिश्नर और तीन अन्य सदस्य रहते थे। 1926 ई. में कर-सलाहकारी समिति की स्थापना की गयी और 1927 ई. में रेवले बोर्ड का केन्द्रीय प्रचार ब्यूरो भी खोला गया। रेलवे बजट को

सामान्य बजट से अलग कर दिया गया। 1925 ई. से ही रेलवे बजट प्रतिवर्ष अलग से पेश किया जाने लगा।

भारत में रेवले-निर्माण का कार्य लाभकारी था। इससे आयात-निर्यात में वृद्धि हुई। अधिक भारतीयों को नौकरी मिली और भारत जैसे विशाल देश में वस्तुओं को लाने और भेजने की सुविधा हो गयी। विकास का काम अवश्य हुआ, परन्तु धन का निष्कासन होने लगा। भारतीयों की तुलना में अंगरेजों को ऊँचा पद, अधिक वेतन और विशेष सुविधा प्राप्त थी। उनकी तुलना में भारतीयों को वेतन कम दिया जाता था और उनकी संख्या निम्न पदों पर अधिक थी। भारत में वस्तुओं को एक भाग से दूसरे भाग में ले जाने के कारण खाद्यान्नों का अभाव बना रहता था। अनाज का अभाव हो जाने पर मूल्य में वृद्धि आ जाती थी और भारतवासियों के लिए दो जून का खाना तक भी नसीब नहीं होता था। एक अंगरेज अर्थशास्त्री ने यह विचार प्रकट किया था कि—"रेलों के निर्माण और मुक्त व्यापार की नीति का परिणाम यह हुआ कि भारत अपने लिए पर्याप्त कपड़ा उत्पादन करता था। अब इंगलैण्ड उसके लिए कपड़ा भेजता है।" इस दृष्टि से भारत में ब्रिटिश सरकार की रेल-निर्माण नीति भारतीयों के हितों में नहीं थी। स्वाधीनता पाने के बाद रेवले-निर्माण की नीति को राष्ट्रीय हित के अनुकूल बनाया जा सका और जनसाधारण की सुविधा में भी वृद्धि हुई। रेवले वर्त्तमान भारत के आर्थिक विकास की बड़ी के रूप में काम करने लगा है और इसकी उपयोगिता सिद्ध हुई है।

4. भारतीय उद्योगों का ह्रास

अंगरेजों के आने के पहले भारतीय ग्राम आत्मनिर्भर थे और प्राचीन ग्राम समुदाय में खेती तथा दस्तकारी साथ-साथ चलती थी। भारतीय ग्राम में आत्मनिर्भरता का अर्थ पूर्ण पृथक्ता नहीं था। इसका अर्थ केवल यह था कि गांव के लोग आम तौर पर बहुत कम वस्तुएँ दूसरे गांवों तथा शहरों से मंगाते थे। गांव के उत्पादन का मुख्य भाग राज्य को लगान के रूप में दिया जाता था और उसका एक अंश बाहर शहरों में बेचने के लिए भेजा जाता था। इस प्रकार गांवों में आत्मनिर्भरता और मुद्रा अर्थ-व्यवस्था के लक्षण एक साथ मौजूद थे।

अंगरेजों के आने के बाद परिस्थिति बदल गई। प्रारम्भ में अंगरेज भारत में व्यापार के लिए आए थे। उनकी कोठियाँ व्यापारिक कोठियाँ थीं। उनका मुख्य उद्देश्य था भारत द्वारा निर्मित वस्तुओं को उन देशों तक पहुँचाना जहाँ उन वस्तुओं की मांग अधिक थी। लेकिन धीरे-धीरे अंगरेजों के उद्देश्य बदलते गये और उन्होंने अपने व्यापार के स्वरूप में ऐसा मौलिक परिवर्त्तन किया कि व्यापार की दिशा ही बदल गई। भारत, जो पहले विश्व के अनेक देशों को वस्तुएँ निर्यात करता था, अब स्वयं एक कृषक उपनिवेश बनकर रह गया था। अब भारत का काम इंगलैण्ड के उद्योगों

के लिए कच्चा माल भेजना और इंगलैण्ड में बनी वस्तुओं के लिए एक मंडी का काम करना था।

भारत का आर्थिक शोषण कम्पनी और ब्रिटिश शासन का मुख्य लक्ष्य था। भारत में स्वदेशी उद्योग-धन्धों, दस्तकारी तथा कुछ अन्य उद्योगों का काफी विकास हो चुका था। अंनेक बड़े नगरों में भी शिल्पकला और दस्तकारी का काम कुशलतापूर्वक किया जाता था। सूती तथा रेशमी वस्त्र, जरी तथा धातु उद्योग उन्नत अवस्था में था। भारतीय वस्त्रों की मांग विदेशों में अधिक थी, क्योंकि गुणवत्ता की दृष्टि से भारत का माल उच्चकोटि का होता था। वस्त्र-निर्माण भारत का प्रमुख उद्योग था। भारतीय सूती वस्त्र की मांग विदेशों में अधिक थी। साथ ही धातुकर्म, प्रस्तरशिल्प, शकर, कागज और नील के उद्योग भी विकसित अवस्था में थे। भारत के कुछ भागों में काष्ठकर्म, मिट्टी के बरतन और चर्म-उद्योग का भी विकास हुआ था। देश के अनेक हिस्सों में रंगाई प्रमुख उद्योग था, कुछ भागों में सोने के तारों और कसीदाकारी का काम विकास की चरमबिन्दु पर पहुँच चुका था। खानों से रांगा, पारा और कुछ हद तक लोहा निकालने, शीशे की चीजों का निर्माण आदि विकसित अवस्था में थे। हाथी-दाँत से भुजदंड, अगूँठी, पासे, मनका, पलंग तथा अन्य चीजें बनती थीं और यूरोप में इनकी बड़ी मांग थी। बेशकीमती पत्थरों पर कुशलता से काम किया जाता था।

अंगरेजी सरकार की आर्थिक नीति का बुरा प्रभाव भारतीय कुटीर उद्योगों, दस्तकारी एवं शिल्पकारिता का पड़ा। प्रारम्भ में अंगरेज व्यापारी कम मूल्य पर भारतीय वस्तुओं को खरीदकर विश्व के बाजारों में अधिक मूल्य पर उनकी बिक्री कर मुनाफा कमाते थे। बदले में वे विदेशों से तैयार सामान या बहुमूल्य धातु लाते थे। विश्व के बाजारों में भारतीय वस्तुओं की बिक्री से अंगरेजों को बहुत लाभ होता था। इसलिए उन्होंने विदेश में भारतीय वस्तुओं के लिए बाजार तैयार किया और भारतीय उद्योगों को प्रोत्साहन भी दिया। अंगरेज व्यापारी भारतीय दस्तकारों और शिल्पकारों को पेशगी देकर सामान तैयार करवाते थे, सामानों को संगृहीत कर विदेशी बाजारों में बेचते थे और लाभ प्राप्त करते थे। लेकिन यह स्थिति बहुत दिनों तक कायम नहीं रही। पूँजी के विकास के साथ इंगलैण्ड में औद्योगिक क्रान्ति हुई और इंगलैण्ड के नव-स्थापित उद्योगों का संरक्षण एवं प्रोत्साहन देने के लिए भारतीय उद्योगों को नष्ट करना अंगरेजी सरकार की नीति बन गयी। कारण यह था कि इंगलैण्ड में निर्मित वस्तुएँ भारत में निर्मित वस्तुओं की तुलना में घटिया दर्जे की होती थी और इंगलैण्ड में उत्पादित वस्तुओं की खपत के लिए बाजार का अभाव था। अंगरेज भारत को एक मंडी के रूप में रखना चाहते थे ताकि उनके यहाँ से तैयार माल की बिक्री भारत में हो सके। यही कारण था कि औद्योगिक क्रान्ति के बाद भारत में औद्योगिक

विकास के प्रति अंगरेजों को कोई सहानुभूति नहीं रही।

भारत में कुटीर उद्योग की प्रधानता थी और उत्पादन का काम पारिवारिक स्तर पर होता था। कल-कारखानों के आविष्कार के फलस्वरूप व्यापाक पैमाने पर वस्तुओं का उत्पादन किया जाने लगा। यंत्रीकरण की प्रतियोगिता में भारतीय कुटीर उद्योगों का ठहरना मुश्किल हो गया। इसके अतिरिक्त, कम्पनी के गुमाश्तों का अत्याचार भारत में बढ़ा और स्वदेशी उद्योगों को नष्ट करने में उनकी भूमिका अत्यन्त मजत्त्वपूर्ण रही। भारतीय बाजारों में इंगलैण्ड के वस्त्रों की बिक्री बल-प्रयोग के सहारे की जाने लगी। फलतः भारतीय वस्त्रोद्योग को धक्का लगा। विदेशी बाजार पहले ही नष्ट हो चुका था और अब स्वदेश में भी भारतीय वस्तुओं की बिक्री पर प्रतिबन्ध लग जाने के कारण कुटीर उद्योग मृतप्रायः हो गया। 1850 ई. में ब्रिटेन से भारत में आनेवाले कुछ माल का मूल्य 80 लाख 40 हजार पौण्ड था जिसमें सूती वस्त्र 52 लाख 20 हजार पौण्ड का था।

सत्रहवीं सदी के अन्त में इंगलैण्ड के निवासी भारतीय वस्त्रों का उपयोग बहुत चाव से करने लगे थे। इंगलैण्ड में भारतीय वस्त्रों की मांग और लोकप्रियता धीरे-धीरे बढ़ रही थी। भारत में सूरत, गुजरात, चन्देरी, बुरहानपुर, मैसूर, मद्रास, जौनपुर, बनारस, बिहार, बंगाल और उड़ीसा कपड़ा तैयार करने के मुख्य केन्द्र थे। अहमदाबाद और सूरत सूती एवं रेशमी वस्त्र तथा ब्रोकेड के लिए प्रसिद्ध थे। इंगलैण्ड मे भारतीय सूती वस्त्र का उपयोग उतने अधिक पैमाने पर होने लगा था कि डिफों ने अपनी चिन्ता व्यक्त करते हुए कहा था, "यह (भारतीय सूती कपड़ा) हमारे घरों, निजी कमरों और शयन-कक्षों तक में प्रवेश पा गया; हमारे परदों, गद्दों और यहाँ तक कि हमारे विस्तरों पर भी भारतीय कपड़े के अतिरिक्त कुछ नहीं रह गया था।" भारतीय सूती कपड़े ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी की आयात-सूची में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया था।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी की आयात सूची में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त करने और इंगलैण्ड के निवासियों के बीच लोकप्रिय होने के कारण भारतीय सूती वस्त्रों की इंगलैण्ड के निवासियों के बीच लोकप्रिय होने के कारण भारतीय सूती वस्त्रों की इंगलैण्ड में आयात के कारण अंगरेजी वस्त्र--उद्योग के समक्ष एक भीषण संकट उत्पन्न हो गया था। अतएव इंगलैण्ड में ऊनी वस्त्र-निर्माताओं और व्यापारियों के द्वारा भारत से सूती वस्त्र के आयात के विरुद्ध आन्दोलन प्रारम्भ किया गया। व्यापारियों का कहना था कि भारत से सूती वस्त्र के आयात के कारण इंगलैण्ड का धन बाहर जा रहा था। भारत के सूती वस्त्र के आयात के कारण इंगलैण्ड के ऊनी और रेशमी कपड़े और उद्योगों को क्षति हो रही थी और इंगलैण्ड के बुनकरों की बेकारी बढ़ रही थी। इंगलैण्ड के वस्त्र-निर्माताओं और व्यापारियों ने अपनी सरकार पर

वस्त्र-उद्योग को संरक्षण देने के लिए दबाव डालना शुरू किया और वाध्य होकर ब्रिटिश सरकार को वस्त्र-उद्योग के लिए संरक्षणात्मक नीति अपनानी पड़ी। इंगलैण्ड में भारतीय वस्त्रों के व्यापार एवं प्रयोग पर पाबन्दियाँ लगाई गई। भारतीय वस्त्रों के आयात पर शुल्क भी अधिक लगा दिया गया जिससे मशीन से बने कपड़े के मुकाबले में भारतीय बुनकरों द्वारा करघे पर तैयार किया गया माल मंहगा हो गया और उसकी मांग की घटने लगी। ब्रिटिश सरकार ने 1700 ई. में एक अधिनियम बनाया। इसके अनुसार, बाहर से रंगे हुए या छापे हुए कपड़े के इस्तेमाल की मनाही कर दी गई। लेकिन यह अधिनियम भारत से आयात होनेवाले सफेद सूती कपड़े पर लागू नहीं होता था। इसलिए सफेद सूती कपड़े की मांग इंगलैण्ड में इस अधिनियम के वाद भी बनी रही। 1702 ई. में सफेद सूती वस्त्र के आयात को कम करने के लिए 15 प्रतिशत आयात कर लगा दिया गया। अब अंगलैण्ड के निवासी बढ़िया और बारीक सूती वस्त्र की मांग करने लगे। 1720 ई. में एक नया कानून बनाया गया जिसके अनुसार इंगलैण्ड में रंगे या छापे जानेवाले भारतीय रेशमी और ऊनी कपड़े के इस्तेमाल पर रोक लगा दी गई। लेकिन यह अधिनियम काफी सीमा तक असफल रहा और भारत से इंगलैण्ड में सूती और रेशमी कपड़ों का आयात बढ़ता चला गया। 1760 ई. में भारतीय कपड़े से बने सूती रूमाल का प्रयोग करनेवाली एक महिला को 200 पौण्ड जुर्माना देना पड़ा था।

बंगाल में राजनीतिक सत्ता की स्थापना के बाद ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थिति बदल गई और उसकी आर्थिक नीति में महत्त्वपूर्ण परिवर्त्तन हुआ। कम्पनी ने सोचा कि वह अपनी राजनीतिक सत्ता का उपयोग करके सरलता से अपना व्यापार बढ़ा सकती है। राजनीतिक सत्ता प्राप्त होने से कम्पनी की एक अन्य समस्या भी हल हो गई। अभी तक कम्पनी कपड़े तथा अन्य भारतीय वस्तुओं के बदले में इंगलैण्ड से सोना-चाँदी लाती थी। लेकिन अब इसकी भी आवश्यकता नहीं रही। बंगाल से प्राप्त लगान से कम्पनी भारतीय वस्तुएँ खरीदकर निर्यात कर सकती थी। साथ ही अपनी राजनीतिक सत्ता का उपयोग कर वह अपने प्रतिद्वन्द्वियों को व्यापार में पीछे खदेड़ सकती थी। अगर ईस्ट इण्डिया कंम्पनी अपनी राजनीतिक सत्ता का सदुपयोग करती तो भारतीय उद्योग-धन्धों को प्रोत्साहन मिलता लेकिन कम्पनी ने अपनी राजनीतिक सत्ता के बल पर भारतीय कुटीर उद्योगों को नष्ट करने का प्रयास किया। कम्पनी की नीति बदल चुकी थी और उसकी दिलचस्पी भारत से तैयार वस्तुओं के आयात करने में कम हो गई थी। उसने इंगलैण्ड के उद्योगों के लिए कच्चा माल आयात करना वेहतर समझा। बंगाल में राजनीतिक सत्ता स्थापित हो जाने से ऐसा करना सम्भव हो सका। अतएव कम्पनी ने एक योजना के अन्तर्गत यह काम आरम्भ किया। कम्पनी ने अधिकारियों ने बंगाल के बुनकरों को लागत से भी कम

कीमत पर अपना माल कम्पनी के हाथ बेचने को बाध्य किया। कारीगरों, बुनकरों, दस्तकारों एवं शिल्पियों को काम की भी पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त नहीं थी। वस्त्र-उद्योग में संलग्न दस्तकारों और श्रमिकों को कम मजदूरी पर कम्पनी के कारखाने में काम करने के लिए विवश किया गया। वे भारतीय उद्योगपतियों और व्यापारियों के यहाँ काम नहीं कर सकते थे। कारीगरों पर अनेक तरह के प्रतिबन्ध लगा दिए गए थे। इस स्थिति का वर्णन विलियम बोल्ट्स ने इस शब्दों में किया है।

"आजकल जिस ढंग से आन्तरिक व्यापार चल रहा है वह सारा-का-सारा व्यापार और एक खास हद तक इस देश से यूरोप के लिए किया गया निर्यात, वास्तव में अनवरत दमन का ही दृश्य प्रस्तुत करता है। देश के प्रत्येक बुनकर और वस्तु-निर्माता ने इसके कठोर तथा घातक प्रभावों का अनुभव किया है। प्रत्येक वस्तु के उत्पादन को एकाधिकार का रूप दे दिया गया है, जिसमें अंगरेज बनियों और काले गुमाश्तों के साथ मिलकर यह फैसला कर लेते हैं कि प्रत्येक वस्तु-निर्माता कितने-कितने परिमाण में माल देगा और उसके बदले में वह कितनी कीमत वसूल करेगा।" बुनकरों (जुलाहों) पर अपने दवाव को प्रभावपूर्ण बनाने के लिए ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने पेशगी रुपए देने की प्रथा चलाई। इसके अनुसार, कम्पनी के कर्मचारी बुनकरों से शर्त्त लिखवाकर पेशगी रुपए देते थे। शर्त्तनामा के अनुसार, बुनकरों को एक निश्चित तिथि पर एक निश्चित परिमाण में तथा निश्चित मूल्य पर कपड़ा देना होता था। इतना ही नहीं, कम्पनी भारतीय बुनकरों द्वारा तैयार किए गए कपड़े की दर बाजर में प्रचलित भी से कम तय करती थी जिससे बुनकरों को काफी नुकसान होता था। लेकिन बुनकरों के लिए कम्पनी की शर्त्तों को इनकार करना सम्भव नहीं था। पलासी के युद्ध के बाद तो पेशगी देनेवाले गुमाश्तों तथा बिचौलियों का अत्याचार बुनकरों पर काफी बढ़ गया था। विलियम बोल्ट्स हमें बतलाता है कि—"आम तौर पर बुनकरों की सहमति आवश्यक नहीं समझी जाती है कि जितने रूपए किए जाते हैं, उतने लेने से इनकार करने पर उनके कमरबन्द में बाँध दिए जाते हैं और फिर कोड़ों से मार-पीटकर उन्हें भाग दिया जाता है, यह नीति केवल बंगाल तक ही सीमित नहीं थी। सूरत में भी ऐसी नीति अपनायी गई थी। रिचर्ड ने लिखा है—"सूरत का व्यापारिक माल अत्यधिक दबाव और अन्यायपूर्ण उपायों से प्राप्त किया जाता था और जुलाहों को इस बात के लिए मजबूर किया जाता था कि वे कम्पनी से ही व्यापारिक सम्बन्ध बनाए रखें और कम्पनी के लिए ही उत्पादन करें, चाहे यह अनुबन्ध उनके हितों और इच्छाओं के विरुद्ध ही क्यों न हो। कभी-कभी ये जुलाहे इस प्रकार से काम करने की अपेक्षा भारी जुर्माना भरना ही अधिक उपयुक्त समझते थे, क्योंकि उन्हें डच, पुर्तगाली, फ्रांसीसी और अरब व्यापारियों से अपने उत्कृष्ट माल के लिए कहीं अधिक मूल्य प्राप्त हो सकता था।"

कम्पनी के व्यापारी प्रायः अपना एकाधिकार कायम करने के लिए जुलाहों पर इतना अधिक दवाव डालते थे और उन्हें इतनी कड़ी सजा देते थे कि जुलाहे अपनी जीविका के इस साधन को छोड़ने पर मजबूर हो जाते थे।

एक ओर ईस्ट इण्डिया कम्पनी भारतीय बुनकारों से कम कीमत पर वस्तुएं खरीद रही थीं तो दूसरी ओर कम्पनी ने कच्चे माल पर अपना नियंत्रण कायम करने का प्रयास किया। कच्चा माल पर एकाधिकार कायम कर लिया जिससे बुनकरों को कच्चा माल बेचना कठिन हो गया। बुनकर कपास सूरत और वम्बई से प्राप्त करते थे। कच्चे माल पर नियंत्रण रखने के लिए कम्पनी के कर्मचारियों ने एक निजी कम्पनी खोल ली और सूरत से 25 लाख रुपए में सारी कपास खरीद ली। फलस्वरूप कपास की कीमत 16-18 रुपए प्रति मन से बढ़कर 28-30 रुपए प्रति मन हो गई। इसका परिणाम बुनकरों के लिए अत्यन्त घातक हुआ। एक तो उन्हें अपनी वस्तुओं को अपनी इच्छा से बेचने की स्वतंत्रता नहीं थी और दूसरे उन्हें कच्चा माल के लिए वहुत अधिक कीमत देनी पड़ती थी। इन तरीकों के परिणाम विनाशकारी हुए। कम्पनी के कुछ कर्मचारियों को धन कमाने का मौका मिला लेकिन भारतीय उत्पादकों एवं बुनकरों और उत्पादकों की मजदूरी नहीं बढ़ी और भारतीय उद्योगों को गहरा धक्का लगा। बाध्य होकर भारतीय बुनकरों को अपना व्यवसाय छोड़कर दूसरे कामों में लगना पड़ा। भारतीय उद्योग धन्धों को नष्ट करने के लिए कम्पनी ने दूसरी नीति भी अपनायी। कम्पनी के कर्मचारियों ने निजी व्यापार द्वारा इंगलैण्ड में निर्मित मशीनी वस्त्र को बंगाल तथा देश के अन्य भागों में बेचना प्रारम्भ किया। चूँकि मशीन से निर्मित वस्त्रों की कीमत हाथ से निर्मित वस्त्रों से कम होती थी, इसलिए देशी वस्त्रों की मांग घटती गई। इस प्रकार कम्पनी की नीति का भारतीय उद्योगों पर घातक प्रभाव पड़ा। कम्पनी के मुर्शिदाबाद स्थित रेजीडेण्ट ने लिखा था—"यह उत्कृष्ट देश (भारत) जो एकदम निरंकुश और स्वेच्छाचारी शासकों के समय में भी वैभवपूर्ण बना रहा, अब ऐसे समय में विनाश की ओर अग्रसर हो रहा है जब वास्तव में इसके प्रशासन में अंगरेजों का हाथ अधिक हो गया है।" इंगलैण्ड में आयात की जानेवाली वस्तुओं पर भारी आयात-कर लगा दिया गया। फिर भी भारतीय वस्तुओं की मांग इंगलैण्ड में निर्मित वस्तुओं से अधिक थी, क्योंकि इंगलैण्ड में बनी हुई वस्तुओं से भारतीय वस्तुएँ बेहतर और सस्ती होती थीं। भारतीय उद्योगों को नष्ट कर अंगरेजों ने किस प्रकार अपने उद्योगों को बढ़ाया, इसका स्पष्ट चित्र होरेस विल्सन ने निम्नलिखित शब्दों में हमारे सामने रखा है; "भारत के साथ सूती माल के व्यापार का इतिहास एक दुखद प्रसंग है। इससे पता चलता है कि जिस देश पर भारत आश्रित हो चुका था, उसने भारत के साथ कैसा अन्याय किया। यदि प्रतिरोधक कर और कानून न होते तो पेजली और मैनचेस्टर की मिलें शुरू में ही बन्द हो जातीं

और भाप की ताकत से भी उन्हें चलाना सम्भव नहीं होता। भारतीय निर्माण-उद्योग की बलि चढ़ाकर ही ब्रिटिश उद्योगों की सृष्टि की गई। जिस तरह का प्रतिकार स्वाध ीन रहने पर भारत कर सकता था, वैसा कोई आत्मरक्षात्मक कार्य वह नहीं कर सका। वह अजनबी लोगों की दया पर निर्भर था। ब्रिटेन में बने सामान पर कर नहीं लगता था और यह सामान खरीदने को भारत बाध्य था। ब्रिटिश उद्योगपतियों ने राजनीतिक प्रभुता और अनीति की मदद से अपने भारतीय प्रतियोगियों को दबाए रखा और अन्ततोगत्वा उन्हें पूरी तरह समाप्त कर दिया यद्यपि बराबर की लड़ाई में वे नहीं टिक पाते।"

भारतीय घरेलू उद्योगों को उस समय जबर्दस्त आघात पहुँचा जब भारतीय व्यापारियों पर विदेशी बाजारों के साथ-साथ अपने घरेलू बाजारों में भी माल बेचने पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। औद्योगिक क्रान्ति के बाद इंगलैण्ड का आर्थिक ढाँचा बिलकुल ही बदल गया और इसके साथ ही इंगलैण्ड और भारत के आर्थिक सम्बन्धों में भी परिवर्तन हुए। औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप इंगलैण्ड में एक शक्तिशाली औद्योगिक वर्ग का उदय हुआ। नवोदित औद्योगिक वर्ग का मुख्य उद्देश्य अंगरेजी उद्योगों का विकास करना था। धीरे-धीरे इंगलैण्ड के राजनीतिक ढाँचे पर भी औद्योगिक वर्ग का प्रभाव कायम हो गया। यह वर्ग भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पीन के व्यापारिक एकाधिकार को समाप्त करना चाहता था ताकि भारतीय व्यापार में सभी व्यापारी सामान्य रूप से भाग ले सकें। यह वर्ग चाहता था कि कम्पनी भारत में ऐसी नीति अपनाये जिससे ब्रिटिश उद्योगों के हितों की रक्षा हो और भारत में ब्रिटिश वस्तुएँ आसानी से बिक सकें। यह वर्ग सरकार पर आर्थिक नीति में परिवर्त्तन लाने के लिए दबाव डाल रहा था। औद्योगिक वर्ग अपने प्रयास में सफल रहा और 1813 ई. के चार्टर ऐक्ट के द्वारा ईस्ट इण्डिया कम्पनी के व्यापारिक एकाधिकार को समाप्त कर दिया गया और मुक्त आने लगीं। लेकिन इंगलैण्ड जानेवाली भारतीय वस्तुओं पर अत्यधिक कर लगाया गया था। 1813 ई. के चार्टर ऐक्ट के पास होने के समय भी इंगलैण्ड में आयात होनेवाले भारतीय सूती वस्त्रों पर 78 प्रतिशत शुल्क लगता था। 1840 ई. की संसदीय जाँच में बताया गया था कि भारत आनेवाले ब्रिटिश सूती और रेशमी सामानों पर 3.5 प्रतिशत और ऊनी सामान पर 2.5 प्रतिशत शुल्क लगता था, जबकि ब्रिटेन में जानेवाले भारतीय सूती कपड़े पर 10 प्रतिशत, रेशमी कपड़े पर 20 प्रतिशत और ऊनी कपड़े पर 30 प्रतिशत शुल्क लगाया गया था।

ब्रिटिश सरकार की आर्थिक नीति का एक परिणाम यह हुआ कि भारत, जो पहले सूती कपड़ों के निर्यात करनेवाले देशों में प्रमुख स्थान रखता था, अब सूती कपड़ा के आयात करनेवाले देशों में मुख्य देश बन गया। 1814-35 ई. के बीच ब्रिटिश सूती कपड़े की भारत में खपत 8 लाख से बढ़कर 5 करोड़ 10 लाख गज

से भी अधिका हो गई थी। इस अवधि में इंगलैण्ड जानेवाले भारतीय कटपीसों की संख्या 12/1/2 लाख से घटकर 3 लाख 6 हजार और 1844 ई. में मात्र 63,000 गज रह गई। मूल्य के हिसाब से 1815-32 ई. में भारत से निर्यात किए गए सूती कपड़ों का मूल्य 13 लाख पौण्ड से घटकर 1 लाख पौण्ड हो गया जबकि इंगलैण्ड से आयातित सूती कपड़े का मूल्य 26,000 पौण्ड से बढ़कर 4 लाख पौण्ड हो गया। 1818-1836 ई. के बीच भारत में इंगलैण्ड के बने सूत का आयात 5,200 गुना हो गया। यही स्थिति रेशमी, ऊनी कपड़ें लोहे के बने बरतनों, काँच और कागज-उद्योग के क्षेत्रों में भी थी।

यातायात के साधनों के विकास के फलस्वरूप भी ब्रिटिश वस्तुओं को भारत में फैलने का मौका मिला और इसका विनाशकारी प्रभाव भारतीय उद्योगों पर पड़ा। रेल की सहायता से ब्रिटेन में निर्मित वस्तुएँ भारत के कोने-कोने में पहुँचने लगीं भारतीय ब्रिटेन में निर्मित सस्ती वस्तुएँ खरीदना चाहते थे। भारत में वस्तुएँ दस्तकारों, कारीगरों और शिल्पियों द्वारा तैयार की जाती थीं जो ब्रिटिश वस्तुओं की तुलना में महंगी होती थीं। फलतः देशी वस्तुओं की मांग कम होने लगी। इसलिए भारतीय दस्तकारों और शिल्पियों के धन्धे ठप्प पड़ गए। लगभग सभी उद्योग-वस्त्र-उद्योग, शीशा, कागज, चमड़ा, तथा रंगाई के उद्योग में गिरावट आ गई, क्योंकि दस्तकारों द्वारा निर्मित इन वस्तुओं पर खर्च अधिक बैठता था और मशीन द्वारा वस्तुएँ तैयार करने में लागत खर्च कम आता था। इसलिए भारत के आम नागरिक ब्रिटेन निर्मित सस्ती वस्तुओं की ओर आकृष्ट हुए। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इंगलैण्ड की उत्पादन-प्रणाली भारतीय उत्पादन-प्रणाली से बेहतर थी और नये-नये वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण प्राचीन भारतीय उद्योग धन्धों का विनाश अनिवार्य ही था। इंगलैण्ड में भी औद्योगिक क्रान्ति के बाद पुराने बुनकरों की जीविका समाप्त हो गयी थी। लेकिन वहाँ मशीन-उद्योगों का विकास इतनी तेजी के साथ हुआ कि उनको जीविका आसानी से मिल गई। भारतीय उद्योगों का विनाश अंगरेजी सरकार की शोषण-नीति और राजनीतिक दबाव के कारण हुआ था। इसलिए पुराने कारीगरों को जीविका का कोई साधन नहीं मिल पाया। अंगरेजी सरकार भारत के उद्योगों में आविष्कार के नये साधनों का प्रयोग करने के लिए सचेष्ट नहीं थी। 1850 ई. के बाद भारत में आधुनिक कारखानों की स्थापना की गयी। लेकिन यहाँ मशीनी-उद्योगों का तेजी से विकास नहीं हुआ। फलस्वरूप लोगों को जीविका का कोई साधन नहीं मिला। ढाका, मुर्शिदाबाद और सूरत जैसे औद्योगिक केन्द्र बर्बाद हो गये। कताई और बुनाई कला, जो असंख्य लोगों को जीविका देती थी, भारत से समाप्त हो गई। लॉर्ड विलियम बेन्टिंक ने बुनकरों की दशा का वर्णन करते हुए कहा था कि–"इनका दुख-दर्द समूचे इतिहास में अतुलनीय है। कपड़ा बुनकरों की अस्थियों से भारत की

धरती सफेद हो गई है।"

स्पष्ट है कि भारतीय उद्योगों को विकसित करने में अंगरेजी शासकों की कोई दिलचस्पी नहीं थी। उनकी दिलचस्पी भारत से कच्चा माल ले जाने में थी। इसलिए 1833 ई. के बाद भारत से कच्चे माल का निर्यात वृहत् पैमाने पर शुरू हुआ। 1833 ई. में 37 हजार पौण्ड और 1844 ई. में 27 लाख पौंण्ड भेड़ की ऊन बाहर भेजी गई। 1833 ई. में 2,100 बुशल और 1844 ई. में 2,37,000 बुशल तिलहन बाहर भेजा गया। भारत को अनाज भी बाहर भेजना पड़ा। 1849 ई. में 8 लाख 58 हजार पौण्ड की कीमत का अनाज भारत से बाहर भेजा गया। इसमें मुख्यतः चावल और गेहूँ थे। अंगरेज पूँजीपतियों का उद्देश्य प्रारम्भ से ही स्पष्ट था। 1840 ई. में मैनचेस्टर चैम्बर ऑफ कॉमर्स के अध्यक्ष थॉमस वजले ने कहा था, "भारत एक विशाल देश है और यहाँ की आबादी इतने बड़े पैमाने पर विदेशी माल खरीदेगी जिसकी कोई सीमा नहीं होगी। भारतीय व्यापार के सम्बन्ध में हमारे सामने समूची समस्या यह है कि हम जो माल वहाँ भेजने को तैयार हैं उसकी कीमत क्या भारत के लोग धरती के उत्पादन से अदा कर पाएँगे।" ब्रिटिश उद्योगपतियों का मुख्य उद्देश्य यही था कि वे भारत के बाजार को विकसित करें और भारत में कच्चे माल के उत्पादन में वृद्धि करे ताकि कच्चा माल का निर्यात अधिक हो सके। कुछ समय बाद ब्रिटिश पूँजीपतियों एवं उद्योगपतियों का सपना साकार हुआ और भारत अंगरेजी पूँजीवाद का कृषि-प्रधान उपनिवेश बन गया। भारत में एक विशिष्ट औपनिवेशिक अर्थ-प्रणाली की स्थापना हुई। भारत का काम थाइंगलैण्ड को कच्चा माल देना और पुनः उस कच्चे माल से निर्मित वस्तुओं के लिए मंडी का काम करना। इतिहासकारों ने इस प्रक्रिया को उद्योगीकरण की संज्ञा दी है।

सरकार की बेरुखी के कारण भारतीय उद्योगों न होने के कारण देश में बेकारों की संख्या बढ़ी और भूख से तड़पकर कई लाख व्यक्ति मरे। देश निर्धन हो गया। ब्रिटिश साम्राज्य का प्रसार होने लगा और देश एवं विदेश में होने वाले युद्धों से धन वसूल किया जाने लगा। भारत से यदि ब्रिटिश सरकार को किसी वर्ष कम आय प्राप्त होती थी तो कर्ज लेकर उसका ब्याज सहित भार भारत को ढोना पड़ता था। स्थायी प्रबन्ध की व्यवस्था ने किसानों एवं कारीगरों को फटे हाल बना दी। डलहौजी के बन्दरगाहों की सुविधा को बढ़ाकर इंगलैण्ड के माल का अबाध प्रवेश का द्वार खोल दिया। अंगरेजी शिक्षा प्राप्त करने वाले भारतीय वस्त्रों का प्रयोग करने लगे। इस प्रकार भारत के प्रमुख औद्योगिक नगर जैसे ढाका, लखनऊ, बनारस, अहमदाबाद, नागपुर आदि उजड़ गये और उनके स्थान पर इंगलैण्ड के मैनचेस्टर और लीवरपुर के कारखानों का धुआं आकाश को चूमने लगा।

उन्नीसवीं सदी के मध्य में बम्बई में कपड़ा मिल खोला गया और 1850-70

ई. के बीच कई भागों में रूई से बिनौले निकालने तथा गाँठों में रूई भरने के लिए कुछ जेनिंग और प्रेसिंग कारखाने खोले गए। इस तरह के कारखानों में कच्चे माल का निर्यात के लिए व्यवस्थित रूप दिया जाता था और भारत एक आर्थिक उपनिवेश हो गया था। नये कारखानों के निर्माण से भारत में आबादी का बहुत बड़ा भाग कृषि पर आश्रित हो गया। भूमि टुकड़ों में बँटने लगी और भारत की आर्थिक रीढ़ ही टूट गयी। आर. सी. दत्त ने लिखा है कि भारत की आर्थिक विशृंखलता के लिए ब्रिटिश शासन उत्तरदायी था।

भारतीय उद्योगों के नष्ट होने के कई कारण थे। अंग्रेज व्यापारी के रूप में आये थे और साम्राज्य की स्थापना के बाद केवल इंगलैण्ड में बनी वस्तुओं का ही व्यापार करने लगे। इससे भारतीय शिल्पकला का विकास अवरुद्ध हो गया। देशी नरेशों के राज्य हड़प लिए गए। देशी रियासतों के विलय से भारतीय दस्तकारों का संरक्षण देनेवाला तथा उनके मालों का ग्राहक वर्ग समाप्त हो गया। नरेशों के पतन और विदेशी अधिकारियों के कारण भारतीय वस्तुओं की मांग कम हो गयी। विदेश से आनेवाली वस्तुएं सस्ती, आकर्षणक और टिकाऊ थीं। इन वस्तुओं के साथ भारतीय माल-तुलना में नहीं आते थे। इसके अतिरिक्त, भारत में राष्ट्रीय भावना का अभाव था और शिक्षित वर्ग विदेशी वस्तुओं के प्रति अधिक आकर्पणक दिखते थे। भारतीय चट्टी या आढ़त प्रथा शिथिल पड़ गयी। इन कारणों से भारतीय उद्योग धन्धों का पतन हुआ। अत्यधिक मात्रा में भारत से कच्चे माल का निर्यात के कारण भी भारतीय घरेलू उद्योगों का पतन हुआ। एक तो कच्चे माल का मूल्य बढ़ गया और दूसरे दस्तकारों एवं शिल्पियों को कच्चा माल मिलना कठिन हो गया। अतएव उन्हें बाध्य होकर कृषि को अपनाया पड़ा।

भारत में नवीन उद्योगों का विकास

भारत में साम्राज्यवाद की सुरक्षा के लिए रेल, तार, डाक, सिंचाई के साधन, बैंक, बीमा कम्पनियां आदि का निर्माण करना पड़ा। और इसके साथ ही उद्योगीकरण की नीति ब्रिटिश सरकार को अपनानी पड़ी। भारत में सबसे पहले कपड़ा मिल बम्बई में खोली गयी। उन्नीसवीं सदी के मध्य में कपड़ा, जूट, कागज, लोहा, चमड़ा आदि से सम्बन्धित उद्योगों की स्थापना की गयी। 1860 ई. में कोयला निकालने का काम प्रारम्भ हुआ। प्रारम्भ में उद्योगों के विकास की नीति बहुत धीमी थी और इनमें यूरोपीय पूंजी लगी हुई थी।

पटसन उद्योग—मुक्त व्यापार की नीति, बन्दरगाहों के विकास, भाड़ा में गिरावट के कारण औद्योगिक प्रगति को प्रोत्साहन मिला। आयात-निर्यात में वृद्धि हुई और माल लाने तथा भेजने के लिए बंगाल का पटसन बहुत उपयोगी था। माल के पैकिंग के लिए पटसन का उपयोग किया जाता था। स्कॉटलैण्ड के निवासियों

के द्वारा भारत में पटसन उद्योग हुगली के आस-पास प्रारम्भ किया गया। हुगली नदी के दोनों किनारों पर 96 किलोमीटर वाले लम्बे क्षेत्र में पटसन के अनेक कारखानों का निर्माण किया गया। प्रथम पटसन उद्योग 1855 ई. में खोला गया। दस वर्षों के अन्दर उसकी संख्या बढ़ी और विश्व में पटसन उद्योग पर एकाधिकार कायम हो गया। उत्पादन अधिक होने से पटसन उद्योग लाभकारी सिद्ध हुआ। परन्तु आगे चलकर लाभ की मात्रा घट गयी। 1884 ई. में इंडियन जूट मिल्स एसोसिएशन की स्थापना की गयी और पटसन के कारखानों में उत्पादन एवं मूल्य को नियंत्रित करने का प्रयास किया गया। क्षमता से कम में मिल को चलाकर, सप्ताह में पांच दिन काम और काम के घंटे घटके उत्पादन को मांग से कम रखकर लाभांश को सन्तुलित किया गया। मिल मालिकों की आपसी प्रतिस्पर्धा को भी समाप्त कर दिया गया और मालिकों के लाभ को अंश में कोई कमी नहीं आने दी गयी। मिल मालिक किसानों से कम दर पर पटसन खरीदते थे। प्रथम विश्वयुद्ध के समय पटसन के निर्यात पर प्रतिबंध लगा दिया गया। परन्तु बीसवीं सदी के प्रारम्भ में ऐसे मिलों की संख्या बढ़कर 123 हो गयी थी।

प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद व्यापारिक एवं औद्योगिक उतार-चढ़ाव का असर पटसन उद्योग पर नहीं पड़ा। पटसन उद्योग पर 1929-31 ई. के विश्वव्यापी मन्द का भी असर नाममात्र के लिए पड़ा। मिल मालिकों के द्वारा मजदूरों को कम वेतन दिया जाता था और सस्ते दाम पर पटसन खरीदने से लाभांश में कमी नहीं आने दी गयी। पटसन उद्योग पर कागज का पैकिंग प्रारम्भ करने के साथ बुरा असर पड़ा। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय पटसन का उत्पादन मुख्यतः पूर्वी बंगाल में होता था। स्वाधीनता के बाद वह क्षेत्र पाकिस्तान का अंग बन गया। भारतीय क्षेत्र में केवल पटसन का कारखाना ही रहा। पूर्वी बंगाल अब स्वयं स्वाधीन राष्ट्र बन गया है। वहां अच्छे किस्म का पटसन पैदा किया जाता है। विदेशी मालिकों के नियंत्रण में रहने के कारण पटसन उद्योग का ढांचा अत्यधिक दुर्बल था। अतः स्वाधीनता के बाद भारत में पटसन उद्योग को प्रोत्साहन देने की नीति अपनायी गयी और अब यह उद्योग पहले की तुलना में अधिक उन्नत अवस्था में है।

कपड़ा उद्योग—कपड़ा कुटीर उद्योग के माध्यम से भारत में तैयार होता है। इंगलैण्ड में औद्योगिक क्रान्ति हुई और वहां के वस्त्रोद्योग को संरक्षण और प्रोत्साहन देने के लिए कम्पनी सरकारी विदेशी वस्त्रों से भारत के बाजारों को भर दिया। भारत में कपास की खेती होती थी। भारत से रूई का निर्यात इंगलैण्ड में किया जाने लगा और भारतीय वस्त्रोद्योग के कब्र पर ब्रिटेन के वस्त्रोद्योग की विशाल इमारत खड़ी कर दी गयी। रेलवे और सड़कों के निर्माण करने से भारत में औद्योगिक विकास की सम्भावना को अधिक दिनों तक रोका नहीं जा सका। कपड़ा उद्योग में भारत के

व्यापारियों में पूंजी लगायी और 1851-54 ई. के बीच अहमदाबाद और बम्बई में वस्त्रोद्योग प्रारम्भ कर दिया गया। मुख्य रूप से वस्त्रोद्योग के तीन प्रमुख केन्द्र बम्बई, अहमदाबाद और कानपुर में विकसित हुए। इन स्थानों में कच्चे माल की सुविधा, आवागमन से सरल साधन और मजदूरों की सुविधा के साथ वस्त्रोद्योग धीरे-धीरे विकसित हुए।

भारतीय वस्त्र उद्योग का संचालन एवं प्रबन्ध भारतीय व्यापारियों के हाथ में था। भारतीय व्यापारी लाभ पर अधिक ध्यान देते थे और उद्योग में पूंजी विनियम के प्रति उदासीन थे। प्रबन्ध समिति का गठन पारिवारिक स्तर पर था। वस्त्र उद्योग में तकनीकी कुशलता न थी। व्यवसाय बुद्धि के बल पर कपड़ा उद्योग भारत में चलाया गया था।

1876-1884 ई. के बीच वस्त्रोद्योग पर लगाया गया आयात कर समाप्त कर दिया गया। 1894 ई. में मुक्त व्यापार की नीति में परिवर्तन किया गया। भारत में जापान से कपड़ा निर्यात होने लगा। भारत सरकार ने धन की आवश्यकता पूरी करने के लिए कपड़ा और सूत पर 5 प्रतिशत कर लगा दिया और भारत में उत्पादित कपड़े पर 5 प्रतिशत उत्पादन शुल्क वसूल किया जाने लगा। 1896 ई. में उत्पादन शुल्क घटकार 3.5 प्रतिशत कर दिया गया। आनेवाले दो दशकों में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। प्रथम विश्वयुद्ध में सरकार का खर्च बढ़ा। व्यय पूरा करने के लिए आयात कर में 7.5 प्रतिशत की वृद्धि की गयी और 1921 ई. में उसे बढ़ाकर 11 प्रतिशत कर दिया गया। भारतीय उद्योगों को संरक्षण देने के नाम पर 1922 ई. में राजस्व आयोग की स्थापना की गयी। यह आयोग भेदभाव वाले संरक्षण की सिफारिश की। सूती वस्त्र उद्योग को कुछ संरक्षण प्राप्त हुआ। परन्तु संरक्षण का स्वरूप 1927 ई. में नकारात्मक हो गया, क्योंकि सरकार साम्राज्य अधिमान की नीति से काम करने लगी। व्यावहारिक रूप में संरक्षण कागजी कारोबार जैसा रहा।

1925-26 ई. में जापान से कपड़ा अधिक मात्रा में भारत आने लगा। जापानी कपड़े की तुलना में इंगलैण्ड का कपड़ा घटिया और मंहगा था। 1929-30 ई. में विश्वव्यापी मन्दी का प्रभाव इंगलैण्ड के उद्योगों पर भी पड़ा। जापान से कपड़ा भारत में आना बन्द नहीं हुआ। जापानी प्रतियोगिता से बचाने के लिए 1930 ई. में भारतीय कपड़ा उद्योग का संरक्षण देना स्वीकार कर लिया गया। विदेश से आनेवाले कपड़ों पर 20 प्रतिशत आयात कर लगा दिया गया जबकि इंगलैण्ड से आनेवाले वस्त्र पर केवल 15 प्रतिशत आयात कर लगा हुआ था, यह कर 1932-33 ई. में बढ़ाकर 75 प्रतिशत कर दिया गया। पुनः आयात कर में कमी लायी गयी और युद्ध के पूर्व उसे 15 प्रतिशत कर दिया गया।

राष्ट्रीय आन्दोलन के विकास के साथ भारतीय कपड़ा उद्योग अधिक लोकप्रिय

हो गया। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय जापान से वस्त्र का आयात बन्द हो गया और 1941 ई. के बाद इंगलैण्ड से भी आयात की सम्भावना कम हो गयी। युद्ध के समय सैनिकों की आवश्यकता की पूर्ति करने तथा पश्चिमी एशिया के देशों में भारतीय वस्त्र का निर्यात अधिक मात्रा में हुआ। फलतः युद्ध के समय भारत का कपड़ा व्यवसाय अधिक लाभ अर्जित कर सका।

भारतीय वस्त्र उद्योग को ब्रिटिश काल में संरक्षण प्राप्त नहीं हो सका। वे प्रत्येक भारतीय उद्योग को एक इकाई के रूप में आंकते थे जो सर्वथा दोषपूर्ण नीति थी।

स्वाधीनता के अवसर पर भारत में वस्त्र उद्योग की संख्या 442 थी जो बाद में बढ़कर 510 हो गयी। रेशमी वस्त्र के भी कारखाने लगभग 15 हैं। ऊनी वस्त्र का उद्योग भी विकसित रूप में है और उसके विकास के लिए ऊन विकास समिति की स्थापना की गयी है।

अन्य उद्योग—चीनी उद्योग का स्थान भारत में कम महत्वपूर्ण नहीं है। चीनी उद्योग को विदेशी प्रतियोगिता का प्रारम्भ में सामना करना पड़ा, परन्तु भारतीय पूंजीपतियों ने साहस से काम लिया और 1932 ई. में शूगर इण्डस्ट्री प्रोटेक्शन ऐक्ट पास हो जाने से इस उद्योग का विकास हुआ। चीनी उद्योग की संख्या 175 है। इस प्रकार कागज बनाने का भी कारखाना उत्तरोत्तर विकसित हुआ और 15 कागज मिलें भारत में स्थापित की जा सकीं। दियासलाई, चमड़ा, सीमेंट, साबुन, शराब, चाय, तम्बाकू, लोहा आदि उद्योगों की भी स्थापना की गयी। अब इन वस्तुओं का उत्पादन व्यापक आधार होने लगा और देश की वर्तमान आवश्यकताओं की पूर्ति करने में वे समक्ष हैं।

भारत में पहला लोहा कारखाना 1864 ई. में स्थापित हुआ। 1907 ई. में टाटा आयरन एण्ड स्टील कम्पनी की स्थापना की गयी जो प्रगति की मंजिल को पारकर अब एशिया का सबसे बड़ा लोहे का कारखाना बन गया है। इण्डियन आयरन एण्ड स्टील कम्पनी, भद्रावती आयरन वर्क्स, इण्डियन स्टील कारपोरेशन को स्थापना की गयी। स्वाधीन भारत में इस्पात उद्योग का विकास तेजी से हुआ और कई विशाल कारखानों में उत्पादन का काम सफलतापूर्वक सम्पन्न किया जा रहा है। मोटर कार, साईकिल आदि उद्योगों की भी स्थापना की जा चुकी है।

अंगरेजी शासन की आर्थिक नीति का एकमात्र परिणाम था भारत को निर्धनता में वृद्धि और विदेशी पूंजी का भारतीय अर्थतंत्र पर नियंत्रण। उत्पादन की समुचित ढंग से अंग्रेजी शासन में विकसित करने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया। परिवार भुखमरी की अवस्था में रहता था। अंग्रेजी राज्य में भारत की अर्थ-व्यवस्था पंगु बन गयी थी। स्वाधीनता के बाद भी अर्थ-व्यवस्था में सन्तुलन लाना कठिन सिद्ध हो रहा है।

भू-राजस्व नीति या व्यवस्था

ईस्ट इण्डिया कम्पनी की प्रशासनिक व्यवस्था के विकसित होने के पूर्व बंगाल में मुगल कर व्यवस्था प्रचलित थी। इस व्यवस्था में किसानों से लगान वसूल करने में कानूनगो की सहायता ली जाती थी। मुगल जमींदारी व्यवस्था वंशगत अधिकार पर आधारित थी। समय पर लगान चुकाने पर जमींदारों को हटाया नहीं जाता था। लगान केवल कृषि योग्य भूमि पर ही लगाया जाता था। जमींदारों पर कर का भार कम था और भूमि से उनको काफी मुनाफा होता था मुगलों की भूमि व्यवस्था की नीति के अनुसार मुगल सम्राट से किसी क्षेत्र के जमींदारों अथवा सामन्ती अधिकार सम्राट को राजस्व का वायदा करके प्राप्त किया जा सकता था। इसके साथ ही जमींदार को उस जमींदारों में रहनेवाले लोगों के ऊपर शासन करने का अधिकार भी प्राप्त हो जाता था। 1697 ई. में अंगरेजी कम्पनी को जमींदारी अधिकार कलकत्ता, गोबिन्दपुर और सुलानही के इलाकों में प्राप्त हुए। इस अधिकार को प्राप्त करने के पीछे अंगरेजों का मुख्य उद्देश्य अधिक-से-अधिक धन प्राप्त करना था। कम्पनी अपने अधिकार क्षेत्र को विस्तृत करने के लिए चिन्तित थी।

1757 ई. में पलासी के युद्ध के बाद ईस्ट इण्डिया कम्पनी को बंगाल के चौबीस परगनों की जमींदारी के अधिकार प्राप्त हुए। पुराने जमींदारों को हटाकर प्रारम्भ में अंगरेजों ने स्वयं लगान वसूल किया। बाद में कम्पनी ने अधिकतम लगान प्राप्त करने के लिए जमींदारी अधिकारों की नीलामी शुरू कर दी। सभी परगनों की नीलामी का काम पूरा किया गया। भूमिलगान की नीलामी सट्टेदारों के बीच होती थी और सबसे अधिक बोली लगाने वालों को लगान वसूली का अधिकार दिया जाता था। नये सट्टेदारों को भूमि-सुधार से कोई लगाव नहीं था। उनका उद्देश्य अधिक-से-अधिक मुनाफा कमाना था। इसलिए वे किसानों का शोषण करने लगे और इस कारण अनेक किसानों को भूमि छोड़कर अन्यत्र जाना पड़ा। इस तरह एक नवीन जमींदार वर्ग का जन्म हुआ जिसका उद्देश्य किसानों से अधिक-से-अधिक लगान वसूल करना था।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी की बढ़ती हुई धन की मांग के कारण अंगरेजों ने अपना क्षेत्र और विस्तृत करने का प्रयास किया । 1765 ई. में कम्पनी को मुगल सम्राट से बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी प्राप्त हुई। 1765 ई. तक भू-राजस्व व्यवस्था का उत्तरदायित्व भारतीयों के हाथ में सौंपकर कम्पनी प्रत्यक्ष उत्तरदायित्व से मुक्त रही। द्वैध शासनकाल में भू-राजस्व सम्बन्धी अनेक प्रयोग किए गए। द्वैध शासन काल में लगान वसूलने का अधिकार भारतीय अधिकारियों को सौंप दिया गया। कम्पनी राजस्व व्यवस्था में न तो कोई सुधार लाना चाहती थी और न उत्तरदायित्व स्वीकार करने के लिए तैयार थी। उस समय कम्पनी के पास तीन प्रकार

की भूमि थी। पहली श्रेणी में ऐसी भूमि थी जिस पर कोई लगान कम्पनी को नहीं देना पड़ता था। वर्दवान, मिदनापुर और चटगांव के जिले लगान से मुक्त थे। दूसरी श्रेणी में ऐसी भूमि थी जिस पर कम्पनी को जमींदार की तरह अधिकार था। कलकत्ता और चौबीस परगना का क्षेत्र कम्पनी की जमींदारी थी जिसका लगान बंगाल के नवाव को देना पड़ता था। तीसरी श्रेणी में बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी आती थी जिसमें मुगल सम्राट शाहआलम को बीस लाख रुपये प्रतिवर्ष तथा बंगाल के नवाव की निजामत का खर्च पूरा करने के लिए कम्पनी को एक निश्चित रकम देनी पड़ती थी। क्लाइव की सिलेक्ट कमिटी ने लगान वसूलने का अधिकार अपने ही पास रखा, लेकिन यह प्रयोग सफल नहीं हो सका। ईस्ट इण्डिया कम्पनी प्रादेशिक राजस्व को निवेश का स्रोत मानती थी। करदाताओं के प्रति उसका कोई उत्तरदायित्व नहीं था। 1765 ई. तक कम्पनी का भू-राजस्व प्रशासन की समस्याएं सरल थीं क्योंकि उसकी जिम्मेदारियां कम थी। लेकिन 1765 ई. के वाद परिस्थिति में परिवर्तन आया। लगान व्यवस्था में भ्रष्टाचार फैलने लगा। इससे कम्पनी की अर्थ-व्यवस्था प्रभावित हुई, क्योंकि कम्पनी की आमदनी का मुख्य स्रोत लगान ही था। अतः लगान वसूली में सुधार लाने और लगान में वृद्धि के उद्देश्य से 1769 ई. में सिलेक्ट कमिटी ने लगान प्रशासन पर नियंत्रण रखने के लिए पर्यवेक्षकों को नियुक्त किया। इसका काम लगान वसूल करने के तरीकों का अध्ययन करना, लगान की उचित दर तय करना और भारतीय अधिकारियों पर अंकुश लगाना था। लेकिन भारतीय लगान अधिकारियां के असहयोग के कारण इन पर्यवेक्षकों को अपने प्रयत्नों में सफलता नहीं मिली। भारतीय लगान अधिकारियों के विरोध के कारण पर्यवेक्षकों के अधिकारों में कटौती कर दी गई। फलतः पर्यवेक्षकों की नियुक्ति का प्रारम्भिक लक्ष्य व्यर्थ रहा। 1770 ई. में कोर्ट ऑफ डाइरेक्टर्स की सलाह पर प्रेसिडेंड और काउन्सिल के माध्यम से भू-राजस्व प्रशासन में दूसरा महत्वपूर्ण प्रयोग किया गया। पटना और मुर्शिदाबाद में दो वित्त नियंत्रण परिषदों की स्थापना की गई। इनका उद्देश्य कम्पनी द्वारा नियुक्त नायब दीवान मुहम्मद रजा खां और सिताब राय पर नियंत्रण रखना था।

इन प्रयोगों से कोई स्थायी लाभ नहीं हुआ और ईस्ट इण्डिया कम्पनी के आन्तरिक प्रशासन का संचालन जटिल होता गया क्योंकि सिलेक्ट कमिटी और प्रेसिडेंट तथा काउन्सिल में प्रायः मतभेद रहता था। इसे रोकने के लिए वारेन हेस्टिंग्स को बंगाल का गवर्नर नियुक्त किया गया। वारेन हेस्टिंग्स की नियुक्ति द्वारा पहली बार लगान प्रशासन में ईमानदारी से सुधार लाने का प्रयत्न किया गया था। अभी तक कम्पनी की लगान नीति स्पष्ट नहीं थी। इस अनिश्चित नीति से दोष बंगाल में भयंकर अकाल के रूप में स्पष्ट हुए। द्वैध शासन प्रणाली इस स्थिति के लिए उत्तरदायी थी। द्वैध शासन प्रणाली में भ्रष्टाचार बढ़ रहा था और कम्पनी की

आमदनी भी घटती जा रही थी। अतएव वारेन हेस्टिंग्स ने सर्वप्रथम द्वैध शासन प्रणाली को समाप्त कर दिया और स्वयं दीवानी अधिकारों का प्रयोग करने का निर्णय लिया। बंगाल, विहार और उड़ीसा के प्रशासन का उत्तरदायित्व कम्पनी ने लिया। मुर्शिदाबाद और पटना में नायव दीवान का पद समाप्त कर दिया गया। अन्य स्थानों से कर कम्पनी ने स्वयं वसूलने का निर्णय लिया। मई 1772 ई. में सर्किट कमिटी नियुक्त की गई, जिसका काम बंगाल में भूमि वन्दोवस्त की योजना बनाना और उसे लागू करना था। साथ ही प्रत्येक जिला में पर्यवेक्षकों के स्थान पर कलक्टरों की नियुक्ति की गई। वित्त नियंत्रण परिषदों से समाप्त कर दिया गया। कम्पनी के लगान क्षेत्रों को कलक्टरों के वीच वांट दिया गया। केन्द्रीय सरकार का कार्य सामान्य नियंत्रण एवं आवश्यक निर्देश प्रदान करने तक सीमित था। कलक्टरों की सहायता के लिए प्रत्येक जिला में दीवान की नियुक्ति हुई। यह प्रयोग भी अधिक समय तक नहीं चल सका, क्योंकि डाइरेक्टरों के आदेशानुसार कलक्टरों को जिला से वापस वुला लिया गया। साथ ही कलकत्ता, वर्दवान, ढाका, मुर्शिदावाद, दिनाजपुर और पटना में प्रान्तीय काउन्सिलों को भी समाप्त कर दिया गया। प्रान्तीय काउन्सिलों के स्थान पर लगान समिति की स्थापना की गई। इसका उद्देश्य राजस्व प्रशासन में केन्द्रीकरण लाना था। लगान समिति का काम लगान सम्बन्धी मामलों में निर्देशन देना, लगान सम्वन्धी हिसाव-किताव की जांच करना और आवश्यक आदेश जारी करना था। वाद में लगान समिति को समाप्त कर लगान वोर्ड की स्थापना की गई। लगान वोर्ड की सहायता के लिए एक दीवान की नियुक्ति की गई। राय रायन को उच्चतम काउन्सिल के अधीन रखा गया। लगान वसूलने का अधिकार कानूनगो को दिया गया।

राजस्व प्रशासन में सुधार के साथ-साथ लगान नीति में भी परिवर्तन किया गया। वारेन हेस्टिंग्स जमींदारों को विचौलिया मात्र मानता था। उसने उन्हीं जमींदारों के अस्तित्व को स्वीकार किया जिसमें उन जमींदारों से मिलनेवाली बोली के बराबर भू-राजस्व कम्पनी को देने की सामर्थ्य थी। 1772 ई. में उसने पंचवर्षीय बंदोबस्ती व्यवस्था लागू की। इस व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक जमींदारी पर मालगुजारी पांच वर्ष के लिए निश्चित कर दी जाती थी और मालगुजारी वसूलने का काम या ठेका उस व्यक्ति को दिया जाता था जो सबसे अधिक डाक बोलता था। जमींदार केवल लगान वसूल करता था, वह जमीन का स्वामी नहीं था। उसे इस काम के लिए केवल कमीशन का ही अधिकार था। जमींदारों को नीलामी में किसी प्रकार की सरकार की ओर से प्राथमिकता नहीं दी गयी थी। पुराने जमींदारों को नये जमींदारों के स्तर पर ही रखा गया था ताकि भू-राजस्व के रूप में अधिक-से-अधिक धन प्राप्त हो। बंगाल की अधिकतर भूमि नये लोगों को मिल गयी थी। फलस्वरूप पुराने जमींदार परिवार

भूमि से अलग हो गए और जमींदारों एवं काश्तकारों के बीच का पूर्व स्थापित सम्बन्ध टूट गया।

वारेन हेस्टिंग्स की पंचवर्षीय लगान व्यवस्था पूर्णतः असफल ही रही, क्योंकि इस व्यवस्था से किसानों को ही अधिक हानि हुई थी। अधिक कर निर्धारण और नये जमींदारों की शोषण नीति का शिकार किसान ही हुए थे। लगान वसूली के अधिकार की नीलामी खरीदने वाले अधिकतर ठेकेदार थे। उन्हें न तो कृषि क्षेत्र की कोई जानकारी थी और न भूमि में स्थायी दिलचस्पी ही। उनका मुख्य उद्देश्य निर्धारित समय के अन्दर अधिक-से अधिक धन प्राप्त करना था। कंपनी के अधिकारियों ने भी निजी नौकरों एवं गुमाशतों की सहायता से नीलामी में भाग लिया था भूमि कर अधिक-से-अधिक निश्चित किया जाता था। जमीन की कीमत बढ़ती गयी और किसानों का शोषण भी बढ़ता गया। ठेकेदारों और कम्पनी के अधिकारियों द्वारा किसानों से अधिक-से-अधिक लगान वसूलने के कारण किसानों की हालत शोचनीय हो गयी थी। पंचवर्षीय बन्दोबस्ती व्यवस्था की असफलता के बाद वार्षिक बन्दोबस्त जमींदारों के साथ ही किया गया था लेकिन लगान की दर ऊँची रहने के कारण रैयतों पर अत्याचार होते रहे। एकवर्षीय प्रणाली को सफलता नहीं मिली। अत्याचार और शोषण नीति के कारण एकवर्षीय व्यवस्था के फलस्वरूप अधिकांश भूमि परती छोड़ दी गई। भूमि का मूल्य घट गया और वारेन हेस्टिंग्स अपने पीछे हुद, विद्रोह और अकालों की एक लड़ी छोड़ गया। एकवर्षीय बन्दोबस्ती व्यवस्था के परिणाम इतने घातक सिद्ध हुए कि लॉर्ड कॉर्नवालिस ने 1789 ई. में लिखा था कि, 'भारत का एक-तिहाई भाग जंगल के सदृश है जिसमें जंगली जानवर रहते हैं।'

वारेन हेस्टिंग्स के लगान सम्बन्धी प्रयोग की असफलता से कम्पनी सरकार की प्रतिष्ठा को ठेस पहुंची। वह लगान के सम्बन्ध में कोई स्थायी व्यवस्था नहीं कर सकता। वस्तुतः दीवानी का उत्तरदायित्व स्वीकार करने के बाद कम्पनी प्रयोग के काल से गुजर रही थी। पंचवर्षीय अथवा एक वर्षीय ठेकेदारी की व्यवस्था दोषपूर्ण थी। ऊँची बोली बोलनेवाले को जमीन दी जाती थी। जमींदारों को लगान की रकम पूरा करने के साथ-साथ लाभांश प्राप्त करने की चिन्ता अधिक रहती थी। ठेकेदारी की व्यवस्था में न तो लगान की दर निश्चित की गयी थी और न किसानों के हितों की रक्षा हो पाती थी। लगान वसूलनेवाले अधिकारियों को न्याय का अधिकार देना उचित नहीं था। लगान-व्यवस्था से अंगरेज स्वयं परिचित नहीं थे। वे भारतीय अधिकारियों की सहायता पर निर्भर करते थे। अतः लगान संबंधी अव्यवस्था पूर्ववत् बनी रही और उसके दोषों को दूर करने का कोई ठोस प्रयास नहीं किया गया था। परन्तु प्रयोग के माध्यम से वारेन हेस्टिंग्स ने भविष्य में सुधार करने का रास्ता खोल दिया था।

(क) स्थायी बन्दोबस्त

कम्पनी सरकार की पूरी कोशिश के बावजूद भी भू-राजस्व से सरकार की आय निश्चित नहीं हो पायी थी। अनेक अंगरेज प्रशासकों ने भी इस बात पर बल दिया था कि भूमि का स्थायी बन्दोबस्त किया जाए और समझौता लम्बी अवधि के लिए हो। 1776 ई. में फिलिप फ्रांसिस ने भी इसी तरह का विचार अपनी एक योजना द्वारा प्रस्तुत किया था। तत्कालीन विचारधारा भी स्थायी बन्दोबस्त के पक्ष में थी। स्थायी बन्दोबस्त की विचारधारा पर फ्रांसीसी प्रकृतितंत्रवादी विचारधारा का भी प्रभाव था। इस विचारधारा के अनुसार, स्थायी और स्थिर समाज का आधार सम्पत्ति की सुरक्षा में निहित है। यदि सम्पत्ति के अधिकार को भूमि के स्वामियों के हाथ में सुरक्षित कर दिया जाय और भूमि कर लम्बी अवधि के लिए निश्चित कर दिया जाय तो इससे सम्पूर्ण कृषि व्यवस्था को लाभ पहुंचेगा। फिलिप फ्रांसिस और अन्य अनेक विचारक इसी तरह की व्यवस्था बंगाल में लागू करना चाहते थे ताकि कृषि व्यवस्था में सुधार हो सके। अलेक्जेंडर डोब, हेनरी पाटुल्लो और टॉमस लॉ पहले ही दीर्घकालीन भूमि के बन्दोबस्त की विचारधारा प्रस्तुत कर चुके थे। सभी विचारक इस बात पर सहमत थे कि समाज में स्थिरता लाने के लिए भूस्वामियों को सुरक्षा प्रदान करनी चाहिए। यह केवल स्थायी बन्दोबस्त के द्वारा ही सम्भव था। उनका विचार था कि सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार समाज के ऐसे वर्ग के पास सुरक्षित कर दिए जाएं जिसकी भूमि में गहरी दिलचस्पी हो और जिस पर राजनीतिक रूप से निर्भर रहा जा सके।

कॉर्नवालिस की भारत में गवर्नर जनरल के रूप में नियुक्ति के समय तक भूमि बन्दोबस्त के सम्बन्ध में अनेक प्रयोग किए जा चुके थे। ब्रिटिश सरकार और कोर्ट ऑफ डाइरेक्टर्स भी दीर्घकालीन लगान नीति के पक्ष में थे। कॉर्नवालिस भी जानता था कि बंगाल में धन का स्रोत कृषि है, वाणिज्य नहीं। वाणिज्य का विस्तार कृषि की समृद्धि पर निर्भर करता था। अतएव कृषि को प्रोत्साहन देना आवश्यक था। कॉर्नवालिस इस तथ्य से भी अवगत था कि इंगलैण्ड के औद्योगिक विस्तार में भारतीय कृषि काफी हद तक सहायक हो सकती है। इसलिए वह भी लगान नीति और राजस्व प्रशासन में सुधार लाना चाहता था।

1786 ई. में कॉर्नवालिस भारत का गवर्नर जनरल नियुक्त हुआ। उसके समय में भारतीय कृषि का ह्रास हो गया था। औद्योगिक उत्पादन में भी कमी आ गयी थी और कृषकों की आर्थिक हालत शोचनीय थी। कॉर्नवालिस को व्यापक अधिकार देकर भारत भेजा गया था। इंगलैण्ड के प्रधानमंत्री पिट्स और बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल के अध्यक्ष डाण्डस उसके घनिष्ठ मित्र और समर्थक थे। अतः कॉर्नवालिस ने 1789 ई. में दस वर्षीय व्यवस्था जारी करने की घोषणा की और इंगलैण्ड की सरकार की

स्वीकृति पाकर उसे स्थायी बनाने की इच्छा व्यक्त की। कॉर्नवालिस और सर जान शेर दोनों एकजुट होकर भूमि समस्या का स्थायी निदान ढूँढ़ना चाहते थे। परन्तु सुधान के संबंध में दो प्रश्नों पर सरकारी अधिकारों और कॉर्नवालिस के बीच मतभेद था। प्रश्न यह था कि क्या भूपति मात्र लगान वसूलने वाले अधिकारी हैं अथवा भूमि के स्थायी स्वामी हैं। इंगलैण्ड की सामन्ती व्यवस्था में जमींदारों को भूस्वामी माना जाता था। कॉर्नवालिस और सर जान शेर जमींदारों को भूस्वामी मानने के लिए तैयार थे। दूसरा प्रश्न लगान व्यवस्था के सम्बन्ध में था। लगान की रकम उपज के आधार पर किसानों से कितनी वसूल की जाय तथा जमींदारों की आय का कितना भाग सरकार को मिलना चाहिए? सर जान शेर जमींदारों के साथ दस या बीस वर्षों का समझौता करना चाहता था। परन्तु कॉर्नवालिस अपने शासनकाल में भूमि व्यवस्था को पूरा करने के लिए व्यग्र था।

कॉर्नवालिस ने दस वर्षीय व्यवस्था के अधीन जमींदारों को व्यापक अधिकार दिया था। रैयतों के स्वार्थ की रक्षा का इसमें कोई प्रावधान नहीं था। कॉर्नवालिस इंगलैण्ड की तरह जमींदारों के हाथ में रैयतों का कल्याण, कृषि एवं उद्योग धंधों के विकास का दायित्व सौंपना चाहता था। अतः 1760 ई. में बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल के अध्यक्ष को एक पत्र लिखकर कॉर्नवालिस ने दस वर्षीय व्यवस्था को स्थायी रूप में स्वीकार करने का प्रस्ताव रखा। फ्रांस की क्रांति के कारण स्वीकृति मिलने में विलम्ब हुआ। इंगलैण्ड के प्रधानमंत्री पिट और बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल के अध्यक्ष कॉर्नवालिस के पक्ष में थे। परन्तु सर जॉन शेर और चार्ल्स ग्रान्ट स्थायी समझौता का विरोध करते थे। फिर भी अन्ततः 1793 ई. में स्थायी बन्दोबस्त की बात स्वीकार कर ली गयी।

स्थायी बन्दोबस्त की व्यवस्था के पक्ष में और विपक्ष में अनेक तरह के तर्क पश्चिमी और भारतीय विद्वानों द्वारा पेश किया गया है। स्थायी बन्दोबस्त की आलोचना प्रशासक और वित्त विशेषज्ञों के द्वारा भी की गयी है। सर्वप्रथम इस व्यवस्था की मुख्य विशेषताओं का परिचय आवश्यक है।

स्थायी बन्दोबस्त के आधार पर जमींदार भूमि के स्वामी बना दिये गये। भूमि पर जमींदारों का वंशानुगत अधिकार हो गया। जब तक जमींदार सरकार को निश्चित लगान देते रहते उनका भूमि पर अधिकार सुरक्षित रहता था। लगान नहीं देने पर उन्हें भूमि के अधिकार से वंचित कर दिया जा सकता था। भूस्वामी की हैसियत से जमींदार भूमि की खरीद या बिक्री कर सकते थे। सरकार के साथ किसानों का कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं था। जमींदारों से लगान की रकम सदा के लिए निश्चित कर दिया गया। किसी भी परिस्थिति में लगान की रकम में कोई छूट जमींदारों को नहीं दी जाती थी लगान की रकम पट्टे में अंकित कर दी जाती थी और उसमें वृद्धि सरकार की स्वीकृति के द्वारा ही की जा सकती थी। अपनी सेवाओं के लिए जमींदारों का

लगान का ग्यारहवां भाग अपने पास रखने का अधिकार था। शेष रकम सरकार के लिए थी। लगान की राशि का कुछ भाग भी नहीं देने पर जमींदारों के लगान अधिकार छीन लिए जाते थे। सरकार को जमींदारों की सम्पत्ति जब्त करने का अधिकार प्राप्त था। 1794 ई. में नया कानून बनाया गया। उसे सूर्यास्त कानून कहा जाता था। इसके अनुसार, यदि पूर्वनिर्धारित तिथि के सूर्यास्त तक सरकार को लगान या उसका कुछ भाग नहीं दिया गया तो जमींदार के विरुद्ध कानूनी कार्यवाही की जाएगी।

स्थायी बन्दोबस्त को व्याहारिक रूप देकर कॉर्नवालिस भारत में जमींदारों का एक शक्तिशाली वर्ग तैयार करना चाहता था कि ब्रिटिश सरकार के हितचिन्तक रहे। जमींदार वर्ग का समाज पर प्रभुत्व छा गया। लगान की रकम निश्चित कर देने से अंगरेज अधिकारी प्रतिवर्ष लगान वसूलने के झंझट से मुक्त हो गये। वे अपना ध्यान दूसरी दिशा में लगाने लगे। कम्पनी की भूराजस्व से आय में कोई कटौती नहीं हो पाती थी।

स्थायी बन्दोबस्त से लाभ : स्थायी बन्दोवस्त का लाभ सर्वप्रथम जमींदारों को मिला। अस्थायी एवं अनिश्चित अधिकारी के बदले वे जव स्थायी रूप से जमीन के मालिक बन गये। जमींदारों की स्थिति शक्तिशाली हो गयी। वे सरकर को निर्धारित लगान देकर जमीन के वास्तविक स्वामी वन गये। भूपतियों को वंशानुगत अधिकार मिल गया। जमींदार वर्ग भारत में ब्रिटिश सरकार की जड़ को सुदृढ़ वनाने में सहायक हो गया। यह वर्ग अंगरेजी राज्य के प्रति सच्ची भक्ति प्रदर्शित करने लगा। भूमि पर स्थायी स्वामित्व प्राप्त करने से जमींदारों के द्वारा कृषि विकास के कार्य में अभिरुचि प्रदर्शित की जाने लगी। जमींदारों ने कृषि के स्वरूप को उन्नत करने, उपज बढ़ाने आदि का कार्यक्रम अपनाया। जोतने योग्य भूमि का क्षेत्र बढ़ाया गया। कृषकों को संतुष्ट करने एवं समृद्ध बनाने के लिए नया प्रयोग करने की आशा जमींदारों से की गयी थी। उत्पादन में वृद्धि होने से जमींदारों को अधिक लाभ प्राप्त होता था। जमींदारों को निश्चित लगान देने के बाद काफी धन बच जाता था। संचित धन का उपयोग व्यापार एवं उद्योग धंधों के विकास में किया जाने लगा। भूमि की कीमत बढ़ गयी। जमींदार अव बड़े-बड़े नगरों में बसने लगे। समाज में जमींदारों की प्रतिष्ठा बढ़ी और वे किसानों से भेंट, उपहार, बेगार आदि लेने लगे। कुछ उदार जमींदारों के द्वारा शिक्षा, कला एवं साहित्य के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया गया। बंगाल में अधिकतर भूमि आबाद नहीं हो पाती थी। परन्तु अस्थायी बन्दोवस्त के बाद कृषि योग्य भूमि का क्षेत्र बढ़ा। कम उपज करने की प्रवृत्ति समाज में व्याप्त हो गयी। भूमि को परती नहीं छोड़ा जाता था और बंगाल पुनः आर्थिक दृष्टि से ब्रिटिश भारत का एक सम्पन्न प्रान्त बन गया।

स्थायी बन्दोबस्त के फलस्वरूप किसानों की आर्थिक स्थिति में भी सुधार

हुआ। किसानों को निश्चित लगान देने के बाद जीवन निर्वाह के लिए सम्पत्ति बचने लगी। सम्पत्ति के सहारे वे कृषि या व्यवसाय का काम करने लगे। अब किसानों को अकाल या दुर्भिक्ष से छुटकारा मिल गया। किसानों से मनमाना लगान वसूल नहीं किया गया था।

कम्पनी को प्रतिवर्ष स्थायी आय प्राप्त होने लगी। भूराजस्वव की वसूली में कम्पनी को कोई खर्च नहीं करना पड़ता था। बार-बार लगान निर्धारित करने तथा वसूलने में झंझट से कम्पनी को मुक्ति मिल गयी। लगान वसूलने के लिए कम्पनी को अब कर्मचारियों को नियुक्त नहीं करना पड़ता था। आय से अनुपात में व्यय की मात्रा कुछ नहीं थी। लगान व्यवस्था में संलग्न कर्मचारियों को शासन संबंधी कामों में लगाकर प्रशासनिक क्षमता बढ़ायी गयी।

उद्योग धंधों के विकास एवं उत्पादन में वृद्धि होने से कम्पनी भी लाभान्वित हुई। सरकार को लगान के अतिरिक्त अन्य स्रोतों से आय होने लगी। निश्चित आय के कारण आर्थिक योजनाओं को बनाने एवं कार्यान्वित करने में सुविधा हुई। कम्पनी न्याय, शासन एवं व्यापार के काम को बढ़ाने में सफल हो गयी। स्थायी बन्दोबस्त से बंगाल में कम्पनी शासन की लोकप्रियता बढ़ी। बंगाल में जमींदारों का ऐसा वर्ग जन्म लिया जिससे सरकार का प्रत्यक्ष संबंध स्थापित हो गया। जमींदारों के हाथ से न्याय और शासन का अधिकार ले लिया गया। परन्तु स्थायी बन्दोबस्त के रक्षक माने जाने लगे और विद्रोह या विप्लव के अवसर पर सरकार की सहायता करने लगे। लॉर्ड विलियम बेन्टिंक ने स्थायी बन्दोबस्त के बारे में कहा था, 'यदि जबरदस्त जनविद्रोहों या क्रान्ति का मुकाबला करने के लिए सुरक्षा की जरूरत है तो मैं यह कहना चाहूंगा कि कई मामलों में और कई महत्वपूर्ण बातों में असफल होने के बावजूद स्थायी बन्दोबस्त को कम-से-कम एक बहुत बड़ा फायदा है और वह यह कि धनी भूस्वामियों का एक ऐसा विशाल संगठन खड़ा किया गया है जो तहेदिल से चाहता है कि अंगरेजी राज्य बना रहे और इसका जनता पर दबाव कायम रहे।' लॉर्ड कॉर्नवालिस को अपने लक्ष्य की पूर्ति में सफलता मिली। अंगरेज राज्य को बनाए रखने के लिए उसने एक ऐसा सामाजिक आधार और वर्ग तैयार किया जो ब्रिटिश साम्राज्य के अन्त तक उसका समर्थन बना रहा। स्थायी प्रबन्ध ने कम्पनी और जमींदार दोनों को एक धरातल पर ला दिया। इस प्रकार कम्पनी की आर्थिक हानि को राजनीतिक लाभ से संतुलित कर दिया।

स्थायी बन्दोबस्त से हानि : स्थायी बन्दोबस्त का परिणाम अमंगलकारी सिद्ध हुआ। इस व्यवसाय में कम्पनी को आशानुकूल सफलता नहीं मिली। सर्वप्रथम स्थायी बन्दोबस्त जल्दबाजी में प्रारम्भ किया गया था। भूमि की पैमाइश, लगान की दर उपज के आधार पर निर्धारित दिया गई थी और जंगल एवं बंजर भूमि आदि का

कोई आंकड़ा तैयार नहीं किया गया था। जमींदार बंजर भूमि और जंगल को कृषि योग्य भूमि में बदलकर उससे अधिक आय प्राप्त करने लगे थे। परन्तु सरकार को लगान पूर्ववत दिया जाता था वस्तुस्थिति की सही जानकारी मिलने पर यह पता चला कि जमींदार सरकारी लगान की तुलना में किसानों से पन्द्रह या सोलह गुना अधिक लगान वसूल करते थे। अतः किसानों को जमींदारों की दया पर छोड़ दिया गया था। फलतः ज़मींदार किसानों का शोषण करने लगे। वे किसानों से बेगार, भेंट, उपहार आदि लेने लगे। अधिक धन प्राप्त करने की चाह बढ़ गयी जिससे किसानों को अनेक तरह की यातनाएं जमींदारों द्वारा दी जाने लगीं। किसानों की भूमि पर कोई अधिकार नहीं रहा। जमींदार वर्ग भोग-विलास में लिप्त रहने लगा। वस्तुतः नई व्यवस्था किसानों के प्रति अन्याय थी। इस व्यवस्था में किसानों को रैयत बना दिया गया था। और उन्हें पूर्ण रूप से जमींदारों पर आश्रित कर दिया गया था। किसानों और सरकार के बीच अनेक बिचौलिए खड़े हो गये थे जिनका उद्देश्य किसानों से अधिकतम लगान वसूल करना था। इस व्यवस्था में भूमि विकाऊ वस्तु हो गयी थी जिसे मुनाफा के लिए खरीदा और बेचा जाता था। भूमि के स्वामित्व के बार-बार बदलने से किसानों की दुर्दशा होने लगी और भूमि-सुधार लाना असम्भव हो गया। वास्तव में जमींदारी प्रथा सामाजिक एवं आर्थिक शोषण की प्रतीक बन गई।

भारतीय जमींदारों को निश्चित समय पर लगान देने की आदत नहीं थी। जो जमींदार निर्धारित तिथि और समय पर लगान नहीं दे पाते थे, उनकी जमींदारी सरकार द्वारा अधिकृत कर नये जमींदारों के यहां बेच दी जाती थी। राजशाही, नदिया, दिनाजपुर आदि स्थानों में अनेक जमींदारों की जमींदारी जब्त कर ली गयी थी। नये जमींदार किसानों के प्रति असहिष्णु थे और पुराने जमींदार असन्तुष्ट होकर ब्रिटिश सरकार के लिए संकट पैदा करने लगे। नये जमींदार जागीरदारी के विकास का कोई काम नहीं करते थे।

स्थायी बन्दोबस्त का प्रभाव अन्य प्रान्तों पर भी पड़ा। बंगाल की तरह भारत के अन्य प्रान्तों में भी लगान की दर बढ़ा दी गयी। लगान में वृद्धि से किसान और जमींदार दोनों को हानि हुई। स्थायी बन्दोबस्त से ब्रिटिश सरकार भूमि संबंधी समस्या के प्रति असावधान हो गयी। लगान-व्यवस्था में सुधार, किसानों के स्वार्थ की रक्षा एवं शोषण की प्रक्रिया को रोकने के लिए अधिकारियों के द्वारा कोई काम नहीं किया गया।

अंगरेजी सरकार स्थायी बन्दोबस्त से बड़ी रकम प्राप्त करने की आशा रखती थी। परन्तु सरकार की आशा पर शीघ्र ही पानी फिर गया। सरकार ने जमींदारों को भूमि का स्वामित्व देकर बहुत बड़ी भूल की थी। जमींदार किसानों से मनमाना लगान वसूल करने लगे। बंगाल में स्थायी बन्दोबस्त से सरकार को पौने चार करोड़ रुपये

की आय प्राप्त हुई, जबकि जमींदारों के द्वारा तेरह करोड़ रुपये लगान के रूप में वसूल किया जाता था। अतः सरकार की आय ज्यों की त्यों बनी रही, परन्तु जमींदारों की आय से कई गुना अधिक वृद्धि हुई।

स्थायी बन्दोबस्त के तीन लक्ष्य थे—निश्चित समय पर निर्धारित लगान की प्राप्ति, कृषि का विस्तार एवं उत्पादन में वृद्धि। निश्चित समय पर लगान वसूलने की सरकारी आशा पर पानी फिर गया। बहुत से जमींदारों की जागीरदारी नीलाम कर दी गयी। उनके स्थान पर छोटे-छोटे जमींदारों को जागीरदारी दी गयी। बंजर भूमि को आबाद कर उत्पाद बढ़ाने का लक्ष्य भी पूरा नहीं हो सका। कम्पनी को अधिक चिंता लगान वसूल करने की रहती थी। अतः कृषि के विकास और उत्पादन में वृद्धि पर कोई ध्यान नहीं दिया गया।

स्थायी प्रबन्ध से किसानों की गरीबी दिन-प्रतिदिन बढ़ती गयी। जमींदार किसानों को पट्टा लिखने में मनमानी करते थे। अधिकांशतः किसानों को निर्धारित लगान के अतिरिक्त रकम जमींदारों को देनी पड़ती थी। गरीब किसानों को अपने अधिकार की रक्षा के लिए कोई कानूनी संरक्षण प्राप्त नहीं था। जमींदार किसानों का शोषण कर धनवान हो गये और किसानों की दरिद्रता पूर्ववत कायम रही। नयी व्यवस्था में लगान का बोझ इतना अधिक बढ़ गया था कि किसानों को लगान चुकाने के लिए नियमित रूप से ऋण लेना पड़ता था। अनेक बार लगान की रकम चुकाने के बाद किसानों के पास इतना भी धन नहीं, बच पाता था कि सुविधापूर्वक अपना जीवन-निर्वाह कर सकें। अतः जीवन निर्वाह के लिए उन्हें ऋण लेना पड़ता था। इस प्रकार ब्रिटिश शासनकाल में जमींदारी व्यवस्था किसानों के निर्मम शोषण का दोहरा साधन बन गई थी एक तो लगान के रूप में और दूसरे ऋण के लिए दिये जाने वाले ब्याज के रूप में। चूंकि किसानों के पास वित्तीय साधनों का अभाव था, इसलिए कृषि से प्राप्त राशि भूमि सुधार एवं कृषि के उत्पादन में सहायक न हो सकी।

स्थायी बन्दोबस्त से भूमि-व्यवस्था में स्थिरता आ गयी थी। विकासोन्मुख समाज की दृष्टि से यह स्थिरता अमंगलकारी थी। स्थायी प्रबन्ध के बदले यदि दस या बीस वर्ष के लिए जमींदारों के साथ समझौता किया जाता तो व्यावहारिक रूप से प्राप्त अनुभव के आधार पर उसके दोषों को दूर किया जा सकता था। परन्तु स्थायी बन्दोबस्त ने सुधार के रास्ते को बन्द कर दिया था।

भारतीय राष्ट्रीय जीवन में स्थायी बन्दोबस्त के कारण अनेक कठिनाइयां उत्पन्न हो गयीं। आर्थिक शोषण और सामाजिक विषमता की खाई बढ़ गयी। जमींदार वर्ग ब्रिटिश सरकार का भक्त बन गया। अतः आर. सी. दत्त ने ठीक ही कहा है, 'यदि स्थायी प्रबन्ध का अर्थ बंगाल में पूर्व रूप से राजभक्त जमींदारों और समृद्ध किसानों का वर्ग पैदा करना था तो इस उद्देश्य में आशातीत सफलता मिली।'

जमींदार भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के मार्ग में बाधक बन गए। यह राष्ट्रीय जीवन की एक दुखद घटना थी।

स्थायी बन्दोबस्त के गुण एवं दोष की समीक्षा पर यह कहा जा सकता है कि इससे लाभ की अपेक्षा अधिक हानि हुई। लाभ का अधिकांश भाग जमींदारों को मिला। परन्तु अन्ततः भूमि में बंटवारा, नीलामी एवं मुकदमेबाजी के कारण जमींदारों को भी हानि हुई। इससे समाज में निर्धनता और असन्तोष बढ़ा। बंगाल और बिहार में स्थायी बन्दोबस्त के फलस्वरूप पुराना सामाजिक एवं आर्थिक ढांचा चरमरा गया। सम्पन्न क्षेत्र आर्थिक निर्धनता और सामाजिक अवनति के फलस्वरूप राष्ट्र का पिछड़ा प्रान्त बन गया।

(ख) महलवाड़ी प्रथा

स्थायी प्रबन्ध धीरे-धीरे अन्य क्षेत्रों में लाभदायक नहीं रहा। निश्चित रकम का मूल्य घटने लगा और बढ़े हुए लगान का अधिकतम भाग जमींदारों को मिलने लगा था। अतः सरकार ने भूराजस्व प्रणाली में परिवर्तन लाने का निर्णय लिया। दो नयी प्रणाली भारत में विकसित हुई जिसमें एक महलवाड़ी और दूसरे को तैयतवाड़ी कहते हैं। महल फारसी भाषा में जागीर या गांव को कहते थे। महलवाड़ी प्रथा में प्रत्येक महल के साथ राजस्व व्यवस्था में नये सिरे से सम्बन्ध स्थापित किया गया। सर्वप्रथम 1801 ई. से महलवाड़ी प्रथा अवध के लिए गए क्षेत्रों में लागू की गयी और 1803-04 के बीच यह प्रथा मराठों से जीते हुए प्रदेशों में लागू की गई। अवध के क्षेत्र में लगान की मात्रा में 25 प्रतिशत की वृद्धि की गयी और उसे कठोरता से वसूल किया गया। यह अस्थायी व्यवस्था थी। उदाहरण के लिए अवध से 1800 ई. में एक करोड़ पैंतीस लाख लगान वसूल किया गया था, परन्तु 1803 ई. में उसे बढ़ाकर एक करोड़ छिआसठ लाख कर दिया गया। 1804 ई. में भयानक अकाल पड़ा और उत्तर भारत में अकाल के कारण अव्यवस्था फैल गयी। अंगरेजों ने राजस्व व्यवस्था को स्थायी करने का निर्णय लिया, परन्तु संचालक समिति के विरोध के कारण निर्णय नहीं लिया जा सका। फलतः तीन या चार वर्षों के लिए महलवाड़ी प्रथा लागू की गयी। इसका परिणाम यह हुआ कि 1807 ई. में 1818 ई. के बीच पुनः लगान में 50 प्रतिशत की वृद्धि हो गयी। 1819 ई. में स्थायी प्रबन्ध की व्यवस्था अस्वीकृत कर दी गयी। 1822 ई. में महलवाड़ी पद्धति को स्थायी रूप दिया जा सका। नई प्रथा में सरकार का अंश 83 प्रतिशत रखा गया। अन्य जागीरों में सरकार का अंश बढ़ाकर 95 प्रतिशत कर दिया गया।

महलवाड़ी प्रथा में कुछ गांवों को मिलाकर एक महल कहा जाता था और उसका लगान निर्धारित कर उसका बंटवारा गांव के आधार पर कर दिया जाता था। प्रत्येक गांव को लगान की मांग के संबंध में अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत करने का अवसर दिया जाता था। निश्चित लगान की मांग में कोई हेर-फेर नहीं होता था।

यह प्रवन्ध मार्टिन वर्ड ने किया था। उत्तर पश्चिम प्रान्त में लगान की दर मार्टिन वर्ड ने ही निर्धारित की थी। मार्टिन वर्ड के अनुसार, जमावन्दी कुछ पैदावार का 2. 3 भाग निर्धारित किया गया था और भविष्य में बढ़ोत्तरी को ध्यान में रखा गया था। उदाहरण के लिए, यदि एक महल में जमाबन्दी 1400 रुपये थी तो लगान 700 रुपये होना था लेकिन लगान 800 रुपये निर्धारित किया गया। लगान की दर में वृद्धि की संभावना इस प्रथा के अन्दर बराबर बनी रहती थी।

(ग) रैयतवांड़ी प्रथा

सर टॉमस मुनरो ने रैयतवाड़ी प्रथा को मद्रास और बम्वई में चलाया था। मद्रास में जमींदार वर्ग नहीं था। अधिकतर सैनिक अधिकारियों के कब्जे में भूमि थी। स्थायी प्रबन्ध मद्रास के लिए उपयुक्त नहीं था। सामुदायिक व्यवस्था नीलामी की प्रथा के कारण टूट सकती थी। मद्रास में लगान की दर अधिकतम सीमा तक बढ़ायी जा चुकी थी। 1808-09 ई. में सामूहिक लगान व्यवस्था स्थापित करने का प्रत्यन किया गया। परन्तु लगान अधिक रहने के कारण कोई भी गांव उसे कई वर्षो तक चुकाने की स्थिति में नहीं था। अतः लाचारी में 1812 ई. में रैयतवाड़ी प्रथा स्थापित की गयी। इसके अन्दर प्रत्यक्ष रूप से सरकार और कृपक के बीच संवंघ स्थापित हो जाता था। कृपकों के साथ राजस्व तय की जाती थी। वीच वाले के लिए इसमें कोई स्थान नहीं था और किसानों से लगान लेकर खेती करने की आज्ञा दी जाती थी। लगान नहीं देने पर भूमि परती छोड़ दी जाती थी। प्रत्येक किसान व्यक्तिगत रूप से अधिक लगान की मांग को रोकने के लिए सरकार से निवेदन नहीं कर सकते थे। अतः रैयत के साथ की गयी व्यवस्था राजस्व वृद्धि में सहायक हुई। इस प्रथा में समस्त प्रशासन को अंगरेज अधिकारियों के नियंत्रण में केन्द्रित कर दिया गया है।

ब्रिटिश भारत में स्थायी प्रवन्ध, महलवाड़ी और रैयतवाड़ी प्रथा का प्रचार हुआ। स्थायी प्रवन्ध ब्रिटिश साम्राज्य के 19 प्रतिशत क्षेत्र में स्थापित की गयी। महलवाड़ी का क्षेत्र 30 प्रतिशत और रैयतवाड़ी प्रथा 51 प्रतिशत क्षेत्र में स्थापित की गयी थी। भूराजस्व की नई पद्धति के कारण भूपतियों का एक नया वर्ग उत्पन्न हो गया।

रैयतवाड़ी बन्दोबस्त सीधे रैयतों से किया गया था। रैयत को भूमि का स्वामी मान लिया गया था और भूमि से संबंधित सभी अधिकार उसे दे दिए गए थे। फिर भी यह व्यवस्था किसानों के लिए हानिकारक थी। कृपकों को लगान अधिक देना पड़ता था। फसल की बर्बादी हो जाने पर भी लगान में छूट की सम्भावना नहीं थी। लगान कठोरता से वसूल किया जाता था। लगान अधिक होने की शिकायत को कलकत्ता की सरकार अनसुनी कर देती थी। रैयतवाड़ी प्रदेशों में सरकार शोषण के नए-नए उपायों को अपनाकर अधिक-से-अधिक राजस्व प्राप्त करने का प्रयास करती

थी। रैयतवाड़ी प्रथा का प्रमुख लक्ष्य यही था कि जमीन से उत्पन्न उपज का अधिकाधिक भाग लगान के रूप में सरकार को प्राप्त हो। परिणामस्वरूप इस व्यवस्था के अन्तर्गत किसान भूमि का मालिक होते हुए भी मात्र एक दास बनकर रह गया था। लगान की राशि इतनी अधिक थी कि उसे चुकाने के लिए किसानों को साहूकारों से ऋण लेना पड़ता था। बदले में वे या तो अपनी जमीन बेच देते थे या गिरवी रख देते थे। सरकार को यह अधिकार प्राप्त था कि वह आमदनी बढ़ाने के लिए लगान की दर में कभी भी वृद्धि कर सकती थी। किसानों को यह मालूम नहीं रहता था कि लगान की दर में कब वृद्धि होगी। उनके सामने हमेशा भय, आशंका और अनिश्चितता का वातावरण बना रहता था। ऋण चुकाने के लिए किसानों को अपनी जमीन बेचनी पड़ती थी या गिरवी रखनी पड़ती थी। फलस्वरूप जमीन पर से उनका अधिकार धीरे-धीरे समाप्त हो गया। लगान वसूल करनेवाले अधिकारी लगान की राशि वसूल करने के लिए क्रूर और अमानवीय उपायों का सहारा लेते थे। लगान वसूल करनेवाले अधिकारियों के अमानवीय कारनामों की चर्चा ब्रिटिश संसद में भी होती थी। लेकिन ब्रिटिश सरकार इस ओर ध्यान नहीं दे रही थी, क्योंकि रैयतवाड़ी व्यवस्था से सरकारी राजस्व में अत्यधिक वृद्धि हुई थी। आर. सी दत्त ने इस व्यवस्था की खामियों की ओर इंगित करते हुए कहा है, 'इस बन्दोबस्त से कम्पनी की रैयतों पर पकड़ का स्वरूप वही हो गया जो गुलाम के ऊपर इनके मालिकों का रहता है और कम्पनी उनसे वे सारे साधन भी छीन सकती थी जो उन्हें जीवित रखने के लिए अनिवार्य थे।' 1824-26 ई. के बीच विशप हैनर ने भारत के विभिन्न भागों का दौरा किया। उसने अंगरेजी सरकार की लगान व्यवस्था के परिणामों को देखा जिसका शिकार भारतीय कृषक वर्ग हो रहा था। उसने किसानों की दुर्दशा का वर्णन इन शब्दों में किया है, 'मेरे विचार में करों या वर्तमान दर पर किसी देशी या विदेशी कृषक का टिक पाना असम्भव है। उपज का आधा भाग सरकार ले लेती है....दुखपूर्वक यह कहना पड़ता है कि अपनी किफायतशरी की आदतों और खेती से सीधे-सादे तरीकों के बावजूद कृषक अपने जीवनयापन के लिए पर्याप्त साधन नहीं जुटा पाते। यही वजह है कि अच्छी फसल के बावजूद कृषकों को अत्यधिक गरीबी की दशा में रहना पड़ता है। यदि फसल जरा भी खराब हो जाए तो स्त्रियां, पुरुष और बच्चे भूख से बेहाल होकर मरने लगते हैं और सड़कें, गलियां सभी लाशों से पटी दिखाई देती हैं। इस प्रकार कम्पनी के शासन में रहनेवाले कृषक देशी रियासतों में रहनेवाले कृषकों की अपेक्षा अधिक गरीब, हतोत्साहित और दयनीय स्थिति में हैं। तथ्य तो यह है कि कोई भी देशी नरेश उतनी मालगुजारी की मांग नहीं करता जितनी हम करते हैं' रैयतवाड़ी बन्दोबस्त के अन्तर्गत किसानों की दयनीय स्थिति का वर्णन बम्बई की प्रशासनिक व्यवस्था की रिपोर्ट में 1823 ई. के

लगान सम्बन्धी मूल्यांकन में इस प्रकार किया गया है, 'इन असहाय और बेबस कृषकों पर कानूनी और गैर-कानूनी ढंग से अधिकाधिक लगान वसूल करने के लिए नाना प्रकार के अत्याचार किये जाते थे। लगान की ऊँची रकम दे पाने में यदि ये असमर्थ रहे तो कहीं-कहीं पर तो उन पर इतना अत्याचार किया जाता था कि उसका वर्णन करना भी असम्भव है...इसलिए सैकड़ों लोग अपना घर और जमीन छोड़कर पास की रियासतों में भाग खड़े हुए। इस प्रकार भूमि का बहुत बड़ा हिस्सा उजाड़ होता या और कुछ राज्यों में कुल कृषि योग्य भूमि के एक-तिहाई हिस्से में भी खेती होती थी।' 1852-53 ई. में ब्रिटिश संसद के द्वारा एक जांच समिति की नियुक्ति की गई। यद्यपि जांच समिति के सभी सदस्य अंगरेज थे और रैयतवाड़ी व्यवस्था के समर्थक थे, फिर भी अपनी रिपोर्ट में उन्होंने स्वीकार किया कि, 'सरकारी लगान प्राप्त करने के लिए अत्याचार का सहारा लिया जाता रहा था और इन बेबस कृषकों के पास इस अन्याय के विरुद्ध आवाज उठाने के भी कोई साधन नहीं थे।' जांच आयोग की रिपोर्ट के पश्चात् मद्रास सरकार ने 14 अगस्त, 1855 ई. को एक विज्ञप्ति जारी की। विज्ञप्ति में यह भी कहा गया कि 'निःसन्देह आजकल प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष भूमिकारों के भारी दवाव के कारण कृषि का विकास अवरुद्ध हो रहा है जिसके परिणामस्वरूप भूमि का एक बड़ा भाग उजाड़ हो चुका है। इन प्रदेशों के शांति एवं परिश्रमी लोग अपने लिए न तो भरपेट खाना जुटा पाते हैं और न ही आय के साधन।' इस तरह रैयतवाड़ी बन्दोबस्त के प्रभाव किसानों के लिए हानिकारक सिद्ध हुए। लगान की दर ऊँची होने के कारण लगाने देने के बाद किसानों के पास इतनी पूंजी नहीं बचती थी कि वे भूमि में सुधार लाकर उत्पादन में वृद्धि कर सकें। राजस्व विभाग के कर्मचारियों की सख्ती के कारण किसानों को सूखे और अकाल के समय भी लगान देना पड़ता था। लगान चुकाने के लिए रैयतों को साहूकार से ऋण लेना पड़ता था। भारत में ब्रिटिश शासन की स्थापना के पूर्व भूमि क्रय-विक्रय की वस्तु नहीं थी। चूंकि किसानों को लगान चुकाने के लिए साहूकारों से ऋण लेना पड़ता था और बदले में वे अपनी भूमि गिरवी रखते थे, इसलिए ऋण नहीं चुकाने की स्थिति में साहूकारों को भूमि पर स्वामित्व का अधिकार प्राप्त हो जाता था। किसान के पास आजीविका का एकमात्र साधन कृषि ही था, इसलिए वह भूमि पर फसल उगाने वाला मजदूर रह जाता था और साहूकार की प्रत्येक शर्त मानने के लिए विवश हो जाता था।

संसदीय जांच समिति ने रैयतवाड़ी व्यवस्था के दोषों को स्पष्ट कर दिया और उसमें परिवर्तन लाने का सुझाव दिया। भूमि की पैमाइश और लगान में कमी लाने का भी सुझाव समिति की ओर से दिया गया था। तीस वर्षों के बाद पुनः जांच करने का सुझाव भी दिया गया था। जांच समिति की अनुशंसा कागज तक ही सीमित

रही और सरकार कृषि के प्रति उदासीन नीति से काम लेती रही। किसानों को अधिक लगान देने के लिए विवश किया जाता रहा। नई भूमि की खेती के लायक बनाने के लिए किसानों को प्रोत्साहन नहीं दिया जाता था। किसानों की उपज का आधा भाग लगान के रूप में ले लिया जाता था और शेष रकम से भी उन्हें बिचौलिए को सन्तुष्ट रखना पड़ता था। इस प्रकार किसान पर कर का बोझ बढ़ता चला गया। इस व्यवस्था का एक लाभ यह हुआ कि भूमि संबंधी अधिकारों का लेखा तैयार हो गया। इन अधिकारों को न्यायालय द्वारा मनवाया जा सकता था। अचल सम्पत्ति का अधिकार व्यक्तिगत हो गया। भूमि का क्रय-विक्रय सरल हो गया। गांव के सामुदायिक बन्धनों को तोड़ने में सहायता मिली। इससे सामाजिक गतिशीलता को बल मिला।

भू-राजस्व व्यवस्था ने किसानों को धीरे-धीरे भूमिहीनों की स्थिति में ला दिया। कर्ज का बोझ किसानों पर बढ़ता गया और वे सरकार, जमींदार और सूदखोरों के शोषण का शिकार बनते चले गए। थोड़ा-बहुत परिवर्तन और संशोधन किसानों की कठिनाइयों को दूर करने में अक्षम रहा।

अंगरेजी भू-राजस्व नीति के परिणाम

अंग्रजों द्वारा भारत की आर्थिक शोषण ब्रिटिश सरकार की भू-राजस्व नीति और कृषि नीति से भली-भांति स्पष्ट हो जाता है। भारत कृषि प्रधान देश था। लेकिन अठारहवीं सदी में कृषि प्रधान होते हुए भी साधन सम्पन्न था। उन्नीसवीं सदी में सिचाई और आवागमन की सुविधाओं के बावजूद भारत एक निर्धन देश हो गया। भारत की आर्थिक स्थिति में इस दुखद परिवर्तन के लिए ब्रिटिश सरकार की भूमि व्यवस्था और कृषि नीति उत्तरदायी थी। अंगरेजों द्वारा स्थापित भूमि व्यवस्था (स्थायी, रैयतवाड़ी, महलवाड़ी) में राजस्व की ऊँची दर के कारण कृषकों की दशा अत्यन्त दयनीय और शोचनीय हो गई थी। किसानों की दुर्दशा की ओर अंगरेज शासकों ने ध्यान नहीं दिया, क्योंकि ब्रिटिश सरकार का एकमात्र उद्देश्य अधिक-से-अधिक भू-राजस्व प्राप्त करना था, कृषि उत्पादन के साधनों अथवा किसानों की दशा में सुधार लाना नहीं। ब्रिटिश सरकार स्वयं तो निश्चित आय चाहती ही थी, वह भारत के साधन-सम्पन्न वर्ग को भी प्रसन्न रखना चाहती थी। इसलिए दरिद्र और साधनहीन काश्तकार ब्रिटिश सरकार का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर सके। ब्रिटिश भू-राजस्व व्यवस्था एवं कृषि नीति का एक हानिकारक परिणाम यह हुआ कि गांवों में सीमान्त किसानों और खेतिहर काश्तकारों की संख्या बढ़ गई और भातीय ग्रामीण अर्थ व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गई। आपसी सद्भावना का स्थान प्रतिद्वन्द्विता के लिए लिया जाने लगा और गांवों में आपसी झगड़ों की संख्या में अत्यधिक वृद्धि हुई। धनी वर्ग, जिसे उद्योग धन्धों से कम लाभ की सम्भावना थी, खेती में पूंजी लगाने लगा

और शीघ्र ही इसने पुराने जमींदारों का स्थान ले लिया। नये जमींदारों की रैयतों के प्रति कोई सहानुभूति नहीं थी और वे रैयतों से अधिक-से-अधिक लगान वसूलने का प्रयास करते थे। इस तरह पुराने ग्रामीण संबंध छिन्न-भिन्न हो गए और भारतीय ग्रामीण वर्ण-व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो गयी। अंगरेजों द्वारा स्थापित भूमि पद्धतियों (स्थायी, रैयतवाड़ी, महलवाड़ी) के सामान्य प्रभाव निम्नलिखित हुए–

1. भूमि को हस्तान्तरण वस्तु बना देना : अंगरेज प्रशासकों ने भूमि को व्यावहारिक रूप में विभाजन की वस्तु बना दिया था। सरकार को लगान चुकाने के लिए भूमि को बेचा या गिरवी रखा जा सकता था। इस कारण भूमि का हस्तान्तरण एक व्यक्ति के हाथ से दूसरे व्यक्ति के हाथ में सम्भव हुआ। भूमि का टुकड़ों में विभाजन होने लगा। इसका घातक प्रभाव भारतीय सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था पर पड़ा। संयुक्त परिवार टूटने लगा और मुकदमेबाजी का विकास हुआ। संयुक्त परिवार प्रणाली उत्पादन के साधनों के सामूहिक तथा सम्मिलित स्वामित्व के बिना सम्भव नहीं था। भूमि का बंटवारा होने से यह प्रणाली छिन्न-भिन्न हो गई। व्यक्तिगत स्वामित्व का अधिकार और विभाजन तथा हस्तान्तरण की सुविधा का परिणाम मुकदमेबाजी हुई, जो अंगरेजी विधि प्रणाली के अधीन अत्यधिक बढ़ी। न केवल अपीलों की सम्भावनाओं से वल्कि विधेयक की धाराओं की विभिन्न व्याख्याओं से मुकदमेबाजी को प्रोत्साहन मिला। यह मुकदमेबाजी उस विधि-प्रणाली एवं भूमि व्यवस्था की देर थी जो अंगरेज प्रशासकों ने स्थापित की थी।

2. भूमि को पूंजी विनिमय का साधन बनाना : ब्रिटिश सरकार की नीति का दूसरा महत्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व प्राप्त होने से पूंजीपतियों, साहूकारों और सर्राफों का ध्यान भूमि की ओर गया। अंगरेजों द्वारा अधिकृत क्षेत्रों में भारतीय कुटीर उद्योग लगभग विनाश के कगार पर पहुंच चुके थे। महाजनी का व्यवसाय भी शिथिल पड़ गया था। अंगरेजों ने भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व का अधिकार प्रदान कर ही दिया था। इसलिए महाजनों और साहूकारों ने अपना धन जमीन में ही लगाना श्रेयस्कर समझा। वे किसानों को लगान चुकान के लिए ब्याज पर ऋण देते थे। प्रायः प्रत्येक भूमि व्यवस्था में भू-राजस्व की मात्रा अत्यधिक निर्धारित की जाती थी। इसका परिणाम यह हुआ कि प्रायः किसानों को ऋण लेकर लगाना चुकाना होता था। अंगरेजी विधि प्रणाली में साहूकारों को पर्याप्त सुविधाएं प्राप्त थीं। जब किसान ऋण नहीं चुका पाता था तो साहूकार उसकी जमीन नीलाम करवाकर उस पर अपना अधिकार स्थापित कर लेता था। इस प्रकार धीरे-धीरे महाजन वर्ग भूमिपतिवर्ग बन गया और कृषकवर्ग अपनी जमीन का स्वामित्व खोकर मजदूरों की श्रेणी में आ गया।

3. कृषकों पर ऋण का बोझ बढ़ना : अंगरेजों की भूमि व्यवस्था की एक

महत्वपूर्ण विशेषता और थी—कृषक वर्ग पर ऋण का बढ़ता हुआ बोझ। सरकार की राजस्व की मांग बढ़ती गई और किसानों को राजस्व की बढ़ती हुई राशि को चुकाने के लिए साहूकारों एवं महाजनों से ऋण लेना पड़ा। भूमि की पैदावार का बहुत कम अंश ही किसानों के पास बच पाता था जिसे बेचकर वे अपनी आवश्यकताएं पूरी नहीं कर सकते थे। यों तो व्यापारी और उद्योगपति वर्ग भी ऋण लेता था। लेकिन वे ऋण की पूंजी उत्पादन क्षेत्रों के बढ़ाने अथवा व्यापार को विकसित करने में लगाते थे। भारतीय कृषकों के ऋणों की विशेषता यह थी कि ये ऋण उत्पादन में नहीं लगाये जाते थे। ऋण प्रायः सरकारी लगान चुकाने अथवा जीवन निर्वाह अथवा सामाजिक उत्तरदायित्व को पूरा करने के लिए होता था। सामान्य उत्पादन की स्थिति में भी किसानों को ऋण लेना पड़ता था। इसका मूल कारण यह था कि राजस्व की अधिक मांग होने के कारण किसानों के पास इतना धन नहीं बचता था कि वे आपत्ति के समय अपने उत्तरदायित्व को निभा सकें। सूखे तथा अतिवृष्टि के कारण जब फसलें मारी जाती थीं। तब किसानों की स्थिति और भी दयनीय हो जाती थी। पहले प्रत्येक गांव में एक अथवा दो वर्षों के लिए अनाज इकट्ठा कर लिया जाता था जो आवश्यकता के समय काम आता था। लेकिन अंग्रेजी भू-राजस्व व्यवस्था के अन्तर्गत गांव के किसानों के पास इतना अनाज अथवा धन नहीं बचता था जो आवश्यकता के समय काम आ सके। किसानों के पास कर्ज चुकाने के लिए भूमि के अतिरिक्त कोई दूसरा साधन भी नहीं था। अतः किसानों को कर्ज चुकाने के लिए अपनी जमीन बेचनी पड़ती थी। फलस्वरूप वे भूमिहीन मजदूरों की श्रेणी में आ जाते थे। इस प्रकार किसानों की हालत लगातार दयनीय होती चली गई।

4. भूमि का अत्यधिक विखण्डन एवं उत्पादन में ह्रास : भूमि को विभाज्य और व्यक्तिगत स्वामित्व की वस्तु बनाकर उसका विखण्डन स्वाभाविक और निश्चित हो गया था। विखण्डन के फलस्वरूप उत्पादन में कमी, मुकदमेबाजी तथा साहूकारों का प्रभाव बढ़ता गया। कुटीर उद्योगों के विनाश एवं औद्योगीकरण के अभाव में जनसंख्या तथा भूमिहीन श्रमिकों की वृद्धि से भूमि के छोटे-छोटे टुकड़ों की मांग भी बढ़ती गई। भूमि के एकमात्र उत्पादन के साधन होने से कृषकों ओर जमींदारों तथा साहूकारों के बीच वाद-विवाद एवं झगड़े बढ़ते गये। दूसरी ओर कृषि साधनों में नवीनीकरण और मशीनों का प्रयोग अधिक हो गया था। लेकिन भूमि के छोटे-छोटे टुकड़ों में कृषि के परिष्कृत एवं नवीन साधनों का प्रयोग सम्भव नहीं था। इसलिए भारतीय कृपक अपने छोटे-छोटे टुकड़ों को जोतने के लिए पुराने परम्परागत साधनों तक ही सीमित रहा। पुराने साधनों द्वारा भी भूमि के छोटे-छोटे टुकड़ों पर सुगमतापूर्वक खेती नहीं की जा सकती थी। फलस्वरूप उत्पादन में लगातार कमी हुई और इसका दुष्परिणाम भी किसानों को भी भुगतना पड़ा।

5. जमींदार वर्ग का उदय : स्थायी भूमि-व्यवस्था ने जमींदारों ने एक शक्तिशाली वर्ग को जन्म दिया था। यह वर्ग किसानों और सरकार के बीच बिचौलिए का काम करता था। सरकार और किसान दोनों ही जमींदार वर्ग के लिए साधन जुटाते थे। एक ओर जमींदारवर्ग किसानों का शोषक था तो दूसरी ओर अंगरेजी शासन का कट्टर समर्थक। किसानों पर जमींदारों का अत्याचार लगातार बढ़ते जा रहे थे लेकिन अंगरेजी सरकार ने जमींदारों के अत्याचार से किसानों की मुक्ति की कोई व्यवस्था नहीं थी।

6. कृषि उत्पादनों का निर्यात : भारत से कृषि उत्पादन का अधिक-से-अधिक निर्यात करना अंगरेजी साम्राज्यवादी नीति का प्रमुख लक्ष्य था। इस निर्यात से इंगलैण्ड के उद्योगों को कच्चा माल और श्रमिकों को खाद्य सामग्री उपलब्ध होती थी। सामान्य कृषक भूस्वामी कम होता था और उसे जमींदारों की आज्ञाओं का पालन करना पड़ता था। अतएव सरकार जमींदारों के माध्यम से किसानों से उन चीजों का उत्पादन करवाती थी जिसका निर्यात कर सरकार अधिक-से-अधिक मुनाफा प्राप्त कर सकती थी अथवा इंगलैण्ड के उद्योगों को कच्चा माल उपलब्ध करवा सकती थी। रूई, गेहूँ, पटसन, नील, अफील, चाय इत्यादि के उत्पादन पर विशेष ध्यान दिया गया। जिन क्षेत्रों में किसानों को स्वामित्व प्राप्त था उन्हें भी लगान चुकाने के लिए ऐसी फसलों को उगाना पड़ता था जिनसे अधिक धन शीघ्र प्राप्त हो सके। अब कृषि उत्पादन गांव अथवा क्षेत्र की आवश्यकताओं की अपेक्षा अंगरेजी नीति पर अधिक निर्भर हो गया। इंगलैण्ड की कृषि उत्पादन की आवश्यकता को पूरा करने के लिए खाद्यान्नों की भूमि में भी नई फसलें उगानी आरम्भ कर दी गई। अतिरिक्त भूमि को कृषि के लिए उपयोगी नहीं बनाया गया। कुछ विशेष क्षेत्र विशेष फसलों के लिए प्रसिद्ध हो गए जैसे पंजाब रूई और गेहूँ, बम्बई रूई, बंगाल पटसन और नील, बिहार अफीम तथा असम चाय के लिए। भारत से खाद्यान्न का भी निर्यात होता था जिसका दुष्परिणाम भारतीय किसानों और आम नागरिकों को भुगतना पड़ा। कृषकों को मोटे अनाज पर अथवा आधे पेट खाकर गुजारा करना पड़ता था। खाद्यान्नों के निर्यात और कृषकों के अत्यन्त निम्न स्तर पर जीवन निर्वाह का परिणाम यह हुआ कि थोड़ी भी प्राकृतिक आपत्ति से भयंकर अकाल की स्थिति पैदा हो जाती थी। कृषकों के पास इतना धन बचता ही नहीं था कि वे आपातकालीन स्थिति का मुकाबला कर सकते। इस प्रकार अकाल की घटनाएं मुख्य रूप से अंगरेजी नीति से उत्पन्न निर्धनता का परिणाम थीं।

स्पष्ट है कि अंगरेजों की भू-राजस्व नीति भारतीय अर्थ-व्यवस्था एवं ग्रामीण सामाजिक संरचना के लिए घातक सिद्ध हुई। अंगरेजों की शोषण नीति के कारण भारतीय अर्थ-व्यवस्था लचर हो गई। समाज में साहूकारों, महाजनों, और जमींदारों की

प्रधानता स्थापित हुई। किसानों को भारी कर्ज चुकाने के कारण निर्धनता एवं अकाल का शिकार होना पड़ा। उन्हें अपनी जमीन महाजनों के यहां वेचनी पड़ी। फलस्वरूप भूमिहीन श्रमिकों की संख्या में वृद्धि हुई। कृषि का वाणिज्यीकरण हुआ और भूमि पर वोझ बढ़ता गया। वास्तविकता तो यह है कि अंग्रेजों ने जमीन को एक माल का रूप देकर, जिसे खुलेआम खरीदा या वेचा जा सकता था, देश की तत्कालीन भूमि-व्यवस्थाओं में एक बुनियादी परिवर्तन ला दिया था। भारतीय गांवों की स्थिरता और निरन्तरता हिल गई। इस प्रकार ग्रामीण समाज का पूरा ढांचा ही टूटने लगा।

7. कृषि का वाणिज्यीकरण : भारत एक कृषि प्रधान देश था और है। अंगरेजी शासनकाल में भी भारत की सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था कृषि पर आधारित थी। भारतीय अर्थ-व्यवस्था की सफलता कृषि की सफलता पर ही निर्भर करती थी। प्राचीन तथा मध्यकाल में कृषि के विकास और गांवों की उन्नति पर अत्यधिक ध्यान दिया जाता था। कृषि के विकास हेतु प्रशासक सदैव भू-राजस्व के उचित निर्माण एवं उसकी वसूली की व्यवस्था करते थे, सिंचाई के लिए नलकूपों, बांधों तथा नहरों का निर्माण करते थे, अकाल के समय कृषकों को पूर्ण राहत देते थे, कृषि में सहायक पशुओं के लिए चारागाहों का प्रावधान करते थे और कृषि उत्पादन के समुचित विक्रय हेतु मण्डियों का गठन करते थे। कृषि के विकास हेतु ग्राम पंचायतों को महत्व दिया जाता था जो सहकारिता के आधार पर कृषि एवं गांवों की अर्थ-व्यवस्था को उन्नत करने का प्रयास करती थी। इसके फलस्वरूप प्राचीन तथा मध्यकाल में भारतीय कृषि उन्नत दशा में थी जिसके फलस्वरूप देश समृद्ध और यहां की जनता सुखी सम्पन्न थी।

अंगरेजों के आगमन के पश्चात् भारतीय कृषि की अवनति होने लगी, कृषकों की दशा उत्तरोत्तर निम्नतर होती गई और भारतीय अर्थ-व्यवस्था शोचनीय हो गई। किसी भी राष्ट्र की सम्पत्ति के स्रोत होते हैं—कृषि, वाणिज्य एवं उत्पादन तथा उन्नत वित्तीय प्रशासन। ब्रिटिश राज ने भारत को शान्ति तो प्रदान की, किन्तु ब्रिटिश प्रशासन ने भारत में राष्ट्रीय सम्पत्ति के इन स्रोतों को उन्नत बनाने और उनका विस्तार करने का कार्य नहीं किया। भारतीय उद्योगों को विकसित करने में अंगरेज शासकों की कोई दिलचस्पी नहीं थी। उनकी दिलचस्पी भारत से कच्चा माल उगाहने में थी। भारतीय उद्योग मूलतः घरेलू उद्योग थे और आधुनिक उद्योगीकरण से काफी दूर थे। उद्योग धन्धों ने गांवों की स्थानीय मांग और शहरों में रहनेवाले पुराने सामन्ती राजपरिवारों के संरक्षण पर निर्भर थे। भारतीय दस्तकारों द्वारा तैयार चीजें अपनी उत्कृष्टता के लिए विश्व में प्रसिद्ध थीं। मदुरा, अहमदाबाद, लखनऊ, चन्देरी, कृष्णनगर और ढाका की मलमल एवं सूती, वस्त्र, कश्मीर और पंजाब के ऊनी वस्त्र बनारस के धातु उद्योग और राजपूताना के आभूषण उद्योग अपनी बारीकी एवं

उत्कृष्टता के लिए प्रसिद्ध थे। ब्रिटिश शासन की स्थापना से भारतीय उद्योग धन्धे बुरी तरह प्रभावित हुए। एक तो स्थानीय राजदरबारों के पतन से विभिन्न उद्योगों में लगे शिल्पियों को सरंक्षण मिलना बन्द हो गया जिन पर वे पूर्णतः निर्भर थे। दूसरे, अंगरेज शासकों की नीतियों की भारत के उद्योग धन्धों को नष्ट करने में महत्वपूर्ण भूमिका रही। अंगरेजों ने अपने देश के उद्योग धन्धों को बढ़ाने का पूरा प्रयास किया और अंगरेजी सरकार भारतीय उद्योग धन्धों को कोई सुरक्षा प्रदान नहीं कर सकी।

नगरों के उद्योग धन्धों के नष्ट होने से नगर के लोग गांवों में आकर बसने लगे। इस कारण गांवों का सन्तुलन ऐसा बिगड़ गया कि सारा बोझ खेती के ऊपर आ पड़ा। कृषि जैसे महत्वपूर्ण सम्पत्ति के स्रोत की अवनति का मूल कारण अंगरेजों की भू-राजस्व नीति थी। राजस्व की दर ऊँची होने के कारण कृषि का विकास नहीं हो पा रहा था। अब कृषि के क्षेत्र में एक नई प्रक्रिया शुरू हुई जिसे कृषि का वाणिज्यीकरण कहा जाता है। भारत अब विश्व के बाजारों के लिए फसल उगाने लगा। यों तो आधुनिकीरण की ओर यह एक अच्छा कदम था लेकिन भारतीय किसानों के पास अच्छी खेती करने के लिए उपयुक्त साधनों का अभाव था। खेती के आधुनिक साधनों का विकास नहीं हो पाया था। भारतीय किसान, जो अब विश्व के बाजारों के लिए फसल उगाने लगे थे, आधुनिक साधनों के अभाव में खेती में सुधार लाने में असमर्थ थे। निर्धनता के कारण भारत का कृषक वर्ग व्यापारी वर्ग पर अत्यधिक निर्भर होता चला गया। सरकारी लगान के भुगतान और महाजनों को ऋण तथा ऋण पर ब्याज चुकाने के लिए भारतीय किसानों को फसल के समय ही अपनी पैदाबार का अधिकांश भाग बेचना पड़ता था। अगर किसानों के पास धन होता और वे थोड़ी देर इन्तजार कर पाते तो उन्हें अपनी फसल का अधिक मूल्य प्राप्त होता। लेकिन मजबूरी के कारण उन्हें फसल के समय ही सौदा करना पड़ता था, इसलिए उन्हें अपनी उपज से बहुत कम राशि प्राप्त होती थी। भारत में इस वाणिज्यीकरण का स्वरूप मूलतः औपनिवेशिक था। भारत को वाणिज्यीकरण से कोई लाभ नहीं हुआ और उसका कृषि ढांचा इंगलैण्ड के उद्योगों की दया पर निर्भर हो गया।

वाणिज्यीकरण की नीति को व्यावहारिक रूप देने के लिए ब्रिटिश सरकार ने 1833 ई. में अंगरेजों को भारत में भूमि खरीदने और बागान लगाने की अनुमति दी। अंगेजों ने बागान लगाकर उसमें काम करनेवाले श्रमिकों की जो दुर्दशा की उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत को इस वाणिज्यीकरण से कोई लाभ नहीं हुआ। भारत में नील की खेती अंगरेजों के आने से पहले भी होती थी। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने नील की खेती को प्रोत्साहन दिया। परिणामस्वरूप भारत नील के उत्पादन का एक महत्वपूर्ण केन्द्र बन गया। भारत से नील इंगलैण्ड भेजा जाने लगा। दूसरे देश यह नील भारत से खरीदने के बजाय इंगलैण्ड से खरीदने लगे। नील के व्यापार से अंगरेज

पूंजीपतियों को वहुत लाभ हुआ और उन्होंने अच्छी धनराशि जमा कर ली। लेकिन यह धनराशि नील की खेती में संलग्न खेतिहरों और मजदूरों के शोषण का परिणाम थी। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री डेनियल एच. वुकानन ने नील की खेती में संलग्न भारतीयों की दुर्दशा का वर्णन करते हुए लिखा, 'नील के साथ भारतीयों की अत्यन्त कटु स्मृतियां जुड़ी हुई हैं। यह शब्द उन्हें याद दिलाता है—अंगरेजों की लालसा, वेईमानी, और निर्मम शोषण की भावना की दुर्भाग्यवश अधिकांश भारतीयों के मन में यह विश्वास बैठ गया है कि अंगरेज सदा ऐसे ही रहेंगे जैसे वे नील की खेती के इतिहास में चित्रित हैं। निःसंदेह यह ब्रिटिश सत्ता के इतिहास में प्रजा के साथ दुर्व्यवहार के रूप में एक वहुत बड़ा कलंक है।' ऐसे अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं जिनसे ज्ञात होता है कि कृषकों की इच्छा के विरुद्ध उन्हें नील की खेती करने के लिए विवश किया जाता था। यदि कृषक अपने अनुवन्ध को पूरा नहीं करता था तो उसे अपनी भूमि पर से अधिकार छोड़ना पड़ता था। नील के बागानों के मालिक वहां काम करने वाले श्रमिकों के साथ गुलामों की तरह व्यवहार करते थे। नील आयोग की रिपोर्ट में कहा गया था कि 'जव खेतिहर अपने मालिक से पेशगी में रुपए ले लेता था उसी दिन से उसकी स्वतंत्रता समाप्त हो जाती थी और यह कर्ज उससे जीवन भर नहीं भर पाता था, अतः उसके बेटों और पोतों को भी चुकाना पड़ता था।

चाय की खेती महत्वपूर्ण थी। जून, 1833 ई. में ईस्ट इण्डिया कम्पनी का चीन के साथ व्यापारिक एकाधिकार समाप्त हो गया। इसके बाद भारत में चाय के बागान लगाने का प्रयत्न किया गया। 1835 ई. में भारत में पहला चाय का बागान लगाया गया। 1838 ई. में भारत में उत्पादित चाय लन्दन में बेची गई 1839 ई. में आसाम चाय कम्पनी की स्थापना हुई। चाय बागानों के लिए भूमि जंगलों को साफ करके खेती के योग्य बनायी गई थी। ब्रिटिश सरकार ने यूरोपियनों को यह भूमि आसान शर्तों पर दी। चाय बागानों के मालिक या तो कम्पनी के अवकाश प्राप्त प्रशासनिक अधिकारी थे अथवा सैनिक अधिकारी थे जिन्होंने भारत में उचित अनुचित साधनों को अपनाकर धन इकट्ठा कर लिया था। चाय बागानों में खेतिहरों के लिए काम करने की स्थिति ठीक नहीं थी, इसलिए आस-पास के क्षेत्रों के निवासी चाय बागानों में काम करना नहीं चाहते थे। इसलिए चाय बागान के मालिकों ने वाहरी क्षेत्रों से श्रमिकों को लाने के लिए दलाल रख लिये थे। ये दलाल दूर के प्रदेशों से श्रमिकों को प्रलोभन देकर ले आते थे और जो श्रमिक एक वार चाय बागान में काम करने के लिए आ जाते थे उन्हें वापस नहीं जाने दिया जाता था। चाय बागानों में काम करने वाले खेतिहरों की दशा अमेरिका की नीग्रो दासों जैसी ही थी। उन पर अमानुषिक अत्याचार होते थे और अगर कोई खेतिहर अत्याचार से मौत का शिकार हो जाता था तो बागान मालिक को केवल कुछ जुर्माना देना होता था। चाय बागानों

के अतिरिक्त अंगरेजों ने कॉफी और पटसन आदि के बागान भी लगाए थे। इन बागानों में भी रैयतों का शोषण किया जाता था। जब एक बार कोई रैयत इन बागानों में काम करने के लिए आ जाता था तो वह हमेशा के लिए कर्ज के बोझ से ऐसा दब जाता था कि अपनी खोई हुई स्वतंत्रता प्राप्त करना उसके लिए कठिन हो जाता था। स्पष्ट है कि कृषि के व्यवसायीकरण का अर्थ किसानों एवं मजदूरों की समृद्धि नहीं था।

कृषि पर निर्भरता भारतीय अर्थ-व्यवस्था की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता थी। भारत में ब्रिटिश नीति ने अर्थ-व्यवस्था के अधिकाधिक ग्रामीणीकरण को बढ़ावा दिया जिससे कृषि पररस्परिक निर्भरता में और अधिक वृद्धि हुई। ब्रिटिश नीति का एकमात्र लक्ष्य ब्रिटिश साम्राज्यवाद की आवश्यकताओं को पूरा करना था। चूंकि खेती से प्राप्त राजस्व सरकारी आय का सबसे बड़ा स्रोत था, इसलिए अतिरिक्त पैदावार वसूलने के लिए अनेक प्रकार के तरीकों को अपनाया गया। कृषि के क्षेत्र में भू-राजस्व तथा काश्त की प्रणालियों का जन्म हुआ। भू-राजस्व की दरें प्रायः बहुत ऊँची थीं और सरकार लगातार अपनी मांग बढ़ाने की कोशिश में लगी रहती थी। भू-राजस्व की ऊँची दरें और उसकी वसूली में अधिक कठोरता ने भारतीय कृषकों के सामने गम्भीर समस्याएं पैदा कर दी थीं। किसानों की गरीबी बढ़ती जा रही थी। उन्हें अपने जीवन-निर्वाह और भू-राजस्व के नकद भुगतान के लिए महाजन से कर्ज लेना पड़ता था।

औपनिवेशिक काल में भारतीय कृषि का अधिकाधिक व्यंवसायीकरण हुआ। इस काल में ब्रिटिश नीति का मुख्य उद्देश्य ब्रिटेन की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए भारतीय कृषि उत्पादनों का अधिकाधिक इस्तेमाल करना था। जिसने न केवल इस प्रकार के व्यवसायीकरण को सम्भव बनाया बल्कि इसे थौंप भी दिया। यह रेल प्रणाली की स्थापना से जुड़ा हुआ था। रेल लाइनों के बिछाने से यह समभव हो गया कि इंगलैण्ड के वस्त्र उद्योग और शहरी आबादी की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए भारत के भीतरी इलाकों से कपास को बन्दरगाहों तक लाकर निर्यात किया जा सकता था। भारत ब्रिटेन का एक कृषि उपनिवेश देश बन गया। रेल का निर्माण इस संक्रमण का प्रतीक भी है, क्योंकि एक ही साथ भारत के भीतरी क्षेत्रों से बन्दरगाहों तक कृषि उत्पादन ले जाना और वहां से आयात की हुई तैयार औद्योगिक वस्तुएं ले आना सम्भव हुआ। इस संक्रमण के साथ ही भारतीय किसानों की बड़ी संख्या बाजार के सम्बन्धों की गिरफ्त में आ गई।

भारत में हुए व्यवसायीकरण की प्रकृति और इंगलैण्ड में हुए व्यवसायीकरण की प्रक्रिया में फर्क था। इंगलैण्ड में कृषि की आन्तरिक पैदावार के बाजार में वृद्धि कृषि उत्पादन के मूल्यों की वृद्धि के साथ-साथ हुई थी। इससे किसानों को लाभ हुआ

और कृषि का अधिकाधिक विकास हुआ। इसके परिणामस्वरूप बिना जोती हुई भूमि और जुताई के लिए अनुपयुक्त भूमि पर भी खेती प्रारम्भ हुई और कृषि के क्षेत्र में नये वैज्ञानिक तरीके अपनाए गए जिससे कृषि का विस्तार हुआ। वास्तव में इस कृषि क्रांति ने ही इंगलैण्ड के समान को उस औद्योगिक प्रगति के लिए तैयार किया जिसने इंगलैण्ड को विश्व का स्वामी बना दिया। यह ऐतिहासिक प्रक्रिया अपने स्वाभाविक ऐतिहासिक रूप से शुरू नहीं हुई थी। इसे तो साम्राज्यवादी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए जबर्दस्ती शुरू किया गया था। ऐसा नहीं था कि कृषि के विकास के कारण बिक्री के लिए अधिक अतिरिक्त पैदावार होने लगी थी। बल्कि इसके विपरीत बाजार में बिक्री के लिए जो अधिकाधिक मात्रा में कृषि उत्पादन आ रहा था, उसके पीछे सरकार द्वारा भू-राजस्व की नकद रुपयों में वसूली हुई थी। इसके अतिरिक्त, फसल की बिक्री से प्राप्त रकम महाजनों और साहूकारों की जेब में चली जाती थी, क्योंकि फसल तैयार होने के पहले किसान महाजनों एवं साहूकारों से अपने जीवन-निर्वाह के लिए ऋण लेते थे। अधिकांश इतिहासकारों ने इस मत को स्वीकार किया है कि कृषि के व्यवसायीकरण को सरकार द्वारा थोपा गया था। अतः इसने कृषि अर्थव्यवस्था के अन्तर्विरोधों को दूर करने के बजाए उनमें और अधिक तीव्रता ला दी। अतः इस नीति के ठोस परिणामों का परीक्षण करना आवश्यक प्रतीत होता है।

परिणाम—औपनिवेशिक काल में भारत में कृषि के क्षेत्र में गतिरोध और ह्रास की स्थिति बनी हुई थी इसके मुख्य कारण थे—कृषि योग्य क्षेत्रों में खेती न कर पाना, कृषि क्षेत्र के विकास का अभाव तथा जमीन की खेती के लिए अनुपयुक्त होना। श्रम तथा भूमि की उत्पादकता कम हो रही थी। इस काल में कृषि की पैदावार और भूमि की उत्पादकता बढ़ाने के लिए कोई उल्लेखनीय प्रयास नहीं किया गया था। सरकारी कृषि फार्मों में उन्हीं फसलों के उत्पादन को बढ़ावा दिया गया जिनकी विदेशी बाजारों में मांग अधिक थी। पंजाब में अमेरिकी कपास के उत्पादन को बढ़ावा दिया गया। इसका उद्देश्य लंकाशायर के उद्योगों को कच्चा माल उपलब्ध कराना था क्योंकि अमेरिकी स्वाधीनता संग्राम के बाद अमेरिकी उपनिवेशों से कच्चा माल आना बन्द हो गया था। इसके अतिरिक्त, सिंचाई के साधनों के विकास के लिए कोई प्रयास नहीं किया गया था जबकि इसके द्वारा ही कृषि को बाढ़ और अनावृष्टि की विनाशलीला से बचाया जा सकता था।

भारत की कृषि अर्थ-व्यवस्था का बलात् व्यवसायीकरण भी चल रहा था। व्यावसायिक कृषि की शुरुआत बंगाल में हुई थी। प्रारम्भ में पोस्त, नील और जूट सबसे महत्वपूर्ण फसलें मानी जाती थीं। बाद में चाय भी महत्वपूर्ण हो गया। बंगा में पोस्त और नील के उत्पादन की सीमा किसान तय नहीं करते थे, बल्कि सरकार

अपनी राजस्व की जरूरतों के अनुसार निर्णय लेती थी और फसल पर अपना एकाधिकार बनाए रखती थी। इसे लागू करने के लिए विभिन्न स्तरों पर बिचौलिए रखे गये थे। यद्यपि समय के साथ-साथ दमन कम होता गया, तथापि उत्पादन की प्रकृति किसान की इच्छा और नियंत्रण से परे थी। नील और चाय का नियंत्रण यूरोपियन बागान मालिकों के हाथ में था। ये बागान मालिक अपने बागानों का प्रबन्ध पूंजीवादी पद्धति से करते थे जिसमें श्रमिकों को सामन्ती दासता की हालत में काम करना पड़ता था। बागानों के अतिरिक्त, लघु कृषक अर्थ-व्यवस्था को भी सामन्ती जमींदारी प्रथा के साथ-साथ कायम रखा जाता था। व्यवसायीकरण के प्रवेश के कारण एक पूरा तंत्र स्थापित हो गया था जिसके केन्द्र में जमींदार ऋणदाता व्यापारी था जिसने गांव के गरीबों को शोषण के लिए औपनिवेशिक शासन से साठ-गांठ कर लिया था। इस प्रणाली का आधार था—अग्रिम राशि ऋण आपदा में फसल की बिक्री का चक्र जिसने छोटे किसानों की अधिकाधिक लूट में सहायता पहुंचाई थी। फिर वैकल्पिक रोजगार का भी अभाव था। जमीन से बेदखल किसान वैकल्पिक रोजगार के अभाव में जमीन के सहारे ही अपना गुजर-बसर करने के लिए बाध्य थे।

देश के अन्य हिस्सों में भी यही प्रणाली कुछ परिवर्तनों के साथ अपनायी गयी थी। अन्तर केवल काश्त के विभिन्न रूपों, संबंधित इताके में कृषि संबंधों की विशिष्टता और उगाई जानेवाली फसलों के कारण था। ऋण और दासता के दुष्चक्र में फंसा किसाना कानूनेतर उत्पीड़न का भी शिकार होता था। ऋण से ग्रस्त किसानों को कटाई के समय ही अपनी फसल बेच देनी पड़ती थी। जब फसल की कीमत कम होती थी। इसके विपरीत, समृद्ध किसाना और जमींदार अपनी फसल कटाई के बाद बेचकर अच्छी कीमत प्राप्त कर लेते थे। समृद्ध किसानों और जमींदारों को कृषि के व्यवसायीकरण से अवश्य लाभ हुआ था। लेकिन अधिकतर किसानों को अपनी फसल ऋणग्रस्तता के कारण कम कीमत पर बेचनी पड़ती थी। उन्हें कभी-कभी विपत्ति में मजबूरन अपनी फसल से विदा भी लेनी पड़ती थी। मद्रास प्रेसिडेंसी में रैयतवाड़ी प्रथा लागू की गयी थी। वहां व्यवसायीकरण में वृद्धि के कारण किसानों की समृद्धि कम हो गई। उस समय प्रचलित कीमत ने भी उत्पादन को निरुत्साहित किया था। संयुक्त प्रान्त में व्यावसायिक कृषि के विस्तार के कुछ असन्तुलन पैदा हुए। कर की ऊँची दर और कठोरता से कर की वसूली ने ऋणग्रस्तता उत्पन्न की। जमींदार, बैंकर और महाजन ऋण से ग्रस्त विशेषाधिकारहीन किसानों को कर्ज देकर उनका शोषण करते थे। इस काल में कृषि का विस्तार नकदी फसलों (गन्ना , गेहूँ) में ही हुआ। नकदी फसलों में अधिकांश को शीघ्र होने वाले खर्च को पूरा करने के लिए उगाया जाता था। जैसे भू-राजस्व, लगान तथा पुराने कर्ज को चुकाना। महाराष्ट्र

में भी नयी भू-राजस्व प्रणाली लागू करने से अस्त-व्यस्तता उत्पन्न हुई। इसके कारण सामाजिक आर्थिक विपमता बढ़ी और दलित वर्गों की स्थिति दिन-प्रतिदिन शोचनीय होती गई। लगातार बढ़ रहे सामाजिक तनावों और नवधनाढ्य व्यापारी वर्ग के खिलाफ आक्रोश की परिणति 1875 ई. में दंगों के रूप में हुई जब व्यापारियों के खिलाफ कुनवी उठ खड़े हुए। उनके आक्रोश का निशाना जमीन के वेनामी और गिरवी कागजात थे जिन्हें वे अपनी विपत्ति का कारण मानते थे। पंजाब की स्थिति वाहरी तौर पर वेहतर थी लेकिन मूल प्रवृत्ति विगड़ी हुई थी। सिंचाई के विस्तार के कारण चालीस लाख एकड़ जमीन में खेती करना सम्भव हुआ। कृषि की पैदावार बढ़ने से व्यापार में भी वृद्धि हुई ग्रामीण ऋणग्रस्तता, भू-क्षेत्र का विखण्डीकरण, काश्तकारी बंटाई पर खेत में वृद्धि, जमींदारों के हाथों में भूमि का केन्द्रित होना। इन प्रवृत्तियों के कारण प्रति व्यक्ति उत्पादन और खाद्यान्न की उपलब्धि में कमी हुई। खाद्यान्न के अभाव में भारत में अनेक वार अकाल पड़े। अकाल का एक महत्वपूर्ण कारण विदेशों में भारत से अनाज का निर्यात भी था। अकाल के समय भी सरकार किसानों से ऊँचे दर पर राजस्व वसूलती रही। फलस्वरूप ऋणग्रस्तता के कारण किसानों को महाजनों के हाथ जमीन वेचनी पड़ी और अधिक संख्या में किसान खेतिहर मजदूर बन गये। रोजगार की तलाश में ये किसान मजदूर एक जगह से दूसरी जगह जाने लगे। इससे जनसंख्या का तवादला एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में हुआ।

इसका प्रभाव गांव की सामाजिक संरचना पर भी पड़ा। यह व्यवस्था कृषि अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्विरोधों को दूर करने में असफल रही। इससे सामाजिक तनावों और राजनीतिक असन्तोष का जन्म हुआ। इसकी अभिव्यक्ति किसान विद्रोहों और जन उभारों के रूप में हुई। 1873 ई. के पवना दंगे, 1875 ई. में के दक्कन खेतिहर दंगे, 1878-79 ई. का विद्रोह और 1894 ई. के असम खेतिहर दंगे। व्यापक जन-असन्तोष को देखते हुए सरकार ने अनेक कदम उठाये जैसे काश्तकारी अधिकारों को बदलने के लिए अनेक कानून बनाए गए तथा खेती करने वाले की जमीन खेती न करने वाले लोगों के हाथों में जाने से रोका गया। काश्तकारी अधिकारों को वदलने के लिए 1881 ई. में पश्चिमोत्तर प्रान्त लगान अधिनियम 1883 ई. में मध्य प्रान्त काश्तकारी विधेयक, 1885 ई. में बंगाल और पंजाब के काश्तकारी, कानून, 1886 ई. के अवध लगान अधिनियम और मद्रास काश्तकारी विधेयक पास किए गए। इनका उद्देश्य किसानों के असन्तोष को दूर करना था। जमीन की खेती करनेवाले भू-स्वामियों के हाथों में लगानजीवी जमींदारों के हाथों में जाने से रोकने के लिए 1897 ई. में दक्कन खेतिहर राहत अधिनियम, 1899 ई. में काश्तकारों के विकास के लिए मालाबार मुआवजा विधेयक, 1900 ई. में पंजाब भूमि एवं अन्न संक्रमण विधेयक और बंगाल भू-राजस्व संशोधन अधिनियम बनाए गए।

ग्रामीण ऋणग्रस्तता तो वढ़ ही रही थी, व्यवासायीकरण के विस्तार ने भारतीय किसानों को मूल्यों के चढ़ाव-उतार के अधीन कर दिया था। एक तो भारतीय किसानों को विचौलिए के कारण वढ़े हुए मूल्य का कोई लाभ नहीं मिलता था, दूसरी ओर मूल्य में कमी का भी उन पर वहुत वुरा प्रभाव पड़ता था। ग्रामीण ऋणग्रस्तता के कारण गांवों में वृहत् पैमाने पर भूमि या तो हस्तान्तरित की जाती थी या गिरवी रखी जाती थी। सरकार राहत देने की वात अवश्य करती थी लेकिन कोई महत्त्वपूर्ण कदम नहीं उठा पा रही थी। कोई भी राज्य ऋण की अदायगी स्थगित कराने के लिए कदम उठाने की स्थिति में नहीं था। स्थिति में परिवर्तन तभी सम्भव होता जव वाजार की संरचना में परिवर्तन होता, छोटे किसानों को सहकारी समितियों के माध्यम से आसान तथा सुविधाजनक शर्तों पर ऋण उपलब्ध कराने की व्यवस्था की जाती तथा कृषि सम्वन्धों में वुनियादी परिवर्तन किया जाता। ग्रामीण ऋणग्रस्तता की समस्या कृषि सम्बन्धों में परिवर्तन नहीं करने के कारण अधिक तीव्र हो गई। फलस्वरूप भारत के गरीब किसान जमींदार व्यापारी साहूकार के सम्मिलित शोषण के कारण अर्द्ध दासता की जिन्दगी जीने के लिए वाध्य हो गए। अधिक-से-अधिक जमीन किसानों के हाथों से जमींदारों और साहूकारों के हाथों में चली गई और वड़ी संख्या में किसान खेतिहर मजदूर वन गए। ग्रामीण भारत के सामाजिक तनावों को दूर करना आसान नहीं था। विशेषकर वैसी परिस्थिति में जब राजनीतिक जरूरतें साम्राज्यवाद की आर्थिक जरूरतों के विपरीत जा रही थीं। अंगरेज भारतीय समाज में व्याप्त अन्तर्विरोधों को दूर करने में सामर्थ्य नहीं हुए। अतः उनका भारतीय सामाजिक प्रतिरोध का स्वरूप स्पष्ट हो चुका था। परिस्थिति की गम्भीरता को समझते हुए अंगरेजों ने ग्रामीण कुलीन वर्ग से साठ-गांठ की और राजनीतिक तथा आर्थिक पुरस्कार का प्रलोभन देकर इस वर्ग की वफादारी खरीद ली।

कृषि में औपनिवेशिक नीति का एक अन्य महत्वपूर्ण पक्ष था—बागानों का उदय। 1850 ई. के दशक के पूर्व विहार के कुछ इलाकों और वंगाल में नील के वागानों का विकास हुआ। यह वलात् व्यवसायीकरण का पहला रूप था। चाय वागानों तथा कॉफी वागानों पर यूरोपियनों का एकाधिकार था। यह भारतीय प्राकृतिक सम्पदा का औद्योगिक किस्म के शोषण का सम्भवतः पहला प्रयास था। चाय वागानों की स्थापना के लिए पूर्वोत्तर क्षेत्रों के जंगलों को साफ किया गया और यूरोपीय सट्टेबाजों को कम मूल्य पर जमीन दे दी गयी। चाय वागानों में काम करने के लिए लोगों को वाहर से लाया गया और शोषण के अनेक हथकण्डे अपनाए गए। इसने अनेक प्रकार के सामाजिक सांस्कृतिक तनावों को जन्म दिया।

8

अंगरेजी शिक्षा के प्रारम्भ : प्रभाव में राजा राममोहन राय की भूमिका

अंगरेजों के आगमन के पूर्व भारत में परम्परागत शिक्षा की व्यवस्था थी। मध्यकालीन शासकों ने भी शिक्षा के विकास की दिशा में कोई महत्वपूर्ण कदम नहीं उठाया था। विद्यालय प्रायः मंदिरों और मस्जिदों में चलाये जाते थे। भारतीय शासकों ने जनता की शिक्षा की जिम्मेदारी नहीं ली थी और न जन-शिक्षा के लिए व्यापक प्रबन्ध ही किए थे। वे धार्मिक आधार पर केवल उच्च शिक्षण संस्थाओं को आर्थिक सहायता देते थे। शिक्षण संस्थाओं में वही लोग शिक्षा प्राप्त करने जाते थे जिन्हें हिसाब-किताब रखने की जरूरत पड़ती थी जैसे सरकारी कर्मचारी, साहूकार, व्यापारी तथा साधन सम्पन्न जमींदार। मुसलमानों की शिक्षा के लिए मदरसे की व्यवस्था थी लेकिन मदरसे में हिन्दू भी शिक्षा प्राप्त करते थे, क्योंकि फारसी उस समय अदालती भाषा थी। स्त्रियां शिक्षा प्राप्त करने के लिए विद्यालय नहीं जाती थीं। शासकों के अनुदार और सामन्तों के अनुग्रह पर पलने वाली शिक्षण संस्थाओं की अवस्था मुगल साम्राज्य के पतन के बाद शोचनीय हो गयी थी। राजनीतिक उथल-पुथल के युग में शिक्षण संस्थाओं के संरक्षण का प्रश्न गौण पड़ गया था। उत्तर और दक्षिण भारत के नगरों में विद्यालयों की अवस्था धन एवं साधन के अभाव में मृतप्रायः सी थी। चूंकि भारत में विशाल जनसमुदाय के लिए औपचारिक शिक्षा की व्यवस्था नहीं थी, इसलिए विदेशियों ने भारतीयों को अशिक्षित घोषित कर दिया। फिर भी हमें ये नहीं भूलना चाहिए कि रवानगी तौर पर शिक्षक विद्यार्थियों को शिक्षा प्रदान करते थे जिससे वे अपने व्यवसाय में निपुणता प्राप्त करते थे। उन्हें अपनी संस्कृति की भी जानकारी प्राप्त हो जाती थी।

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक भारत में देशी शिक्षा-पद्धति की ही प्रमुखता थी। लेकिन बाद में परम्परागत देशी शिक्षा'पद्धति के स्थान पर आधुनिक शिक्षा-प्रद्धति का विकास हुआ। आधुनिक शिक्षा-पद्धति के समर्थकों को अपने प्रयास में सफलता

मिली और अंगरेजी शिक्षा-पद्धति को अपनाने पर बल दिया गया। देशी शिक्षा-पद्धति की समाप्ति को उचित समझा गया। आधुनिक शिक्षा नीति के निर्माण तथा निर्धारण में अंगरेजी शासकों ने साम्राज्यवादी नीति का पालन किया क्योंकि, 'यदि किसी देश को दास रखना है, तो उसके साहित्य और संस्कृति का विनाश कर देना चाहिए।' आधुनिक शिक्षा-नीति का प्रमुख उद्देश्य अंगरेजी भाषा के माध्यम से पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान का प्रचार-प्रसार करना था। ईस्ट इण्डिया कम्पनी स्वयं व्यापार और राजनीतिक शक्ति के विस्तार में संलग्न थी। शिक्षा के विकास की ओर समय-समय पर कम्पनी के अधिकारियों द्वारा निदेशक मण्डल का ध्यान आकृष्ट करने का प्रयास किया गया था। फिर भी पूर्वी विद्या के प्रचार के प्रति कम्पनी का रुख उदासीनता का ही रहा। इसलिए भारतीय शिक्षण-संस्थाओं के पुनरुत्थान की योजनाओं की कम्पनी एवं ब्रिटिश संसद ने उपेक्षा की। केवल वे ही भारतीय जिन्होंने नई शिक्षा-पद्धति के अधीन तालीम प्राप्त की थी या जो नई शिक्षा-पद्धति के लाभों को महत्वपूर्ण समझते थे, अंगरेजी शिक्षण-प्रणाली के प्रबल समर्थक बन गये थे।

भारत में पाश्चात्य शिक्षा के प्रचार-प्रसार में ईसाई मिशनरियों का भी महत्वपूर्ण योगदान था। ईसाई धर्म के प्रचारक प्राच्य शिक्षा के प्रचार का विरोध कर रहे थे। वे पाश्चात्य शिक्षा का प्रचार भारत में करना चाहते थे, क्योंकि उनका मु.. उद्देश्य भारतीयों के बीच ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया था। अनेक व्यावसायिक विद्यालयों की भी स्थापना की गयी थी जिससे धर्म परिवर्तित व्यक्ति अपनी जीविका कमा सकें और सरकार के अधीन नौकरी प्राप्त कर सकें। मिनशनरियों ने उन्हीं स्थानों में अंगरेजी भाषा के माध्यम से अंगरेजी साहित्य की शिक्षा और पाश्चात्य ज्ञान को प्रोत्साहन दिया जहां उन्हें अधिक सफलता की आशा थी। अन्य स्थानों में शिक्षा स्थानीय भाषाओं के माध्यम से ही दी जाती थी। स्त्री शिक्षा को भी प्रोत्साहन दिया गया। बालिकाओं के लिए विद्यालय खोले गये, अनाथालय स्थापित किए गए तथा मध्यम वर्गीय एवं उच्च वर्गीय महिलाओं के लिए गृह-शिक्षा तथा महिला शिक्षा की व्यवस्था की गयी। 1813 ई. के चार्टर ऐक्ट द्वारा मिशनरियों को भारत में धर्म प्रचार एवं शिक्षण कार्य की स्वतंत्रता प्रदान की गयी। थोड़े ही समय में जेनरल वैपटिस्ट मिशनरी सोसाइटी, लन्दन मिशनरी सोसाइटी, चर्च मिशनरी सोसाइटी, वैसलियन मिशन एवं स्कॉच मिशनरी सोसाइटी जैसी संस्थाओं की स्थापना की गयी। जर्मन और अमेरिकी संस्थाओं की भी स्थापना हुई थी। 1833 ई. से पहले मिशनरियों का शिक्षण कार्य आधुनिक भाषा के माध्यम से शिक्षा देनेवाले विद्यालयों तक सीमित था। लेकिन 1833 ई. के बाद वे अंगरेजी माध्यम के माध्यमिक विद्यालयों और महाविद्यालयों पर जोर देने लगे। 1830 ई. में एलेक्जेंडर डफ ने कलकत्ता में एक अंगरेजी विद्यालय की स्थापना की। 1830 ई. के बाद मिशनरियों ने अनेक अंगरेजी विद्यालय स्थापित

किये। मिशनरियों का क्रिया-कलाप सभी जगहों में एक जैसा नहीं था। मिशनरियों की देख-रेख में मद्रास में सबसे अधिक शिक्षा का प्रचार हुआ। पंजाब में उनका क्रिया कलाप सबसे कम था। मध्य भारत और पश्चिमी प्रान्तों में भी उनका प्रभाव था।

राजा राममोहन राय की भूमिका : भारत में भी आधुनिक शिक्षा की आवश्यकता धीरे-धीरे महसूस की जा रही थी। यहां बहुत से व्यक्ति वंशगत व्यवसाय के नष्ट हो जाने से बेकार हो गये थे। आर्थिक तंगी के कारण वे नौकरी को जीवन-निर्वाह का एकमात्र सहारा मान बैठे थे। ऐसे भारतीय अंगरेजी शिक्षा के पक्षधर थे। कुछ प्रगतिशील भारतीय भी पाश्चात्य शिक्षा का प्रचार भारत में करना चाहते थे क्योंकि पाश्चात्य शिक्षा के प्रचार से भारत का आधुनिक स्वरूप विश्व में उभर सकता था। प्राचीन ज्ञान-विज्ञान उनकी नजर में उपयोगी नहीं रह गया था। संस्कृत विद्यालय अथवा मदरसा खोलना बेकार था। इन विद्यालयों की स्थापना से देश अंधकार में ही रह जाता और पश्चिम के ज्ञान-विज्ञान सीखने से वंचित रह जाता।

भारत में राजा राममोहन राय प्रगतिशील आधुनिक शिक्षा के अग्रदूत थे। उन्होंने पाश्चात्य देशों के वैज्ञानिक एवं जनतांत्रिक विचारों से प्रभावित होकर अंगरेजी शिक्षा-प्रणाली का समर्थन किया। शिक्षा और विज्ञान के प्रति राजा राम मोहन राय की गहरी रुचि थी। वे अनेक भाषाओं के ज्ञाता थे। संस्कृत के विद्वान होते हुए भी उन्होंने सरकार के समक्ष यह प्रस्ताव रखा कि प्राच्य शिक्षा सम्बन्धी परियोजना को त्यागकर उसके स्थान पर पाश्चात्य विज्ञान और साहित्य की शिक्षा अंगरेजी भाषा के माध्यम से प्रसार किया जाए। उन्होंने व्याकरण, भूगोल, ज्यामिति और खगोल विज्ञान एवं बंगला भाषा में पुस्तकों की रचना की। उन्होंने भारतीय भाषाओं के अध्ययन और विकास का समर्थन किया। वे प्राच्य संस्कृति के स्थान पर पाश्चात्य संस्कृति लाने के इच्छुक नहीं थे। वे तो पाश्चात्य साहित्य और विज्ञान के अध्ययन से प्राच्य संस्कृति को समृद्ध करना चाहते थे। परन्तु वे उन भारतीयों में थे जिन्होंने इस बात को समझा कि प्राच्य एवं पाश्चात्य संस्कृतियों का समन्वय भारत की प्रमुख आवश्यकता है। शिक्षाविद के रूप में राजा राममोहन राय ने परम्परावादी पण्डितों और निहित स्वार्थों के हिमायतियों के विरोध में आधुनिक पाश्चात्य शिक्षा-पद्धति का समर्थन किया। उनके शिक्षा सम्बन्धी विचार रचनात्मक थे। वे यह भांप चुके थे कि भारत में पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली प्रचलित होने से ही राजनीतिक जागरण एवं राष्ट्रीय एकता की भावना का प्रसार होगा। जब ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने यह निर्णय लिया कि भारत में शिक्षा के प्रचार-प्रसार के लिए स्वीकृत सम्पूर्ण राशि संस्कृत शिक्षण संस्थाओं की उन्नति के लिए खर्च की जाएगी तो राजा राममोहन राय को यह निर्णय पसन्द नहीं आया और उन्होंने 1833 ई. में गवर्नर जनरल लॉर्ड एमहर्स्ट को अपने पत्र में लिखा कि—"इंगलैण्ड में बेकन के प्रभाव से

लोगों को पुराने जीवनादर्श के साथ शिक्षा विधि बदलने की आवश्यकता हुई थी। यदि शिक्षा विधि को बदलकर बेकन की नीति को न अपनाया जाता तो पुरानी पद्धति से लोगों में शिक्षा का प्रचार करना सम्भव नहीं होता। वे हमेशा के लिए अज्ञानी रह जाते। यदि ब्रिटिश व्यवस्था का उद्देश्य भारतीयों को सदा अज्ञान के अन्धकार में रखना हो तो फिर संस्कृत प्रणाली ही अच्छी है। परन्तु जब सरकार भारतीय जनता की प्रगति चाहती है, तब आधुनिक एवं उदार शिक्षा-प्रणाली द्वारा गणित, प्राकृतिक दर्शन, रसायनशास्त्र, शरीरविज्ञान एवं अन्य उपयोगी वैज्ञानिक विषयों की शिक्षा भी दी जानी चाहिए। निर्धारित धनराशि से यूरोप में सुशिक्षित, प्रतिभावान (भारतीय) विद्वानों को शिक्षक नियुक्त किया जाए। एक महाविद्यालय की स्थापना हो जिसके लिए आवश्यक पुस्तकें खरीदी जाएं।"

भारत का भावी इतिहास राजा राम मोहन राय की दूरदर्शिता को सिद्ध करता है। राजा राममोहन राय की यह विशेषता थी कि ज्ञान प्राप्ति के मार्ग में उन्होंने अपने मस्तिष्क पर किन्हीं पूर्वाग्रहों को हावी नहीं होने दिया। अंगरेजी भाषा और पश्चिमी शिक्षा को उन्होंने भारत के लिए लाभकारी बतलाया। प्राचीन भारतीय दर्शन और धर्म के प्रति उनमें असीम श्रद्धा थी। इसलिए उन्होंने वेदों और उपनिषदों को बंगला और अंगरेजी भाषा में अनुवाद करने का कठिन कार्य स्वयं अपने हाथों में ले लिया था। लेकिन उनका विश्वास था कि जनसाधारण के लिए शिक्षा व्यावहारिक और उपयोगी होनी चाहिए तथा वैज्ञानिक चिंतन से ही भारत आगे बढ़ सकता है। अतः उन्होंने पाश्चात्य शिक्षा और विज्ञान का अधिकाधिक समर्थन किया और इस बात पर बल दिया कि पथ पर आगे बढ़ने के लिए भारत को मध्यकालीन एवं विद्वतावादी पद्धति का परित्याग करके अपनी शिक्षा-पद्धति आधुनिक विज्ञान के अनुकूल बनानी चाहिए।

अपनी उपर्युक्त मान्यताओं द्वारा राजा राममोहन राय ने पूरब और पश्चिम की दीवारों को गिराने तथा सवर्ण हिन्दुओं के बीच यूरोपीय विचारों और मानदण्डों को लाने का भरसक प्रयास किया। इस कार्य में उन्होंने काफी सफलता भी प्राप्त की। उन्होंने कलकत्ता में डेविड हेयर के सहयोग से हिन्दू कॉलेज की स्थापना की और अंगरेजी भाषा के माध्यम से उसमें विज्ञान और मानविकी की पढ़ाई प्रारम्भ की गयी। 1822 ई. में उन्होंने यूरिटेरियन एसोसियशन के तत्वधान में हाई इंगलिश स्कूल अथवा एंग्लो हिन्दू स्कूल की स्थापना की। सरकार द्वारा आगरा, दिल्ली और कलकत्ता में तीन संस्कृत कॉलेज खोले गये। यूरोपीय वैज्ञानिक पुस्तकों का अनुवाद प्राच्य भाषाओं में किया गया। 1818 ई. में दिग्दर्शन (मासिक) और समाचार दर्पण (साप्ताहिक) नामक दो पत्रिकाओं का प्रकाशन प्रारम्भ किया गया। 1825 ई. में राजा राममोहन राय ने वेदान्त कॉलेज की स्थापना की जिसमें भारतीय विद्या के साथ-साथ

सामाजिक और भौतिक विज्ञानों की भी पढ़ाई होती थी। उन्होंने इस आपत्ति का भी निराकरण किया कि ईसाई विद्यालय में बाईबिल पढ़ाए जाने से जाति भ्रष्ट होने का डर है। उन्होंने लोगों को समझाया कि 'किसी भी धर्म का ग्रन्थ पढ़ने से जाति भ्रष्ट होने का प्रश्न नहीं उठता है। सभी धर्मो के विषय में जानना अच्छा बात है। मैंने खुद कई बार बाईबिल पढ़ी, कुरान शरीफ भी पढ़ी है, परन्तु मैं न तो ईसाई बना हूं, न मुसलमान। बहुतेरे यूरोपीय गीता एवं रामायण आदि ग्रन्थों का अध्ययन करते हैं, लेकिन वे हिन्दू नहीं हो गये हैं।'

राम मोहर राय पाश्चात्य शिक्षा-पद्धति के पक्षपाती होने पर भी भारतीय संस्कृति और प्राचीन ग्रन्थों के अध्ययन अध्यापन के प्रति पूर्ण सजग थे और इसी उद्देश्य से उन्होंने वेदान्त कॉलेज की स्थापना की थी। अंगरेजी शिक्षा पर बल देते हुए भी उन्होंने संस्कृत की आवश्यकता का तिरस्कार नहीं किया। उनका विचार था कि वास्तविक उन्नति के लिए विश्व के साथ सम्वन्ध स्थापित करके कदम-से-कदम मिलाकर चलना होगा, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि इस संस्कृत शिक्षा की अवहेलना करें और प्राचीन ग्रन्थों जैसे वेद, उपनिषद् आदि का अध्ययन करना छोड़ दें। राजा राममोहन राय चाहते थे कि भारत में प्राथमिक शिक्षा निःशुल्क और अनिवार्य हो। उन्होंने नारी-शिक्षा का भी समर्थन किया लेकिन इस दिशा में किसी संस्था की स्थापना के लिए कोई ठोस कदम नहीं उठाया। उन्होंने बंगला भाषा में गद्य साहित्य की रचना करके बंगाल में शिक्षा के क्षेत्र में बड़ी सेवा की। उन्होंने बंगाल में दार्शनिक, साहित्यिक, ऐतिहासिक तथा धार्मिक पुस्तकों की रचना की। उन्होंने एक बंगला व्याकरण का संकलन किया। उन्होंने भारतीय पत्रकारिता के क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण कार्य किया और बंगला पत्रिका 'संवाद कौमुदी' का प्रकाशन किया। 1833 ई. में उन्होंने समाचारपत्रों के नियमन के विरुद्ध प्रबल आन्दोलन चलाया।

ब्रिटिश कर्मचारियों और गैर-सरकारी अंगरेजों ने भी शिक्षा के क्षेत्र में व्यक्तिगत रूप से कार्य किया था। 1781 ई. में वारेन हेस्टिंग्स ने कलकत्ता में एक मदरसा की स्थापना की जिसमें मुख्यतः अरबी और फारसी भाषा में शिक्षा दी जाती थी। बनारस में डंकन ने बनारस संस्कृत महाविद्यालय की स्थापना की जिसमें हिन्दू धर्म, साहित्य एवं कानून की शिक्षा की व्यवस्था की गयी थी। जे. ई. बेथून ने भारतीय बालिकाओं के लिए 1849 ई. में एक विद्यालय की स्थापना की। बाद में डलहौजी ने इसे अपने हाथ में ले लिया और बेथून महाविद्यालय भारतीय महिलाओं की शिक्षा का केन्द्र बन गया। बम्बई में माउन्ट स्टुअर्ट एलफिन्स्टन ने देशी शिक्षा समिति को प्रोत्साहन दिया। इस समिति के विद्यालय में धार्मिक शिक्षा अनिवार्य नहीं थी, इसलिए इस समिति द्वारा संचालित विद्यालयों में हिन्दू, मुसलमान और पारसी सभी शिक्षा ग्रहण करते थे।

विभिन्न देशों में नई शिक्षा की आवश्यकता महसूस करते हुए ब्रिटिश सरकार ने 1813 ई. में पहला उल्लेखनीय कदम उठाया। 1813 ई. में कम्पनी के चार्टर का नवीनीकरण किया गया। इस अधिनियम के द्वारा प्रतिवर्ष शिक्षा के लिए एक लाख रुपए खर्च करने की व्यवस्था की गई। शिक्षा के प्रति सरकारी उत्तरदायित्व को स्वीकार किया गया। 1813 ई. में चार्टर अधिनियम में शिक्षा-सम्बन्धी एक धारा थी जिसमें कहा गया था, 'गवर्नर जनरल और उसकी परिषद् कानूनी तौर पर यह निर्देश दे सकती है कि विजित क्षेत्रों से सैनिक, नागरिक और व्यावसायिक खर्च और ऋण का ब्याज घटा देने के बाद पट्टे, राजस्व और मुनाफे की बची हुई रकम में से हर साल कम-से-कम एक लाख रुपए की कुल राशि साहित्य के पुनरुत्थान और सुधार करने, भारत के मूल निवासियों को प्रोत्साहन देने तथा भारत के ब्रिटिश राज्यक्षेत्र के निवासियों के बीच विज्ञान की शिक्षा का संवर्द्धन करने के लिए व्यय की जाएगी और उपर्युक्त कार्यों के लिए फोर्ट विलियम, फोर्ट सेंट जार्ज या बम्बई प्रेसीडेन्सी अथवा भारत में ब्रिटिश प्रदेशों के किसी भी भाग में स्कूल सार्वजनिक व्याख्यान संस्थाएं या अन्या संस्थाएं खोली जाएंगी। इनका संचालन उन सभी निमयों के अनुसार होगा जो गवर्नर जनरल और उनकी परिषद समय-समय पर बनाएगी। लेकिन ऐसे स्कूलों, व्याख्यान संस्थानों और अन्य संस्थाओं में सभी नियुक्तियां हमेशा सरकार की सत्ता के अधीन की जाएंगी।' इस प्रकार 1813 ई. के चार्टर के आदेशों के परिणामस्वरूप कम्पनी को शिक्षा प्रसार की उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेना पड़ा और पादरियों को भी धर्म प्रसार की स्वतंत्रता प्रदान की गई। पादरियों को दी गई स्वतंत्रता का स्वाभाविक परिणाम यह निकला कि उन्होंने अंगरेजी भाषा के प्रसार की दिशा में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई और अंगरेजी भाषा के माध्यम से धर्म-प्रसार का कार्य भी चलता रहा। अंगरेजी भाषा के प्रति आकर्षण पैदा करने, पाश्चात्य संस्कृति की महानता को सिद्ध करने और भारतीय संस्कृति को हीन बताने का कार्य बड़ी कुशलता और योजनाबद्ध तरीकों से चलता रहा।

अंगरेजों को ऐसे भारतीयों की आवश्यकता थी जो अंगरेजी भाषा के ज्ञाता हो और प्रशासन तथा न्याय के काम में सहयोग दे सकें। भारत में अंगरेजों की आर्थिक, राजनीतिक और प्रशासनिक आवश्यकताओं ने अंगरेजी सरकार को भारत में अंगरेजी शिक्षा लागू करने के लिए बाध्य किया। भारत के साथ व्यापार और नये उद्योगों को चलाने के लिए ऐसे किरानियों, मैनेजरों और एजेन्टों की आवश्यकता थी जो अंगरेजी भाषा जानते हों। आर्थिक आवश्यकताओं के साथ-साथ राजनीतिक और प्रशासनिक आवश्यकताएं भी थीं। अंगरेजी सरकार को विजित प्रदेशों में प्रशासनिक तंत्र चलाने के लिए बड़ी संख्या में शिक्षित व्यक्तियों की जरूरत थी। अतः सरकारी पदाधिकारियों को यह उचित समझा कि स्कूल और कॉलेज की स्थापना करके भारतीयों को अंगरेजी

भाषा की शिक्षा दी जाए ताकि वे सरकारी सेवाओं में अधीनस्थ पदों पर काम कर सकें और सरकारी तथा व्यावसायिक कार्यालयों में किरानी, वकील, तकनीकी विशेषज्ञ, शिक्षक, डॉक्टर आदि प्राप्त हो सके। ब्रिटिश शिक्षा और संस्कृति का प्रचार अंगरेज अपना मुख्य कर्त्तव्य मानते थे। मैकाले इसी विचारधारा का समर्थक था। माउंट स्टुअर्ट एलिफिन्स्टन का मत था कि अंगरेजी शिक्षा का कारण भारतीय ब्रिटिश शासन को अधिक प्रसन्नता से स्वीकार कर लेंगे। वह अंगरेजी शिक्षा को राजनीतिक दृष्टि से आवश्यक मानता था। अनेक अंगरेज अधिकारियों का मत था कि अंगरेजी शिक्षा प्राप्त भारतीय ब्रिटिश शासन तथा राज्य के प्रबल समर्थक बन जाएंगे और भारतीय जनता में ब्रिटिश विचारों एवं सिद्धान्तों का प्रचार होगा। इस प्रकार ब्रिटिश पूंजीवाद की आर्थिक आवश्यकता और ब्रिटिश संस्कृति की सर्वोच्चता में विश्वास का कारण भारत में आधुनिक शिक्षा का प्रश्रय दिया गया।

1854 ई. तक भारत में आधुनिक शिक्षा की प्रगति की गति अत्यन्त धीमी थी। कारण यह था कि यह युग भारत में ब्रिटिश साम्राज्य के विस्तार और सुदृढ़ीकरण का युग था। ब्रिटिश सरकार राजनीतिक कार्यों में व्यस्त थी, इसलिए शिक्षा के विकासं की ओर उसने ध्यान नहीं दिया। 1854 ई. में प्रथम बार शिक्षा विभाग की स्थापना की गई थी। 1854 ई. तक शिक्षा-संबंधी कार्यों की देखभाल गवर्नर जनरल, गवर्नर और शिक्षा-बोर्ड तथा समितियों के अध्यक्ष ही करते थे तथा शिक्षा से संबंधित समस्याओं को निपटाते थे। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के कर्मचारी और मिशनरी भी इस क्षेत्र में कार्य करते थे। राजा राममोहन राय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर तथा कुछ अन्य भारतीयों ने भी शिक्षा के विकास में अभिरुचि दिखलाई थी, लेकिन सामान्यतः नई शिक्षा-प्रणाली के निर्माण में भारतीयों की भूमिका महत्वपूर्ण नहीं थी।

1854 ई. के पूर्व का काल नवीन शिक्षा के क्षेत्र में प्रयोगों का काल था। उत्तर-पश्चिम प्रान्त में थॉमसन ने देशी विद्यालयों की आधारशिला पर सार्वजनिक शिक्षा पद्धति के निर्माण का प्रयास किया। दूसरी ओर बम्बई शिक्षा-बोर्ड देशी विद्यालयों के स्थान पर सरकारी विद्यालयों का निर्माण कर रहा था। बंगाल में शिक्षा का माध्यम अंगरेजी भाषा को बनाया जा रहा था जबकि बम्बई में मातृभाषा को शिक्षा का माध्यम बनाया गया थां यह काल विवादों से भी पूर्ण था। इसलिए उपलब्धियों की अपेक्षा प्रयोगों की अधिकता थी। 1813 ई. के ऐक्ट के निर्देश भी स्पष्ट नहीं थे। इसलिए आगे चलकर शिक्षा नीति के लक्ष्य, शिक्षा के माध्यम, शिक्षण-संस्थाओं की व्यवस्था तथा शिक्षा-प्रणाली के संबंध में विवाद उठे। एक ओर कुछ लोग ईसाई मिशनरियों के कार्यों का समर्थन कर रहे थे तो दूसरी ओर कुछ देशी विद्यालयों के समर्थक थे। वे ईसाई मिशनरियों के धर्म प्रचार की नीति के विरोधी थे। कुछ ऐसे लोग भी थे जो देशी विद्यालयों के स्थान पर ईस्ट इण्डिया कम्पनी द्वारा नियंत्रित

विद्यालयों की स्थापना का समर्थन कर रहे थे। शिक्षा के उद्देश्यों के सम्बन्ध में भी मतभेद था और विभिन्न प्रकार की विचारधाराएं प्रचलित थीं। कुछ लोगों का विचार था कि भारतीय जनता को शिक्षित करना ब्रिटिश सरकार का कर्तव्य है। कुछ अन्य लोग भारतीयों को शिक्षित करना इसलिए आवश्यक मानते थे ताकि वे कम्पनी के अधीन छोटे पदों का दायित्व संभाल सकें। भारतीयों में शिक्षा-प्रचार की प्रणाली के सम्बन्ध में भी मतभेद था। कुछ लोग चाहते थे कि भारतीयों को शिक्षित करने का दायित्व कम्पनी स्वयं संभाले। जबकि दूसरी विचारधारा यह थी कि शिक्षा उच्च वर्गों से सर्वसाधारण तक पहुंचाई जाए। 1854 ई. के आज्ञापत्र के द्वारा इन विवादों को सुलझाने का प्रयास किया गया था और इसके बाद भी भारत में आधुनिक शिक्षा नीति का निर्धारण हुआ।

प्राच्य पाश्चात्य विवाद : 1813 ई. के चार्टर के निर्देशों के अनुरूप ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भारत में शिक्षा के प्रसार की दिशा में कोई महत्वपूर्ण काम नहीं किया और इस अवधि के दौरान गैर-सरकारी प्रयत्नों से ही अनेक विद्यालयों एवं महाविद्यालयों की स्थापना हुई। 1823 ई. में सरकार ने जन-शिक्षा का महासमिति की नियुक्ति की जिसे अंगरेजी भाषा और शिक्षा के प्रचार का दायित्व सौंपा गया था। जन शिक्षा की सहसमिति की नियुक्ति सरकार ने फोर्ट विलियम प्रेसिडेंसी के अधीन जन-शिक्षा की जानकारी प्राप्त करने, समय-समय पर सरकार को जनता की शिक्षा में सुधार लेने के लिए उचित सुझाने और लोगों को विज्ञान तथा यूरोप की कलाओं का लाभकारी ज्ञान दिलाने और उनके नैतिक स्तर में सुधार लाने के लिए की गयी थी। निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए समिति को एक लाख रुपए का वार्षिक अनुदान सौंपा गया।

जन-शिक्षा की महासमिति की नियुक्ति के बाद ही पाश्चात्य प्राच्य विवाद उठ खड़ा हुआ। भारतीय शिक्षा सम्बन्धी नीति निर्धारण के प्रश्न पर दो दल उठ खड़े हुए—प्राच्यवादी और पाश्चात्यवादी। प्राच्यवादियों का मत था कि संस्कृति और फारसी के अध्ययन को प्रोत्साहन दिया जाए और भारत में पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान का प्रचार इन्हीं भाषाओं के माध्यम से किया जाय। उपयोगी पुस्तकों का अंगरेजी से अरबी और संस्कृत भाषाओं में अनुवाद किया जाए। महासमिति के अन्य सदस्यों ने पाश्चात्य शिक्षा-पद्धति का समर्थन किया। इस प्रकार समिति के अन्दर ही नीति संबंधी विवाद उठ खड़ा हुआ। समिति के अधिकांश सदस्य प्राच्य विद्या अध्ययन के पक्ष में थे। अतः अंगरेजी शिक्षा के समर्थकों में गहरा रोष उत्पन्न हुआ। उनके इस रोष को राजा राममोहन राय का समर्थन प्राप्त हुआ। राजा राममोहन राय का कहना था कि यदि ब्रिटिश सरकार भारतीयों को अंधकार में रखना चाहती है तो उसे संस्कृत शिक्षा-प्रणाली पर जोर देना चाहिए। यदि वह भारतीयों के जीवन स्तर में सुधार

चाहती है उसे पाश्चात्य शिक्षा पर बल देना चाहिए। राजा राम मोहन राय ने इस संबंध में सरकार को एक ज्ञापन भी दिया था। लेकिन तत्कालीन परिस्थितियों में सरकार ने इस प्राच्य पाश्चात्य विवाद पर चुप्पी साध लेने का निर्णय लिया। समिति की नीति ने न तो पाश्चात्य शिक्षा के समर्थक भारतीय बुद्धिजीवियों को और न कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स को सन्तुष्ट कर सका। कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स ने भारत में कम्पनी प्रशासन की आवश्यकताओं के व्यावहारिक पक्ष पर ध्यान दिया और 1827 ई. में भारत सरकार को लिखा कि प्रशाससन को एक सरकारी भाषा की आवश्यकता है और यह भाषा अंगरेजी भाषा के अलावा कोई अन्य भाषा नहीं हो सकती। अतएव 1829 ई. में भारत सरकार ने स्पष्ट किया कि ब्रिटिश सरकार की नीति अंगरेजी भाषा को धीरे-धीरे सम्पूर्ण भारत में सार्वजनिक काम-काज की भाषा बनाना है। 1830 ई. में कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स ने इस बात पर बल दिया कि कम्पनी के भारतीय कर्मचारी यूरोपीय साहित्य और विज्ञान की जानकारी प्राप्त करें। इसका अर्थ यह था कि अंगरेजी शिक्षा प्राप्त भारतीयों को ही सरकारी नौकरी में तरजीह दी जाएगी। सरकार द्वारा अपनी नीति और प्रशासन के लिए अंगरेजी भाषा की आवश्यकता को स्पष्ट कर दिए जाने पर जन-शिक्षा समिति को अपना रवैया बदलने के लिए बाध य होना पड़ा। फिर भी शिक्षा सम्बन्धी नीति में कोई क्रांतिकारी परिवर्तन नहीं हुआ क्योंकि जन शिक्षा समिति में प्राच्य शिक्षा के समर्थकों का बहुमत था। 1831 ई. में समिति ने यह स्पष्ट किया कि भारतीय साहित्य के अध्ययन को प्रोत्साहन देने से उसके प्रयत्न जारी हैं। समिति की नीति से अंगरेजी भाषा और शिक्षा के समर्थकों का रोष बढ़ता गया। उन्होंने यह विश्वास व्यक्त किया कि वर्तमान शिक्षा नीति में आमूल परिवर्तन की आवश्यकता है। दूसरी ओर प्राच्य विद्या के समर्थक अपनी गलतियां स्वीकार करने को तैयार नहीं थे। इस प्रकार प्राच्य पाश्चात्य विवाद बना रहा। 1833 ई. में ब्रिटिश संसद ने कम्पनी के चार्टर के नवीनीकरण के समय सारी स्थिति पर विचार विमर्श किया। राजा राममोहन राय ने अंगरेजी भाषा और पाश्चात्य शिक्षा के पक्ष में अनेक तर्क दिए। उन्होंने कहा कि प्रशासनिक कार्यों में भारतीयों को उत्तरदायी पद सौंपे जाएं। इसका अर्थ यह था कि भारतीय उत्तरदायी पदों के योग्य तभी होंगे जब उन्हें अंगेजी भाषा में उच्च शिक्षा दी जाए। 1833 ई. के नये चार्टर ऐक्ट में गवर्नर जनरल की परिषद् में एक कानून सदस्य की व्यवस्था करके इस पद पर मैकाले को नियुक्त किया गया। साथ ही उसे जन-शिक्षा समिति का अध्यक्ष भी बनाया गया। मैकाले अंग्रेजी शिक्षा का कट्टर समर्थक था और उसकी नियुक्ति के पीछे ब्रिटिश सरकार की यह नीति थी कि वह भारत में अंगरेजी भाषा का त्वरित प्रसार देखना चाहती थी। मैकाले ने अपना कार्यभार 1834 ई. में संभाला। अंगरेजी शिक्षा के विकास की नियुक्ति एक क्रांतिकारी मोड़ था।

मैकाले का विवरण पत्र : मैकाले भारत में अंगरेजी शिक्षा के प्रचार-प्रसार का जनक माना जाता है। उसे विश्वास था कि यदि अंगरेजी शिक्षा की योजनाओं को कार्यान्वित किया जाय तो तीन वर्षों के बाद बंगाल के संभ्रान्त वर्गों में एक भी मूर्तिपूजक नहीं रहेगा। मैकाले उपयोगितावाद और ईसाई मिशनरियों के विचारों से प्रभावित था। वह प्राच्य ज्ञान और चिन्तन की तुलना में पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान को अधिक श्रेष्ठ और उपयोगी मानताा था। तत्कालीन गवर्नर जनरल लॉर्ड विलियम बैन्टिक ने मैकाले को बंगाल की लोक-शिक्षा समिति का अध्यक्ष नियुक्त किया और 1813 ई. के आज्ञापत्र की शिक्षा-सम्बन्धी धारा की व्याख्या करने को कहा। 2 फरवरी, 1835 ई. को मैकाले ने अपना विवरणपत्र प्रस्तुत किया। उसने अपने विवरणपत्र में भारतीय साहित्य का उपहास करते हुए अंगरेजी भापा और साहित्य की श्रेष्ठता की वकालत की। उसने भारतीय संस्कृति को अन्धविश्वासों का भण्डार मात्र बताया। उसने 1813 ई. के चार्टर में उल्लिखित साहित्य शब्द की व्याख्या करते हुए बतलाया कि आज्ञापत्र (चार्टर) में उल्लिखित साहित्य शब्द का तात्पर्य अंगरेजी साहित्य से है, न कि संस्कृत तथा अरबी साहित्य से। इसी प्रकार भारतीय विद्वान शब्द का अर्थ प्राच्य भापा और साहित्य के विद्वान से न लगाकर ऐसे व्यक्ति से लगाया गया जो लॉक के दर्शन और मिल्टन की कविता से परिचित हो। मैकाले ने प्राच्य शिक्षा संस्थाओं का उग्र विरोध करते हुए कहा कि इन शिक्षा संस्थाओं पर धन खर्च करके सरकार ने न तो अपनी भलाई का काम किया है और न भारत की जनता का शिक्षा के माध्यम के विपय में अंगरेजी भापा का समर्थन करते हुए मैकाले ने भारतीय भापा और साहित्य का उपहास उड़ाया। भारतीय भापाओं के विपय में उसने लिखा कि 'भारत के निवासियों की प्रचलित देशी भापाओं में साहित्यिक तथा वैज्ञानिक ज्ञान कोप का अभाव है, तथा वे इतनी अल्पविकसित और गंवारू हैं कि जब तक उनको वाह्य भण्डार से सम्पन्न नहीं किया जाएगा तब तक उनमें सरलता से महत्वपूर्ण ग्रन्थों का अनुवाद नहीं किया जा सकता।' भारतीय साहित्य का मजाक उड़ाते हुए उसने लिखा कि—'किसी अच्छे यूरोपीय पुस्तकालय की आलमारी का एक खाना भारत तथा अरब देशों के सम्पूर्ण साहित्य के बराबर मूल्यवान है।' अंगरेजी भापा की उपयोगिता पर उसने जोर दिया और भारतीय ज्ञान का परिहास करते हुए कहा, 'जबकि हम विशुद्ध दर्शन और वास्तविक इतिहास के अध्ययन को प्रोत्साहन दे सकते हैं, तो क्या हम सरकारी खर्च पर निम्नलिखित विपय पढ़ाए जाने का अनुमोदन करेंगे—चिकित्सा सिद्धान्त, जिन पर अंगरेजी पशु चिकित्सकों को लज्जा आएगी। ज्योतिप, जिस पर अंगरेजी स्कूलों की बालिकाएं हंस पड़ेंगी। इतिहास, जिसमें तीस फुट लम्बे राजाओं और तीस हजार वर्ष तक चलने वाले राज्यकालों का वर्णन है, और भूगोल, जिसमें क्षीर और मक्खन के समुद्रों का वर्णन है।' मैकाले का

एकमात्र उद्देश्य भारत में एक ऐसे वर्ग को तैयार करना था जो शरीर और रंग से भारतीय रहते हुए भी विचार, नैतिक मापदण्ड और प्रवृत्ति से अंग्रेज हो और कम्पनी के निम्नस्तरीय कार्यभार को संभाल सकें। मैकाले की योजना एक क्रमबद्ध प्रयत्न था जिसके द्वारा अंगरेजी सरकार भारत के उच्च वर्ग को अंगरेजी भाषा में शिक्षित कर कम्पनी का रक्षक बनाना चाहती थी। शिक्षित भारतीय दुभाषिया के रूप में कार्य करते और धीरे-धीरे यही वर्ग अंगरेजी भाषा का प्रचार जनसाधारण में करता। मैकाले का यह सिद्धान्त कि सरकार उच्च वर्ग की शिक्षा की ओर ध्यान दे, निम्न वर्ग उसके सम्पर्क में आकर स्वयं शिक्षित हो जाएगा, शिक्षा के इतिहास में निस्पन्दन सिद्धान्त कहलाता है। अंगरेजी भाषा को शिक्षा का माध्यम बनाने के लिए मैकाले ने निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किए–

1. भारतीयों में अंगरेजी भाषा के प्रति गहरी रुचि है।

2. शासक वर्ग की भाषा अंगरेजी है और भारत का उच्चतम वर्ग अंगरेजी भाषा बोलता है।

3. अंगरेजी यदि व्यापारिक दृष्टि से भारत की भाषा बन जाती है तो उसका संबंध अन्य देशों के साथ भी स्थापित हो जाएंगे।

4. अरबी और संस्कृत के छात्रों को पढ़ाने के लिए हमें आर्थिक अनुदान देना पड़ता है, जबकि अंगरेजी पढ़नेवाले हमें फीस देने को तैयार हैं।

5. जिस प्रकार यूनानी और लैटिन भाषाओं ने इंगलैण्ड का पुनरुत्थान किया, उसी प्रकार भारतीयों का पुनरुत्थान अंगरेजी भाषा करेगी।

6. संस्कृत और अरबी की पुस्तकों पर तीस वर्षों में लगभग साठ हजार रुपये खर्च करके बदले में हम एक हजार रुपए भी प्राप्त नहीं कर सके हैं जबकि, दूसरी ओर कलकत्ता समाज प्रतिदिन पुस्तकें बेचकर विपुल धन अर्जित कर रहा है।

प्राच्य-पाश्चात्य विवाद का अन्त : ब्रिटिश प्रशासन में भारतीयों को उच्च पद पर नियुक्त करने एवं इसके लिए अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार-प्रसार के पक्षधरों में लॉर्ड विलियम बैन्टिक सबसे आगे था। बैन्टिक ने मैकाले के विवरणपत्र पर प्राच्यवादी दल के नेता प्रिंसेप से मत की मांग की, जिसने मैकाले के विचारों के विरुद्ध अकाट्य तर्क दिये तथा प्राच्य साहित्य और शिक्षा के जीर्णोद्धार के प्रस्ताव रखे। लेकिन बैन्टिक ने मैकाले के विवरणपत्र को सही और समयोचित मानते हुए उसके प्रस्तावों को स्वीकार कर लिया। उसने मैकाले के मत का समर्थन करते हुए सरकार की शिक्षा-नीति की घोषणा करके प्राच्य पाश्चात्य विवाद का अन्त कर दिया। 7 मार्च, 1835 ई. को यह घोषणा की गयी कि, 'अंगरेजी सरकार का महान उद्देश्य भारतवासियों के बीच यूरोपीय साहित्य एवं विज्ञान को प्रोत्साहन देना है। इसलिए शिक्षा के लिए उपलब्ध समस्त धनराशि का उत्तम उपयोग अंगरेजी शिक्षा पर खर्च

करना होगा।' मार्च, 1835 ई. के आज्ञापत्र की मुख्य बातें इस प्रकार थीं—

1. ब्रिटिश सरकार का प्रमुख उद्देश्य भारतीयों में यूरोपीय साहित्य और विज्ञान का प्रसार करना है। भविष्य में शिक्षा-संबंधी धनराशि का व्यय अंगरेजी शिक्षा के लिए होगा।

2. प्राच्य शिक्षालयों का उन्मूलन और बहिष्कार नहीं किया जाएगा। प्राच्य शिक्षा से संबंधित अध्यापकों और विद्यालयों को वेतन तथा छात्रवृत्तियां मिलती रहेंगी। परन्तु इसके बाद प्रवेश पानेवाले विद्यार्थियों को छात्रवृत्ति नहीं दी जाएगी और इन विद्यालयों में अध्यापकों की नियुक्ति सरकार के निर्णय से होगी।

3. प्राच्य विद्या संबंधी साहित्य का प्रकाशन भविष्य में नहीं किया जाएगा।

4. प्राच्य साहित्य के स्थान पर अंगरेजी साहित्य और विज्ञान संबंधी प्रश्नों के प्रकाशन पर धन खर्च किया जाएगा।

इस प्रकार 1835 ई. के आज्ञापत्र में ब्रिटिश सरकार की शिक्षा-नीति का स्पष्टीकरण कर भारतीय शिक्षा के उद्देश्य साधन और माध्यम को निश्चित कर दिया गया। लेकिन लॉर्ड विलियम बैन्टिंक के बाद भी यह विवाद लगभग पांच वर्षो तक चलता रहा बैन्टिंक के स्थान पर लॉर्ड ऑकलैण्ड की नियुक्ति हुई थी। उसके समय में प्राच्यवादियों ने पुनः अपनी आवाज उठाई। ऑकलैण्ड एक व्यवहार कुशल राजनीतिज्ञ था। उसने कुछ आर्थिक सहायता देकर प्राच्यवादियों का मुंह बन्द करने का निर्णय लिया। अतः प्राच्यवादियों को सन्तुष्ट करने की नीति अपनाते हुए ऑकलैण्ड ने 24 नवम्बर, 1839 ई. को एक विवरणपत्र तैयार किया। इसके अनुसार यह निर्णय लिया गया कि—

1. प्राच्य शिक्षण-संस्थाएं पहले की भांति जारी रखे जाएंगे और उन्हें उतनी ही आर्थिक सहायता प्रदान की जाएगी जितनी उन्हें पहले दी जाती थी।

2. प्राच्य भाषाओं में शिक्षण की उपयोगी पुस्तकों की रचना और प्रकाशन को प्रोत्साहन दिया जाएगा लेकिन मंजूर की गयी धनराशि के अन्दर ही व्यय किया जाएगा।

3. प्राच्य विद्यालयों में प्राच्य शिक्षण-प्रणाली से ही शिक्षा प्रदान की जाएगी लेकिन यदि वे चाहें तो अंगरेजी कक्षाएं भी खोल सकते हैं।

4. प्राच्य विद्यालयों में शिक्षा ग्रहण करनेवाले विद्यार्थियों में से 25% को छात्रवृत्तियां दी जाएंगी।

5. निश्चित धनराशि में से प्राच्य शिक्षा का लाभप्रद पुस्तकों का प्रकाशन किया जाएगा।

6. अध्यापकों को अधिक वेतन देकर आकृष्ट किया जाए।

इस योजा को पूरा करने में सरकार का 31,000 रुपए का वार्षिक व्यय बढ़

गया लेकिन ऑकलैण्ड ने यह धनराशि देकर प्राच्यवादियों को शांत कर दिया। वास्तव में ऑकलैण्ड भी विलियम बैन्टिंग और मैकाले के समान अंगरेजी शिक्षा का प्रचार-प्रसार का कट्टर समर्थक था, किन्तु उसने अधिक कूटनीतिज्ञता का परिचय दिया। प्राच्य शिक्षा के लिए अल्प आर्थिक सहायता देकर असन्तुष्टों को शान्त किया गया तो दूसरी ओर पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान के प्रसार के लिए एक लाख रुपया स्वीकृत किया गया। इस प्रकार अपनी नीति से ऑकलैण्ड ने प्राच्य पाश्चात्य विवाद को समाप्त कर दिया। ऑकलैण्ड का विवरणपत्र उसके चातुर्य और दूरदर्शिता का परिचायक है। उसने प्राच्यवादियों को ऐसा मीठा जहर पिलाया कि वे उसकी मीठी बेहोशी में ऑकलैण्ड की नीति पटुता को समझ नहीं सके। ऑकलैण्ड ने अंगरेजी शिक्षा के प्रसार में महत्वपूर्ण कदम उठाया और उसने ढाका, पटना, बनारस, इलाहाबाद, आगरा, बरेली और दिल्ली में अंगरेजी कॉलेजों की स्थापना की।

आधुनिक शिक्षा-पद्धति के निर्माताओं के समक्ष सर्वाधिक प्रमुख समस्या यह थी कि भारतीयों के किसी एक वर्ग को शिक्षित किया जाए अथवा भारत की सम्पूर्ण जनता के लिए शिक्षा की व्यवस्था की जाए। सर्वप्रथम यह प्रयास किया गया कि वेवल उन्हीं वर्गों को शिक्षित किया जाय जिन्हें ब्रिटिश शासन की स्थापना से सर्वाधिक हानि पहुंची थी। यह सोचा गया कि उन्हें शिक्षित करने के बाद सरकार की अधीनस्थ सेवाओं में नौकरी देकर वफादार बनाया जा सकता था। अतएव बंगाल में मुसलमानों को, उत्तर-पश्चिम प्रान्त हिन्दुओं को और बम्बई में ब्राह्मणों को शिक्षित करने का प्रयास किया गया। किन्तु यह नीति शीघ्र ही त्याग दी गई और शिक्षा के क्षेत्र में अधोमुखी निस्पन्दन सिद्धान्त अपनाया गया। इस सिद्धांत का अर्थ यह था कि पहले समाज के उच्च वर्ग को शिक्षित किया जाय और इस वर्ग से छन-छन कर शिक्षा का प्रभाव जनसाधारण तक पहुंच जाएगा। अधोमुखी निस्पन्दन सिद्धान्त की नीति तीन रूपों में विकसित हुई। प्रथम, इंगलैण्ड के अभिजात वर्ग के समान भारत में ही ऐसा शासक वर्ग तैयार करने का प्रस्ताव था जिसमें सरदार, नवाब, राजा इत्यादि होते। केवल इसी वर्ग को शिक्षित करके कम्पनी के अधीन अधीनस्थ सेवाएं प्रदान कर सन्तुष्ट रखने का प्रस्ताव था। लेकिन यह नीति सफल नहीं हुई। जो लोग नई शिक्षा के लाभों को समझते थे, वे अंगरेजी शिक्षा पाने के इच्छुक थे। अतः कम्पनी की अभिजात वर्गों को शिक्षित करने के बजाय ऐसे लोगों को भी शिक्षित करना पड़ा। वारेन हेस्टिंग्स ने कलकत्ता में मदरसा की स्थापना मुस्लिम अभिजाय वर्ग को शिक्षा देने के लिए की थी, लेकिन बंगाल के अन्य वर्गों ने अधिक लाभ उठाया। दूसरे, समाज के उच्च वर्गों को शिक्षित करना था। मद्रास सरकार को कम्पनी के संचालकों द्वारा 29 सितम्बर, 1830 ई. को भेजे गए आदेश पत्र में कहा गया था कि—'शिक्षा की प्रगति उसी हालत में हो सकती है जब उच्च वर्ग के उन व्यक्तियों को शिक्षा

दी जाए, जिनके पास अवकाश है और जिनका अपने देशवासियों पर प्रभाव है।' इस प्रकार की नीति भारत में सफल नहीं हो सकती थी, क्योंकि भारतीय समाज अनेक वर्गों और जातियों में विभाजित था। अधोमुखी निस्पन्दन सिद्धान्त का तीसरा रूप अधिक महत्वपूर्ण था। इसके अनुसार पहले थोड़ से अच्छे व्यक्तियों को शिक्षित किया जाता और फिर ये शिक्षित व्यक्ति आधुनिक भाषाओं द्वारा जनता को शिक्षित करते। स्पष्ट है कि 1854 ई. तक भारत के आम नागरिकों की शिक्षा का दायित्व प्रत्यक्ष रूप से कम्पनी ने अपने ऊपर नहीं लिया था। मैकाले ने अपने विवरणपत्र में लिखा था, 'चूंकि हमारे साधन सीमित हैं। अतः जनसमूह को शिक्षित करने का प्रयास करना हमारे लिए सम्भव नहीं है। हमें इस समय एक ऐसे वर्ग को उत्पन्न करने का भरसक प्रयत्न करना चाहिए जो हमारे और उन लाखों व्यक्तियों के बीच दुभाषिया बन सके जिन पर हम शासन करते हैं। इन्हीं व्यक्तियों का यह कार्य होगा कि वे भारतीय भाषाओं को परिस्कृत तथा सम्पन्न करके उन्हें जनता तक पहुंचाने के योग्य बनाएं।' लॉर्ड ऑकलैण्ड ने सरकारी नीति के रूप में इस सिद्धान्त की घोषणा करते हुए लिखा था—'सरकार को समाज के उच्च वर्ग को शिक्षा देनी चाहिए, जिससे सभ्यता छन-छन कर जनता में पहुंचे।'

'अधोमुखी निस्पन्दन सिद्धान्त' की सफलता के अनेक कारण थे। इसकी असफलता का पहला कारण यह था कि अंगरेजी शिक्षा पाने वाले प्रत्येक व्यक्ति को सरकारी नौकरी मिल जाती थी। अतः वह अपने देशवासियों को शिक्षित करने का प्रयास नहीं करता था। असफलता का दूसरा कारण यह था कि अंग्रेजी शिक्षा संस्थओं में शिक्षित व्यक्तियों की विचारधारा में परिवर्तन हुआ और वह अपने देशवासियों की सहानुभूति प्राप्त नहीं कर सका। तीसरा कारण यह था कि अंगरेजी शिक्षा के कारण ऐसे शिक्षित वर्ग का निर्माण हुआ जो अशिक्षित भारतीयों से अपने को श्रेष्ठ समझता था। यह वर्ग अपने हितों के प्रति ही अधिक जागरूक रहता था। इस वर्ग के अनेक व्यक्ति ब्रिटिश शासन के कट्टर समर्थक बन गए और भारतवासियों के राष्ट्रीय आन्दोलन के मार्ग में अवरोध उत्पन्न करते रहे।

'अधोमुखी निस्पन्दन सिद्धान्त' असफल रहा, फिर भी इससे कुछ लाभ भी हुए। शिक्षित व्यक्तियों में से अनेकों ने शिक्षा-प्रचार के लिए कार्य किया। इन्होंने लोगों के बीच माध्यमिक एवं महाविद्यालयी शिक्षा का प्रचार किया। इन्होंने भारतीय भाषाओं में आधुनिक साहित्य की रचना की और आधुनिक भारतीय प्रेस की स्थापना की। 1844 ई. में हार्डिंग ने घोषणा की जिसके अनुसार अंगरेजी विद्यालयों में शिक्षा प्राप्त व्यक्तियों को सरकारी सेवाओं में प्राथमिकता दी जाती। फलस्वरूप उच्च शिक्षा की प्रगति हुई।

अधोमुखी निस्पन्दन सिद्धान्त में देशी विद्यालयों की उपेक्षा की गई थी जिससे

सार्वजनिक शिक्षा में कार्य के क्षति पहुंची। इस सिद्धान्त को सरकारी नीति का आधार बनाने के कारण मद्रास में मुनरो, बम्बई में एलफिन्स्टन और बंगाल में एडम की सार्वजनिक शिक्षा-सम्बन्धी प्रस्थापनाएं असफल रहीं। लेकिन उत्तर पश्चिम प्रान्त में थॉमसन की योजना की सफलता का कारण यह था कि सरकार अधोमुखी निस्पन्दन नीति को छोड़ना आरम्भ कर चुकी थी। लॉर्ड डलहौजी ने सार्वजनिक शिक्षा-सम्बन्धी थॉमसन की प्रस्थापनाओं को प्रोत्साहन दिया। थॉमसन केन्द्रीय सरकार और निदेशक मण्डल के इस सिद्धान्त को स्वीकार करवाने में सफल रहा कि जनसाधारण की शिक्षा के लिए देशी विद्यालयों का विकास किया जाय।

अंगरेजी शिक्षा का विकास (1835-54 ई.) : 1835 ई. में लॉर्ड विलियम बैन्टिंक के घोषणापत्र के जारी होने के बाद भारत में अंगरेजी भाषा के साथ-साथ पाश्चात्य ज्ञान का आना भारत में निश्चित हो गया। बंगाल में अंग्रेजी शिक्षा के लिए अभूतपूर्व उत्साह था। 1835 ई. में वहां लोक-शिक्षा समिति केवल बीस स्कूलों को चला रही थी, लेकिन 1837 ई. में इनकी संख्या बढ़कर 48 हो गयी। लॉर्ड ऑकलैण्ड ने बंगाल प्रान्त का विभाजन 9 भागों में किया और लॉर्ड हार्डिंग ने अध्यापकों के प्रशिक्षण के लिए कलकत्ता में एक नॉर्मन स्कूल की स्थापना करवायी। डलहौजी ने 1854 ई. में 33 प्राथमिक विद्यालय खुलवाया। 1844 ई. में कलकत्ता हिन्दू कॉलेज में इंजिनियरिंग की पढ़ाई प्रारम्भ की गई। 1854 ई. में बंगाल की शिक्षा परिषद् के अन्तर्गत 47 अंगरेजी स्कूल, 5 अंगरेजी कॉलेज, 1 मेडिकल कॉलेज और 3 प्राच्य कॉलेज थे। 1835 ई. में कलकत्ता मेडिकल कॉलेज की स्थापना हुई। 1856 ई. में कलकत्ता में इंजीनियरिंग कॉलेज की स्थापना हुई। बम्बई में भारतीय शिक्षा-समिति को भंग करके शिक्षा बोर्ड की स्थापना की गयी। सूरत, रत्नगिरि, अहमदाबार, धारवाड़, कोल्हापुर, राजकोट तथा सतारा में अंगरेजी विद्यालयों की स्थापना की गई 1851 ई. में पूना संस्कृत कॉलेज और पूना अंगरेजी स्कूल को मिलाकार पूना कॉलेज बनाया गया। 1854 ई. में बम्बई में देशी शिक्षा के 216 विद्यालय थे। 1854 ई. में बम्बई में ग्रान्ट मेडिकल कॉलेज की नवी डाली गयी। इंजिनियरिंग शिक्षा देने के लिए एलफिन्स्टन इंस्टीट्यूशन में कक्षाएं खोली गई। 1841 ई. मद्रास में हाई स्कूल स्थापित किया गया और 1852 ई. में कॉलेज स्थातिप किया गया। 1849 ई. में पंजाब में अंगरेजी शिक्षा देने के लिए अमृतसर और लाहौर में विद्यालय स्थापित किए गए। मिशनरियों ने भी अनेक महत्वपूर्ण शहरों में स्कूल खोले। अमेरिकन प्रसेबिटेरियन बोर्ड ने लुधियाना, सहारनपुर, जालंधर, अम्बाला, लाहौर और फर्रुखाबाद में ऐसे स्कूल स्थापित किए, जिनमें अंगरेजी साहित्य, विज्ञान और अन्य विषयों के साथ बाईबिल भी पढ़ाई जाती थी। आगरा में एक नॉर्मन स्कूल खोला गया और 1852 ई. में सेंट जॉन्स कॉलेज की स्थापना हुई। 1850 ई. में बरेली में हाई स्कूल और 1853 ई. में

बनारस में कॉलेज स्थापित किया गया।

1847 ई. में थॉमसन ने रुड़की में इंजिनियरिंग कॉलेज की स्थापना की। 1842 ई. में कलकत्ता हिन्दू कॉलेज में कानून की शिक्षा की व्यवस्था की गई। तब तक स्त्री शिक्षा की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया गया था। 1854 ई. के पूर्व बहुत कम स्त्रियां शिक्षित थीं।

1844 ई. में लॉर्ड हार्डिंग की इस घोषणा से कि सार्वजनिक सेवाओं में उन्हीं व्यक्तियों की नियुक्ति की जायगी जिन्होंने अंगरेजी शिक्षा प्राप्त की हो, अंगरेजी शिक्षा के प्रति भारतीयों का झुकाव बढ़ा। लॉर्ड डलहौजी ने भी अंगरेजी शिक्षा के प्रचार में रुचि दिखाई थी। अंगरेजी शिक्षा के प्रसार के लिए शिक्षा परिषद् द्वारा अंगरेजी शिक्षण संस्थाओं के छात्रों की योग्यता को सम्मान और पुरस्कार देने के लिए एक परीक्षा प्रणाली तैयार की गई और यह भी व्यवस्था की गई कि मेधावी छात्रों को छात्रवृत्तियां दी जाएं। यह स्पष्ट कर दिया गया कि परीक्षा में उत्तीर्ण होने के लिए बेकन, जॉनसन, मिल्टन और शेक्सपीयर की कृतियों का आलोचनात्मक ज्ञान होना चाहिए, और इसके साथ ही प्राचीन और आधुनिक इतिहास, उच्चस्तर के मिश्र गणित, प्राकृतिक इतिहास की मूल बातें, नैतिक दर्शन और राजनीतिक अर्थ-व्यवस्था के किसी एक विषय पर प्रवाहमान और मुहावरेदार भाषा में लिखने की क्षमता होनी चाहिए। विद्यार्थियों को जब ऐसी कठिन प्रणाली का सामना करना पड़ा तो वे हतोत्साहित नहीं हुए। 19वीं शताब्दी के मध्य तक बंगाल में अंगरेजी शिक्षा की इच्छा बहुत तीव्र होती जा रही थी। यहां तक कि दूर-दूर तक के गांवों में भी लोगों ने मिलकर स्कूल स्थापित करने और अध्यापकों की व्यवस्था करने तथा सरकारी सहायता प्राप्त करने के प्रयत्न किए। अंगरेजी भाषा का प्रचार तेजी से बढ़ाने में ईसाई मिशनरियों का योगदान कम महत्वपूर्ण नहीं था। विदेश से धन प्राप्त कर ईसाई पादरियों के द्वारा अनेक स्थानों में स्कूलों की स्थापना की गई थी। उनका उद्देश्य था—अंगरेजी शिक्षा का प्रचार कर भारतवासियों को अधिक संख्या में ईसाई बनाना। भारत का कमजोर वर्ग उसके प्रभाव में आकर ईसाई धर्म स्वीकार कर लेता था और इस वर्ग के लोग अच्छे पदों पर प्रोन्नत कर दिये जाते थे।

इस प्रकार 1835 ई. से 1854 ई. के बीच की अवधि में शिक्षा का काफी पाश्चात्यीकरण हुआ। शिक्षा का माध्यम अंगरेजी भाषा को स्वीकार किया गया। साथ ही सरकार द्वारा अधोमुखी निस्पन्दन सिद्धान्त को स्वीकार किये जाने पर केवल उच्च शिक्षा को ही प्रोत्साहन मिला। इस अवधि में प्रारम्भिक शिक्षा की प्रगति कम हुई। देशी भाषाओं का विकास अवरुद्ध हो गया। परन्तु इन खामियों के बावजूद भी इस अवधि में सबसे महत्वपूर्ण काम यह हुआ कि सरकार ने शिक्षा का दायित्व अपने ऊपर ले लिया।

सर चार्ल्स वुड का घोषणापत्र : 1853 ई. तक शिक्षा के क्षेत्र में सर्वेक्षण की आवश्यकता महसूस होने लगी थी। 1853 ई. में कम्पनी के चार्टर के नवीनीकरण के अवसर पर एक संसदीय समिति की नियुक्ति की गई जिसके सुझावों के आधार पर 19 जुलाई, 1854 ई. को कम्पनी के संचालकों ने शिक्षा-नीति की घोषणा की। बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल के अध्यक्ष चार्ल्स वुड के नाम पर यह आदेशपत्र वुड का घोषणापत्र कहलाया। यह सौ अनुच्छेदों का एक विशाल अभिलेख था जिसमें शिक्षा के उद्देश्य, माध्यम, सुधार की योजनाओं आदि पर विस्तार से प्रकाश डाला गया था। शिक्षा के उद्देश्य के सम्बन्ध में घोषणापत्र में कहा गया था कि 'हमारे अत्यन्त पवित्र कर्त्तव्यों में एक यह है कि जहां तक हमारे लिए साध्य हो, हम भारत के मूल निवासियों को उन विशाल नैतिक तथा मौलिक वरदानों को देने के लिए साधन बनें जो लाभप्रद ज्ञान के सामान्य प्रसार से पैदा होते हैं। इससे ऐसे व्यक्ति होंगे, जिन्हें विश्वास के साथ सरकारी पदों पर रखा जा सकेगा। यह भी आशा व्यक्त की गई कि पाश्चात्य ज्ञान के प्रसार के फलस्वरूप भारत में ब्रिटिश श्रमिकों को माल की अपार मांग होने लगेगी।' पाठ्यक्रम के सम्बन्ध में घोषणापत्र में कहा गया था कि 'प्राच्य देशों की उच्च शिक्षा अर्थात् उनकी विज्ञान और दर्शनशास्त्र की पद्धति में भारी त्रुटियां हैं और आधुनिक खोजों एवं सुधार का प्राच्य साहित्य में भारी अभाव है। हम भारत में ऐसी शिक्षा का विस्तार करना चाहते हैं, जिसका लक्ष्य यूरोप का कला, विज्ञान, दर्शनशास्त्र एवं साहित्य का प्रसार करना है।' साथ ही ऐतिहासिक एवं कानून की दृष्टि से अरबी, फारसी एवं संस्कृत की उपयोगिता को स्वीकार किया गया। देशी भाषाओं में पुस्तकों का अभाव होने के कारण अंगरेजी भाषा का शिक्षा को माध्यम बनाना आवश्यक बतलाया गया। यह भी सिफारिश की गयी कि अंगरेजी भाषा के माध्यम से पाश्चात्य साहित्य और विज्ञान की शिक्षा दी जाए तथा अन्य व्यक्तियों को देशी भाषाओं के माध्यम से शिक्षा दी जाए। घोषणापत्र में यह भी कहा गया कि—'यूरोपीय ज्ञान के प्रसार के लिए हम अंगरेजी भाषा तथा भारत की देशी भाषाओं की ओर शिक्षा के माध्यम के रूप में देखते हैं और भारत के समस्त स्कूलों में उसके साथ-साथ फलते-फूलते देखने की हमारी अभिलाषा है।' घोषणापत्र में उन नवीन योजनाओं पर भी प्रकाश डाला गया था जिन्हें प्रारम्भ करना था। चार्ल्स वुड की शिक्षा योजना की मुख्य बातें इस प्रकार थीं—

1. सरकार पाश्चात्य शिक्षा के प्रचार के लिए कला, विज्ञान, दर्शन एवं साहित्य का प्रसार करना चाहती है।

2. उच्च शिक्षा अंगरेजी भाषा के माध्यम से दी जाएगी, परन्तु देशी भाषाओं को भी प्रोत्साहन दिया जाएगा। यूरोपीय ज्ञान-विज्ञान को देशी भाषाओं के माध्यम से ही जनसाधारण के बीच पहुंचाया जा सकता था।

3. यह सुझाव दिया गया कि गांवों में देशी भाषा के प्राथमिक विद्यालयों की स्थापना की जाय और जिला स्तर पर ऐंग्लो बर्नाकुलर उच्च विद्यालयों एवं कॉलेजों की स्थापना की जाय।

4. निजी प्रयास से खोले गये शिक्षण संस्थाओं को अनुदार सहायता दी जाय और इस बात का ध्यान रखा जाय कि उनमें योग्य अध्यापकों की नियुक्ति हो और शिक्षा के स्तर को गिरने नहीं दिया जाय।

5. कम्पनी के पांच प्रान्तों (बंगाल, मद्रास, बम्बई, उत्तर-पश्चिम सीमा प्रान्त और पंजाब) में लोक शिंक्षा विभाग की स्थापना की जाय जिसका प्रधान लोक-शिक्षा निदेशक होगा। वह प्रान्त में शिक्षा की प्रगति के कार्य पर ध्यान रखते हुए वार्षिक विवरण सरकार को देगा।

6. लन्दन विश्वविद्यालय के आधार पर कलकत्ता, बम्बई तथा मद्रास में नये विश्वविद्यालय की स्थापना करनी थी। प्रत्येक विश्वविद्यालय में एक कुलपति, एक उप-कुलपति, एक सीनेट और उसके अधि सदस्य, सरकार द्वारा मनोनीत किये जायं। ये विश्वविद्यालय परीक्षाएं लेकर उपाधियां देती थीं और पठन-पाठन के लिए अध्यापकों की नियुक्तियां करती थी। केम्ब्रिज और ऑक्सफोर्ड की तरह इन विश्वविद्यालयों का गठन नहीं किया गया था।

7. घोषणापत्र में श्रेणीबद्ध विद्यालयों पर भी प्रकाश डाला गया था। क्रमबद्ध विद्यालयों की योजना में सबसे नीचे स्तर पर प्राथमिक विद्यालय, उसके बाद माध्यमिक विद्यालय, फिर हाई स्कूल, कॉलेज और विश्वविद्यालय होंगे।

8. घोषणापत्र में अधोमुखी निस्पन्दन सिद्धान्त के अनुसरण पर असन्तोष व्यक्त किया गया था, क्योंकि इस नीति के परिणामस्वरूप सरकार का प्रयास पूर्ण रूप से उन बहुत थोड़े से मूल निवासियों को अत्यन्त ऊँची शिक्षा देने के साधन जुटाने तक ही सीमित हो गए जो अधिकांशतः उच्च वर्गों के होते थे। अतएव घोषणापत्र में कहा गया कि—'अब हमारा ध्यान इस महत्वपूर्ण प्रश्न की ओर जाना चाहिए जिसकी अभी तक अवहेलना की गई अर्थात् जीवन के सभी अंगों के लिए लाभदायक और व्यावहारिक शिक्षा उस विशाल जनसमूह को किस प्रकार दी जाय, जो किसी सहायता के बिना स्वयं लाभदायक शिक्षा पाने में पूर्णतः असमर्थ हैं।'

9. योग्य विद्यार्थियों को सभी स्तरों पर छात्रवृत्तियां देने की सिफारिश की गयी थीं। देशी विद्यालयों को प्रोत्साहन देने के लिए थॉमसन योजना के विस्तार करने पर बल दिया गया था।

10. घोषणापत्र में तीन बातों पर विशेष ध्यान दिया गया था—(क) अधोमुखी निस्पन्दन सिद्धान्त को अस्वीकार करना, (ख) माध्यमिक शिक्षा स्तर पर आधुनिक भारतीय भाषाओं को माध्यम बनाना और (ग) देशी विद्यालयों को राष्ट्रीय शिक्षा-पद्धति

का आधार स्वीकार करना।

11. जन-शिक्षा के प्रसार के लिए अधिक धन की आवश्यकता थी। इसलिए घोपणापत्र में सहायता अनुदार का सुझाव दिया गया था। प्रान्तीय सरकारों से सहायता अनुदान प्रणाली अपनाने को कहा गया और शिक्षकों को वेतन, छात्रवृत्तियों, पुस्तकालयों, वाचनालयों, प्रयोगशालाओं, विज्ञान एवं कला कक्षाओं तथा भवन निर्माण के लिए अलग-अलग अनुदान की व्यवस्था करने को कहा गया।

12. व्यावसायिक शिक्षा और प्राविधिक विद्यालयों की स्थापना पर विशेप वल दिया गया था। व्यावसायिक शिक्षा के विस्तार के लिए स्कूल और कॉलेज खोलने की सिफारिश की गयी थी। यह भी सिफारिश की गई थी पाश्चात्य साहित्य की पुस्तकों का अनुवाद भारतीय भाषाओं में कराया जाय, देशी भाषाओं के लेखकों को पुरस्कार दिया जाय तथा शिक्षित व्यक्तियों को सरकारी सेवा में प्राथमिकता दी जाय।

13. इंगलैण्ड की तरह भारत में भी प्रत्येक प्रान्त में अध्यापकों के प्रशिक्षण के लिए शिक्षक प्रशिक्षण संस्थाओं की स्थापना का सुझाव रखा गया था। यह भी सिफारिश की गई थी कि विद्यार्थियों को छात्रवृत्तियां और शिक्षकों को अधिक वेतन देकर शिक्षा विभाग को आकर्षक बनाया जाय।

14. स्त्री शिक्षा की ओर भी सरकार का ध्यान आकृष्ट किया गया और स्त्री शिक्षा के विद्यालयों को सहायता अनुदान देने की नीति पर वल दिया गया।

वुड की योजना को व्यावहारिक रूप देने में कुछ विलम्व हुआ। डलहौजी राजनीतिक प्रश्नों को सुलझाने में उलझा रह गया और 1857 ई. के विद्रोह के कारण भारत की परिस्थिति असामान्य हो गयी। फिर भी 1855 ई. में लोक-शिक्षा विभाग की स्थापना की गयी। 1857 ई. में कलकत्ता, वम्बई और मद्रास में विश्वविद्यालय खोले गये और वेटन के सहयोग से कुछ महिला पाठशालाओं की स्थापना की गयी। शिक्षण संस्थाओं को सरकारी अनुदान मिलने लगा और विद्यालयों को निरीक्षण पद्धति के अधीन लाया गया। वुड का स्वप्न वहुत कुछ अंश तक सरकार का रूप धारण कर लिया। अंगरेजी शिक्षा प्रान्त भारतीय अंगरेजी राज्य को वरदान मानते थे और भारत के लिए कल्याणकारी समझते थे।

वुड की योजना उन्नीसवीं सदी के अन्त तक चलती रही और माध्यमिक एव उच्च शिक्षा का विकास तेजी से होने लगा। 1870 ई. में वित्तीय विकेन्द्रीकरण के बाद शिक्षा का खर्च प्रान्तों को हस्तान्तरित कर दिया गया। प्रान्तों के द्वारा शिक्षा-कर लगाया गया और निजी प्रयत्न द्वारा विद्यालयों एवं महाविद्यालयों की स्थापना को प्रोत्साहन दिया जाने लगा।

भारत में प्राथमिक शिक्षा के प्रति ब्रिटिश सरकार की नीति प्रारम्भ में उदासीन रही। प्राथमिक शिक्षा के पिछड़ेपन के कई कारण थे। भारत की आर्थिक शोपण इस

ढंग से किया गया कि गांवों और छोटे-छोटे नगरों में अधिसंख्यक आबादी गरीबी रेखा के नीचे थी। उनके पास धन का अभाव था। छोटे-छोटे बच्चों को कम आयु में ही काम में लगा दिया जाता था। साधारण अक्षर ज्ञान से लोग काम चला लेते थे। सरकार की नीति की प्राथमिक शिक्षा के पिछड़ेपन के लिए उत्तरदायी थी। सरकार के द्वारा उच्च शिक्षा पर अधिक धनराशि खर्च की जाती थी। असन्तुलन दूर करने के नाम पर सरकार ने उच्च शिक्षा के मद में कटौती करने लगी और प्रतियोगिता परीक्षा में आयु सीमा घटा दी। फलतः शिक्षा के क्षेत्र में अव्यवस्था का साम्राज्य व्याप्त हो गया।

हण्टर शिक्षा आयोग : 1870 ई. में इंगलैण्ड में उदार दल की सरकार बनी और इंगलैण्ड में अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा देने की घोषणा की गयी। लिटन के कार्यकाल में दिल्ली का कॉलेज बन्द कर दिया गया, किन्तु यूरोपियनों और आंग्ल इण्डियनों को शिक्षा देने के नाम पर अधिक धनराशि खर्च की जाने लगी। लिटन के बाद रिपन भारत का गवर्नर जनरल बना। वह उदारवादी दल में था तथा अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा का समर्थक था। फलतः रिपन ने एक शिक्षा आयोग की स्थापना डब्लू, डब्लू, हण्टर की अध्यक्षता में की। इस आयोग में बीस सदस्य थे जिसमें आठ भारतीय थे। आयोग के कार्य क्षेत्र में प्राथमिक एवं माध्यमिक शिक्षा को सम्मिलित किया गया था और सुधार लाने के लिए सुझाव देना था। हण्टर आयोग ने विभिन्न प्रान्तों में जाकर लगभग दो सौ प्रस्ताव पारित किये और अपना प्रतिवेदन 1883 ई. में प्रस्तुत किया। हण्टर आयोग की रिपोर्ट में निम्नलिखित बातों का उल्लेख था—

1. सरकार प्राथमिक शिक्षा के विकास की ओर विशेष ध्यान दे। प्राथमिक विद्यालयों में शिक्षा प्रान्तीय भाषाओं में दी जाए। ऐसे विद्यालयों में उपयोग विषयों को पाठ्यक्रम में सम्मिलित किया जाय तथा इन विद्यालयों को स्थानीय जिला एवं नगर बोर्डों के अधीन रखा जाय। प्राथमिक शिक्षा का खर्च पूरा करने के लिए उप-कर लगाया जाय तथा सरकार को खर्च का 1.3 भाग अनुदार के रूप में देना चाहिए।

2. माध्यमिक शिक्षा में दो प्रकार की शिक्षा का प्रबन्ध होना चाहिए। एक, विश्वविद्यालयों में प्रवेश पाने के लिए साहित्यिक विषयों की शिक्षा दी जाय और परीक्षा लेकर विश्वविद्यालयों में प्रवेश की अनुमति दी जाय। दूसरे खण्ड में व्यावहारिक शिक्षा की व्यवस्था की जाय ताकि व्यवसाय, व्यापारिक एवं अन्य उपयोगी शिक्षा ग्रहण कर छात्र जीवन में प्रवेश करने पर बेकार नहीं रहें।

3. स्कूलों में पुस्तकालय और फर्नीचर की व्यवस्था रहनी चाहिए।

4. निजी क्षेत्र में स्थापित शिक्षण संस्थाओं को सरकारी विद्यालयों के समकक्ष मान्यता दी जाए और उन्हें उदारता के साथ अनुदार दिया जाय ताकि अधिक संख्या में निजी प्रयत्न से विद्यालयों की स्थापना हो सके।

5. उच्च शिक्षा के संचालन और प्रबन्ध से सरकार को धीरे-धीरे हाथ हटा लेना चाहिए और ऐसे महाविद्यालयों के लिए सामान्य वित्तीय सहायता तथा विशेष अनुदार की रकम निर्धारित कर देनी चाहिए।

6. विभिन्न कॉलेजों में एक प्रकार का पाठ्यक्रम निर्धारित किया जाय तथा नैतिक शिक्षा को एक अनिवार्य विषय के रूप में सरकारी और गैर-सरकारी स्कूलों में लागू किया जाय।

7. कॉलेजों में छात्रों से ली जानेवाली फीस तथा उपस्थिति के सम्बन्ध में कुछ सामान्य नियमों का पालन होना चाहिए तथा छात्रवृत्ति के नियमों में संशोधन लाया जाय।

8. स्त्री-शिक्षा का प्रचार-प्रसार होना चाहिए।

हण्टर आयोग के सुझाव के बाद माध्यमिक और उच्च शिक्षा की प्रगति तेजी से होने लगी। निजी प्रयत्न के कारण अनेक स्थानों में नये-नये स्कूलों की स्थापना की गयी तथा साम्प्रदायिक संस्थाओं की संख्या भी बढ़ी। 1882 ई. में पंजाब और 1887 ई. में इलाहाबाद में विश्वविद्यालय की स्थापना की गयी। 1881-82 ई. में भारत के ब्रिटिश शासित छः प्रान्तों में उच्च शिक्षा प्राप्त करने वाले छात्रों की संख्या 5403 थी, जो बीसवीं सदी के प्रथम वर्ष में बढ़कर 23009 हो गयी। उसी प्रकार माध्यमिक विद्यालयों में पढ़ने वाले छात्रों की कुछ संख्या 2,14077 से बढ़कर 1901-02 ई. में 590129 हो गयी । इस अनुपात में प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में विशेष प्रगति नहीं हुई। सरकार यदि 1881-82 ई. में प्राथमिक शिक्षा पर 16.67 लाख रुपये वार्षिक खर्च करती थी तो 1901-02 ई. में वह मात्र 16.92 लाख ही रहा। हण्टर आयोग की अपेक्षा कर सरकार ने प्राथमिक शिक्षा में सुधार और विकास पर विशेष धन व्यय नहीं किया। आंग्ल-इण्डियन, कुलीन, जमींदार और मध्यम वर्ग को शिक्षित करने की ओर सरकार का विशेष ध्यान रहा।

कुलीन वर्ग न तो नौकरी पाने के लिए व्यग्र रहता था और न व्यापार में उसकी दिलचस्पी थी। मध्यम वर्ग नौकरी करना चाहते थे। साधारण जनता परम्परागत जीवन व्यतीत करना चाहती थी। अतः भारत में बौद्धिक अनुसन्धान और सांस्कृतिक केन्द्र के रूप में शिक्षण संस्थाओं का विकास नहीं हो पाया। अंगरेजी भाषा से सम्बन्धित संस्थाएं नौकरी पाने वालों की शरणस्थली बन गयी। हिन्दू छात्रों की संख्या इसमें अधिक थी।

मुसलमान अंगरेजी शिक्षा प्राप्त करने के पक्ष में नहीं थे। गणित और अंगरेजी में मुसलमान छात्र हिन्दुओं से पीछे पड़ जाते थे। जनसंख्या के अनुपात में मुसलमान कम शिक्षित नहीं थे। परन्तु ब्रिटिश सरकार मुसलमानों को तरजीह देना चाहती थी। सर सैयद अहमद खां अंगरेजी शिक्षा के पक्षधर थे। ये अधिक संख्या में मुसलमानों

को अंगरेजी शिक्षा देना चाहते थे। इसलिए अलीगढ़ में उन्होंने मोहम्डन एंग्लो ओरिएंटल कॉलेज की स्थापना की और इसे मुसलमानों की प्रगति का एकमात्र साधन बना दिया गया।

सर सैयद अहमद अंगरेजों के मित्र थे और कुलीन वर्ग को शिक्षित कर अंगरेजों के साथ सामाजिक सम्पर्क बढ़ाना चाहते थे। अन्य स्थानों में स्कूल और कॉलेज खोलने के बदले उन्होंने मुसलमानों को अलीगढ़ की संस्था को बढ़ाने में सहयोग देने की अपील की। इसका परिणाम यह हुआ कि अलीगढ़ मुस्लिम शिक्षा केन्द्र बन गया। परन्तु अलीगढ़ से सभी मुसलमानों को शिक्षित करना असम्भव था। इसलिए मुसलमानों को बीच अधिक शिक्षा का प्रचार नहीं हो सका।

बीसवीं सदी में शिक्षा की स्थिति

बीसवीं सदी के प्रारम्भ में भारत में शिक्षा का प्रचार मात्र मुट्ठी भर लोगों तक ही सीमित था। प्रति एक हजार पुरुषों के केवल 98 तथा प्रति एक हजार स्त्रियों के केवल 7 साक्षर थे। प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में केवल 15 प्रतिशत बालक पाठशालाओं में पढ़ते थे। प्रत्येक पांच गांवों में केवल एक गांव में स्कूल था। यह स्थिति निराशाजनक थी। निजी अनुदान से खुलनेवाले शिक्षण संस्थाओं की स्थिति भी अच्छी नहीं थी। राष्ट्रीय आन्दोलन का असर शिक्षण संस्थाओं पर पड़ चुका था और सरकार की नजर में उनका शैक्षणिक स्तर नीचे गिर चुका था। ऐसी संस्थाओं में अनुशासनहीनता व्याप्त थी और वे क्रान्तिकारियों का केन्द्र बन गयी थी।

शिमला आन्दोलन : ब्रिटिश सरकार राष्ट्रीय आन्दोलन को नियंत्रित करने के उद्देश्य से उच्च शिक्षा को नियंत्रण में लाना चाहती थी। लॉर्ड कर्जन सुधार के जोश में विश्वविद्यालयों पर सरकार नियंत्रण बढ़ाने के लिए व्यग्र हो उठा। उसने 1901 ई. में सभी उच्चतम शिक्षा तथा विश्वविद्यालय से संबंधित अधिकारियों को एक सम्मेलन शिमला में बुलाया। इस सम्मेलन में प्राथमिक शिक्षा से लेकर उच्च शिक्षा तक के प्रश्नों पर विचार विमर्श किया गया और लगभग 150 प्रस्ताव पास हुए। कर्जन शिक्षा की एक ऐसी योजना तैयार करना चाहता था जिस पर सरकार का पूरा नियंत्रण रहे। अतः भारतीय समाचारपत्रों द्वारा कर्जन की नीति की कटु आलोचा की गयी और लाचारी में उसे 1902 ई. में एक विश्वविद्यालय आयोग की स्थापना की घोषणा करनी पड़ी। आयोग के अध्यक्ष सर थॉमस रैले ने तथा इसमें दो भारतीय सदस्य भी थे जिनके नाम सैदय्य हुसेन बिलग्रामी और जस्टिस गुरुदास बनर्जी था। इस आयोग का काम विश्वविद्यालय की स्थिति का पता लगाना और उसके संविधान एवं कार्यक्षमता के विषय में सुझाव देना था। यह केवल उच्च शिक्षा और विश्वविद्यालय तक ही सीमित था। प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा इस आयोग के कार्यक्षेत्र से बाहर थे।

रैले आयोग की रिपोर्ट : रैले आयोग द्वारा भारत में विभिन्न प्रान्तों का दौरा किया गया और उसकी रिपोर्ट 1902 ई. में प्रकाशित हुई। रैले की रिपोर्ट में उच्च शिक्षा से सम्बन्धित कॉलेजों को मान्यता देने में विलम्ब करना, विश्वविद्यालय की संस्थाओं में सरकारी प्रतिनिधित्व को बढ़ाने, विधि शिक्षा को केन्द्रित नहीं करने का सुझाव दिया गया था। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने इस रिपोर्ट का विरोध किया। परन्तु कर्जन ने विरोध को नजरअंदाज कर 1904 ई. में भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम पास कर दिया।

1904 ई. का विश्वविद्यालय अधिनियम : भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम की मुख्य धाराएं निम्नलिखित थीं–

1. विश्वविद्यालयों में सिनेट, सिंडीकेट और उपसदस्यों की संख्या घटा दी गयी। तीन पुराने विश्वविद्यालयों में सिनेट की सदस्य संख्या कम-से-कम 50 और अधिक-से-अधिक 100 निर्धारित की गयी। नये विश्वविद्यालयों में सिनेट की सदस्य संख्या 40 और 75 के बीच निर्धारित की गयी। इन सदस्यों का कार्यकाल छः वर्षों के लिए रखा गया। सिंडीकेट की सदस्य संख्या 20 से कम कर दी गयी।

2. विश्वविद्यालयों में प्रोफेसर और अध्यापकों की नियुक्ति के लिए सरकार की अनुमति आवश्यक कर दी गयी। कॉलेजों को संबंधन देने और शिक्षा सम्बन्धी नीति निर्धारिण करना सरकार के अधिकार क्षेत्र में गया। प्रयोगशाला और पुस्तकालय का प्रबन्ध कर तथा छात्रों को शिक्षा देना विश्वविद्यालय के कार्यक्षेत्र के अन्दर था।

3. विश्वविद्यालयों पर सरकार का न केवल नियंत्रण बढ़ा, बल्कि सिनेट द्वारा पारित नियमों को बदलने अथवा संशोधित करने का अधिकार भी सरकार के अधीन रखा गया। सरकार को नया नियम बनाने की सुविधा दी गयी। वह सिनेट द्वारा पारित नियमों में परिवर्तन अथवा संशोधन कर सकती थी।

4. गैर-सरकारी कॉलेजों पर सरकार का नियंत्रण अधिक कड़ा कर दिया गया। सिंडीकेट को गैर-सरकारी कॉलेजों के निरीक्षण का भार सौंपा गया और उनकी कार्य क्षमता को उचित स्तर पर रखना अनिवार्य कर दिया गया।

5. गवर्नर जनरल को विश्वविद्यालयों की क्षेत्रीय सीमाएं निश्चित करने का अधिकार दिया गया।

भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम के माध्यम से कर्जन ने विश्वविद्यालयों पर सरकार का पूर्ण नियंत्रण स्थापित कर राष्ट्रीय भावनाओं को कुचलने का प्रयास किया। फलतः विधान परिषद् के अन्दर एवं बाहर राष्ट्रवादियों ने इस अधिनियम की कटु आलोचना की। वस्तुतः इस अधिनियम से शिक्षा के स्तर में कोई परिवर्तन नहीं आया और विश्वविद्यालय सरकारी संस्था बन गयी। सरकार द्वारा प्रति वर्ष पांच लाख रुपये विश्वविद्यालयों को अनुदान के रूप में स्वीकृत किया गया। धनराशि

निर्धारित कर देने से विश्वविद्यालयों की आर्थिक स्थिति में सुधार हुआ और शिक्षा का स्तर यथावत कायम रहा।

राष्ट्रवादी इंगलैण्ड की तरह भारत में अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा की मांग कर रहे थे। 1906 ई. में बड़ौदा की रियासत द्वारा अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा प्रारम्भ की गयी। गोपाल कृष्ण गोखले ने विधान परिषद् में 1910-13 ई. के बीच अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा की मांग जोरदार ढंग से की, परन्तु सरकार ने उसे स्वीकार नहीं किया। सरकार ने निरक्षरता दूर करने की बात मान ली और इसके लिए नीजी प्रयत्नों को प्रोत्साहित किया गया। 1913 ई. में प्रत्येक प्रान्त में एक विश्वविद्यालय खोलने की बात स्वीकार कर ली गयी। कुछ शिक्षण विश्वविद्यालय को खोलने पर भी सरकार सहमत हो गयी। प्राथमिक एवं माध्यमिक विद्यालयों के अध्यापकों को प्रशिक्षण की सुविधा देना भी मान लिया गया।

सैंडलर आयोग : 1917 ई. में कलकत्ता विश्वविद्यालय की समस्याओं का निदान ढूंढने के लिए एक आयोग की स्थापना की गयी। डॉ. एम. ई. सैंडलर आयोग के अध्यक्ष थे तथा सर आशुतोष मुखर्जी और डॉ. जियाउद्दीन अहमद सदस्य थे। सैंडलर स्वयं लीड्स विश्वविद्यालय के उपकुलपति थे। सैंडलर आयोग की रिपोर्ट में प्राथमिक शिक्षा से लेकर स्नातकोत्तर शिक्षा तक सम्बन्धित प्रश्नों पर सुझाव दिया गया था। आयोग की मुख्य सिफारिशें निम्नलिखित थीं–

1. इंटरमीडिएट कक्षाओं को विश्वविद्यालय से अलग कर दिया जाय।

2. एक माध्यमिक बोर्ड बनाया जाय जो इंटरमीडिएट परीक्षाओं का संचालन करें।

3. स्नातक शिक्षा तीन वर्षो की हो और प्रतिष्ठा एवं पास का पाठ्यक्रम अलग रहना चाहिए।

4. आवासीय विश्वविद्यालयों की स्थापना की जाय और उसे एकात्मक अध्यापन के केन्द्र के रूप में विकसित किया जाय।

5. कलकत्ता विश्वविद्यालय पर भारत सरकार के बदले बंगाल सरकार का नियंत्रण रहे तथा ढाका में एक आवासीय विश्वविद्यालय की स्थापना की जाय।

6. विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में विज्ञान, प्रोद्योगिकी एवं व्यावसायिक शिक्षा को सम्मिलित किया जाय तथा उसमें डिप्लोमा और डिग्री दी जाय।

7. महिला शिक्षा का अधिक प्रचार किया जाय।

सैंडलर आयोग के रिपोर्ट की अनुसार कोई काम नहीं किया जा सका। लेकिन 1916 ई. के बाद भारत में नये विश्वविद्यालयों की संख्या बढ़ने लगी। 1916 ई. में मैसूर और बनारस में, 1917 ई. में पटना, 1918 ई. में हैदराबाद, 1920 ई. में लखनऊ और अलीगढ़, 1921 ई. में ढाका, 1922 ई. में दिल्ली, 1923 ई. में नागपुर,

1926 ई. में आन्ध्र, 1927 ई. में आगरा, 1929 ई. में अनमलाई, 1937 ई. में ट्रावणकोर तथा 1945 ई. में उत्कल में विश्वविद्यालयों की स्थापना की गयी। इसी प्रकार 1946 ई. में सागर और 1947 ई. में राजपूताना और पूर्वी पंजाब में विश्वविद्यालय खोला गया।

हार्टोग समिति : द्वैध शासनकाल में सरकार ने शिक्षा के कार्य में कोई रुचि नहीं ली। शिक्षा प्रचार के सम्बन्ध में प्रान्तीय सरकार की नीति भी उदासीन रही। शिक्षण-संस्थाओं में असन्तोष बढ़ने लगा था। अतः 1929 ई. में सर फिलिप हार्टोग की अध्यक्षता में एक भारतीय परिनियत आयोग का गठन किया गया। हार्टोग समिति की रिपोर्ट में मुख्य बातें इस प्रकार थीं–

1. प्राथमिक शिक्षा की राष्ट्रीय आवश्यकता पर बल दिया गया किन्तु शीघ्रता और अनिवार्यता की निन्दा की गयी। प्राथमिक शिक्षा में सुधार एवं संगठन की सिफारिश की गयी।

2. माध्यमिक शिक्षा के सम्बन्ध में यह कहा गया कि ग्रामीण प्रवृत्ति वाले छात्रों को वर्नाकुलर मिडिल स्कूल स्तर पर रोक लिया जाय और कॉलेजों में उनके प्रवेश पर प्रतिबन्ध लगा दिया जाय। ऐसे छात्रों को व्यावसायिक और औद्योगिक शिक्षा दी जाय।

3. विश्वविद्यालयों में योग्य छात्रों का नामांकन किया जाय तथा विवेकहीन छात्रों के प्रवेश पर प्रतिबन्ध लगा दिया जाय। विश्वविद्यालय अच्छी शिक्षा देने की व्यवस्था करें।

1935 ई. के भारतीय अधिनियम के अधीन निर्वाचन हुआ। कांग्रेस कई प्रान्तों में बहुमत के आधार पर सरकार बनाने में सफल रही। 1937 ई. में महात्मा गांधी ने शिक्षा की एक योजना तैयार की जिसे बेसिक एजुकेशन या वर्धा योजना कहते हैं। इस योजना में अध्यापकों के प्रशिक्षण, पर्यवेक्षण, परीक्षण सम्बन्धी सुझाव दिये गये थे। और पाठ्यक्रम में शिल्प-सम्बन्धी विषयों को रखा गया था। हस्त उत्पादन कार्य पर अधिक बल दिया गया था। उत्पादित वस्तुओं को बेचकर अध्यापकों एवं छात्रों का खर्च पूरा किया जा सकता था। मातृभाषा में शिक्षा देने का प्रावधान था और सात वर्षों तक ऐसे विद्यालयों में छात्रों का खर्च पूरा किया जा सकता था। मातृभाषा में शिक्षा देने का प्रावधान था और सात वर्षों तक ऐसे विद्यालयों में छात्रों को अध्ययन करना पड़ता। द्वितीय विश्वयुद्ध से उत्पन्न विवाद के कारण कांग्रेसी मंत्रिमण्डल ने त्याग-पत्र दे दिया और वर्धा योजना खटाई में पड़ गई। स्वाधीनता के बाद इसे पुनः प्रयोग में लाया गया।

सार्जेन्ट योजना–1944 ई. में केन्द्रीय सलाहकारिणी समिति के द्वारा सर जॉन सार्जेन्ट को शिक्षा की एक राष्ट्रीय योजना तैयार करने के लिए अधिकृत किया

गया। सार्जेन्ट भारत सरकार के शिक्षा सलाहकार थे। सार्जेन्ट योजना के अन्दर प्राथमिक, उच्च माध्यमिक एवं कनिष्ठ और उच्च बेसिक विद्यालयों की स्थापना पर बल दिया गया था। 6 से 11 वर्ष की आयु वाले बच्चों के लिए अनिवार्य, निःशुल्क एवं व्यापक शिक्षा देने की योजना थी। इसमें उच्च विद्यालयों को दो खंडों में बांटा गया था—एक विद्याविषयक और दूसरा प्राविधिक और व्यावसायिक स्कूल रहता। इंटरमीडियट शिक्षा को समाप्त करने का सुझाव दिया गया था। योजना के लक्ष्य को पूरा करने के लिए चालीस वर्षों का समय निर्धारित किया गया था। परन्तु इस योजना को प्रस्तुत करने के साथ राष्ट्रीय रंग-मंच पर अनेक तरह के परिवर्तन हुए और देश 1947 ई. में स्वाधीन हो गया।

तकनीकी शिक्षा : ब्रिटिश शासनकाल में तकनीकी शिक्षा के विकास की गति बहुत मन्द रही। सर्वप्रथम 1847 ई. में रुड़की इंजीनियरिंग कॉलेज की स्थापना की गयी। 1911 ई. में बंगलौर में इण्डियन इंस्टिच्यूट ऑफ साइंस, 1917 ई. में कलकत्ता में सर जगदीशचन्द्र बोस की स्मृति में बोस इंस्टिच्यूट, 1911 ई. में देहरादून फॉरेस्ट रिसर्च इंस्टिच्यूट, 1921 ई. में कानपुर में हरकोर्ट बटलर टेक्नोलॉजिकल इंस्टिच्यूट तथा 1926 ई. में धनबाद में इण्डियन स्कूल ऑफ माइंस खोला गया। तकनीकी शिक्षण संस्थाओं के विकास में निजी योगदान का भी हाथ था। 1945 ई. में सरकान ने तकनीकी शिक्षा के विकास के लिए एक 'ऑल इण्डिया काउन्सिल फॉर टेकनीकल स्टडीज' की स्थापना की। इसके अधीन तीन समितियां थीं—1. काउन्सिल फॉर टेकनीकल स्टडीज, 2. रिजनल कमिटी और 3. को ऑरडिनेटिंग कमिटी। स्व. सन. आर. सरकार की अध्यक्षता में हायर टेकनॉलॉजिकल कमिटी की स्थापना की गयी।

वैज्ञानिक अनुसन्धान के क्षेत्र में कई संस्थाओं की स्थापना की गयी है। कलकत्ता विश्वविद्यालय में न्यूक्लियर फिजिक्स का नया विभाग खोला गया। दिल्ली में कृषि अनुसंधान संस्थान, कानपुर में विक्टोरिया जुबली टेक्नॉलॉजिकल इंस्टिच्यूट, हरकोर्ट बटलर इंस्टिच्यूट, सुगर टेक्नॉलॉजिकल आदि संस्थाओं की स्थापना की जा चुकी है। प्रत्येक विषय का अध्ययन नये ढंग से किया जाने लगा है और वैज्ञानिक शोध की तरफ राष्ट्र आगे बढ़ रहा है।

स्वाधीनता के बाद शिक्षा में प्रगति

राधाकृष्णन आयोग : स्वतंत्रता के बाद सर्वप्रथम 1948-49 में डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन की अध्यक्षता में एक आयोग की स्थापना की गयी। राधाकृष्णन रिपोर्ट में मुख्य बातें इस प्रकार थीं—

1. प्राक् विश्वविद्यालय के पूर्व 12 वर्षों की पढ़ाई की व्यवस्था की जाय।
2. विश्वविद्यालय में कम-से-कम वर्ष में 180 दिनों की पढ़ाई हो और उसे

11-11 सप्ताहों के तीन सत्रों में बांट देना चाहिए।

3. उच्च शिक्षा को तीन खंडों में बांटा गया—साधारण, उदारवादी और व्यावसायिक शिक्षा। साधारण शिखा का ज्ञान सबों को देना चाहिए। कृषि, वाणिज्य, अभियांत्रिकी, प्राविधिक, विधि एवं आयुर्विज्ञान की शिक्षा का अधिकाधिक प्रचार हो।

4. प्रशासनिक सेवाओं के लिए स्नातक की उपाधि प्राप्त करना आवश्यक नहीं समझा जाय।

5. विषय के स्तर के अनुसार परीक्षाओं का संचालन किया जाय।

6. सभी विश्वविद्यालयों का स्तर एक समान रखा जाय।

7. विश्वविद्यालय के अध्यापकों का वेतन बढ़ाया जाय।

8. एक विश्वविद्यालय अनुदार आयोग की स्थापना की जाय जो राष्ट्रीय स्तर पर विश्वविद्यालय शिक्षा की देखभाल कर सके।

विश्वविद्यालय अनुदार आयोग—राधाकृष्णन की अनुशंसा के आलोक में भारत सरकार द्वारा 1953 ई. में विश्वविद्यालय अनुदार आयोग की स्थापना की गयी। यह एक स्वायत्त संस्था है और इसके कार्यक्षेत्र भारतीय विश्वविद्यालयों के बीच समन्वय स्थापित करना और उसके स्तर को बढ़ाना है। सरकार के अनुदार पर यह संस्था चलती है।

कोठारी शिक्षा आयोग : 1964 ई. में डॉ. डी. एस. कोठारी की अध्यक्षता में एक शिक्षा आयोग का गठन किया गया। शिक्षा के विविध पक्षों, शिक्षा-नीति एवं सिद्धान्त तैयार करने का दायित्व आयोग को सौंपा गया। इंगलैण्ड, अमेरिका, रूस एवं पश्चिमी राष्ट्रों की प्रचलित शिक्षण संस्थाओं की रूपरेखा, प्रमुख शिक्षाविदों का सहयोग लिया गया और यूनेस्को सचिवालय के जे. एफ. मैकडूगल को सहकारी नियुक्त किया गया।

कोठारी आयोग की रिपोर्ट में क्रमशः निम्नलिखित बातों पर बल दिया गया था—

1. सामान्य शिक्षा के साथ समाज सेवा कार्य सम्बन्धी अनुभव, हस्तकर्म एवं उत्पादन सम्बन्धी कार्यो को सम्मिलित किया जाय।

2. नैतिक शिक्षा एवं सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना विद्यालयों एवं महाविद्यालयों के छात्र-छात्राओं के बीच उत्पन्न करना चाहिए।

3. माध्यमिक शिक्षा का स्वरूप व्यावसायिक हो।

4. सेन्टर ऑफ एडवांस स्टडीज को बढ़ावा दिया जाय।

5. अध्यापकों को प्रशिक्षण एवं योग्यता पर विशेष ध्यान दिया जाय।

6. शिक्षा के क्षेत्र में कृषि एवं उससे संबंधित विद्वानों को उच्च प्राथमिकता

दी जाय।

1968 ई. में राष्ट्रीय शिक्षा-नीति निर्धारित की गयी जिसका आधार कोठारी आयोग की अनुशंसा थी। इसमें चौदह वर्ष की आयु वालों को अनिवार्य शिक्षा, अध्यापकों के पद एवं वेतन में वृद्धि, त्रिभाषा का ज्ञान, विज्ञान एवं अनुसन्धान का समीकरण, कृषि एवं औद्योगिक शिक्षा, पाठ्य-पुस्तकों की रचना, राष्ट्रीय आय का 6 प्रतिशत शिक्षा पर व्यय करना आदि था।

अंगरेजी शिक्षा का प्रभाव : पश्चिमी शिक्षा के प्रचार का लाभ भारत को मिला। दर्शन, इतिहास, अर्थशास्त्र, राजनीति विज्ञान और विज्ञान के विविध विषयों का अध्ययन करने से भारतीयों की कूपमण्डूकता समाप्त हो गयी और स्वतंत्रता, समानता एवं भ्रातृत्व की भावना राष्ट्रीय स्तर पर विकसित हुई। नये ढंग से उद्योग धंधों का विकास हुआ। सामाजिक जीवन में बदलाव आया। कला एवं संस्कृति की दशा में तरक्की हुई। नई शिक्षा का प्रभाव भारत के सामाजिक जीवन पर भी पड़ा। शिक्षित भारतीयों ने भारतीय समाज के रूढ़िवादी स्वरूप को समाप्त करने की आवश्यकता महसूस की। नई शिक्षा का अधिक प्रभाव हिन्दुओं पर भी पड़ा था। अतएव हिन्दुओं ने जाति-प्रथा को समाप्त करने, विवाह की आयु बढ़ाने, अस्पृश्यता निवारण, ऊँची जातियों में विधवा-विवाह और विवाह-विच्छेद को स्वीकार करने तथा हरिजनों की आर्थिक दशा सुधारने के लिए आन्दोलन प्रारम्भ किए। धार्मिक व्यवस्था में भी सुधार की मांग होने लगी। राजा राममोहन राय और ब्रह्म समाज इस दिशा में अग्रणी थे। आर्य समाज के नेतृत्व में इससे भी अधिक शक्तिशाली आन्दोलन चलाया गया। रामकृष्ण मिशन ने भी सुधारवादी आन्दोलन चलाया।

लेकिन भारत के कुछ नवयुवकों पर अंगरेजी शिक्षा का हानिकारक प्रभाव भी पड़ा। उन्होंने भारत के पुराने आदर्शों का बहिष्कार किया। वे विदेशी संस्कृति को आत्मसात करने में असमर्थ थे। फलस्वरूप उनमें सांस्कृतिक अस्थिरता के लक्षण प्रकट होने लगे। वे अंगरेजी पोशाक, शिष्टाचार और सामाजिक व्यवहार की नकल करने लगे। उन्होंने मद्यपान करना, गोमांस खाना तथा अस्वस्थ यौन प्रधान जीवन व्यतीत करना आरम्भ कर दिया। उन्होंने भारतीय भाषा की जगह अंगरेजी भाषा का व्यवहार शुरू किया। वे भारत के प्राचीन विचारों एवं व्यवहारों को तिरस्कार की दृष्टि से देखते थे। कुछ ने ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया, कुछ नास्तिक अथवा संशयवादी हो गए। सामाजिक जीवन की पूर्व की सत्तावादी धारणा के विरोधी होने पर भी वे स्वतंत्र धारणा विकसित नहीं कर सके। अतएव उन्होंने विषेधात्मक दृष्टिकोण अपनाकर प्राच्य विचारों को अबौद्धिक बतलाया। फिर भी वे नए प्रगतिशील सिद्धान्त का निर्माण नहीं कर सके। फलतः उनके व्यक्तिगत जीवन में अराजकता छा गई। अंगरेजी शिक्षा प्राच्य व्यक्ति अपने को आम लोगों से भिन्न मानते थे।

फलस्वरूप अंगरेजी शिक्षा प्राप्त भारतीयों और साधारण लोगों के बीच दरार पड़ती गयी। साधारण लोग ऐसे बुद्धिजीवियों को आंग्लीयता का उपासक और राष्ट्रीयता की भावनाओं से शून्य समझते थे। भारत का शिक्षित वर्ग पाश्चात्य उदारवाद को सही अर्थ में समझने में असमर्थ था। नई शिक्षा पद्धति का सबसे बड़ा दोष नौकरशाही प्रवृत्ति का विकसित होना था। अंगरेजी पढ़ना मात्र नौकरी पाने के लिए भारतीयों ने प्रारम्भ की थी। वास्तविक राष्ट्रीयता के चरित्र का निर्माण नहीं हो सका। इस दृष्टि से पाश्चात्य शिक्षा भारत के लिए अभिशाप ही थी।

नई शिक्षा-प्रणाली का एक प्रमुख दोष यह था कि इसमें अंगरेजी भाषा को अत्यधिक महत्व दिया गया था जिसके कारण शिक्षित भारतीयों और जनसाधारण के बीच अन्तर बढ़ गया था। नई शिक्षा नीति न तो भारतीयों के वास्तविक जीवन से सम्बन्धित थी और न राष्ट्र की समस्याओं से। इसमें ब्रिटिश शासन को आदर्श बलताया गया था, ब्रिटिश संस्कृति को गौरवपूर्ण कहा गया था और प्राचीन भारतीय संस्कृति का अवमूल्यन किया गया था। भारत में राष्ट्रीयता के विकास को रोकने के लिए ब्रिटिश इतिहास के अध्ययन पर बल दिया गया था। प्रारम्भ में अंगरेजी शिक्षा प्राप्त नवयुवकों की गतिविधियों के कारण सामाजिक तनाव उत्पन्न हो गया था, इसलिए कट्टरपंथी भारतीय नई शिक्षा-नीति के विरोधी बन गए। शराबखोरी, अस्वस्थ यौन-सम्बन्ध तथा अन्य प्रकार की समाज-विरोधी एवं राष्ट्र-विरोधी भावनाओं का जनम इस कारण हुआ कि कुछ अंगरेजी शिक्षा प्राप्त युवकों ने पाश्चात्य शिक्ष का गलत अर्थ लगाया। सामाजिक और बुद्धिवादी जीवन-दर्शन आधुनिक पाश्चात्य संस्कृति के मूल तत्त्व थे, जिन्हें उचित परिप्रेक्ष्य में कुछ भारतीय नवयुवक समझने में असफल रहे।

लेकिन धीरे-धीरे पश्चिमीकरण जोर पकड़ता गया और पाश्चात्य एवं भारतीय संस्कृति का संश्लेषण होने लगा। इसके साथ ही नई शिक्षा के घातक परिणाम भी कम होते चले गये। सांस्कृतिक अव्यवस्थाएं कम होने लगीं। भारतीय अच्छे-बुरे का भेद समझने लगे। उन्होंने पाश्चात्य संस्कृति के अच्छे विचारों को ग्रहण करते हुए प्राच्य संस्कृति के अच्छे तत्त्वों को सुरक्षित रखने का प्रयास किया। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, केशवचन्द्र सेन, स्वामी विवेकानन्द, जस्टिस एम. जी. रानाडे, मदन मोहन मालवीय, दादाभाई नौरोजी, सर सैयद अहमद खां जैसे अनेक व्यक्तियों ने प्राच्य एवं पाश्चात्य संस्कृति के संश्लेषण को स्पष्ट किया और भारतीय जीवन को नया नेतृत्व प्रदान किया। इस प्रकार पश्चिमीकरण का प्रभाव स्थायी नहीं था।

नवीन बुद्धिजीवी मध्यम वर्ग का उदय : अठारहवीं शताब्दी में सामाजिक जीवन की दुर्बलताओं को देखकर समाज के धनी मध्यम वर्ग के कुछ व्यक्तियों में, जो पश्चिमी सभ्यता और शिक्षा के सम्पर्क में आये थे, समाज-सुधार की भावना ने

जन्म लिया। इस शताब्दी में राजा राममोहन राय इस नवीन बुद्धिजीवी मध्यम वर्ग के प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने हिन्दू समाज की कुरीतियों और धार्मिक अन्ध-विश्वासों को पाश्चात्य शिक्षा एवं सभ्यता के प्रकाश में देखा और इसमें सुधार लाने का संकल्प किया। इस नवीन बुद्धिजीवी मध्यम वर्ग ने अंगरेजी शिक्षा-पद्धति में दीक्षित हो तथा अंगरेजी सभ्यता से प्रभावित हो समाज-सुधार आन्दोलनों का नेतृत्व किया जिसके कारण उन्नीसवीं शताब्दी में भारतीय समाज का पुनर्जागरण हुआ।

पाश्चात्य शिक्षा एवं संस्कृति के प्रचार-प्रसार के फलस्वरूप भारत में नवीन बुद्धिजीवी वर्ग का उदय हुआ था। यो तो भारत में शिक्षित मध्यम वर्ग का उद्भव 1857 ई. के विद्रोह के बाद माना जाता है, लेकिन वास्तविकता यह है कि शिक्षित मध्यम वर्ग अंगरेजी के भारत आगमन के साथ ही अस्तित्व में आने लगा था। भारत में अंगरेजी शिक्षा के प्रचार-प्रसार का सबसे महत्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि अंगरेजी शिक्षा प्राप्त तथा ईस्ट इण्डिया कम्पनी की नौकरी में संलग्न एक नवीन वर्ग का उदय हुआ। जैसे-जैसे अंगरेजी शिक्षा का प्रचार-प्रसार होता गया, इस नवीन बुद्धिजीवी वर्ग के सदस्यों की संख्या में भी वृद्धि होती गई।

यदि हम भारतीय शिक्षित मध्यम वर्ग की तुलना अन्य पश्चिमी देशों के मध्यम वर्ग से करें तो यह बात स्वतः स्पष्ट हो जाती है कि जहां पश्चिमी देशों में शिक्षित मध्यम वर्ग वाणिज्य, व्यवसाय, उद्योगों और तकनीकी शिक्षा के क्षेत्र में आगे बढ़ा, वहां भारतीय शिक्षित मध्यम वर्ग का विकास नौकरी तथा प्रशासन के कार्यों के विकास के कारण सम्भव हो सका। इसका परिणाम यह हुआ कि भारत के शिक्षित मध्यम वर्ग में चाकरी प्रवृत्ति का विकास हुआ। शिक्षित मध्यम वर्ग के अन्तर्गत वैसे अंगरेजी शिक्षा प्राप्त और नौकरी-पेशा वाले व्यक्तियों को रखा जाता है जो कम्पनी के अधीन विभिन्न कार्य करते थे। इनके वकील, डॉक्टर, न्यायाधीश, पुलिसकर्मी, मैजिस्ट्रेट, इंजिनियर, शिक्षक, मुख्तार, क्लर्क, लेखक, पत्रकार, सम्पादक कानूनगो, अमीन आदि प्रमुख हैं।

ब्रिटिशकालीन भारत में समाज-सुधार एवं राष्ट्रीय चेतना के विकास में नवीन बुद्धिजीवी मध्यम वर्ग की भूमिका अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण थी। कम्पनी शासन की समाप्ति और ब्रिटिश ताज के शासनकाल में भी वाणिज्य व्यवसाय के अतिरिक्त शिक्षा, साहित्य एवं सांस्कृतिक पुनर्जागरण के क्षेत्र में बुद्धिजीवी वर्ग का योगदान सराहनीय था। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, राजा राममोहन राय, केशवचन्द्र सेन, विवेकानन्द जैसे बुद्धिजीवियों ने भारत के समाज-सुधार एवं धर्म सुधार आन्दोलन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। आधुनिक भारत के निर्माण में इनका बहुमूल्य योगदान रहा था। राजा राममोहन राय तो आधुनिक भारत के निर्माता ही माने जाते हैं। राष्ट्र निर्माण तथा समाज-सुधार की अनेक महत्त्वपूर्ण योजनाओं एवं भूमिकाओं में क्रियाशील होने

का श्रेय इसी नव उदित वुद्धिजीवी मध्यम वर्ग को दिया जाता है। आगे चलकर अनेक प्रगतिशील संस्थाओं, जैसे ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज, प्रार्थना समाज, थियोसॉफिकल सोसाइटी, रामकृष्ण मिशन, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस आदि का जन्म हुआ। इन सभी संस्थाओं के क्रियाकलापों में वुद्धिजीवी वर्ग ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इन वर्गों ने नीति निर्धारण, नेतृत्व तथा सवल संगठनात्मक शक्ति द्वारा जनमानस में जागृति लाने, उन्हें प्रशिक्षित एवं संगठित करने का कार्य किया। पराधीनता के काल में शिक्षित मध्यम वर्ग का मुख्य कार्य सांस्कृतिक तथा राष्ट्रीय विरासत को विकसित एवं पुनः प्रतिष्ठित करना था। इस कार्य को शिक्षित मध्यम वर्ग में वड़ी ही कुशलता से किया।

प्रारम्भ में वुद्धिजीवी मध्यम वर्ग अंगरेजी शासन का हितैषी और समर्थक था। अंगरेजी प्रशासन में इस वर्ग का अटूट विश्वास था। परन्तु उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में इस वर्ग का विश्वास धीरे-धीरे टूटने लगा। अंगरेज सरकारी नौकरियों में भेद-भाव रखते थे। अच्छे और ऊँचे पदों पर भारतीयों को नियुक्त नहीं किया जाता था। अंगरेज भारतीयों को प्रशासन के क्षेत्र में अनुभवहीन समझते थे। अंगरेज अपने को प्रशासक मानते थे और कम योग्यता वाले अंगरेज भी प्रशासन में शीर्ष पदों पर नियुक्त कर लिये जाते थे। इसके अतिरिक्त, अंगरेजों की प्रजातीय पक्षपात की नीति, भारतीयों के साथ गुलाम जैसा व्यवहार, भारत को इंगलैण्ड के आर्थिक उपनिवेश में परिवर्तित कर देने की अंगरेजों की मंशा, पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तनों और दर्शनों के प्रभाव में आकर वुद्धिजीवी वर्ग अंगरेजों का विरोधी हो गया। यह वर्ग अंगरेजों के प्रजातीय भेदभाव और प्रशासन प्रणाली का कटु आलोचक बन गया। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस जैसी संस्था का जन्म भी शिक्षित मध्यम वर्ग के सहयोग से हुआ था और उसका नेतृत्व भी शिक्षित मध्यम वर्ग के हाथ में ही रहा। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के नेतृत्व में भारतीयों को पराधीनता से मुक्ति दिलाने के लिए जो आन्दोलन चलाया गया उससे उच्च मध्यम वर्ग (पूंजीपति, जमींदार, उद्योगपति, धनी वुद्धिजीवी वर्ग) की सक्रिय भूमिका थी। भारत का जनसाधारण वर्ग (किसान, मजदूर और निम्न मध्यम वर्ग) प्रारम्भ में राष्ट्रीय आन्दोलन से तथा कांग्रेस से भी अलग रहा, यद्यपि वाद में इस वर्ग ने भी राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लिया। इसी प्रकार मुस्लिम लीग की राजनीति में भी प्रमुख वन गया। उग्रवादी क्रांतिकारी आन्दोलन में भी मध्यम वर्ग की भूमिका महत्वपूर्ण थी। भगतसिंह, खुदीराम बोस, चन्द्रशेखर आजाद जैसे क्रांतिकारी मध्यम वर्ग के ही थे और उन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन को संगठित शिक्षा प्रदान की थी। इन आन्दोलनों का आधार स्तम्भ निम्न मध्यम वर्ग ही था। इनके कार्यकर्ता और मुख्यतः पढ़े-लिखे नौजवान, गरीब और बेरोजगार छात्र, कम वेतन पाने वाले वुद्धिजीवी थे। स्वदेशी आन्दोलन के कार्यकर्ता और प्रणेता म०

वर्ग के ही थे। होमरूल आन्दोलन भी मुख्य रूप में मध्यम वर्ग का ही आन्दोलन था। यों तो असहयोग आन्दोलन जो जन आन्दोलन कहा जाता है, लेकिन इस आन्दोलन के प्रणेता भी मध्यम वर्ग के थे। जनसाधारण और मजदूरों का इस आन्दोलन में विशेष भूमिका नहीं थी। असहयोग आन्दोलन का जो उद्देश्य था, जो पढ़े-लिखे लोग भी पूरा कर सकते थे जैसे शिक्षण-संस्थाओं का बहिष्कार, अदालतों का बहिष्कार, सरकारी नौकरियों का त्याग, विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार इत्यादि। इन कार्यों को मध्यम वर्ग के सदस्य ही पूरा कर सकते थे। असहयोग आन्दोलन से स्वतंत्रता की प्राप्ति तक जितने आन्दोलन हुए, सभी में शिक्षित मध्यम वर्ग की भूमिका महत्वपूर्ण थी। मध्यम वर्ग ने न केवल राष्ट्रीय आन्दोलन को नेतृत्व प्रदान किया बल्कि सक्रिय रूप से इसमें भाग भी लिया। बुद्धिजीवी वर्ग के प्रयासों से जनसाधारण में राजनीतिक चेतना का विकास हुआ और वे सभी आन्दोलनों में सक्रिय रूप से भाग भी लेने लगे। ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध राष्ट्रीय आन्दोलन को जनाधार प्रदान करने में मध्यम वर्ग ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। इसी प्रकार सामाजिक कुप्रथाओं के उन्मूलन, आधुनिक शिक्षा के प्रचार-प्रसार, अछूतोद्धार, यहां तक कि स्वतंत्र भारत के संविधान के निर्माण में भी बुद्धिजीवी वर्ग की भूमिका सराहनीय थी। भारत के राजनीतिक आन्दोलन में मध्यवर्ग की भूमिका का उल्लेख करते हुए इतिहासकार ताराचन्द ने कहा है '19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में देश में विदेशी शासकों के हाथ से राजनीतिक पहल निकलने लगी। इस युग का प्रारम्भ एक तरह तो लन्दन स्थित ब्रिटिश शाही सरकार के हाथ में शक्ति के केन्द्रीयकरण से हुआ, जिसे नौकरशाही का इस्पाती ढांचा तथा भारत की सुसंगठित सेना का समर्थन प्राप्त हुआ और जो देखने में बिल्कुल अचल और अटल लगता था। दूसरी तरफ भारत की गरीब, अनपढ़, निहत्थी, परस्पर विभक्त और बिल्कुल जड़ विशाल जनता जाग रही थी। इन दोनों के बीच में बढ़ता हुआ भारतीय मध्यम वर्ग था, जो संख्या में कम और सारे देश में बिखरा हुआ था, पर मुख्य रूप से शहरों में केन्द्रित था। उन्होंने आधुनिक विचारों को ग्रहण किया था और राजनीतिक तथा आर्थिक प्रश्नों पर आलोचनात्मक रुख विकसित किया था पर यह मध्यम वर्ग देहाती जनता से घिरा हुआ था जो मध्ययुगीन रिश्तेदारों और जात-पांत के बन्धनों में जकड़ी हुई थी। रीति-रिवाज, रहन-सहन और भावनाओं में यह मध्यम वर्ग भारतीय जनता से अलग नहीं हो सकता था। हाल में भारत के अतीत के गौरव पर जो प्रकाश पड़ा था, उससे इस वर्ग को आत्मविश्वास और स्वाभिमान प्राप्त हुआ था और उसने भारतीय परम्पराओं में जीवन के कुछ महान मूल्यों का आविष्कार किया था, जिसमें उसे वह आधारभूमि प्राप्त होनी थी तथा वह अपने को आधारित कर सकता था। दुर्भाग्य से सारा अतीत समान रूप से मूल्यवान नहीं था। पर अतीत में ः कितना अस्वीकार

करना था और कितना स्वीकार, किस प्रकार परम्परा और आधुनिकता का मेल करके अपने आचरण के लिए आदर्श प्राप्त किया जाए, यह एक ऐसी समस्या थी जिसका कोई बना-बनाया समाधान प्राप्त नहीं था। केवल तर्क से भी इसका समाधान नहीं हो सकता था, क्योंकि वास्तविक जीवन की स्थितियां में ही ये आदर्श विकसित हो सकते थे।

एक धर्मनिपरेक्ष, लोकतांत्रिक और राष्ट्रवादी दृष्टिकोण के रूप में मध्यम वर्ग का विकास बहुत कुछ ढीले-ढ़ाले तरीके से चलता रहा। ऐसा होने के बावजूद, स्वतंत्रता के लिए जो स्वाभाविक इच्छा प्रत्येक मनुष्य के हृदय में होती है, उससे भारत के सारे सम्प्रदाय आलोड़ित थे। इसलिए चाहे कुछ भी उधेड़बुन सन्देह या भय हो, वे यह चाहते थे कि जनता पर जो शासन हो वह जनता द्वारा ही हो और प्रशासन में प्रत्येक को अपना भाग मिले।

यह स्थिति बहुत अद्भुत नहीं थी। राजनीतिक स्वतंत्रता सब तरह से समाजों, यानी सामन्तवादी, अर्द्धदास और अर्द्धस्वतंत्र, कुसंस्कारग्रस्त, बहुदेवपूजक, अर्द्धनिरक्षर समाजों के साथ भी चल सकती थी। यह जरूरी नहीं है कि स्वतंत्रता तब तक रुकी रहे, जब तक कि नैतिक पूर्णता प्राप्त न हो, सारी सामाजिक बुराइयां दूर न हो जाएं और सब लोग साक्षर न हो जाएं। अपनी सारी कमजोरियों के बावजूद भारतीय मध्यम वर्ग ने ब्रिटिश शासन को एक चुनौती दी। परिस्थितियों ने इसकी सहायता की। अंग्रेज शासकों ने भारतीय जनता के साथ मिलना अस्वीकार किया। उनका शासन भारतीय समाज के साथ एक दिन भी नहीं मिल सका। वह शासन भारतीय राजनीतिक शरीर में एक विजातीय और विदेशी तत्त्व के रूप में रहा। अंगरेजों ने भारतीयों के साथ घुल-मिल जाना अस्वीकार किया, इसलिए वे तभी तक भारत में रह सकते थे, जबकि भारत असंगठित था, पर ज्योंही भारत में राष्ट्रीय एकता की भावना का प्रसार हुआ, यह आवश्यक हो गया कि वह अपने शरीर में से इस विदेशी तत्त्वों को निकाल बाहर करे। फिर हिंसा या बल से प्राप्त किया राज्य तभी तक रह सकता है जब तक नैतिक रूप से भी उसका समर्थन हो। नैतिक समर्थन शासितों की स्वीकृति, सम्मति और शुभेच्छा से ही प्राप्त हो सकता है। जनता की इच्छा की उपेक्षा कीजिए तो प्रतिरोध उत्पन्न होगा, इसका सामना दमन और हिंसा से कीजिए तो आत्मशासन की इच्छा अवश्य उत्पन्न होकर रहेगी। विदेशी शासन के अन्दर उसके विनाश के बीज भी मौजूद रहते हैं।

9

ब्रिटिश साम्राज्यवादी शासन के विरुद्ध भारतीय प्रतिरोध

भारत में अंगरेज व्यापारी के रूप में आये थे। मुगल सम्राटों की कृपा से उन्होंने व्यापार करने की सनद प्राप्त कर ली थी। धीरे-धीरे व्यापारिक कारोबार को बढ़ाकर वे भारतीय राजनीति की गतिविधि, सामाजिक जीवन की विकृतियों एवं आर्थिक शोषण की प्रक्रिया से परिचित हो गए। भारत में उनका व्यापार ईस्ट इण्डिया कम्पनी के माध्यम से प्रारम्भ हुआ जिसे इंगलैण्ड की सरकार का सनद प्राप्त था। मुगल साम्राज्य की शक्ति औरंगजेब की मृत्यु के बाद क्षीण होने लगी थी और उत्तर मुगलकालीन शासन नाममात्र के शासक रह गए थे। सर्वत्र विद्रोह का आलम था। अनेक छोटे-छोट राज्यों की स्थापना सामन्तों या जागीरदारों के द्वारा कर ली गयी थी। नव स्वतंत्र राज्य के शासक अत्यधिक महत्त्वाकांक्षी थे और उनमें देश या राष्ट्र के प्रति कोई आदर का भाव नहीं था। व्यक्तिगत स्वार्थ की पूर्ति के लिए वे किसी के साथ मेल-जोल बढ़ाकर राज्य या राष्ट्र का अहित करने में तनिक भी हिचकिचाते नहीं थे।

पराधीन भारत में सामाजिक स्तर पर अनेक जातियां और उपजातियां थीं। उनमें सहयोग और सौहार्द्रता के बदले आपसी फूट और घृणा का भाव था। एक वर्ग दूसरे को नीच मानता था। सभी वर्गों के बीच असमानता की भावना भारतवासियों को एक साथ मिलने नहीं देती थी। जातीय आधार पर नई शक्तियों का उदय हुआ। सिख, जाट, मराठा कुछ समय तक अपने प्रभाव क्षेत्र को बढ़ाने में सफल रहे, किन्तु आगे चलकर वे आपस में ही उलझ गए। विभाजित परिस्थिति में अवसरवादी अंगरेजों ने लाभ उठाकर साम्राज्य की स्थापना कर ली।

भारत में भारतीय धन-जन से अंगरेजी साम्राज्य की स्थापना की गयी थी। अंगेजों की संख्या कम थी। उनकी सामाजिक व्यवस्था सरल थी। आर्थिक शक्ति एवं नाविक शक्ति संगठित थी। साम्राज्य कायम करने के लिए वे छल-कपट और

धोखे का सहारा लेते थे। प्रलोभन देकर भारतीयों को उस युग में अपने पक्ष में लाना सरल था। भारतीय नागरिकों में उदासीनता की भावना थी। राज्य और राजा के प्रति उनका लगाव नहीं था। वे रूढ़िवादी हो गये थे। वर्तमान और भविष्य के प्रति उन्हें आशा की किरण दिखाई नहीं पड़ती थी। व्यक्तिगत स्तर पर या जातीय प्रभाव में आकर वे कभी-कभी संगठित होते थे। साधारण स्थिति में वे मूक दर्शक की तरह किसी भी घटना को देखते रह जाते थे। ऐसी अवस्था किसी भी राष्ट्र के लिए घातक होती है। भारत में अंगरेजों का प्रवेश और साम्राज्य विस्तार का काम इसी युग में हुआ और कुछ ही वर्षों में अन्दर वे बिखरी हुई शक्तियों को पराजित कर भारत में साम्राज्य कायम करने में सफल हो गए।

अंगरेजी साम्राज्य और पुराने विदेशी साम्राज्य के बीच एक अन्तर था। तुर्क अफगान और मुगल भारत में बस गए थे। भारतीय धन-जन की हानि का असर भारतवासियों के लिए हानिकारक नहीं था। भारत का धन भारत में ही रह जाता था। भारतीय साधनों का लाभ तुर्कों और मुगलों को अवश्य मिला था, परन्तु प्राप्त धन को वे भारत में ही खर्च कर देते थे। कुएं का पानी कुएं में चला जाता था। परन्तु अंगरेज प्रारम्भ से ही भारतीय धन अपने देश में ले जाते थे। बंगाल जैसे समृद्ध प्रान्त का शोषण कर अंगरेज अधिकारी मालामाल हो गए थे। भारतीय धन के सहारे वे इंगलैण्ड में जाकर धनवान बन जाते थे। अतः अंगरेजों के द्वारा प्रारम्भ से अन्त तक भारतीय साधना के दोहन की एक प्रक्रिया प्रारम्भ हुई और उसका असर जनसाधारण पर भी पड़ा। राजा-महाराजाओं के यदि राज्य और जागीरदारी हड़प ली गयीं तो व्यापारी, कारीगर, किसान और खेतीहर मजदूरों की जीविका का साधन नष्ट कर दिया गया। अंगरेजी साम्राज्य के प्रति असन्तोष की भावना शोषण की प्रक्रिया का प्रतिफल माना जाता है।

अंगरेजी साम्राज्य की स्थापना के पीछे भारतीयों का भी सहयोग था। 1757 ई. में पलासी की लड़ाई में विजय पाने के पीछे मीरजाफर का हाथ था। जब अंगरेजी साम्राज्य का विस्तार हुआ तो वे भारतीय सैनिकों की नियुक्ति करने लगे। भारतीय सैनिकों तथा विदेशी सैनिकों के बीच दुविधा, वेतन और प्रोन्नति में काफी अन्तर था। कुशल से कुशल भारतीय सैनिकों को किसी महत्वपूर्ण पद पर प्रोन्नति नहीं दी जाती थी। दूसरी तरफ औसत दर्जे का विदेशी सैनिक देखते-ही-देखते बड़े-से-बड़े पद पर पहुंच जाता था। भारत में ईसाई मत का प्रचार पादरियों के द्वारा किया जाने लगा था। धर्म परिवर्तन करने से भारतीयों को अच्छी नौकरी और सुविधा मिल जाती थी। भारत धर्म प्रधान देश था। अतः धार्मिक परिवर्तन की बात के प्रति जनसाधारण के साथ-साथ भारतीय सैनिक भी सतर्क हो गये थे। अंगरेजों के द्वारा जब भारतीय सैनिकों को समुद्र पार भेजा जाने लगा और नए कारतूस का व्यवहार करने के लिए

बाध्य किया गया, तो वे एकाएक विद्रोह पर उतर आए और विदेशी शासक से उनका मोह भंग हो गया।

(क) भारत में सैनिक विद्रोह एवं लोकप्रिय आन्दोलन (1757-1856 ई.)

भारत में अंगरेजी साम्राज्य की नींव 1757 ई. में डाली गयी। लगभग सौ वर्ष बाद 1857 ई. का विद्रोह हुआ। इन सौ वर्षों के बीच विदेशी शासन के विरुद्ध अनेक विप्लव, विद्रोह और आन्दोलन हुए। पराधीनता के कारण भारतीयों को राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक एवं सामाजिक स्तर पर जो कष्ट अनुभव होने लगा, उसके विरुद्ध उन्होंने समय-समय पर विद्रोह या आन्दोलन चलाया। भारतीय प्रशासन की रूपरेखा में बदलाव, आर्थिक शोषण से उत्पन्न भारतीयों की दरिद्रता, अकाल, भुखमरी, करों में वृद्धि आदि प्रश्नों को लेकर प्रतिक्रिया हुई और उसके कारण अव्यवस्था फैली। उन प्रतिक्रियाओं की विवेचना निम्नलिखित ढंग से की जा सकती है—

पूर्वांचल में विद्रोह

संन्यासियों का विद्रोह : भारत में अंग्रेजी साम्राज्य सबसे पहले बंगाल में स्थापित किया गया था। अतः विद्रोह की चिनगारी पहले बंगाल में ही फूटी। अंग्रेजों ने अपने व्यापार को प्रोत्साहन देने के नाम पर बंगाल की अर्थ-व्यवस्था की रीढ़ को तोड़ डाला। भारतीय व्यापारी, शिल्पी, कारीगर, सबों की रोजी-रोटी पर लात मारकर अंगरेज अर्थ-व्यवस्था को सुदृढ़ बना रहे थे। आर्थिक शोषण के कारण देश में बेरोजगारी बढ़ी और उसके लिए कम्पनी सरकार को उत्तरदायी माना जाने लगा। 1770 ई. के भीषण अकाल में कई हजार व्यक्तियों की मौत से असन्तोष की आग में घी डाल दिया। अकाल से निपटने के लिए अपर्याप्त राहत की व्यवस्था से क्षोभ उत्पन्न हुआ। उसी समय तीर्थयात्रा करने पर धार्मिक स्थानों में प्रतिबन्ध लगा दिया गया। संन्यासी प्रतिबन्ध के सदा विरोधी रहे थे। अतः विद्रोह की शुरुआत पहले संन्यासियों के द्वारा ही प्रारम्भ की गयी। संन्यासियों ने संगठित होकर कम्पनी की कोठियों एवं कोषों को अपने आक्रमण का केन्द्र बनाया। संन्यासी अंगरेज सैनिकों के छक्के छुड़ाने लगे। उनकी वीरता से अंगरेज अधिकारियों की परेशानी बढ़ने लगी। संन्यासियों के विद्रोह को दबाने के लिए वारेन हेस्टिंग्स को कठोर सैनिक कार्यवाही करनी पड़ी। संन्यासियों के विद्रोह का चित्रण प्रसिद्ध लेखक बंकिमचन्द्र की रचना 'आनन्दमठ' में मिलता है।

चुआर, होस, मुण्डा का विद्रोह : भारत की जनजातियां स्वतंत्र रूप से जीवन व्यतीत करती आ रही थीं। वे अधिकतर जंगलों में रहती थीं और जंगल का साधन उनकी जीविका का आधार था। जब अंग्रेजों ने उनकी स्वतंत्रता पर कुठाराघात किया और उन पर कर की मात्रा बढ़ा दी, तो उनमें विद्रोह करने की प्रवृत्ति जमी। बंगाल

में मिदनापुर जिले की आदिम जाति चुआर ने सबसे पहले हथियार उठाया। दलमुच, कैलापाल, ढोलका तथा वाराभूम के राजाओं ने विद्रोह का समर्थन किया। 1768 ई. में विद्रोहियों के द्वारा आत्म-विनाश की नीति अपनायी गयी। चुआर विद्रोह 18वीं सदी के अन्त तक चला और बड़ी कठिनाई के साथ विद्रोह को दवाया जा सका।

विहार में छोटानागपुर तथा सिंहभूम के हास और मुण्डा नामक जनजातियों ने भी 1820-22 ई. में विद्रोह किया था। 1831 ई. में उनकी लड़ाई कम्पनी की सेना से हुई तथा 1837 ई. तक छोटा नागपुर और सिंहभूम उपद्रवग्रस्त क्षेत्र बना रहा।

कोल-विद्रोह : छोटानागपुर की कोल जातियों का विद्रोह भी शोषण और प्रतिबन्ध का प्रतिफल था। कोलों की भूमि छीनकर मुसलमानों और सिखों के बीच बांट दी गयी। प्रतिकारस्वरूप 1831 ई. में कोलों ने लगभग एक हजार विदेशी अथवा वाहरी व्यक्तियों की हत्या कर दी। कोल-विद्रोह की आग रांची, हजारीवाग, हिंसभूम, मानभूम और पालामाऊ तक फैल गया। कोल-विद्रोह आसानी से शान्त नहीं किया जा सका। कम्पनी सरकार को विद्रोह दवाने के लिए विस्तृत सैनिक अभियान तथा दीर्घकालीन नीति का सहारा लेना पड़ा और तभी उनके विद्रोह को शान्त किया गया।

संथाल विद्रोह—संथाल विद्रोह राजमहल से प्रारम्भ हुआ। संथालों के साथ कम्पनी के अधिकारी, पुलिस, साहूकार, और जमींदार दुर्व्यवहार करते थे। कर वसूलने में मनमानी तथा ऋण देने के वदले भूमि से वेदखल करने के कारण संथालों को बीच असन्तोप वढ़ा। कम्पनी शासन को समाप्त करने का बीड़ा सीदो तथा कान्हू नामक दो नायकों ने उठाया। संथालों ने स्वाधीनता की घोपणा कर कम्पनी के शासन के विरुद्ध बगावत की। अतः संथालों के विद्रोह को नियंत्रित करने में कम्पनी सरकार को कठिनाई हुई। अन्ततः संथाल परगना की स्थापना तथा इसके लिए विशिष्ट प्रकार के नियमों की घोपणा के वाद भी संथालों को नियंत्रण में लाया जा सका।

अहोम विद्रोह : असम में अहोम जाति का वर्चस्व था। वर्मा पर विजय करने के लिए अंगरेजों ने अहोम लोगों से सहायता ली थी। विजय के प्रश्चात् जब अहोम प्रदेश को स्वतंत्र करने के वचन से अंगरेज मुकर गए तो उनमें विद्रोह की भावना जगी। अहोम जाति के लोगों ने 1828 ई. में गोमधर कुंवर को अपना राजा घोपित कर रंगपुर पर चढ़ाई की योजना वनायी। अहोम विद्रोह को सैनिक शक्ति के बल पर दबाया गया। परन्तु 1830 ई. में अहोम जाति ने पुनः विद्रोह कर दिये। इस वार तुप्ट करने की नीति अपनाकर कम्पनी सरकार ने उत्तरी असम का शासक महाराजा पुरन्दर सिंह को घोपित कर दिया और कुछ क्षेत्र भी दिये गए।

खासी-विद्रोह : जैन्तिया तथा गारो पहाड़ियों पर अधिकार करने के वार कम्पनी ने व्रह्मपुत्र तथा सिल्हट को जोड़ने के लिए एक सैनिक मार्ग वनाने की

योजना तैयार की। योजना को कार्यरूप देने के लिए उस क्षेत्र में अंगरेजों, बंगालियां एवं अन्य लोगों को भेजा गया। विदेशी व्यक्तियों के प्रवेश का विरोध नक्लों के राजा तीरत सिंह ने किया। गारो, खाम्पटी और सिंहपो जातियों के द्वारा तीरत सिंह को सहायता मिलने लगी। विदेशी व्यक्तियों को वहिष्कृत करने के आन्दोलन ने शीघ्र ही लोकप्रियता हासिल कर ली। इस आन्दोलन को सैनिक बल पर 1833 ई. में दबाया जा सका।

पागलपन्थी और फिरैजियों का विद्रोह : पागलपन्थी विद्रोह का नायक करमशाल था। यह एक अर्द्ध धार्मिक सम्प्रदाय था जो उत्तर बंगाल में संगठित किया गया था। करमशाल तथा उसके पुत्र टीपू ने धार्मिक एवं राजनीतिक उद्देश्य की प्राप्ति के लिए पागलपन्थी विद्रोह का नेतृत्व किया था। 1825 ई. में टीपू ने शेरपुर पर अधिकार कर राजा बनने की घोषणा कर दी। विद्रोहियों ने गारों की पहाड़ियों तक उपद्रव फैला दिया। 1850 ई. के बाद ही पागलपन्थी विद्रोह को दबाया जा सका।

फिरैजी विद्रोह का संचालन बंगाल के फरीदपुर जिले में हाजी शरीयतुल्ला द्वारा किया गया था। धर्म, समाज और राजनीति में परिवर्तन लाने के वे पक्षधर थे। शरीयातुल्ला का पुत्र दादूमियां अग्रेजों को बंगाल से निकालना चाहता था। जमींदारों के द्वारा रैयतों पर अत्याचार का वे विरोध करते थे। यह विद्रोह 1837 ई. से 1857 ई. तक चलता रहा। आगे चलकर फिरैजी सम्प्रदाय के लोगों के द्वारा बहावी आन्दोलन का समर्थन किया गया।

पश्चिमी भारत के विद्रोह

पूर्वी भारत की तरह पश्चिमी भारत में भी अंगरेजी शासन के विरुद्ध विद्रोह करने की परम्परा विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

भील-विद्रोह : भील पश्चिमी तट के खानदेश की आदिम जाति थे। भीरू जातियों को खेती करने में बाधा उत्पन्न करने तथा विदेशी सरकार से उत्पन्न कठिनाइयों के कारण विद्रोह करने की प्रवृत्ति जगी थी। अंग्रेजों ने पेशवा बाजीराव द्वितीय तथा उनके प्रतिनिधि त्र्यम्बकजी दांगलियां को भील विद्रोह के लिए उत्तरदायी माना। भीलों ने 1812-19 ई. में विद्रोह किया था। सम्भवतः बर्मा युद्ध में अंगरेजों की सफलता से भील विद्रोह को प्रोत्साहन मिला था। 1825 ई. में भीलों ने सेवरम के नेतृत्व में विद्रोह किया। पुनः 1831 ई. और 1846 ई. में भील विद्रोह हुए। कई बार भीलों द्वारा विद्रोह करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्हें जनसमर्थन प्राप्त था। अतः विद्रोह को दबाने के लिए सख्त सैनिक कार्यवाही ही आवश्यकता पड़ी।

कोलों का विद्रोह : कोल भी आदिम जाति के लोग थे। भील-विद्रोह से उत्साहित होकर उन्होंने 1829, 1839, 1844 और 1848 ई. में कई बार विद्रोह

किए। कोलों में बेकारी अधिक थी। वे अंग्रेजी दुर्गों को नष्ट कर डालते थे। अतः उनका विद्रोह भी सैनिकों के द्वारा ही दबाया जा सका।

कच्छ विद्रोह : कच्छ के शासक भारमल्ल और झरेजा को पराजित कर अंगरेजों ने उसके नाबालिक पुत्र को सिंहासन पर बैठा दिया था। कच्छ और काठियावाड़ के सरकार ने परिवर्तन को पसन्द नहीं किया। अंगरेजों ने शासन करने के लिए एक ब्रिटिश रेजिडेण्ट की नियुक्ति की। रेजिडेण्ट के द्वारा कर की मात्रा बढ़ा दी गयी और प्रशासन में हेर-फेर किया गया। फलतः भारमल्ल को गद्दी पर बैठने के लिए सरदारों ने विद्रोह कर दिया। कच्छ और कठियावाड़ में 1831 ई. में भी विद्रोह हुआ और कम्पनी को अन्त में उन्हें तुष्ट करने की नीति अपनानी पड़ी।

बघेरा विद्रोह : ओरवा क्षेत्र में निवास करने वाले वघेरा प्रारम्भ से ही विदेशी शासन का विरोध कर रहे थे। बड़ौदा के गायकवाड़ शासकों ने अंगरेजी सेना की सहायता प्राप्त कर बघेरों पर अधिकार प्राप्त करना चाहा तो वे विद्रोह पर उतर आये। विद्रोहियों ने 1818-19 ई. में अंगरेजों के अधीन क्षेत्र पर भी आक्रमण कर दिया। अन्त में बघेरा का विद्रोह 1820 ई. में शान्त किया जा सका।

सूरत का नमक आन्दोलन : सूरत के निवासी अत्याचार का प्रतिकार करने में सदा अग्रगण्य रहे थे। 1844 ई. में नमक पर प्रतिमन 50 पैसे के बदले एक नया कर बैठा दिया गया। सरकार की कर वृद्धि के विरोध में जन आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। विद्रोहियों ने कुछ यूरोपीय लोगों पर प्रहार किया। विरोध की प्रखरता को देखते हुए अन्ततः सरकार को कर वृद्धि वापस लेनी पड़ी।

रमोसी विद्रोह : रमोसी पश्चिमी घाट में रहने वाली आदिम जाति के लोग थे। रमोसी अंगरेजी सरकार की नीति को पसन्द नहीं करते थे। 1822 ई. में रमोसी नेता चित्तर सिंह ने विद्रोह किया और सतारा के आस-पास लूट-पाट प्रारम्भ कर दी। 1825-26 तथा 1829 ई. तक रमोसियों का उपद्रव चलता रहा।

1839 ई. में सतारा ने राजा प्रताप सिंह को राज्याधिकार से वंचित कर देश निकाला की सजा दी गयी। राजा के निष्कासन के विरोध में 1840-41 ई. में भयंकर दंगे हुए। नरसिंह दत्तात्रेय पेतकर के नेतृत्व में बादामी दुर्ग पर अधिकार कर सतारा के भूतपूर्व राजा का ध्वज फहरा दिया गया। विद्रोह सैनिक कार्यवाही के माध्यम से दबा दिया गया।

कोल्हापुर एवं सावन्तवाड़ी का विद्रोह : 1844 ई. में कोल्हापुर राज्य के प्रशासन में हेर-फेर कर गाडकारी सैनिकों की सेवा समाप्त कर दी गयी। गाडकारी मराठों के दुर्गों में सैनिक के रूप में वंशानुगत ढंग से काम करते आ रहे थे। एकाएक सेवामुक्त कर देने से वे बेकार हो गए और जीविका का साधन नहीं मिलने के कारण विद्रोह पर उतर आये। गाडकारियों ने समूगढ़ और मूदरगढ़ पर अधिकार कर लिया।

ऐसा विद्रोह सावन्तवाड़ी में भी हुआ। शक्तिशाली सेना के द्वारा कार्रवाई कर विद्रोह को दबाया गया।

दक्षिण भारत में विद्रोह

पूरब और पश्चिम की तरह दक्षिण भारत में भी अंगरेजी राज्य के विरुद्ध बगावत हुई। बगावत सर्वप्रथम विजयनगर से प्रारम्भ हुई।

विजयनगर के राजा का विद्रोह : विजयनगर के राजा को अपनी सेना भंग कर तीन लाख रुपए नजराना देने का आदेश 1794 ई. में दिया गया था। विजय नगर के शासक के द्वारा असमर्थता व्यक्त करने पर कम्पनी ने उसकी जागीर जब्त कर ली। जब्ती के विरोध में विद्रोह हुआ। युद्ध में राजा मारा गया। राजा के मरने के बाद कम्पनी ने उसके बड़े पुत्र को जागीरदार बनाकर धन की मांग को वापस कर लिया।

डिंडीगुल, मालावार, उत्तरी आरकाट और मद्रास प्रेसिडेंसी में पॉलीगारों ने भूमि व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह किया। यह विद्रोह 1801 ई. से 1856 ई. के बीच कई बार हुआ था।

दीवानवेला रम्पी का विद्रोह : ट्रावंकेर के महाराज को 1805 ई. में वेलेजली ने सहायक सन्धि की शर्तों को स्वीकार करने के लिए बाध्य कर दिया था। महाराज पर सहायक कर की रकम बढ़ती जा रही थी। महाराजा कर की रकम देने में आनाकानी कर रहे थे। अंगरेज रेजीडेण्ट के धृष्टतापूर्ण व्यवहार से क्षुब्ध होकर दीवानेवाला रम्पी ने विद्रोह की घोषणा कर दी। नायर बटालियन या समर्थन रम्पी को प्राप्त था। अंगरेजों को विद्रोह को दबाने के लिए सैनिक शक्ति का प्रयोग करना पड़ा।

वहाबी आन्दोलन

वहाबी आन्दोलन इस्लाम धर्म के पुनरुत्थान के लिए अठारहवीं सदी में अरब में प्रारम्भ किया गया था। भारत में वहाबी आन्दोलन में जन्मदाता सैयद अहमद थे। अरब के अब्दुल वहाब तथा दिल्ली के संत शाह अली उल्ला के विचार से प्रभावित होकर उन्होंने वहाबी आन्दोलन का सूत्रपात किया था। सैयद अहमद का जन्म उत्तर प्रदेश के रायबरेली में हुआ था। उन्हें सैयद अहमद बरेलबी भी कहा जाता था। सैयद अहमद ने 1820 ई. में मक्का की यात्रा की और वहाबी आन्दोलन से प्रभावित होकर भारत लौटे। सैयद अहमद का इस्लाम धर्म के प्रति अदम्य विश्वास था और ये भारत के प्रत्येक भाग को पुनः इस्लामी झण्डे के नीचे लाना चाहते थे। इस्लाम धर्म की सच्ची भावना का प्रचार कर वह भारत में इस्लामी साम्राज्य की स्थापना करना चाहते थे। अपने जीवन के प्रारम्भिक दिनों में सैयद अहमद ने अमीर खां पिण्डारी के यहां

अश्वारोही सैनिक के रूप में काम किया था। आगे चलकर उन्होंने टोंक के नवाव की सेवा स्वीकर की थी। नौकरी वृत्ति को छोड़कर सैयद अहमद इस्लाम धर्म की शिक्षा देने के उद्देश्य से दिल्ली चले आये। वे महत्वाकांक्षी थे और भारत में इस्लाम के पतन से दुखी थे। उनके अनुसार, इस्लाम का पतन बुराइयों के कारण हुआ था। सैयद अहमद स्वयं धर्मोपदेशक बन गए और इस्लाम धर्म की बुराइयों को दूर करने के लिए सक्रिय हो गए। कुछ ही दिनों के अन्दर सैयद अहमद ने मुसलमानों के बीच लोकप्रियता प्राप्त कर ली और उनके समर्थक उन्हें पैगम्बर समझने लगे। पेशावर से लेकर बंगाल तक उनका प्रभाव क्षेत्र व्यापक हो गया था तथा वे व्यवसायी वर्ग से लाभ का कुछ अंश कर के रूप में वसूलने लगे थे। मुसलमाना सम्राटों की तरफ से वे अपने अनुयायियों के बीच फरमान भी निकालने लगे थे।

धन-जन का संग्रह कर सैयद अहमद युद्ध के लिए तत्पर हो गए। वे मुस्लिम साम्राज्य को पुनः स्थापित करने के लिए अफगानिस्तान से सहयोग प्राप्त करना चाहते थे। सैयद अहमद उत्तर भारत से विजय अभियान प्रारम्भ करना चाहते थे। उस समय पंजाब में रणजीत सिंह का राज्य था। सिख मुसलमानों पर अत्याचार करते थे। अतः सिखों के विरुद्ध सैयद अहमद ने जेहाद की घोषणा की। उन्होंने अपने समर्थकों का जत्था संगठित किया। इनके समर्थकों की संख्या एक लाख तक पहुंच गयी थी। अफगानिस्तान के बादशाह ने यह स्पष्ट कर दिया कि उनका सैयद अहमद से कोई संबंध नहीं है। अफगानिस्तान के बादशाह की यह घोषणा सन्देह से पूर्ण है। अफगानिस्तान में ही युद्ध की तैयारी की जा रही थी और पंजाब पर अधिकार करना उनका एकमात्र लक्ष्य था। सैयद अहमद का पंजाब का विजय अभियान असफल रहा और युद्ध में उन्हें मार डाला गया। पंजाब में सैयद अहमद द्वारा संचालित आन्दोलन उनकी मृत्यु के बाद भी चलता रहा और वे तब तक सिक्खों का विरोध करते रहे जब तक कि पंजाब अंगरेजों के हाथ में नहीं चला गया।

वहाबी आन्दोलन का मुख्य केन्द्र पटना था : इसकी शाखाएं हैदराबाद, मद्रास, बंगाल, संयुक्त प्रान्त और बम्बई में स्थापित की गयी थीं। वहाबी आन्दोलन गोपनीय ढंग से चलाया जा रहा था और पुलिस ने भी सम्भवतः विद्रोहियों के साठ-गांठ कर ली थी। वहाबी नेता ब्रिटिश सरकार से तनिक भी भयभीत नहीं थे। कई नेता अपने घर में सात सौ व्यक्तियों को जुटाकर रखते थे तथा वे प्रतिरोध करने के लिए तैयार थे। पश्चिमोत्तर सीमा-क्षेत्र में विद्रोहियों ने 1825 ई. में भारतीय ब्रिटिश सेना के साथ सम्पर्क स्थापित कर लिया था और उनके बीच पत्र-व्यवहार को पंजाब के अधिकारियों के द्वारा पकड़ा भी गया था। इसी प्रकार पत्र-व्यवहार करने वाले भारतीय सैनिकों को 1853 ई. में दण्ड भी दिया गया था।

भारत के प्रत्येक क्षेत्र में वहाबियों का स्थायी संगठन काम कर रहा था। सभी

केन्द्रों के साथ पटना स्थित केन्द्रीय कार्यालय से नियमित सम्पर्क रखा जाता था। प्रत्येक क्षेत्र में कार्यकर्त्ता धन-संग्रह तथा नये रंगरूटों की भर्ती करते थे। नये रंगरूटों को युद्ध करने की शिक्षा दी जाती थी। वे इस बात का जोरदार ढंग से प्रचार करते थे कि भारतीय मुसलमानों की रक्षा जहन्नुम में जाने से करनी चाहिए तथा उन्हें जेहाद करने के लिए प्रोत्साहित किया जाता था। विधर्मी सरकार के प्रति निष्ठा रखना पतन की ओर बढ़ने का परिचायक है। जेहाद को जो रोकता है वह पाखण्डी है। मुम्मद साहब के वचन का पालन उन देशों में नहीं हो सकता है जहां के शासक मुसलमान नहीं हों। अतः मुसलमानों को संगठित होकर काफिरों के विरुद्ध युद्ध करना चाहिए। जो व्यक्ति युद्ध करना नहीं चाहते अथवा असमर्थ हों उन्हें किसी मुसलमान राज्य में चला जाना चाहिए। पैगम्बर की इच्छा के अनुसार किसी को काफि के देश में रहना उचित नहीं है।

पश्चिमोत्तर सीमा क्षेत्र में ब्रिटिश सरकार और वहाबियों के बीच कई बार युद्ध हुए। इन युद्धों में धन-जन की हानि हुई थी। सीमा क्षेत्र में होने वाला युद्ध भारत के अन्य क्षेत्रों को भी प्रभावित करता था और बहुत से विद्रोहियों को सरकार पकड़कर उनके विरुद्ध मुकदमा चलाती थी। 1864 ई. और 1871 ई. के बीच पांच बड़े मुकदमे चले जिनमें कई दर्जन मुसलमानों को फांसी की सजा दी गयी थी। कुछ को निर्वासन तथा कुछ व्यक्तियों को कठोर कारावास का दण्ड दिया गया। 1871 ई. में वहाबियों के विरुद्ध जो मुदकमे हुए उससे मुसलमानों के बीच तीव्र आक्रोश उत्पन्न हुआ और फांसी की सजा पाने वालों को देश निकाला की सजा भी दी गयी। 1871 ई. में बंगाल के न्यायाधीश जॉन पैवस्टन ने वहाबियों को कठोर दण्ड दिया था। विद्रोही मुसलमानों ने पैक्स्टन को न्यायालय की सीढ़ियों पर ही छूरा भोंक दिया। लॉर्ड मेयो की शेर अली नामक मुसलमान ने अण्डमान द्वीप में हत्या कर दी। वहाबी आन्दोलन को लॉर्ड मेयो समाप्त करना चाहता था। मेयो इस बात का अनुभव कर चुका था कि शस्त्र के बल पर मुसलमानों को सरकार का मित्र नहीं बनाया जा सकता है। वहाबी दारूल हर्ब को दारूल इस्लाम में बदलना चाहते थे। भारत दारूल हर्ब है अथवा दारूल इस्लाम से इस वाता पर चर्चा सरकार द्वारा ही प्रारम्भ की गयी कि कोई भी व्यक्ति खुलकर भारत को दारूल हर्ब कहना नहीं चाहता था। ऐसा कहने वाला सरकार की नजर में विद्रोही माना जाता और वह दण्ड का भागी बनता। ऐसी स्थिति में मुसलमान धर्म के नेताओं के द्वारा यह प्रचार किया गया कि भारत दारूल इस्लाम है और वहाबियों की धारणा गलत एवं विनाशकारी है।

भागलपुर के आयुक्त के निजी सहायक ने उत्तर भारत में मुस्लिम विधिशास्त्र के पंडितों से मिलकर यह घोषणा करवायी कि—"इस देश के मुसलमान ईसाइयों द्वारा रक्षित हैं और जहां ऐसा हो वहां जेहाद नहीं हो सकता।" कलकत्ता में नवाब अब्दुल

लतीफ द्वारा 1863 ई. में मोहम्मडन लिटरेरी सोसाइटी नामक संस्था की स्थापना की गयी जो वहावी आन्दोन का विरोध करती थी। मोहम्मडन लिटरेरी सोसाइटी अंगरेजों के प्रति मित्रता का भाव रखना चाहती थी। सर सैयद अहमद खां ने भी 1871 ई. में पायोनियर पत्र में इस बात का समर्थन करते हुए यह लिखा था कि–"मुसलमान चाहे अपने को दारूल हर्ब का वासी समझें अथवा दारूल इस्लाम का, परन्तु उन्हें ब्रिटिश शासन के विरुद्ध विद्रोह करने का अधिकार नहीं है क्योंकि शासन उनके धर्मसम्बन्धी कृत्यों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करता।"

वहाबी आन्दोलन के विरुद्ध प्रखर ढंग से आवाज उठानेवालों में सर सैयद अहमद खां अग्रगण्य थे। सैयद अहमद खां अंगरेजों के साथ मित्रता का सम्बन्ध रखना चाहते हैं। 1857 ई. में विद्रोह में भी उन्होंने अंगरेजों का पक्ष लिया था और सर की उपाधि प्राप्त की थी। सीमा क्षेत्र में सरकार की तरफ से होने वाली लड़ाइयों में मुसलमानों ने भी भाग लिया था। उत्तर प्रदेश के मुसलमानों को सरकार ने नौकरियों में प्राथमिकता दी और बंगाल तथा सीमा क्षेत्र में मुसलमानों को विद्रोही मानती थी। बंगाल के मुसलमानों को भी यह आभास हो गया कि अधिक वर्षों तक सरकार की विरोधी नीति अपनाने से उनका कल्याण नहीं हो सकता है। विद्रोह मुसलमानों के लिए विनाशकारी था। मुसलमानों की संख्या सरकारी सेवाओं में उँगली पर गिनने के लायक थी। दूसरी ओर सरकारी सेवाओं में हिन्दुओं का एकाधिपत्य वढ़ता जा रहा था। 1862 ई. से 1868 ई. के बीच भारत में 240 नियुक्तियां की गयीं जिनमें 239 हिन्दू और केवल एक मुसलमान था। सरकारी कार्यालयों में एक भी मुसलमान नहीं था।

अंगरेजी भाषा से विमुख होने के कारण मुसलमानों के बीच पिछड़ापन बढ़ता जा रहा था। 1869 ई. में कुल 104 व्यक्तियों को चिकित्सा संबंधी लाइसेंस दिया गया जिसमें 98 हिन्दू, पांच गोरे और केवल एक मुसलमान था। हिन्दुओं ने बदली हुई परिस्थिति के अनुकूल अपने को ढालने का निर्णय लिया। किन्तु मुसलमान लकीर के फकीर ही बने रह गए थे। अतः अधिक दिनों तक मुसलमानों ने इस तरह से नारकीय जीवन में रहना पसन्द नहीं किया। मुसलमान अपने हित की रक्षा करने, राजनीतिक अधिकार प्राप्त करने के लिए सक्रिय हो उठे। सार्वजनिक जीवन में परिवर्तन लाने की चाह के कारण भारत में वहाबी आन्दोलन का प्रभाव गौण पड़ गया। यह आन्दोलन केवल मुसलमानों द्वारा मुसलमानों के लिए चलाया गया था। इसलिए इसे सम्पूर्ण राष्ट्र का समर्थन नहीं मिला। फिर भी इस आन्दोलन ने मुसलमानों के लिए एक पृथक् राष्ट्र के निर्माण करने के लिए आधार का काम किया।

सैनिक विद्रोह

भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी को साम्राज्य विस्तार करने के लिए सैनिकों की आवश्यकता पड़ती थी। अतः जैसे-जैसे साम्राज्य का उत्तरोत्तर विकास होता गया, उसी अनुपात में साम्राज्य के विस्तार एवं संरक्षण के लिए सैनिकों की संख्या में कई गुणा अधिक वृद्धि करनी पड़ी। किन्तु सैनिकों के बीच असमानता प्रारम्भ से ही चली आ रही थी। भारतीय और यूरोपीय सैनिकों के वेतन, सुविधा एवं प्रोन्नति में काफी अंतर था। यूरोपीय सैनिकों की संख्या कम थी। अधिकतर साम्राज्य विस्तार का काम भारतीय सैनिकों के सहयोग से ही सम्भव हो सका था। भारतीय सैनिकों के अतिरिक्त वेतन भत्ता एवं सुविधा को लेकर विदेशी सेना भी विद्रोह पर उतर आती थी। सैनिक विद्रोह की परम्परा कम्पनी सरकार के लिए कोई नई चीज नहीं थी।

1764 ई. में बक्सर के युद्ध क्षेत्र में हैक्टर मुनरों का एक बटालियन मीरकासिम के पक्ष में चला गया था। सैनिक विद्रोह की दृष्टि से यह पहली चिनगारी थी।

वेल्लौर विद्रोह—देशी सिपाहियों के द्वारा प्रथम विद्रोह 1805 ई. में वेल्लौर नामक स्थान में किया गया था। वेल्लौर मद्रास में था। विद्रोह एकाएक प्रारम्भ नहीं हुआ था। वेलेजली की साम्राज्य विस्तार नीति के कारण कम्पनी सरकार की अर्थ-व्यवस्था असन्तुलित हो गयी थी। सैनिकों को वेतन समय पर नहीं मिलता था। कॉर्नवालिस अर्थ-व्यवस्था को सुदृढ़ कर असन्तोष पर केवल पर्दा डाल सका था। सैनिकों के बीच बढ़ता हुआ असन्तोष अवसर की प्रतीक्षा कर रहा था।

वैल्लौर में टीपू का पुत्र कैद था। टीपू और उसके वंशजों के प्रति भारतीय जनता में अपार सहानुभूति थी। टीपू के वंशजों की रक्षा के नाम पर भारतीय सैनिकों को अपने असन्तोष को प्रकट करने का अवसर मिल गया।

अंगरेज भारतीय सामाजिक एवं धार्मिक रीति-रिवाजों में हस्तक्षेप करने लगे थे। सैनिकों को माथे पर टीका लगाने पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। कुण्डल पहनना वर्जित कर दिया गया। दाढ़ी साफ कर पैरेड में आने की आज्ञा प्रसारित की गई। प्रतिबन्ध के कारण भारतीय सैनिकों में क्रोध बढ़ा और वे ऐसा समझने लगे कि अंगरेज उन्हें ईसाई बनाना चाहते थे। फलतः 10 जुलाई, 1806 ई. को वेल्लौर के दुर्ग में तैनात भारतीय सैनिकों ने विद्रोह का स्वर बुलन्द कर मैसूर के राजा का झण्डा दुर्ग पर फहरा दिया।

अंगरेज अधिकारियों एवं सैनिकों का विद्रोह : 1809 ई. में मद्रास काउन्सिल से सेनापति को सदस्यता से वंचित कर दिया गया। मद्रास का सेनापति मैकडावल था जो मद्रास काउन्सिल के सदस्यों से नाराज हो गया। सेना के उच्चाधि ाकारियों का भत्ता मद्रास के गवर्नर द्वारा बन्द कर दिया गया। फलतः मछलीपट्टम,

श्रीरंगपट्टम, हैदराबाद आदि स्थानों में अंगरेज सैनिक अफसरों ने बगावत प्रारम्भ कर दी। इस विद्रोह में केवल अंगरेज सैनिक ही उनके साथ थे। देशी सैनिकों ने विद्रोह में साथ नहीं दिया था। अन्ततः सरकार को सैनिक अधिकारियों के साथ समझौता पर विद्रोह शान्त करना पड़ा।

बैरकपुर का विद्रोह—कलकत्ता के पास बैरकपुर में सैनिकों की छावनी थी। भारतीय सैनिकों को प्रति मास चार से छः रुपये वेतन मिलता था। इसी वेतन में वे एक स्थान से दूसरे स्थान में जाने के लिए सवारी का भी प्रबन्ध करते थे। तुलनात्मक दृष्टि से एक अंगरेज सिपाही को भारतीयों से अधिक वेतन, भत्ता और सुविधा प्राप्त थी। अतः भारतीय सैनिकों के बीच स्वाभाविक रूप से असन्तोष की भावना धीरे-धीरे बढ़ने लगी। भारत में समुद्र यात्रा वर्जित मानी जाती थी। परन्तु रंगून विजय के सिलसिले में उन्हें समुद्री मार्ग से जाने का आदेश दिया गया। समुद्र यात्रा करने में भारतीय सैनिकों ने आनाकानी दिखाई और कुछ सैनिकों ने यात्रा के लिए पृथक् भत्ता की मांग की। सरकार ने भारतीय सैनिकों की मांग को अनसुनी कर दिया। फलतः 30 अक्टूबर, 1824 ई. को बैरकपुर के सिपाहियों ने पोशाक लेने में आनाकानी की। अनुशासन भंग करने तथा बर्मा युद्ध में भाग नहीं लेने के कारण भारतीय सैनिकों को तोप से उड़ा दिया गया और बचे-खुचे सैनिकों को कोर्ट मार्शल कर दिया गया। बैरकपुर के सिपाहियों ने किसी अधिकारी की हत्या नहीं की थी। वे न्यायोचित मांग के लिए एकताबद्ध होकर प्रयास कर रहे थे। परन्तु तत्कालीन मुख्य सेनापति एडवर्ड पैजेंट ने निर्ममता के साथ भारतीय सैनिकों को मौत के घाट उतार डाला। यह विद्रोह 47वीं टुकड़ी द्वारा आयोजित किया गया था।

अन्य विद्रोह : 1825 ई. में असम में तोपखाना के सैनिकों ने विद्रोह किया था। 1838 ई. में शोलापुर की एक भारतीय टुकड़ी ने पूरा भत्ता नहीं मिलने के कारण विद्रोह किया। 1844 ई. में 34वीं तथा 64वीं रेजिमेंट के कुछ व्यक्तियों ने पुराना भत्ता नहीं मिलने तथा सिन्ध अभियान में भाग नहीं लेने के प्रश्न पर विरोध किया था। 1849-50 ई. में गोविन्दगढ़ के रेजिमेंट के द्वारा विद्रोह किया गया।

इस प्रकार कम्पनी शासन को साम्राज्य की स्थापना काल से ही विद्रोह का सामना करना पड़ा था। कभी राजाओं एवं महाराजाओं के द्वारा, कभी आदिम जातियों के द्वारा और कभी-कभी असन्तुष्ट सैनिकों के द्वारा समय-समय पर विद्रोह संगठित किया गया। इन विद्रोहों का दमन करने में कम्पनी सरकार सफल रही थी।

2. 1857 ई. का विद्रोह : कारण, स्वरूप और परिणाम

किसी भी राष्ट्र में व्यापक अथवा सीमित पैमाने पर जो विद्रोह होता है उसके पीछे कुछ कारणों का हाथ रहता है। 1857 ई. का विद्रोह इसका अपवाद नहीं था। भारत में अंगरेजों ने छल-कपट का सहारा लेकर नये साम्राज्य की नींव डाली। घर

की आग से घर को जलाकर वे मालिक बन बैठे थे। भारत में ब्रिटिश साम्राज्य को सुदृढ़ करने का श्रेय लॉर्ड डलहौजी को दिया गया है जिसने स्वदेश लौटने के पूर्व सम्पूर्ण भारत को एक राजनीतिक छाता के अन्दर ला दिया था। भारत में अंगरेजों की चालबाजी और धोखेबाजी का एहसास पहले भी हुआ था। विदेशी शासन के प्रति असन्तोष की आग भीतर से सुलग रही थी जिसकी चिनगारी क्षेत्रीय विद्रोहों के रूप में प्रकट हो चुकी थी। परन्तु भारतीय सैनिकों के सहयोग से विद्रोहियों को पराजित कर अंगरेजी साम्राज्य की नींव को सुदृढ़ बना लिया गया था।

डलहौजी के बाद लार्ड केनिंग भारत का गवर्नर जनरल बना। केनिंग को असन्तोष का पूर्वाभास थे। वह युद्ध के बदले शान्ति चाहता था। परन्तु असन्तोष की सम्भावना को देखते हुए भावी खतरे को वह स्वयं स्वीकार कर चुका था। असन्तोष उत्तर भातर में अधिक था और शीघ्र ही वह विस्फोट के रूप में प्रकट हो जाएगा, इसका सही अन्दाजा केनिंग नहीं लगा पाया था।

1757 ई. से 1857 ई. के बीच भारत में राजनीतिक, प्रशासनिक, सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक जीवन में जो परिवर्तन हुआ था उससे आम भारतीयों के बीच क्षोभ की भवना पहले से विराजमान थी। भारत में पुराने राजवंशों को नष्ट कर डाला गया था। सामन्तवादी व्यवस्था प्रारम्भ हो चुकी थी। किसान, शिल्पी, व्यापारी और जनसाधारण के बीच दरिद्रता बढ़ती जा रही थी। इन वर्गों में भविष्य क्रे प्रति कोई आस्था नहीं रह गयी थी। अपनी भूल का एहसास हो जाने के बाद वे अवसर की ताक में थे। संयोग से विद्रोह सैनिकों के द्वारा प्रारम्भ किया गया और आगे चलकर विद्रोहियों को असन्तुष्ट राजा, महाराजा एवं जनसाधारण का समर्थन प्राप्त हो गया। अतः विद्रोह के कारणों की समीक्षा पिछले सौ वर्षो के अन्दर उत्पन्न परिवर्तित परिस्थिति के परिवेश में ही की जा सकती है।

विद्रोह के कारण

1857 ई. के विद्रोह के कारणों को राजनीतिक, प्रशासनिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक एवं सैनिक आदि भागों में विभाजिक किया जा सकता है।

राजनीतिक कारण : भारत में अंगरेजों का प्रवेश एक मेमने के रूप में हुआ था और साम्राज्य स्थापित करने के बाद भेड़िया की तरह खूंखार बन गए थे। सहायक सन्धि का जाल बिछाकर वेलेजली ने देशी रियासतों पर प्रभावशाली नियंत्रण कायम रखने का एक साधन ढूँढ़ लिया था। इस नीति के आधार पर अंगरेज भारतीय रियासतों को धीरे-धीरे समाप्त करने में जुट गये। देशी राज्यों में सदियों से चली आ रही प्रथाओं की उन्होंने उपेक्षा कर दी और राजाओं को न्यायोचित अधिकारों से वंचित रखा जाने लगा। देशी नरेशों के साथ कम्पनी सरकार का दुर्व्यवहार डलहौजी के समय चरम सीमा पर पहुंच गया। डलहौजी ने हड़पनीति अपनायी। इस नीति के अनुसार

हिन्दू शासकों द्वारा दत्तक पुत्र को गोद लेने की प्रथा समाप्त कर दी गयी। गोद लेने के अधिकार से वंचित राज्यों को कम्पनी के प्रत्यक्ष शासन में सम्मिलित कर लिया गया। वैसे रियासतों में सतारा, जैतपुर, संभलपुर, बघाट, उदयपुर, झांसी और नागपुर थे। इन रियासतों के शासकों को कोई अपनी सन्तान नहीं थी। अतः उन्हें अपनी रियासतों से हाथ धोना पड़ा।

साम्राज्यवादियों के द्वारा विलीनीकरण की नीति का भी सहारा लेकर राज्य हड़पने की दूसरी चाल चली गयी। 13 फरवरी, 1855 ई. को डलहौजी ने अवध के नवाब पर कुशासन का अरोप लगाकर अवध को कम्पनी के शासन के अधीन कर लिया। तंजौर और कर्नाटक के नवाबों की राजकीय उपाधियां समाप्त कर दी गयीं। अंगरेजों के विलीनीकरण की नीति से भारतीय नरेश और नवाब स्वाभाविक रूप से भयभीत हो गये और सम्भावित विलीनीकरण के नाम पर संगठित होने लगे। मेलसन ने ठीक ही लिखा है कि—"अवध को अंगरेजी साम्राज्य में मिलाये जाने और वहां पर नयी प्रणाली के प्रारम्भ किये जाने से मुस्लिम, कुलीनतंत्र, सैनिक वर्ग, सिपाही और कृषक सभी अंगरेजों के विरुद्ध हो गए और अवध असन्तोष का केन्द्र बन गया।" लूडलो ने भी लिखा था कि—"भारत में कोई ऐसी स्त्री अथवा बच्चा नहीं था जो कि हमारी इन विलीनीकरण की नीति के कारण हमारा शत्रु न बन गया हो।"

मुगल बादशाह को अंगरेजों के द्वारा अपमानित करने से भारतीय मुसलमानों की भावना को आघात लगा पहुंचा। डलहौजी साम्राज्य के अन्दर साम्राज्य रखने के पक्ष में नहीं था। शाहजादा फकीरुद्दीन को उत्तराधिकारी बनाने की स्वीकृति अंगरेजों द्वारा दी गयी, परन्तु राजकीय उपाधि और लालकिला छोड़ने का आदेश भी साथ-साथ देकर मुसलमानों के आक्रोश को बढ़ा दिया गया। तैमूरवंश के तथाकथित सम्राट के प्रति लोक-आस्था पूर्ववत बनी हुई थी। मुगल सम्राट के साथ अपमानजनक व्यवहार से मुसलामनों को अंगरेजों के विरुद्ध संगठित होने का अवसर मिल गया। केनिंग ने मुगल सम्राट के शाहजादा की पेंशन की रकम एक लाख से घटाकर 15 हजार रुपये कर दी। यह घोषणा मुसलमानों को अंगरेजों का शत्रु बनाने में सहायक सिद्ध हुई।

अंगरेजी प्रशासन और मुगलों के बीच अन्तर था। मुगल भारत में बस गए थे। उनकी आय-व्यय भारत में ही होती थी। परन्तु अंगरेज भारतीय धन को स्वदेश भेज देते थे। अनुपस्थित प्रभुसत्ता को स्वीकार करना भारतवासियों के लिए सरल नहीं था। देशी रियासतों के विलीनीकरण के कारण देशी सेना और अधिकारी वर्ग बेकार हो गए थे। काम नहीं मिलने के कारण विघटित सैनिकों के बीच असन्तोष की भावना स्वाभाविक रूप से जन्म ले चुकी थी। अतः नरेशों के साथ-साथ अधिकारी एवं सैनिक वर्ग भी अंगरेजों के विरोधी बन गए थे।

भारतीय जमींदारों के प्रति अंगरेजी प्रशासन का रुख उदारतापूर्ण नहीं था। लगान की रकम नहीं अदा करने पर तथा वंश की समाप्ति हो जाने पर जमींदारों की जमींदारी जब्त कर ली जाती थी। पुराने जमींदार नष्ट होते जा रहे थे और नित्य नये-नये जमींदारों का उदय होने लगा था। जो पहले से जमींदारों की तुलना में अधिक शोषण सिद्ध हो रहे थे। जमींदार वर्ग में व्याप्त असन्तोष केवल अवसर की ताल में था। वे विद्रोहियों का साथ देने के लिए तैयार थे।

शिक्षित भारतीय भी अंगरेजी प्रशासन से सन्तुष्ट नहीं थे। शिक्षित भारतीयों को योग्यता के आधार पर प्रोन्नति नहीं दी जाती थी। यूरोपीय और देशी अधिकारियों के बीच बहुत बड़ा अन्तर रखा जाता था। सैनिक एवं असैनिक सेवा में भारतीयों के साथ असमान व्यवहार असन्तोष को बढ़ाने में सहायक हुआ। भारतीय प्रशासन में मुसलमानों को विशेष महत्व नहीं दिया गया था। अतः अंगरेजी शासन के विरुद्ध उनका संगठित होना एक स्वाभाविक घटना थी।

व्यापारी, शिल्पी, कारीगरों की रोजी-रोटी मारी गयी थी। बेकारी के आलम में राजनीतिक स्तर पर समाज का प्रत्येक वर्ग संगठित होने के लिए तैयार था। संयोग से 1841-42 ई. में अफगानिस्तान के साथ युद्ध में अंगरेजों की पराजय हुई। दूसरी तरफ क्रीमिया युद्ध की पराजय का बदला लेने के लिए रूस द्वारा भारत पर आक्रमण करने की बात उठायी जाने लगी। अतः राजनीतिक घटनाओं के परिवेश में भारत के अन्दर यह भावना घर कर गयी थी कि अंगरेज अजेय नहीं हैं उनके शासन का सौ वर्ष पश्चात् अन्त होने वाला है। अंगरेज विरोधी तत्व ने असन्तुष्ट वर्ग के साथ मिलकर 1857 ई. का विद्रोह प्रारम्भ किया था।

सामाजिक कारण : अंगरेज विजेता थे। भारतवासियों को वे गुलाम समझतेथे। शासक और शासित के बीच की सामाजिक दूरी बहुत अधिक थी। अंगरेजों का व्यवहार सदा रूखा एवं अपमानजनक रहता था। हिन्दुओं को वे बर्बर तथा मुसलमानों को रूढ़ीवादी, निर्दयी और बेईमान मानते थे। यूरोप के अधिकारी वर्ग भारतीयों को सदा अपमानित करते रहते थे। और उन्हें काले मैन की संज्ञा देते थे। भारतीयों के प्रति अंगरेजों का अभद्र व्यवहार आक्रोश का एक कारण था।

अंगरेजों ने समाज की ऐसी प्रत्येक वस्तु पर अधिकार जमा लिया था जिससे भारतवासियों का जीवन सुखमय बन सकता था और उनमें हीनता का भाव उत्पन्न कर दिया था। अंगरेजों को भारतीयों पर विश्वास नहीं था। प्रशासन ने उन्हीं स्थानों पर भारतीयों को नियुक्त किया गया जहां उनके बिना काम नहीं चल सकता था। अमीर-गरीब सभी सामाजिक विभेद की नीति के कारण असन्तुष्ट थे।

भारतीय रीति-रिवाज और परम्परा की अवहेलना करने से भी अंगरेज बाज नहीं आये थे। भारतीय समाज सदियों से रूढ़िग्रस्त था। सामाजिक जीवन में जातीय

भेद-भाव की भावना सहनशीलता की सीमा को पार कर चुकी थी। बाल-विवाह, सती-प्रथा, नर-बलि आदि का प्रचलन था। विधवा-विवाह वर्जित था। सामाजिक जीवन को सुधारने की दृष्टि से बेन्टिक ने सती-प्रथा, नर-बलि एवं बाल-हत्या को अपराध घोषित कर दण्ड देने की व्यवस्था प्रारम्भ की थी। डलहौजी ने विधवा-विवाह को कानूनी मान्यता प्रदान की। सुधार सम्बन्धी कानून व्यावहारिक एवं न्यायोचित था, किन्तु भारतीय जनमानस सुधार को सामाजिक जीवन में अनुचित हस्तक्षेप समझ बैठा और भारतीय यह सोचने लगे कि सरकार उनकी समस्त सामाजिक मान्यताओं को समाप्त करने पर तुली हुई है।

अंगरेजों ने भारत में ईसाई धर्म को प्रोत्साहन दिया था। जो भारतीय ईसाई धर्म को स्वीकार कर लेते थे उन्हें अपने पूर्वजों की सम्पत्ति में भी हिस्सा देने की घोषणा सरकार द्वारा की गई। यह व्यवस्था हिन्दू धर्म के विरुद्ध थी। अंगरेजों ने जातीय व्यवस्था और वंश की श्रेष्ठता को निर्मूल घोषित कर हिन्दू समाज को सुधारने का प्रस्ताव पेश किया था। परन्तु सुधार के विरुद्ध तत्कालीन परिस्थिति में उन्हें तीव्र विरोध का सामना करना पड़ा।

अंगरेजी शिक्षा के प्रचार के कारण पुरानी शिक्षा की उपयोगिता नष्ट हो चुकी थी। अंग्रेजी शिक्षा के जन्मदाता लॉर्ड मैकाले ने स्वयं कहा था कि—"अगामी तीस वर्षों के अन्दर भारत में एक भी मूर्त्तिपूजक न बचेगा।" उत्तराधिकार नियम में संशोधन की व्यवस्था से हिन्दू और मुसलमान दोनों यह समझने लगे कि अंगरेज भारत को ईसाई धर्म में बदल डालना चाहते हैं। सेना में भी ईसाई पादरियों द्वारा ध र्म का प्रचार किया जाता था। सामाजिक मान्यताओं पर तीखे प्रहार के कारण भारत में बेचैनी फैलना स्वाभाविक था।

आर्थिक कारण : साम्राज्य निर्माण के पूर्व और साम्राज्य की स्थापना के बाद भी अंगरेजों की मूल नीति (भारत के आर्थिक साधनों का दोहन करने) में किसी प्रकार का कोई परिवर्तन नहीं आया। भारत में व्यापार, उद्योग धन्धों को नष्ट करने का अंगरेजों ने दृढ़ संकल्प ले लिया था। भारत को अन्तरराष्ट्रीय व्यापार से अधिक लाभ प्राप्त होता था। विश्व में भारतीय वस्त्रों की मांग अधिक थी। अंगरेजों के यहां जब वस्त्रोद्योग की स्थापना की गई तो भारतीय वस्त्रों की सुन्दरता एवं उपयोगिता के सामने उनकी पूछ नहीं होती थी। अतः अपने उद्योग धन्धों में संरक्षण देने के नाम पर अंगरेजों ने भारतीय व्यापार और उद्योग धन्धों को नष्ट करने की प्रक्रिया प्रारम्भ की। भारत से निर्यात होनेवाली वस्तुओं पर चुंगी बढ़ा दी गयी और निर्यात के प्रतिशत पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया गया। स्वयं भारत के अन्दर बलपूर्वक विदेशी वस्त्रों की बिक्री प्रारम्भ की गयी और व्यापारियों को स्वदेशी के बदले विदेशी वस्त्रों को खरीदने के लिए बाध्य किया जाने लगा। भारत का उद्योग एवं व्यापार यंत्र में

बदले श्रम पर आश्रित था और इसके साथ पुश्त-दर-पुश्त से लोग जुड़े हुए थे। ऐसी अवस्था में व्यापार एवं उद्योग को नष्ट कर अंगरेजों ने न केवल वेकारी की समस्या उत्पन्न की वरन् उन्हें भुखमरी की स्थिति में ला दिया था।

भूमि-कर में लगातार वृद्धि के कारण किसान भी तवाह थे। जमींदारों के द्वारा उन पर अत्याचार किया जाता था। खेती योग्य भूमि में नील की खेती करने के लिए अंगरेज जमींदार भारतीय किसानों पर दबाव डालते थे और ऊपर वाली भूमि पर अधिकार कर अपनी खेती और लाभांश का पूरा ख्याल रखते थे। किसानों से उपहार और बेगारी ली जाती थी। खेतिहर मजदूरों का भविष्य भी भूमि व्यवस्था को साथ जुड़ा हुआ था। अतः कृषकों की दयनीय अवस्था का परिणाम उन्हें भी अनिवार्य रूप से भुगतना पड़ता था।

लगान व्यवस्था में कोई छूट नहीं दी जाती थी। जमींदार और किसान दोनों की भूमि नीलाम कर दी जाती थी। वेलगान जमीन पर सरकार ने कब्जा कर लिया जिसके कारण लगभग तीस हजार जमींदारों की रोजी-रोटी समाप्त हो गयी। वहुत-से पुराने जमींदार दरिद्र हो गये और असन्तुष्ट किसान एवं जमींदार विद्रोहियों को सहयोग देने के लिए तैयार हो गए।

आर्थिक दृष्टि से भारत की दरिद्रता कम्पनी काल में बढ़ी थी। अंगरेज भारत से धन अर्जित कर अपने देश लौट जाते थे। उनकी अर्जित सम्पत्ति का लाभ भारतीयों को नहीं मिलता था। आर्थिक कठिनाई के कारण व्यापारी, कारीगर, शिल्पी, किसान-मजदूर सभी अंगरेज विरोधी बनने के लिए विवश हो गए।

धार्मिक कारण : ईसाई धर्म प्रचारकों का कार्य धार्मिक असन्तोष को बढ़ाने में सहायक रहा। ईसाई पादरी हिन्दू और मुसमलान दोनों धर्मों की न केवल कटु आलोचना करते थे बल्कि अपमानजनक शब्दों का प्रयोग भी करते थे। ईसाई पादरियों को सरकार का संरक्षण प्राप्त था और वे हिन्दू और मुसलमानों को ईसाई धर्म स्वीकार करने के लिए अपनी ओर आकृष्ट करने लगे थे, आदिम जन-जातियों से लेकर समाज के उपेक्षित वर्ग को वे ईसाई बनने के लिए तैयार करने लगे। जो व्यक्ति ईसाई धर्म स्वीकार कर लेता था उसे नौकरी एवं अन्य सुविधाएं प्राप्त हो जाती थीं। शिक्षण संस्थाओं में भी पाददियों की पैठ थी। वे अंगरेजी शिक्षण संस्थाओं में ईसाई धर्म की शिक्षा देने लगे थे। बालिकाओं के वियालयों में ईसाई धर्म को पाठ्यक्रम का एक अंग मान लिया गया था। विद्यालयों में बाइविल का अध्ययन अनिवार्य कर दिया गया था। ईसाई मूर्तिपूजा की निन्दा करते थे। मुसलमानों को भी अपमानित किया जाता था। सरकार धर्म प्रचारकों के विरुद्ध किसी प्रकार की कोई कार्यवाही नहीं करती थी। ईसाई धर्म प्रचारकों के द्वारा अकाल के अवसर पर भूख से छटपटाते अनेक बच्चों को ईसाई बना लिया गया था। सरकार ने परोक्ष रूप

से धर्म परिवर्तन को मान्यता प्रदान कर दी। उदाहरण के लिए धर्म परिवर्तन करने वालों को सम्पत्ति संबंधी अधिकार वेंटिंक ने सुरक्षित कर दिया था। गोद लेने की प्रथा को समाप्त कर दिया गया। विधवा विवाह को कानूनी मान्यता दी गयी। कारागार में बन्दियों को अपना बरतन ले जाने पर 1854 ई. में प्रतिबन्ध लगा दिया गया। बन्दियों को गैर-ब्राह्मण द्वारा तैयार भोजन करवाया जाता था। अतः इन बातों के कारण जनसाधारण में यह भ्रम पैदा हो गया कि अंगरेज भारत को ईसाई धर्मवाला देश वनाना चाहते थे।

रेल, तार, डाक, अस्पताल आदि उपयोगी कार्य के प्रति भी आम भारतवासियों की कोई आस्था नहीं थी। धार्मिक भावना पर जब आघात पहुंचा तो भारतीय अपनी संस्कृति एवं परम्परा की रक्षा के नाम पर विरोध करने के लिए तत्पर हो गए।

सैनिक कारण : भारतीय सेना में असन्तोष की भावना पहले से मौजूद थी। अंगरेज सैनिकों की संख्या कम थी। भारतीय सैनिकों के सहयोग से एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की गयी थी। भारतीय सैनिकों को यूरोपीय सैनिकों की तुलना में कम वेतन मिलता था। भत्ता और प्रोन्नति में भी स्पष्ट अन्तर रखा जाता था। एक भारतीय सिपाही अपने जीवन का प्रारम्भ और अन्त सिपाही के रूप में ही करता था। दूसरी ओर यूरोपीय सैनिक अधिक वेतन, भत्ता और प्रोन्नति का अवसर प्राप्त कर लेते थे। अंगरेज अधिकारियों का व्यवहार भारतीय सैनिकों के प्रति बहुत अपमानजनक था। युद्ध भूमि में वे भारतीय सैनिकों को अग्रिम पंक्ति में भेज देते थे। युद्ध में वीरता प्रदर्शित करने के बावजूद उन्हें कोई प्रोन्नति अथवा विशेष सुविधा नहीं मिलती थी। ऐसी परिस्थिति में सैनिकों के बीच असन्तोष की भावना का उत्पन्न होना बहुत ही स्वाभाविक था।

अफगान युद्ध में इंगलैण्ड की पराजय का परिणाम काफी घातक सिद्ध हुआ। सैनिकों में अनुशासनहीनता की भावना बढ़ी। बंगाल की सेना सदा एकजुट होकर काम करती आ रही थी। बंगाल की सेना में 60 प्रतिशत ब्राह्मण और राजपूत थे जो अवध और उत्तर पश्चिम प्रान्तों से नियुक्त किए गए थे। जब कम्पनी निम्न जाति के सैनिकों को समान दर्जा देने लगी थी तो उच्च कुल वाले सैनिकों ने अनुशासन में रहना स्वीकार नहीं किया। 1849-52 ई. के बीच तीन बार सैनिक विद्रोह हुए थे। बंगाल की सेना असन्तोष की आग में झुलस रही थी। मौलाना आजाद के अनुसार अवध के विलय में 'सेना में साधारणतः और बंगाल में विशेषतः भावनात्मक धारणा ने जन्म लिया....उन्होंने सहसा यह अनुभव किया कि वह शक्ति जो कम्पनी ने उनकी सेवा और बलिदान द्वारा प्राप्त की है, आज उन्हीं के राजा को समाप्त करने के लिए प्रयोग की जा रही है।

भारतीय सैनिकों को एक स्थान से दूसरे स्थान में आने-जाने के लिए

अतिरिक्त भत्ता नहीं दिया जाता था। भारतीय राजाओं के द्वारा जितनी सुविधा पहले सैनिकों को दी जाती थी। उससे कम सुविधा कम्पनी काल में सैनिकों को प्राप्त थी। समुद्र पार करना हिन्दू धर्म में वर्जित था। बर्मा विजय करने के लिए अंगरेज बंगाल की सेना को रंगून के बन्दरगाह में पहुंचाना चाहते थे। अतः बैरकपुर के सैनिकों ने समुद्र यात्रा करना स्वीकार नहीं किया और फलस्वरूप 47वीं रेजीमेंट भंग कर दी गयी। इसी प्रकार 1844 ई. में बंगाल के चार रेजीमेंटों ने सिन्ध जाना स्वीकार नहीं किया।

भारतीय सैनिक जो विदेश में सेवा करने के बाद घर लौटते थे तो उन्हें जाति से बहिष्कृत कर दिया जाता था। कम्पनी द्वारा वैसे सैनिकों को विशेष सुविधा नहीं दी जाती थी। संख्या में भारतीय सैनिकों की संख्या अधिक थी। कम्पनी सरकार कुशल अधिकारियों की नियुक्ति नहीं करती थी। पक्षपात के कारण सैनिकों के बीच असन्तोष बढ़ने लगा था।

1854 ई. में डाक अधिनियम पारित कर भारतीय सैनिकों को मुफ्त पत्राचार करने की सुविधा से वंचित कर दिया गया। 1856 ई. में केनिंग ने यह सामान्य सेना भर्ती अधिनियम पास कर भारतीय सैनिकों को कहीं भी आवश्यकतानुसार बाहर भेजने की घोषणा की। सरकार ने उच्चवर्ण के बदले निम्न वर्ग के व्यक्तियों को भी सेना में भर्ती करना प्रारम्भ कर दिया। वंशानुगत ढंग से सैनिकों की नियुक्ति की प्रथा पर उपयुक्त अधिनियम एक कुठाराघात था। भारतीय सैनिकों को इस अधिनियम ने संकट में डाल दिया। यदि वे सैनिक रूप में नियुक्त होकर कहीं बाहर भेज दिये जाते तो समाज उन्हें अंगीकार करने के लिए तैयार नहीं होता धर्म भ्रष्ट होने का भय उन्हें अलग सता रहा था।

भारतीय सैनिक कम्पनी सरकार के सैनिक प्रबन्ध की कमजोरियों से पूर्णतया परिचित थे। योग्य एवं कुशल सैनिक पदाधिकारियों को राजनीतिक सेवा में भर्ती कर लिया गया था। अधिकतर सैनिक अधिकारी वृद्ध एवं भ्रष्ट थे। सैनिक विभाजन भी गलत ढंग से किया गया था। कुछ स्थानों में केवल भारतीय सैनिक थे और कुछ स्थानों में अंगरेज और भारतीय सैनिक मिले-जुले रूप में रहते थे। किसी प्रकार का विरोध उत्पन्न होने पर इन सैनिक टुकड़ियों को नियंत्रण में रखना असम्भव हो जाता था।

क्रीमिया के युद्ध, पर्सिया, चीन आदि स्थानों में अंगरेजी सेना की पराजय के कारण भारतीय सैनिकों के समक्ष अंगरेजों की तथाकथित बहादुरी का पर्दाफाश हो चुका था। सेना राष्ट्र की रीढ़ मानी जाती है। भारतीय सैनिकों के बीच यह भावना जागृत हो गयी कि वे संख्या में अधिक हैं और अंगरेजी साम्राज्य उनके सहयोग पर आधारित है। यदि वे विद्रोह को संगठित ढंग से संचालित कर लें तो कम्पनी सरकार

को नष्ट किया जा सकता है।

असन्तोष और विद्रोह के दबे-छुपे स्वर को मुखरता प्रदान करने में चर्बी वाली घटना ने आग में घी डालने का काम किया। पुराने ब्राउन वैस बन्दूक के बदले नवीन एनफील्ड राइफल का प्रयोग करने का निर्णय लिया गया। नये राइफल का प्रयोग दम-दम, अम्बाला और स्यालकोट में प्रारम्भ करना था। राइफल में कारतूस का प्रयोग करने के पहले उसके ऊपरी भाग को मुंह से काटना पड़ता था। अफवाह फैली कि नये कारतूस में सूअर और गाय की चर्बी मिली हुई है। ऐसे कारतूस वूलिच शस्त्रागार में तैयार किये जाते थे। सरकार ने अफवाह का खण्डन किया, किन्तु चर्बी वाली बात के प्रति जो शंका उत्पन्न हुई उसका निराकरण नहीं किया जा सका। धर्म की रक्षा के नाम पर भारतीय सैनिक शिवाजी की तरह कम्पनी रूपी औरंगजेब की धर्मविरोधी नीति का विरोध करने के लिए तैयार हो गए।

चर्बी की घटना विद्रोह की चिनगारी को प्रज्वलित करने में सहायक हुई। इस तथ्य को कई अंगरेज इतिहासकारों ने भी स्वीकार किया है। जस्टिन मैकार्थी ने लिखा है, "चर्बी के कारतूसों का मामला केवल इस तरह की एक चिनगारी थी जो अचानक इन सारे विस्फोटक मसाले में आ पड़ी.....वह युद्ध एक राष्ट्रीय और धार्मिक युद्ध था।" मैडले ने भी लिखा था कि–"वास्तव में जमीन के नीचे ही नीचे जो विस्फोटक मसाला अनेक कारणों से बहुत दिन से तैयार हो रहा था, उस पर चर्बी के कारतूसों ने केवल दियासलाई का काम किया।"

1857 ई. में विद्रोह के कारणों के विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है कि विद्रोह के विस्फोट के पूर्व भारत में केवल ब्रिटिश साम्राज्य ही सुरक्षित था और इसके अलावा कुछ भी सुरक्षित नहीं था। भारत की सभ्यता, संस्कृति, भारतीय संस्थाएं और हित खतरे में दिखाई पड़ रहे थे। देशी राज्यों के शासक अंगरेजों की राज्य विलयन की नीति से घबराए हुए थे। वंशानुगत जमींदारों को अपनी भूमि से हाथ धोना पड़ा था। नवोदित जमींदारों को घृणा की दृष्टि से देखा जाता था। व्यापारी वर्ग नए करों के भार से परेशान था। काश्तकारों और शिल्पियों का धन्धा मन्द पड़ता जा रहा था। आर्थिक असन्तोष का मूल कारण यह था कि अंगरेजों द्वारा स्थापित औपनिवेशिक व्यवस्था सामंजस्यहीन थी। अंगरेज शासक न तो पारस्परिक व्यवस्था को ही कायम रख पाए और न ही पूंजीवादी व्यवस्था को प्रोत्साहन देकर समाज एवं अर्थव्यवस्था की कायापलट कर पाए। हिन्दू और मुसलमान सभी को ब्रिटिश शिक्षा व्यवस्था, ईसाई धर्म के प्रचार एवं कानूनों से अपने धर्म और संस्कृति के लिए खतरा महसूस होने लगा था। तत्कालीन आंग्ल भारतीय समाचारपत्रों ने लोगों का ध्यान बढ़ रहे असन्तोष और उत्तेजना की और आकर्षित किया। 29 अक्टूबर, 1853 ई. को बांम्बे गजट में लिखा था, 'भारतीयों को शासकों में परिवर्तन, व्यय करने वाले वर्गों के खर्च

के रूप में परिवर्तन तथा अपने उद्योगों का हनन सभी एक ही साथ सहना पड़ा। इस सबको देखते हुए हैरानी की बात यह नहीं है कि यहां व्यथा है वरन् यह है कि यह व्यथा और भी ज्यादा क्यों नहीं है? परन्तु हर अंगरेज के लिए यह याद रखना उचित होगा कि उनके देशवासियों के हाथ में शासन जाने से तथा उनकी दक्षता और उद्योगों में सफलताओं से भारतीयों को कष्ट उठाने पड़े हैं।' 1855 ई. में बिहार में संथालों ने और मालाबार में मोपला लोगों ने विद्रोह किए। इन विद्रोहों को दबाने में अंगरेजों को अनेकानेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। अंगरेज प्रशासन भी भारतीयों में असन्तोष की भावना देख रहे थे। विद्रोह के कारणों के विश्लेषण से यह निष्कर्ष भी निकलता है कि साम्राज्य के बनाए रखने के प्रयत्नों में ब्रिटिश सरकार ने जो प्रशासनिक और आर्थिक नीतियां अपनायी थीं, उनके परिणामस्वरूप भारत का पारम्परिक सामाजिक एवं आर्थिक ढांचा अस्त-व्यस्त हो गया था। 1857 ई. का विद्रोह ब्रिटिश साम्राज्यवादी सरकार द्वारा अपनी व्यवस्था आरोपित करने का परिणाम था जिसे यत्र-तत्र प्रारम्भिक विरोध के प्रयत्नों तथा बाद के राष्ट्रीय आन्दोलन के मध्य की कड़ी के रूप में देखा जा सकता है। इसे नई नीतियों के कारण पारम्परिक उच्च वर्गों में क्रान्तिकारी प्रतिक्रिया का परिणाम माना जा सकता है, जिसमें भिन्न-भिन्न दलों और वर्गों की विदेशी विरोधी भावना ने एकता प्रदान की और जिसे धार्मिक विचारधारा के सन्दर्भ में व्यक्त किया गया।

विद्रोह के पूर्व की तैयारी : 1857 ई. का विद्रोह एक पूर्व नियोजित घटना थी। असन्तुष्ट राजाओं, महाराजाओं, सैनिकों एवं साधारण जनता के बीच विद्रोह करने के लिए षड्यंत्रकारियों द्वारा व्यापक ढंग से प्रचार किया गया था। असन्तोष की आग में जलने वाले भारतीय अवसर की ताक में थे और नेतृत्व का अभाव उन्हें खटक रहा था। संयोग से नाना साहब ने विद्रोहियों के नेतृत्व की बागडोर अपने हाथ में ले ली और उन्होंने भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक अपने दूतों को भेजकर अंगरेजों के विरुद्ध बगावत करने के लिए उपयुक्त पृष्ठभूमि तैयार करवा दी।

विद्रोह का नेतृत्व करनेवालों में झांसी की रानी लक्ष्मीबाई, बाजीराव के दत्तक पुत्र नाना साहब, तांत्याटोपे, धुन्धु पन्त और उसके वकील जजीमुल्लाह, मुगल सम्राट बहादुरशाह तथा उसकी रानी जीनतमहल, अवध की बेगम हजरतमहल, एवं बिहार के कुंवरसिंह आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इन सभी नेताओं के विद्रोह को आहत करने में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया था। अजीमुल्लाह ने रूस, इटली, मिस्र, टर्की आदि देशों में दौरा कर भारत के प्रति विदेशियों की सहानुभूति अर्जित करने का प्रयास किया था। जमीमुल्लाह के सहयोगी सतारा के राजा के वकील रंगोजी बापू थे। रंगोजी बापू ने गुप्त सभाओं का आयोजन कर सैनिक एवं असैनिक क्षेत्रों में विद्रोह करने की प्रेरणा दी। विद्रोहियों ने दिल्ली के सम्राट बहादुरशाह को नेता

मानकर 21 मई, 1857 ई. का विद्रोह करने का दिन निर्धारित किया था। विद्रोह को व्यापक रूप देने के लिए साधुओं, फकीरों एवं पीरों का वेश धारण कर षड्यंतकारी पूरे देश में अपना जाल फैलाकर हिन्दू और मुसलमानों के सहयोग प्राप्त करने का वचन ले चुके थे। अतः 1857 ई. का विद्रोह एक पूर्व नियोजित प्रयास का प्रतिफल था।

षड्यंत्रकारियों ने कम्पनी साम्राज्य को समूल नष्ट करने की योजना बनायी। संचार के सभी साधनों को नष्ट करना, शस्त्रागारों पर अधिकार कर वे कम्पनी सरकार की इतिश्री करना चाहते थे। योजन को व्यावहारिक रूप देने के लिए नाना साहव, वकील अजीमुल्लाह और भाई बाला साहब ने तीर्थ यात्रा के माध्यम से भारत के सभी प्रमुख लोगों के साथ सम्पर्क स्थापित किया। वे निर्धारित तिथि को एक साथ कम्पनी साम्राज्य को समाप्त करना अपना लक्ष्य बना चुके थे।

विद्रोह का आरम्भ और प्रसार : विद्रोह निर्धारित समय से पूर्व ही प्रारम्भ हो गया। 29 मार्च, 1857 ई. के बैकरपुर छावनी के एक सैनिक मंगल पाण्डे ने कारतूस के प्रयोग का विरोध करने का नाम पर अपने एक अधिकारी की हत्या कर दी। मंगल पाण्डे को मौत की सजा दी गयी और 34वीं एन. आई. रेजिमेंट तोड़ दी गयी तथा अपराधियों को दण्ड दिया गया। 10 मई, 1857 ई. को मेरठ की छावनी में 85 भारतीय सैनिकों ने कारतूस का प्रयोग करना अस्वीकार कर दिया। सभी इनकार करनेवाले सैनिकों को निरस्त्र कर दीर्घकालीन कारावास की सजा दी गयी। फलतः मेरठ छावनी के सैनिकों ने अपने अधिकारियों के खिलाफ विद्रोह की घोषणा कर दी। बन्दी सैनिकों को कारागार से मुक्त कर लिया गया और अंगरेजों की हत्या की जाने लगी। विद्रोही सैनिक दिल्ली की ओर बढ़ चले। जनरल हेविट के पास 2200 यूरोपीय सैनिक थे, परन्तु उसने तूफान को रोकने का कोई प्रयास नहीं किया।

11 मई, 1857 ई. को विद्रोही सैनिकों ने दिल्ली पहुंचकर अंगरेजों को मारना प्रारम्भ कर दिया। लेफ्टिनेंट विलोवी का प्रतिरोध कारगर नहीं हुआ और 12 मई को विद्रोहियों ने दिल्ली पर अधिकार कर लिया। दिल्ली नगर पर अधिकार करने के बाद विद्रोहियों ने बहादुरशाह जफर को भारत का सम्राट घोषित कर दिया। भय के कारण बहुत से अंगरेज भाग गये। दिल्ली की पराजय अंगरेजों के लिए एक भारी क्षति थी।

दिल्ली विजय की सूचना पाकर उत्तर भारत के अनेक नगरों में विद्रोह प्रारम्भ हो गया। लखनऊ, इलाहाबाद, कानपुर, बरेली, झांसी, बनारस और बिहार में भी विद्रोह की आग भड़क उठी। लखनऊ और कानपुर का विद्रोह अधिक उग्र था। लखनऊ में ब्रिटिश रेजिडेण्ट हेनरी लॉरेन्स को विद्रोहियों ने मार डाला। नवम्बर, 1857 ई. में सर कॉलिन कैम्पबेल द्वारा गोरखा सैनिकों की सहायता के बल पर लखनऊ नगर पर अंग्रेजों का अधिकार सम्भव हो सका। नार्च, 1858 ई. के बाद

भी लखनऊ में छिट-पुट विद्रोह होता रहा और अंगरेजों के विरुद्ध संघर्ष चलता रहा। कानपुर का विद्रोह 5 जून को प्रारम्भ हुआ। विद्रोह के नायक नाना साहब और उनके सहयोगी तांत्याटोपे थे। नाना साहब को पेशवा घोषित किया गया। कानपुर की छावनी के कमाण्डर सर ह्यूग व्हिलर को आत्मसमर्पण करना पड़ा। कुछ अंगरेज अधिकारियों तथा उनके परिवार के सदस्यों की हत्या कर दी गयी। लखनऊ की तरह कैम्पवेल ने कानपुर पर अधिकार कर लिया। तांत्याटोपे बच निकले और वे भागकर झांसी चले गए।

झांसी की रानी लक्ष्मीबाई और बिहार में जगदीशपुर के बाबू कुंवरसिंह ने भी विद्रोह का नेतृत्व किया। परन्तु दक्षिण भारत, राजपूताना और पंजाब में कोई विद्रोह नहीं हुआ। यदि एक साथ विद्रोह सभी स्थानों में प्रारम्भ हो जाता तो उसे दबाने में अंगरेजों को अत्यधिक कठिनाई होती।

विद्रोह का दमन : विद्रोह के संगठन और विकराल रूप को देखकर प्रारम्भ में अंगरेजों की घबराहट बढ़ी, परन्तु लॉर्ड केनिंग ने साहस से काम लिया और बम्बई, मद्रास, पंजाब एवं अन्य मित्र रियासतों से सेना मंगाकर विद्रोह को कुचलने का प्रयास किया।

दिल्ली पर अधिकार : सर्वप्रथम दिल्ली पर अधिकार करने का अभियान प्रारम्भ हुआ। अंगरेज सेनापति एन्सन को शिमला से दिल्ली प्रस्थान करने का अदेश दिया गया। एन्सन रास्ते में ही हैजा की बीमारी से मर गया। एन्सन के स्थान पर हेनरी बरनार्ड को सेनापति नियुक्त कर दिल्ली भेजा गया। उसकी सहायता के लिए ब्रिगेडियर विल्सन को भी दिल्ली भेजा गया। अंगरेजी सेना का विरोध बहादुरशाह की सेना ने किया। परन्तु योग्य नेतृत्व का अभाव और अनुशासन के अभाव में वे अंगरेजों की अनुशासित एवं संगठित सेना के सामने टिक नहीं पाये। विद्रोहियों का मनोबल टूट गया और अंगरेजों ने दिल्ली पर अधिकार कर बहादुरशाह और उसकी पत्नी को बन्दी बना लिया। बहादुरशाह के दो पुत्र और एक पोते को भी मार डाला गया। बन्दी बहादुरशाह को रंगून भेजा गया जहां उसकी मृत्यु 1862 ई. में हुई।

अवध का विद्रोह : अवध का राज्य अंग्रेजों की शोषणनीति का शिकार बन गया था। अवध के राज्य का अग्रेजों ने विलय कर लिया था। असन्तुष्ट नवाब और ताल्लुकेदारों ने विद्रोह का नेतृत्व संभाल लिया तथा लखनऊ के रेजिडेण्ट हेनरी लॉरेन्स को 4 जुलाई, 1857 ई. को मार डाला। अंगरेजी सेना नेतृत्वहीन हो गयी। परन्तु अंगरेजों ने दृढ़ता के साथ विद्रोहियों का सामना किया। आउट्रम और हेवलॉक जैसे सेनापतियों के द्वारा विद्रोह का दमन नहीं किया जा सका। परन्तु कैम्पवेल ने अन्त में गोरखा सैनिकों की सहायता से लखनऊ पर अधिकार कर लिया। ताल्लुकेदारों का विद्रोह लुक-छिपकर चलता रहा और उसे नाना साहब के द्वारा

सहायता मिलती रही। बरेली पर अंगरेजों का अधिकार हो जाने के बाद ही अवध का विद्रोह शान्त किया जा सका।

बनारस और इलाहाबाद का विद्रोह : बनारस और इलाहाबाद में विद्रोह के दमन कर्नल नील के द्वारा किया गया। बनारस पर अधिकार करने के पूर्व नील के अनेक गांवों को भस्म कर डाला और सैकड़ों निरपराध लोगों की हत्या कर दी। आतंक का सहारा लेकर पूरी निर्दयता के साथ इलाहाबाद पहुंच कर विद्रोह का दमन किया। इलाहाबाद में सहस्रों स्त्री-पुरुष एवं बालकों की हत्या की गयी। इस प्रकार दमन पर अमानवनीय ढंग से नील ने बनारस और इलाहाबाद के विद्रोह को दबाने में सफलता प्राप्त कर ली।

झांसी का विद्रोह : झांसी की रानी लक्ष्मीबाई थी। लक्ष्मीबाई को गोद लेने के अधिकार से वंचित कर दिया गया था। लक्ष्मीबाई बुन्देलखण्ड पर अधिकार कर विद्रोहियों का नेतृत्व कर रही थी। झांसी का विद्रोह दबाने का दायित्व ह्यूरोज को दिया गया था। अंग्रेजी सेना का मुकाबला रानी लक्ष्मीबाई ने वीरता और साहस के साथ किया। उसकी सहायता तांत्याटोपे कर रहा था। परन्तु कुछ देशद्रोही व्यक्तियों के सहयोग से अंगरेजी सेना झांसी के दुर्ग में प्रवेश पाने में सफल रही। प्रवेश पाने के बाद भी लक्ष्मीबाई युद्ध करती हुई किले से निकलकर कालपी की ओर निकल गयी। कालपी में भी अंगरेजी सेना के साथ घमासान युद्ध हुआ जिसमें रानी की पराजय हुई और कालपी अंगरेजों के अधिकार में आ गया। कालपी से लक्ष्मीबाई ग्वालियर चली गयी। ह्यूरोज ने रानी का पीछा करते हुए ग्वालियर पर आक्रमण कर दिया। शत्रु सेना ने चारों ओर से ग्वालियर के दुर्ग पर घेरा डाल दिया। कोई रास्ता सुरक्षित न देखकर लक्ष्मीबाई ने पुनः ग्वालियर से भागने की कोशिश की, परन्तु रास्ते में एक नाले को पार करने के समय उनका घोड़ा मर गया और घायल रानी वीरगति को प्राप्त हुई।

बिहार का विद्रोह : बिहार में जगदीशपुर राज्य के शासक बाबू कुंवर सिंह थे। कुंवर सिंह ने अंगरेजी शासन के विरुद्ध विद्रोही सैनिकों का नेतृत्व करना स्वीकार कर लिया था। पटना और दानापुर की विद्रोही सेना ने आरा पर अधिकार कर लिया और बाबू कुंवर सिंह को नेतृत्व करने का उत्तरदायित्व सौंप दिया। कुंवर सिंह के पास इतनी सेना नहीं थी कि वे अधिक दिनों तक अंगरेजी सरकार का विरोध करते। अतः अपनी पैतृक जागीरदारी जगदीशपुर से वे आजमगढ़ के अतरौलिया नामक स्थान में चले गए और वहीं से विद्रोह का संगठन करने लगे। अंगरेजी सेना मिलमैन ने नेतृत्व में कुंवरसिंह को पराजित करने में असमर्थता व्यक्त की। कर्नल डेम्स के नेतृत्व में आजमगढ़ के पास युद्ध में कुंवर सिंह ने दूसरी बार अंगरेजी सेना को पराजित किया। कुंवर सिंह के विरुद्ध तीसरे युद्ध का नेतृत्व अंगरेज सेनापति लार्ड

मार्क को सौंपा गया। मार्क की सेना भी कुंअर सिंह को पराजित करने में असमर्थ रही और पराजित मार्क स्वयं अपनी जान बचाने के लिए बनारस की ओर भाग गया। आजमगढ़ में ही डेम्स और मार्क पहुंच चुके थे। इन दोनों की सहायता के लिए लार्ड के अधीन एक अंगरेजी सेना पश्चिम से भेजी जा चुकी थी।

कुंवर सिंह जगदीशपुर पर अधिकार करना चाहते थे। कुंवर सिंह ने तमसा नामक स्थान पर अंगरेजी सेना को बुरी तरह पराजित किया और वाधाओं को पार करते हुए जगदीशपुर पहुंच गये। जगदीशपुर को आजाद कर कुंवर सिंह अधिक दिनों तक नहीं रह सके। जगदीशपुर पहुंचने के रास्ते में ही उनके हाथ में गोली गल चुकी थी। विष का असर पड़ा ओर लम्बी आयु के बावजूद वे एक बार पुनः लीग्रैण्ड की सेना को मात देने में सफल रहे। जीवन के अन्तिम क्षण तक कुंवर सिंह जगदीशपुर के स्वतंत्र शासक बने रहे और अन्त में उनके अनुज अमर सिंह को पराजित करने के बाद ही जगदीशपुर पर अंगरेजों का अधिकार हुआ।

कुंवर सिंह की तरह तांत्याटोपे ने भी अंगरेजों के साथ युद्ध जारी रखा था। ग्वालियर के बाद तांत्याटोपे ने दक्षिण भारत जाकर विद्रोह का झण्डा फहराया था। 1859 ई. तक तांत्याटोपे विद्रोह का संगठन करता रहा। अन्त में अलवर के पास एक विश्वासघाती सरदार मानसिंह के कारण तांत्याटोपे को बन्दी बनाया गया। 18 अप्रैल, 1859 ई. को तांत्याटोपे को फांसी की सजा दी गयी।

विद्रोह का दमन करने में अत्याचार चरम सीमा पर पहुंच चुकी थी। हजारों व्यक्तियों को बिना किसी वजह के हत्या की गयी। गांव, नगर, जला दिये गये। फसलें बर्बाद कर दी गयी थीं। प्रत्येक पक्ष का शत्रु का संहार करना रह गया था। अतः युद्ध के दौरान किसी नियम का पालन करना सम्भव नहीं था।

विद्रोह की असफलता के कारण

1857 ई. का विद्रोह एक उल्का की तरह अपनी चमक-दमक दिखाकर शीघ्र ही विलुप्त हो गया। विद्रोह की असफलता के कारणों की समीक्षा निम्नलिखित ढंग से की जा सकती है–

1. सीमित क्षेत्र का विद्रोह : 1857 ई. का विद्रोह सीमित पैमाने पर हुआ था। विद्रोह सैनिकों के द्वारा प्रारम्भ किया गया था और असन्तुष्ट राजाओं ने नेतृत्व हाथ में लेकर छिप-पुट रूप से विद्रोह को संचालित करने का प्रयास किया गया। बम्बई और मद्रास की सेना के द्वारा विद्रोह नहीं किया गया था। सिन्ध, राजस्थान शान्त क्षेत्र बना रहा और नेपाल नरेश द्वारा अंगरेजों को मदद दी गयी। अफगानिस्तान का शासक दोस्त मुहम्मद भी मित्रवत व्यवहार करता रहा। पंजाब अंगरेजों के नियंत्रण में था और वहां विद्रोहियों को सहायता नहीं दी गयी। विद्रोह से मुख्यतः पश्चिमी बिहार, अवध, रूहेलखण्ड, दिल्ली, नर्मदा और चम्बल के मध्य के प्रदेश अदि

ाक प्रभावित हुए थे। भारत के कुछ क्षेत्रफल की तुलना में विद्रोह वाला क्षेत्र वस्तुतः बहुत सीमित था।

2. साधन का अभाव : अंगरेजों के पास साधन का अभाव नहीं था। अंगरेजों के सौभाग्य से 1856 ई. में ही क्रीमिया एवं चीन के साथ युद्ध समाप्त हो गया था। विद्रोह के समय लगभग 1,12000 यूरोपीय सैनिकों को भारत भेज दिया गया। इसके अतिरिक्त 3,10,000 की भारतीय सेना भी विद्रोह के समय गठित कर ली गयी थी। साधन एवं संख्या दोनों में अंगरेज विद्रोहियों की तुलना में अधिक शक्तिशाली थे। अंग्रेजों के पास आधुनिक अस्त्र-शस्त्र थे। एनफील्ड राइफल अधिक मार करती थी। विद्रोहियों के पास बन्दूक, तोप एवं बारूद का अभाव था। वे तलवार से लड़ते थे। तोप के सामने तलवार की विफलता स्वाभाविक थी।

अंगरेजों को विजय दिलाने में संचार के साधनों का योगदान अत्यन्त महत्वपूर्ण था। संचार के आधुनिक साधनों के बल पर वे शत्रु पक्ष की गतिविधि की पूरी जानकारी प्राप्त कर लेते थे और सेनापति परिस्थिति की जानकारी प्राप्त कर सैनिकों को आगे बढ़ने का आदेश देते थे। संचार व्यवस्था ने सेनापति के लिए दाहिने हाथ से भी अधिक सेवा की थी। अंगरेज सामुद्रिक शक्ति में भी विद्रोहियों से अधिक शक्तिशाली थे। अतः साधन का अभाव विद्रोह की असफलता का एक मुख्य कारण था।

3. सामन्ती विद्रोह : 1857 ई. का विद्रोह मुख्यतः सामन्तों का विद्रोह था। अवध, रूहेलखण्ड और उत्तरी भारत के असन्तुष्ट सामन्तों ने विद्रोह का नेतृत्व किया था। असन्तुष्ट सामन्तों का अपना निजी स्वार्थ भी था और बदले की भावना से प्रेरित होकर उन्होंने संघर्ष किया था। दूसरी ओर भारत में कुछ सामन्तों ने अंगरेजों को विद्रोह दबाने में भरपूर सहायता दी थी। उदाहरण के लिए, पटियाला, जीन्द, ग्वालियर और हैदराबाद के शासकों को द्वारा विद्रोह को दमन करने में अंगरेजों को सहायता दी गयी थी। ग्वालियर के मंत्री सर दिनकर राव और हैदराबाद के मंत्री सालारजंग की राजभक्ति की प्रशंसा अंगरेज इतिहासकारों के द्वारा की गयी है। केनिंग ने स्वयं कहा था, "यदि सिन्धिया भी विद्रोह में सम्मिलित हो जाए तो मुझे कल ही बिस्तर गोल करना होगा।" साथ देने वाले शासकों को पुरस्कृत करने का वचन देकर अंगरेजों ने उन्हें अपना सहायक बना लिया था। विद्रोह के बाद निजाम को बरार का प्रान्त लौटा दिया गया और कर्ज की रकम माफ कर दी गयी। सिन्धिया, गायकवाड़ और राजपूत राजाओं को भी पुरष्कृत किया गया। सामन्तों का प्रभाव उस समय समाज पर अधिक था। अतः कुछ सामन्तों के विद्रोह को दबाने में अंगरेजों को विशेष कठिनाई नहीं हुई।

4. योग्य नेतृत्व का अभाव : योग्य नेतृत्व का अभाव विद्रोहियों के बीच

सबसे अधिक खटकने वाली बात थी। वीरता और साहस में विद्रोही कम नहीं थे। परन्तु अंगरेजों के बीच उस समय लॉरेन्स, निकोलसन, लीन, आउट्रम, हैवलॉक, एडवर्ड जैसे सेनापति थे जिन्होंने विद्रोह को दबाने में साहस के साथ काम किया था। बाहदुरशाह जफर युद्धभूमि में वीरता प्रदर्शित नहीं कर सकता था। लक्ष्मीबाई वीर और साहसी थी। तांत्या टोपे भी एक योग्य सेनापति था। किन्तु विद्रोहियों के बीच संगठन और योजना का अभाव था। अलग-अलग युद्ध करने के कारण वे असफल रहे। एक साथ यदि सभी विद्रोही मिलकर संघर्ष करते तो विद्रोह सरलता से नहीं दबाया जा सकता था। विद्रोहियों ने जिन स्थानों पर विजय प्राप्त की थी, उन पर वे अधिकार एवं नियंत्रण कायम नहीं रख सके। इसका मुख्य कारण विद्रोहियों के बीच अनुशासन का अभाव था। योग्य नेतृत्व की बिखरी हुई शक्तियों को नियंत्रित रखता है। दुर्भाग्यवश विद्रोही निजी स्वार्थ के आधार पर संघर्ष कर रहे थे अतः किसी एक व्यक्ति के नेतृत्व को वे स्वीकार नहीं कर सके और ऐसी अवस्था में विद्रोह का असफल हो जाना स्वाभाविक था।

5. समान उद्देश्य का अभाव : विदेशी शासन के विरुद्ध संघर्ष करना एक समान उद्देश्य था। परन्तु विद्रोहियों के बीच उद्देश्य में भी एकरूपता नहीं थी। विरोध करने वाले राष्ट्रीय भावना से प्रभावित नहीं थे। भरतीय सैनिकों ने सुविधा प्राप्त करने और धर्म बचाने के नाम पर विद्रोह किये थे। मुसलमान अपने खोये हुए गौरव को पुनः प्राप्त करना चाहते थे। मुसलमानों के प्रति सिखों की कोई सहानुभूति नहीं थी। नाना साहब पेंशन नहीं मिलने के कारण विद्रोह पर उतर आये थे और मराठों की खोयी हुई शक्ति को पुनः हासिल करना चाहते थे। नाना साहब पेंशन नहीं मिलने को कारण विद्रोह पर उतर आये थे और मराठों की खोयी हुई शक्ति को पुनः हासिल करना चाहते थे। लक्ष्मीबाई को गोद लेने के अधिकार से वंचित कर दिया गया था। विद्रोह में भाग लेने वालों के बीच कोई समान उद्देश्य नहीं था। समान उद्देश्य नहीं रहने के कारण एक-दूसरे के साथ वे सहयोग भी नहीं कर सके। दूसरी ओर अंग्रेजों का एकमात्र लक्ष्य था साम्राज्य को सुरक्षित रखना। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अंगरेजों ने अपनी पूरी शक्ति लगा दी और वे विद्रोह को दबाने में सफल भी रहे।

6. शिक्षित वर्ग की उदासीनता : भारत का शिक्षित वर्ग विद्रोहियों के नेतृत्व को स्वीकार करने के पक्ष में नहीं था। विद्रोहियों के बीच सामन्ती प्रवृत्ति काम कर रही थी। राजा और नवाब अपने हक को पाने के लिए विद्रोह में सम्मिलित हुए थे। विशेषाधिकार की रक्षा करना सामन्ती नेताओं का एकमात्र लक्ष्य था। उनमें राष्ट्र की रक्षा करने की भावना काम नहीं कर रही थी। जनसाधारण के बीच अंगरेजी शासन के विरुद्ध जो असन्तोष जन्म ले चुका था, उसका सही मूल्यांकन शिक्षित वर्ग के द्वारा ही किया जा सकता था। परन्तु विद्रोही नेताओं ने शिक्षित वर्ग से कोई सहयोग

प्राप्त करने की चेष्टा नहीं की। फलतः शिक्षित वर्ग विद्रोह के प्रति उदासीन रहा और प्रतिक्रियावादी शक्तियों के साथ सहयोग नहीं दे सका।

7. कृषकों की अवहेलना : भारत एक कृषि प्रधान देश था। कृषकों की संख्या अधिक थी। कृषकों को साथ लेकर चलने की चेष्टा विद्रोहियों के द्वारा नहीं की गयी। राजा, जमींदार और ताल्लुकेदारों को साथ लेकर विद्रोह का संचालन किया गया था। कृषक वर्ग के साथ विद्रोहियों का व्यवहार भी अच्छा नहीं रहा। लूट-पाट, फसल की बर्बादी के कारण किसान विद्रोहियों के प्रति सहानुभूति प्रकट नहीं कर सके। जनसाधारण के स्वार्थ की उपेक्षा कर कोई विद्रोह सफल नहीं हो सकता है। भारत की जनता सुव्यवस्थित और शान्तिपूर्ण सरकार की चाह रखती थी। उनकी आंकांक्षा के अनुकूल जो सरकार बनती उसे वे अपना सहयोग और समर्थन देते । विद्रोहियों के बदले जनसाधारण की सहानुभूति अंगरेजों के साथ अधिक थी। अतः कृषकों की अवहेलना के कारण विद्रोह असफल रहा।

8. कूटनीति का प्रयोग : अंगरेज कुशल कूटनीतिज्ञ थे। अंगरेजों ने बहादुरशाह के नाम से एक झूठा फरमान निकाल दिया कि युद्ध में विजय प्राप्त करने के बाद सिखों की हत्या कर दी जाएगी। फलतः सिखों ने विद्रोह में साथ देना उचित नहीं समझा। पठान, अफगान को भी वे अपना मित्र बनाने में सफल रहे। सिन्धिया और निजाम भी अंगरेजों की कूटनीति के कारण विद्रोहियों का साथ नहीं दे सके। आपसी फूट का बीज बोकर अंगरेजों ने विद्रोह को दबा दिया।

9. विद्रोह की अराजकता : क्रान्ति प्रारम्भ होने के साथ लूट-खसोट भी प्रारम्भ हो गयी। कारागारों को तोड़ डालने से पेशेवर गुण्डे और बदमाश क्रान्तिकारियों की जमात में मिल गये। ऐसे लोगों का एकमात्र लक्ष्य लूट-खसोट था। उनके व्यवहार से देश में अराजकता एवं अशान्ति फैली और जनजीवन अस्त-व्यस्त हो गया। विद्रोहियों के प्रति जनसाधारण में सहानुभूति के बदले घृणा पैदा हो गयी और वे शान्ति सुव्यवस्था की स्थापना के नाम पर अंगरेज सरकार की पक्षपाती हो गये विद्रोहियों द्वारा जिन स्थानों पर अधिकार किया गया वहां का जनजीवन व्यवस्थित नहीं रह पाता था। क्रान्तिकारियों द्वारा व्यवस्थित शासन की कोई योजना नहीं बनायी गयी। अतः विद्रोह से उत्पन्न अराजकता क्रांति की विफलता का कारण बन गयी।

10. राष्ट्रीयता का अभाव : 1857 ई. के विप्लव का संगठन राष्ट्रीय पैमाने पर नहीं हुआ था। भारतीय समाज में विद्रोह की शक्ति थी और अंगरेजों का साम्राज्यवादी आधार अत्यन्त कमजोर था। परन्तु क्रान्ति का नेतृत्व करनेवाला सामान्तवादी वर्ग न तो विद्रोही प्रवृत्ति का लाभ उठा सका और न साम्राज्यवादी शक्ति नष्ट करने के लिए आवश्यक जनसहयोग प्राप्त कर सका। सामन्तवादी वर्ग अपने अधिकार और सुविधाओं के लिए अंगरेजों से ल[illegible] अपनी कमजोरियों से

वह अपनी रक्षा स्वयं नहीं कर पाया। अधिकतर भारतीय सामन्त अयोग्य, अकर्मण्य और असंगठित थे। उनमें रचनात्मक प्रवृत्ति का अभाव था। नेताओं के बीच राष्ट्रीय भावना नहीं थी। व्यक्तिगत निष्ठा की प्रधानता थी। राष्ट्रीय पैमाने पर समाज के विभिन्न वर्गों को एकता के सूत्र में आबद्ध करने के लिए कोई प्रयास नहीं किया गया। वस्तुतः आधुनिक राष्ट्रीयता की भावना उस समय भारत में उत्पन्न नहीं हुई थी। लड़खड़ाते सामन्तों की मीनार ध्वस्त हो रही थी। सामन्ती नेतृत्व के माध्यम से आजादी की प्राप्ति एक ख्याली पुलाव ही था। इन कारणों से 1857 ई. का विप्लव असफल हुआ।

योग्य नेतृत्व का अभाव, साधन और संगठन की कमी, प्रतिक्रियावादी शक्तियों द्वारा विद्रोह का नेतृत्व आदि कारणों के कारण विद्रोह असफल रहा।

विद्रोह का स्वरूप

1857 ई. के विद्रोह का स्वरूप विवादास्पद बन गया है। समकालीन लेखकों ने 1857 ई. के विद्रोह को सैनिकों का विद्रोह कहा है। यह विद्रोह सेना तक सीमित रहा और उसे आम जनता का समर्थन एवं सहयोग प्राप्त नहीं था। सैनिक विद्रोह की संज्ञा देने वाले अंगरेज लेखकों में मैलिसन, ट्रैवेलियन, लॉरेन्स, होम्स आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। कुछ समकालीन भारतीय लेखकों के द्वारा भी 1857 ई. के विद्रोह को सैनिक विद्रोह कहा गया है। भारतीय लेखकों में मुंशी जीवन लाल, मुईनुद्दीन, दुर्गादास बन्द्योपाध्याय एवं सर सैयद अहमद खां के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

कुछ लेखकों के द्वारा 1857 ई. के विद्रोह को अंग्रेजों के विरुद्ध मुसलमानों का षड्यंत्र कहा गया है और कुछ इसे ईसाइयों के विरुद्ध धार्मिक युद्ध तथा कुछ ने श्वेत एवं काले लोगों के बीच सर्वश्रेष्ठता का संघर्ष भी कहा है। पुनः कुछ ने इसे असन्तुष्ट सामन्तों का विद्रोह कहा है तथा कुछ ने इसे राष्ट्रीय विद्रोह के रूप में चित्रित करने का प्रयास किया है।

सैनिक विद्रोह—सर्वप्रथम सैनिक विद्रोह के रूप में व्याख्या करने वाले लेखकों में सर जॉन लॉरेन्स और सीले के विचार उल्लेखनीय है। 'सर जॉन सीले की धारणा है कि यह एक पूर्णतया देशभक्ति रहित और स्वार्थी सैनिकों का विद्रोह था। इस विद्रोह को न तो जनसमर्थन प्राप्त था और न कोई स्थानीय नेतृत्व प्राप्त हो सका था। सीले के अनुसार यह एक संस्थापित सरकार के विरुद्ध भारतीय सेना का विद्रोह था।' इस विद्रोह में उन्हीं राजाओं का सहयोग था जो डलहौजी की विलय नीति के कारण असन्तुष्ट थे। सैनिकों ने नये कारतूस के प्रयोग के विरुद्ध विद्रोह किया था। सैनिक विद्रोह को असन्तुष्ट राजाओं ने राजनीतिक रूप देने का प्रयास किया था। असन्तुष्ट सैनिकों एवं असन्तुष्ट राजाओं के विद्रोह को जनक्रान्ति कहना अनुचित

लगता है। परन्तु ऐसी व्याख्या भी उचित नहीं जान पड़ती है। भारतीय सैनिकों का एक वहुत बड़ा भाग अंगरेजों के पक्ष में था और बहुत सारे सामन्त और शासक भी अंगरेजों के मित्र बने हुए थे। दूसरी तरफ विद्रोह करने वालों में केवल सैनिक और सामन्त ही नहीं थे। उनके साथ जनसाधारण भी थे। उदाहरण के लिए बिहार में कुंवर सिंह का साथ जगदीशपुर की रियासत तथा पास-पड़ोस के आम नागरिकों ने दिया था। अंगरेजों ने सैनिकों के साथ-साथ सहस्रों असैनिक व्यक्तियों को भी विद्रोह के आरोप में दण्डित किया था। अतः 1857 ई. के विद्रोह को मात्र सैनिक विद्रोह की संज्ञा देना तर्कसंगत नहीं लगता है।

मुस्लिम षड्यंत्र : सर जोन्स आउट्रम और डब्ल्यू. टेलर जैसे लेखकों ने 1857 ई. के विद्रोह को मुस्लिम षड्यंत्र माना है। अंग्रेजों ने मुसलमानों के हाथ से सत्ता छीन ली थी। मुसलमानों को अंगरेजी साम्राज्य की स्थापना के कारण सबसे अधिक क्षति उठानी पड़ी थी। स्वाभाविक रूप से मुसलमान अंगरेज विरोधी थे। बहादुरशाह को शासक घोषित कर मुसलमान खोयी हुई प्रतिष्ठा को पुनः प्राप्त करना चाहते थे। हिन्दुओं के बीच जो असन्तुष्ट वर्ग था उसे मुसलमानों ने अपने पक्ष में लाकर अंगरेजी साम्राज्य के विरुद्ध संघर्ष प्रारम्भ कर दिया था। अतः यह एक हिन्दू-मुस्लिम षड्यंत्र था। कूपलैण्ड, सर सैयद अहमद खां ने भी मुसलमानों के बीच व्याप्त असन्तोष को विद्रोह का कारण बतलाया है। परन्तु ऐसी व्याख्या भी पर्याप्त नहीं है।

ईसाइसों के विरुद्ध संघर्ष : एल. ई. आर. रीस के अनुसार, 1857 ई. का विद्रोह ईसाइयों के विरुद्ध विद्रोह था। परन्तु रीस के विचार से सहमत होना तर्कसंगत नहीं है। विद्रोह के पीछे धर्म भी एक कारण था और हिन्दू तथा मुसलमान दोनों विद्रोह में सम्मिलित हुए थे। धर्म का प्रभाव विद्रोहियों पर अधिक नहीं था। ईसाई धर्म के विरुद्ध जेहाद नहीं छेड़ा गया था। अत्याचार करने में हिन्दू और मुसलमानों की तरह ईसाई भी बाज नहीं आये थे। भारत में ईसाई धर्म-प्रचारकों को विशेष सफलता नहीं मिल पायी थी। दूसरी बात यह थी कि अग्रेंजों का साथ देने वालों में हिन्दू और मुसलमान दोनों पक्ष के व्यक्ति थे। यदि यह विद्रोह धर्म के नाम पर होता तो ईसाइयों को हिन्दुओं और मुसलमानों का समर्थन नहीं मिलता। अतः इसे ईसाइयों के विरुद्ध संघर्ष की संज्ञा नहीं दी जा सकती है।

काले और गोरों का संघर्ष : अंगरेज श्वेत थे और भारतीयों को काला मानते थे। इसमें सन्देह नहीं है कि विद्रोह के समय सभी श्वेत एक साथ थे। परन्तु श्वेत के कैम्पों में भी काले व्यक्ति थे उनका अनुपात 1:25 का था। भारतीय सैनिकों की संख्या अधिक थी और वे युद्ध में खाना बनाने से लेकर लड़ने तक का काम करते थे। विद्रोह दबाने में भी भारतीय सैनिकों का योगदान महत्त्वपूर्ण था। अतः इसे काले और गोरों का संघर्ष मानना उचित नहीं जान पड़ता था। दूसरी ओर, टी. आर. होम्स

ने इस बर्बरता एवं सभ्यता के बीच युद्ध की संज्ञा दी है। इस कथन में भी जातिवाद की गन्ध है। अत्याचार करने में न अंगरेज वाज आये थे और न भारतीय ही। भारतीयों के द्वारा यदि अंगरेजों की हत्या की गयी तो दूसरी ओर अंगरेजों ने भी सैकड़ों भारतीयों को मात्र सन्देह पर फांसी दे दी थी। मुसलमानों को सूअर की खाल में सी दिया गया था। अतः प्रतिशोध में न तो भारतीय कम थे और न अंगरेज ही। इस दृष्टि से इसे सभ्यता और बर्बरता के बीच युद्ध की संज्ञा देना उचित नहीं है।

राष्ट्रीय विद्रोह : बेन्जामिन डिजरेली, अशोक मेहता, सावरकर, डॉ. सेन एवं डॉ. एस. वी. चौधरी आदि विद्वानों के द्वारा 1857 ई. के विद्रोह को राष्ट्रीय विद्रोह की संज्ञा दी गयी है। सर्वप्रथम रूढ़िवादी दल के नेता बेन्जामिन डिजरेली के विचार में यह विद्रोह आकस्मिक नहीं था। यह एक सुनियोजित एवं संगठित प्रयत्नों का परिणाम था जो अवसर की प्रतीक्षा में थे। साम्राज्य का उत्थान और पतन चर्बी वाले कारतूसों के मामले में नहीं होते ऐसे विद्रोह उचित और पर्याप्त कारणों के एकत्रित होने से होते हैं। अशोक मेहता की धारणा है कि 1857 ई. के विद्रोह का स्वरूप राष्ट्रीय था। सावरकर के अनुसार यह एक सुनियोजित स्वतंत्रता संग्राम था और इसके पूर्व जो विद्रोह हुए वे सभी पूर्वाभ्यास थे। 1857 ई. का विद्रोह प्रथम स्वतंत्रता संग्राम था। डॉ. ईश्वरी प्रसाद के अनुसार यह विद्रोह योजनाबद्ध था और विद्रोही नेता बहुत दिनों से लोगों के बीच ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध गांव-गांव में इस भावना को फैला रहे थे। वे नेता निःस्वार्थ देशभक्त थे और उन्हें अपने देश की स्वतंत्रता से अधिक प्रिय कोई अन्य वस्तु नहीं थी।

मुरादाबाद के तत्कालीन जज जे. सी. विल्सन ने लिखा है—"प्राप्त प्रमाणों के आधार पर मुझे पूर्ण विश्वास हो चुका हे कि एक साथ विद्रोह करने के लिए 21 मई, 1857 ई. का दिन निश्चित किया गया था।" केयी के अनुसार—"अवध के वजीर अली नकी खां के आह्वान पर हिन्दू और मुसलमाना सिपाहियों ने गंगा और कुरान की कसमें खाकर प्रतिज्ञा की कि वे अंगरेजों को देश से बाहर निकालने में अपनी जान की वाजी लगा देंगे। अली नकी खां के दूतों ने साधुओं और फकीरों का भेष बनाकर कलकत्ता से शुरू होकर उत्तर भारत की प्रत्येक छावनी में विप्लव का सन्देश पहुंचाया। सैनिकों के अतिरिक्त सरकारी कर्मचारियों से भी सम्बन्ध स्थापित किया गया और कोई भी ऐसा थाना या दफ्तर नहीं छूटा जहां विप्लव का सन्देश न पहुंचा हो। इसमें सन्देह नहीं है कि विद्रोह की योजना बहुत दिनों से तैयार की जा रही थी और गुप्त मंत्रणा की सूचना से सरकार अवगत नहीं थी।

1857 ई. के विद्रोह के संबंध में डॉ. एस. एन. सेन और डॉ. आर. सी. मजूमदार ने समस्त राजकीय एवं अराजकीय साधनों को एकत्रित कर अपने-अपने ढंग से क्रांति के स्वरूप पर प्रकाश डाला है। दोनों विद्वानों के बीच मतभेद है, परन्तु

कुछ बातों पर उन्होंने सहमति प्रकट की है। उदाहरण के लिए, दोनों इस बात को स्वीकार करते हैं, कि विद्रोह किसी योजना का परिणाम नहीं था और न इसके पीछे किसी अनुभवी व्यक्ति का हाथ था। न तो नाना साहब द्वारा विद्रोह के पूर्व कोई योजना बनाई गयी थी और न अजीमुल्लाह खां ने विदेशी सहायता प्राप्त करने की चेष्टा की थी। कमल के फूल अथवा चपाति के वितरण की बात भी प्रमाणित नहीं की जा सकी है। बहादुरशाह पर लगाये गये अभियोग को अंगरेज अधिकारी स्वयं प्रमाणित नहीं कर पाये थे। अतः योजनाबद्ध विद्रोह का कोई प्रश्न पैदा नहीं होता है।

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में भारत के अन्दर राष्ट्रीय भावना विकसित नहीं हो पायी थी। भारत केवल एक भौगोलिक अभिव्यक्ति मात्र था। यहां के निवासी क्षेत्रीय एवं जातिगत आधार पर बंटे थे और उनमें एकता एवं राष्ट्रीयता नाम की कोई चीज नहीं थी। कुंवर सिंह को बिहार में तथा बहादुरशाह को दिल्ली में सेना ने नेता चुनकर उन्हें युद्ध में भाग लेने के लिए विवश कर दिया था। नाना साहब को यदि अंगरेज पेन्शन देना बन्द नहीं करते तो सम्भवतः वे युद्ध में भाग नहीं लेते। लक्ष्मीबाई को उत्तराधिकार के अधिकार से वंचित कर दिया गया था। अन्य शासकों या सामन्तों के द्वारा विद्रोह में जो भाग लिया गया उसके लिये राष्ट्रीय स्वार्थ की भावना के बदले व्यक्तिगत सुविधा या अधिकार की रक्षा की बात ही मुख्य रूप से काम कर रही थी। बिहार में बाबू कुंवर सिंह और अवध में ही जनसाधाण का सहयोग अपवाद प्राप्त था। युद्ध के समय भी विभिन्न नेताओं के बीच ताल-मेल का अभाव था। अतः उस युग में राष्ट्रीयता की भावना पनप नहीं पायी थी।

डॉ. आर. सी. मजूमदार के अनुसार, 1857 ई. के विद्रोह का अप्रत्यक्ष एवं उत्तरकालिक परिणाम अत्यन्त महत्वपूर्ण था। विद्रोह सैनिकों के द्वारा प्रारम्भ किया गया और असन्तुष्ट शक्तियों के सहयोग से अंगरेजी राज्य के लिए एक चुनौती बन गया था। अंगरेजी शासन शोषण से मुक्त होने के लिए भारत में जो राष्ट्रवादी भावना विकसित हुई उसे प्रेरणा देने का काम 1857 ई. के विद्रोह ने किया। अंगरेजी में एक कहावत है कि जीवित जुलियस सीजन से मरा हुआ जुलियस सीजर अधिक शक्तिशाली था। वस्तुतः 1857 ई. के विद्रोह में राष्ट्रीय स्वतंत्रता की खोज इस उक्ति को चरितार्थ करती है।

डॉ. मजूमदार से भिन्न डॉ. एस. एन. सेन ने 1857 ई. के विद्रोह को एक स्वतंत्रता संग्राम की संज्ञा दी है। अमेरिकी क्रांति या फ्रांस की क्रांति में भी समस्त जनता का कभी सहयोग प्राप्त नहीं हुआ था। कुछ लोग अंग्रेजों के पक्षधर बने रहे और फ्रांस में भी रजा की वकालत करनेवालों की संख्या कम नहीं थी। यदि अमेरिका और फ्रांस की क्रांति को जनक्रांति का रूप दिया जा सकता है तो 1857 ई. के विद्रोह को भी उस मापदण्ड के आधार पर स्वतंत्रता संग्राम कहना कोई अति उक्ति नहीं

होगी। भारत एक विशाल देश था और भारतीय जनता कुछ विवशता और भय के कारण तटस्थ रही थी। तटस्थ व्यक्तियों के हृदय में अंगरेजी शासक के प्रति कोई सद्भावना नहीं थी। भारतीय समाज के प्रत्येक वर्ग अंगरेजी शासन से असन्तुष्ट था। वे सत्ता में परिवर्तन चाहते थे। हिन्दू और मुसलमान दोनों अंगरेजी शासन से क्षुब्ध थे। भारतीय इतिहास में हिन्दू और मुसलमानों के बीच अभूतपूर्व सहयोग 1857 ई. के विद्रोह में ही दिखलाई पड़ता है। विद्रोह में सिपाहियों को आम भारतीय द्वारा सहयोग दिया गया था तथा जनता ने अंगरेजों के प्रति असहयोग की नीति अपना ली थी। जनरल ब्लॉक को नदी पार करने के लिए नाविकों ने नाव नहीं दी। साम्प्रदायिक एकता का सबसे बड़ा प्रमाण यह था कि सभी पक्ष के द्वारा बहादुरशाह जफर को भारत का सम्राट स्वीकार कर लिया गया था। बहादुरशाह के द्वारा देशी नरेशों के नाम पर घोषणा पत्र निकाला गया जिसमें बिखरी हुई शक्तियों को संगठित कर एक संघ राज्य की स्थापना का उल्लेख किया गया था और शासन सत्ता किसी योग्य व्यक्ति के हाथ में सौंप देने की बात स्वीकार कर ली गयी थी।

समाज के प्रमुख अंगों के द्वारा यदि विद्रोह का समर्थन किया गया और अंगरेजों को निकालने के लिए जो संघर्ष प्रारम्भ हुआ, उसमें भले ही राष्ट्रायता की भावना का अभाव हो, किन्तु उसे सशक्त विद्रोह की संज्ञा देने में कोई आपत्ति नहीं की जा सकती है। आज की तुलना में उस समय भारतीय समाज की स्थिति भिन्न प्रकार की थी। समाज के नेतृत्व सामन्तों के हाथ में था। अतः सामान्तों का साथ जनसाधारण ने भी दिया।

डॉ. आर. सी. मजूमदार के अनुसार, 1857 ई. के विद्रोह को राष्ट्रीय विद्रोह का स्वरूप प्रदान करना सर्वथा अनुचित है। इसके पीछे सैनिकों एवं असन्तुष्ट राजाओं का हाथ था। जनसाधारण अंगरेजों के पक्ष में थे। अधिकतर राजाओं, शिक्षित समुदाय अंगरेजों के मददगार थे। अतः 1857 ई. का विद्रोह न तो राष्ट्रीय था और न प्रथम स्वतंत्रता संग्राम था।

डॉ. सेन और डॉ. मजूमदार से भिन्न विचार डॉ. एस. बी. चौधरी ने व्यक्त किया है। डॉ. चौधरी ने 1857 ई. के विद्रोह को दो भागों में बांटा है—सैनिक विप्लव और विद्रोह। सैनिकों के द्वारा जो विप्लव प्रारम्भ हुआ, उसने आगे चलकर विद्रोह का रूप धारण कर लिया। मार्क्सवादी विचारधारा के अनुसार, 1857 ई. का विद्रोह सैनिकों एवं कृषकों का प्रजातांत्रिक गठजोड़ था जो विदेशी तथा सामन्ती दासता से मुक्त होना चाहते थे। विद्रोह की असफलता सामन्तों के विश्वासघात के कारण हुई। परन्तु उस पर आदर्शवाद के नाम की कोई चीज भारतीय राजनीति में नहीं थी।

प्रत्येक इतिहासकार के द्वारा 1857 ई. के विद्रोह के स्वरूप के सम्बन्ध में जो विचार व्यक्त किये गये हैं, उसमें सत्य के अंश को इनकार नहीं किया जा सकता

है। यह मूलतः एक सैनिक विद्रोह था। असन्तुष्ट सामन्तों ने इसका नेतृत्व संभाल लिया था और जनसाधारण के द्वारा भी इस विद्रोह को समर्थन दिया गया था। पुनः यह भी सच है कि भारत के अधिकांश क्षेत्रों में विद्रोह की कोई घटना नहीं घटी थी। बहुतेरे अंगरेजों की जान-माल की रक्षा भी भारतीयों के द्वारा की गयी थी। प्रश्न यह है कि विद्रोह जिन स्थानों में हुआ, वहां विद्रोहियों का लक्ष्य क्या था? क्या विद्रोही साम्राज्यवाद का विनाश चाहते थे? इसमें सन्देह नहीं है कि विद्रोही विदेशी दासता से मुक्ति चाहते थे। अतः डॉ. सेन और डॉ. चौधरी ने इसे प्रथम दृष्टि में स्वतंत्रता संग्राम की संज्ञा दी हैं। विद्रोह सीमित क्षेत्र में हुआ था तथा उसका नेतृत्व सामन्तों से संभाल लिया था। सामन्तों ने निजी स्वार्थ को ध्यान में रखते हुए इसे राष्ट्रीय विद्रोह के रूप में स्वीकार करने में हिचकिचाहट होती है। विद्रोह सैनिकों ने प्रारम्भ किया था तथा आगे चलकर उनमें जिन तत्त्वों का समावेश हुआ उसने राष्ट्रीय तत्त्वों का उसमें समावेश कर दिया।

विद्रोह का परिणाम

भारतीय इतिहास में 1857 ई. के विद्रोह का परिणाम बहुत महत्वपूर्ण माना जाता है। विद्रोह के बाद भारतीय इतिहास में एक नई धारा का प्रादुर्भाव हुआ। कुछ पश्चिम इतिहासकारों ने विद्रोह की महत्ता को जान-बूझकर कम दिखाने की चेष्टा की है। उदाहरण के लिए चिरोल की धारणा है कि सिपाही विद्रोह ने ग्रीष्म कटिबन्ध की आंधी की तरह बर्बादी की, किन्तु उसका वेग क्षणिक था और अपने पीछे कोई महत्वपूर्ण चिह्न नहीं छोड़ा था। चिरोल की धारणा के विपरीत सर ग्रिफीन का विचार है कि भारत में 1857 ई. के विद्रोह से अधिक महत्वपूर्ण घटना कभी नहीं घटी।' विद्रोह का दमन हुआ था, परन्तु इसके परिणाम से शासक एवं शासित दोनों वर्गों को प्रभावित किया। लार्ड क्रोमर का कहना था कि—'मैं चाहता हूं कि अंगरेजों की युवा पीढ़ी भारतीय विद्रोह के इतिहास को पढ़े, ध्यान दे, सीखे और इसका मनन करे। इसमें बहुत से पाठ और चेतावनियां निहित हैं।'

क्रोमर के विचार से यह स्वतः स्पष्ट हो जाता है कि 1857 ई. के विद्रोह कोई साधारण घटना नहीं थी। विद्रोह के समय भले ही राष्ट्रीयता की भावना शून्य रही हो, किन्तु आनेवाले समय में भारतीयों ने इसे राष्ट्रीय युद्ध के रूप में प्रसारित करने की चेप्ट की और युद्ध में भाग लेने वाले जननायकों को राष्ट्रीय योद्धा के रूप में चित्रित करने का प्रयास किया। फलतः राष्ट्रीय आन्दोलन को प्रेरणा देने वाली घटना के रूप में 1857 ई. के विद्रोह का महत्व अधिक महत्वपूर्ण बन गया।

1857 ई. के विद्रोह का परिणाम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ। सर्वप्रथम इससे अंगरेजों को सबक मिला और भारतीय प्रशासन में परिवर्तन लाना अनिवार्य हो गया। 1857 ई. में साम्राज्ञी की घोषणा के द्वारा भारतीय प्रशासन का नियंत्रण

सीधे ब्रिटिश सम्राट के हाथ में सौंप दिया गया। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन का अन्त हो गया। घोषणा के अनुसार भारत पर शासन चलाने के लिए इंगलैण्ड में एक मंत्री की नियुक्ति हुई जिसे भारत सचिव कहा जाता था। भारत सचिव को परामर्श देने के लिए पन्द्रह सदस्यों की एक परिषद् बनायी गयी। परिषद् में आठ सदस्यों का मनोनयन सरकार द्वारा किया जाता और सात सदस्य कोर्ट ऑफ डाइरेक्टर्स द्वारा चुने जाते। परिषद् का नाम इण्डिया काउन्सिल रखा गया।

घोषणा की व्यवस्था से ऐसा लगता है कि पुरानी बोतल में नयी शराब डाली गयी थी। वस्तुतः परिवर्तन के नाम पर किसी नई नीति का सहारा नहीं लिया गया था। ईस्ट इण्डिया कम्पनी पर ब्रिटिश पार्लियामेंट का नियंत्रण 1784 ई. से ही चला आ रहा था और सरकार कम्पनी के डायरेक्टरों के अधिकार पहले ही से घट चुके थे। पुनः 1853 ई. के चार्टर ऐक्ट के द्वारा कम्पनी के डायरेक्टरों के अधिकार को सीमित कर दिया गया और प्रशासन के प्रमुख पदों पर प्रतियोगिता के आधार पर नियुक्ति का प्रावधान रखा गया था। कम्पनी और सरकार के द्वारा भारत पर जो द्वैध शासन चल रहा था उसकी इतिश्री 1858 ई. की घोषणा के द्वारा की गयी। साम्राज्ञी की घोषणा के बाद भारतीय मामलों का उत्तरदायित्व ब्रिटिश सरकार ने अपने हाथों में ले लिया।

कम्पनी के बदले ब्रिटिश ताज के हाथ में शासन चले जाने के फलस्वरूप शासन नीति में परिवर्तन हुआ। शासन का आधार जन कल्याण माना गया और भारत के सर्वांगीण विकास को लक्ष्य माना गया। धार्मिक विचार और विश्वास पर आघात नहीं करने का वचन दिया गया। साम्राज्य की सीमा को बढ़ाना अनावश्यक घोषित किया गया तथा देशी राजाओं को सम्मान और प्रतिष्ठा देने की बात स्वीकार कर ली गयी। परिवर्तन की चर्चा करते हुए कन्निघम ने कहा था कि यह—"परिवर्तन औपचारिक था, वास्तविक नहीं।" सर हेनरी रॉबिन्सन ने भी लिखा था—"कि इस परिवर्तन का एक बड़ा परिणाम नाम का परिवर्तन होगा जिसमें भूत-तात्कालिक भूत को संरक्षण करने में सहायता मिलेगी और हम नवीन आरम्भिक बिन्दु से आरम्भ करके साम्राज्य के एक नवीन दौर पर आग्रसर हो सकेंगे।" प्रशासन यंत्र ज्यों का त्यों बना रहा। भारत के गर्वनर जनरल पूर्ववत सैनिक और असैनिक अधिकारी बना रहा।

भारत में देशी रियासतों की दृष्टि से 1857 ई. के विद्रोह का परिणाम अत्यन्त महत्वपूर्ण माना जाता है। साम्राज्य विस्तार की नीति की परित्याग करने से भारतीय नरेशों को अंगरेजों के द्वारा राज्य हड़पने का भय समाप्त हो गया। गोद लेने का अधिकार भी नरेशों को पुनः प्राप्त हो गया। पूर्व में की गयी सन्धियों को मान्यता देने तथा सामन्तों के अधिकार और सुविधाओं को गारंटी देकर अंगरेजों ने उन्हें

अपना भक्त बना लिया। देशी नरेश और भारतीय सामन्त ब्रिटिश साम्राज्य के संरक्षक बन गए तथा वे साम्राज्यवाद के कृपापात्र के रूप में काम करने लगे।

धार्मिक रीति-रिवाज को स्वतंत्रता प्रदान करने से भारतीयों को ईसाई बना लेने का भय भी समाप्त हो गया। सामाजिक सुधार का कार्यक्रम स्थगित कर दिया गया। सामन्तों और नरेशों को छूट देकर अत्याचार का एक नया सिलसिला भारतीय रियासतों में प्रारम्भ कर दिया गया। प्रतिक्रियावादी तत्त्वों को तरजीह देकर साम्राज्यवादी गढ़ को सुदृढ़ करने में महारानी की घोषणा अधिक महत्त्वपूर्ण मानी जाती है।

भारत में बिना किसी भेदभाव के प्रतियोगिता परीक्षा के आधार पर नियुक्त करने की प्रक्रिया को व्यावहारिक रूप दिया गया। 1861 ई. में भारतीय असैनिक सेवा अधिनियम पारित किया गया जिसके अनुसार भारतीयों के लिए लन्दन में एक प्रतियोगिता परीक्षा का आयोजन प्रति वर्ष किया जाने लगा तथा उसमें सफल उम्मीदवारों को नौकरी देने का आश्वासन दिया गया। यह सुविधा नाम के लिए ही थी। अधिकतर इसका लाभ अंगरेजों को ही मिलता था।

1857 ई. के बाद सैनिक संगठन में परिवर्तन हुआ। विद्रोह में मुख्य भूमिका सैनिकों की थी। सरकार ने सैनिक संगठन के लिए विभाजन और समतोलन की नीति अख्तियार की। 1861 ई. के सैनिक सम्मिश्रण योजना के अनुसार सभी यूरोपीय सेना सरकार को हस्तान्तरित कर दी गयी। यूरोपीय सैनिकों की संख्या बढ़ा दी गयी। पहले भारत में केवल 40,000 यूरोपीय सैनिक थे, किन्तु 1857 ई. के बाद उनकी संख्या 65,000 कर दी गयी। यूरोपीय सैनिकों को प्रशिक्षण देने के लिए विशेष प्रकार की व्यवस्था की गयी और उनको इंगलैण्ड में भी प्रशिक्षण के लिए भेजा जाने लगा। यूरोपीय सैनिकों की तुलना में भारतीय सैनिकों की संख्या घटा दी गयी और भारतीय सैनिकों की तुलना में अब यूरोपीय सैनिकों को प्रत्येक छावनी में अधिक संख्या में रखा जाने लगा। बंगाल में यूरोपीय और भारतीय सैनिकों का अनुपात 1:2 तथा बम्बई और मद्रास में उनका अनुपात 1:3 कर दिया गया। इसके अतिरिक्त, भारतीय तोपखाना समाप्त कर दिया गया। भारतीय सैनिकों को जातीय एवं धार्मिक आधार पर संगठित किया गया ताकि उनमें राष्ट्रीयता या एकता की भावना पनप नहीं सके। तोपखाना और सेना के प्रमुख पद यूरोपियनों के लिए सुरक्षित कर दिये गये।

यातायात एवं संचार के साधनों को उन्नत करने का काम 1857 ई. के बाद प्रारम्भ हुआ। रेल-तार और डाक की सुविधा बढ़ायी गयी। यातायात की सुविधा के सहारे ही विद्रोह का दमन सुविधा के साथ किया जा सकता था।

शासक और शासित के बीच कम्पनी काल में दूरी अधिक बढ़ गयी थी। अतः प्रशासन में स्थानीय व्यक्तियों का सहयोग प्राप्त करना आवश्यक माना गया।

सहयोग से ही एक दूसरे की भावनाओं का आभास मिल सकता था। भ्रम भी मेल-मिलाप से देर किया जा सकता था। अतः शासक एवं शासित के बीच की दूरी को समाप्त करने के उद्देश्य से 1861 ई. में भारतीय परिषद् अधिनियम पारित किया गया था।

1857 ई. का विद्रोह भारतीयों के लिए अभिशाप भी सिद्ध हुआ। अंग्रेजों का विश्वास भारतीयों पर से उठ गया। अंगरेज और भारतीयों के बीच घृणा का भाव उत्पन्न हो गया। भारतीयों को अपमानित करने से वे बाज नहीं आते थे। पारस्परिक सहयोग की भावना समाप्त हो गयी और अंगरेज मालिक बनकर भारतीयों से अलग-अलग रहने लगे। मतभेद की खाई बढ़ती गयी और कटुता का वातावरण तैयार हो गया।

अंगेजों ने 1857 ई. के विद्रोह से कुछ सबक भी सीखा। हिन्दू और मुसलमानों का सहयोग अंगरेजों की आंखों में खटकने लगा। अंगरेजों ने भूल सुधार कर मुसलमानों को विशेष तरजीह देने की नीति अपना ली। साम्प्रदायिकता का विष फैलाने की चेष्टा की गयी। अन्ततः भारत विभाजन के बाद भी साम्प्रदायिकता का जहर पूर्णतया मिट नहीं पाया है।

जातीय कटुता एक दुष्टत विरासत मानी जाती है। जवाहर लाल नेहरू के शब्दों में 'साम्राज्यवाद और एक जाति का दूसरी जाति पर अधिकार बुरा तो है ही और जातिवाद और भी बुरा है। परन्तु साम्राज्यवाद और जातिवाद दोनों मिलकर केवल भय की ओर अग्रसर होते हैं और ये उन सब लोगों को जो इससे सम्बन्धित हैं, पतन की ओर ले जाते हैं।' भारत को अंगरेजों ने श्वेत व्यक्ति के बोझ की संज्ञा दी और भारत को सभ्य बनाने की उन्होंने ठीकेदारी ले ली। परस्पर विवाद बढ़ा और हिंसा एवं दमन का एक नया युग आरम्भ हुआ।

1857 ई. के विद्रोह ने अप्रत्यक्ष रूप से भारतीय इतिहास की भावी घटनाओं को प्रभावित किया। भारत में अंगरेजी साम्राज्य की स्थापना के कारण विभेद की भावना समाप्त हो गयी। पूरे भारत पर अंगरेजों का एकछत्र शासन था। अंगरेज आर्थिक शोषण की नीति में विश्वास रखते थे। आर्थिक शोषण की जो प्रक्रिया प्रारम्भ हुई उससे भारतीय समाज का प्रत्येक अंग प्रभावित हुआ। देश में बेकारी भूखमरी की स्थिति बनी रहती थी। नवीन उत्तरदायित्व स्वीकार करने के बाद ब्रिटिश सरकार का ध्यान भारत की आन्तरिक समस्या की ओर आकृष्ट हुआ और उसे सुधारने का प्रयास प्रारम्भ हुआ। भारत में प्रशासनिक सुधार का सूत्रपात हुआ और प्रशासन में भारतीयों को भाग लेने का अवसर मिला। भारत में सांविधानिक सुधार के माध्यम से प्रजातांत्रिक व्यवस्था का शुभारम्भ हुआ। अंगरेजों ने भारत में अंगरेजी शिक्षा का प्रचार कर अंगरेजी कानून और न्याय-प्रणाली को विकसित किया। रूढ़ियादिता का

युग समाप्त हुआ। अंगरेजी विचारधारा के प्रचार के फलस्वरूप भारत की भावी पीढ़ी ने अन्धविश्वास से प्रकाश के युग में प्रवेश किया। सरकार के प्रति मोह की भावना धीरे-धीरे नष्ट हुई तथा मध्यकालीन मान्यताओं के स्थान पर आधुनिक प्रवृत्तियों का बोलवाला सर्वत्र कायम हो गया। इस प्रकार भारत ने मध्ययुग की सीमा रेखा को पार कर आधुनिक युग में प्रवेश किया। उन्नीसवीं सदी के अन्त तक भारत में प्रगतिशील विचारधारा और प्रतिनिधि सरकार की स्थापना की मांग जोर पकड़ने लगी थी। इस दृष्टि से 1857 ई. की क्रांति को भारतीय स्वतंत्रता का मैग्नाकार्टा कहा जा सकता है।

10

19वीं सदी के सामाजिक एवं धर्मिक सुधार आन्दोलन

अंगरेजों ने आगमन के पूर्व भारतवर्ष का सामाजिक ढाँचा स्थिर और अपरिवर्त्तनशील था। संयुक्त परिवार और जातिव्यवस्था सामाजिक जीवन की आधारशिला थी। गाँव में ही अथवा हाट-बाजार के माध्यम से जीवन की दैनिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति हो जाती थी। समाज में जातीय मर्यादा का वर्चस्व था। ब्राह्मण सामाजिक जीवन में शीर्ष स्थान पर थे। सदियों की पराधीनता के कारण सामाजिक जीवन में अनेक कुरीतियों का बोलचाल हो गया था। सतीप्रथा, बाल-विवाह, कन्या-वध, छुआछूत, सामाजिक विषमता एवं घृणा भारत के सामाजिक जीवन को घुन की तरह खोखला बनाकर धीरे-धीरे विनाश की ओर ले जा रही थी। गतिहीन भारतीय समाज में अंगरेजी साम्राज्य की स्थापना के बाद सामाजिक जीवन में परिवर्तन लाने की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी।

अंगरेजी न्याय-व्यवस्था और विधि-प्रणाली ने भारत के स्थिर सामाजिक जीवन में नयी गति ला दी। सदियों की भूमि-व्यवस्था, संयुक्त-परिवार एवं सामूहिक सामाजिक नियंत्रण की प्रणाली पर आघात पहुँचाकर पुरानी व्यवस्था को तोड़ने की चेष्टा की गयी। अंगरेजी भाषा और साहित्य के प्रचार के फलस्वरूप भारत में एक नये वर्ग का जन्म हुआ जो अंगरेजों की सांस्कृतिक श्रेष्ठता में विश्वास रखता था। शिक्षित भारतीय नौकरी-पेशे को जीवन का आधार मान रहे थे। आर्थिक लाचारी और कृषि की दयनीय अवस्था के कारण उनके सामने नौकरी के अतिरिक्त कोई दूसरा विकल्प ही न था। वकील, डॉक्टर, अध्यापक एवं सरकारी कर्मचारी वर्ग अंगरेजी शिक्षा और प्रशासनिक आवश्यकता की देन थे। यह वर्ग अंगरेज-समर्थक था। भूमि-व्यवस्था में परिवर्त्तन के फलस्वरूप जमींदारों और ताल्लुकेदारों के एक नये वर्ग के जन्म लिया जो स्वयं कृषि न कर किसानों का शोषण करने लगा था। भारत में वस्तुओं के आयात और निर्यात में सुविधा पहुँचाने के लिए अंगरेजों को व्यापारी वर्ग

से सहायता लेनी पड़ी। जमींदारों की तरह व्यापारी वर्ग भी बची हुई पूँजी से भूमि खरीदकर मध्यम वर्ग में आ गया था। वस्तुतः उन्नीसवीं सदी में जो सामाजिक परिवर्त्तन हुआ उससे भारत में नवजागरण का सूत्रपात हुआ।

भारत में सामाजिक परिवर्त्तन की प्रक्रिया इंगलैण्ड की तुलना में भिन्न प्रकार की थी। आर्थिक एवं औद्योगिक विकास के अभाव में पश्चिमी देशों में सामाजिक परिवर्त्तन की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई। आर्थिक विकास और उद्योग-धन्धों की स्थापना उसके आधार बने। परन्तु भारत में शिक्षित मध्यम वर्ग का उदय अंगरेजी भाषा के प्रचार के कारण हुआ। यहाँ प्रबुद्ध वर्ग ने अपनी प्राचीन परम्परा एवं सांस्कृतिक विशेषताओं को सुरक्षित रखने के उद्देश्य से सामाजिक परिवर्त्तन और धर्मसुधार-आन्दोलन प्रारम्भ किया था।

राजनीतिक पराधीनता के बावजूद सामाजिक, धार्मिक और बौद्धिक जीवन के क्षेत्र में एक नयी लहर उत्पन्न हुई। अंगरेज शासकों द्वारा जब उस लहर को रोकर ने की चेष्टा की गयी तो भारतीयों में असन्तोष का अंकुर जन्म लेने लगा और अंगरेजों की चुनौती स्वीकार करने के लिए अनेक महापुरुषों ने भारतीय जनजीवन को उद्वेलित करने की चेष्टा की जिनमें राजा राममोहन राय, केशवचन्द्र सेन, दयानन्द सरस्वती, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द आदि हैं। इन महापुरुषों के प्रयास से भारत के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में एक आन्दोलन का सूत्रपात हुआ तथा सम्पूर्ण भारत में एक ऐसी जागृति आ गई जिसे कुछ विद्वानों ने भारतीय पुनर्जागरण के नाम से पुकारा है।

सामाजिक परिवर्त्तन एवं धर्मसुधार-आन्दोलन के कारण

आन्दोलन अकारण नहीं होते। सदियों से सुप्त व्यवस्था में जब नवचेतना आती है तो वह अंगड़ाई लेकर उठ खड़ी होती है। भारतीय नवजागरण की विवेचना के सिलसिले में निम्नलिखित कारणों का उल्लेख किया जा सकता है :

1. नया मध्यम वर्ग : मध्यम वर्ग समाज की रीढ़ होता है। उन्नीसवीं सदी में भारत का नया मध्यम वर्ग मुख्यतः उच्चकुलीन लोगों का समूह था। इसमें अन्य जाति के शिक्षित लोग भी सम्मिलित थे। व्यवसाय एवं नौकरी का पेशा करनेवाला यह वर्ग समाजिक विभेद को समाप्त करना चाहता था। पुराने जातीय बन्धन अथवा परम्परागत प्रतिबन्धों को तोड़कर यह अंगरेजों की तरह सामाजिक समता लाने के लिए प्रयास करने लगा। सुधार की अभिलाषा ने आन्दोलन करने के लिए प्रेरणा दी। उन्नीसवीं सदी में समाजसुधार-आन्दोलन मुख्यतः स्त्रियों की सामाजिक समस्याओं से सम्बन्धित प्रश्न हल करने के लिए आरम्भ किया गया था। स्त्रियों को शिक्षित करना, पर्दा-प्रथा समाप्त करना, बालविवाह पर प्रतिबन्ध, विधवा-विवाह आदि

सुधार-आन्दोलन के मुख्य अंग थे।

2. सामाजिक गतिशीलता : अंगरेजों के द्वारा अपनायी गयी नीति के फलस्वरूप भारतीय समाज में गतिशीलता आयी। सदियों से चली आ रही अर्थ-व्यवस्था को अंगरेजों ने नष्ट कर डाला। कृषकों, शिल्पियों और कारीगरों का जीवन-निर्वाह परम्परागत धन्धे से होना कठिन हो गया। भारतीय नरेशों और समान्तों के यहाँ उन्हें काम करने का अवसर नहीं मिलता था। अंगरेज कम्पनी की सेवा पर उन्हें निर्भर रहने के लिए विवश होना पड़ा। गाँव को छोड़कर नगरों की तरफ उनका झुकाव बढ़ा। नगर का जीवन मुक्त था। गाँवों का-सा प्रतिबन्ध नगरों में न था। अतः नगरों में सुविधा के साथ समाजसुधार-आन्दोलन चलने लगे। यही कारण है कि उन्नीसवीं सदी के सुधार-आन्दोलन नगर तक ही सीमित रहे।

3. पश्चिमी शिक्षा का प्रभाव : अंगरेजी साम्राज्य की स्थापना के बाद भारतीयों का सम्पर्क पश्चिमी शिक्षा और संस्कृति से हुआ। पश्चिमी देशों की सभ्यता और साहित्य का ज्ञान प्राप्त कर शिक्षित भारतीय उनका अध्ययन तुलनात्मक दृष्टि से करने लगे। यूरोप में राष्ट्रीयता की भावना जागरित हो चुकी थी। सामाजिक कुंठाओं से पश्चिम के राष्ट्र मुक्त हो चुके थे। पश्चिमी शिक्षा से प्रभावित भारतीयों ने समाज-सुधार की आवाज पहले उठायी। परन्तु सुधार का आधार उन्होंने भारत की प्राचीन और गौरवमय परम्परा के संन्दर्भ में प्रस्तुत किया। यही कारण है कि सुधारकों ने प्राचीन भारत की महत्ता का स्मरण दिलाने की चेष्टा की थी।

4. एशियाटिक सोसाइटी के कार्य : बंगाल में एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना उठारहवीं सदी के अन्त में की गयी थी। यह संस्था पाश्चात्य विद्वानों को भारतीय साहित्य और संस्कृति की महत्ता समझाने में सहयोग देती थी। एक फ्रांसीसी विद्वान् ने यह प्रमाणित किया कि संस्कृत यूनानी और लैटिन भाषा की सगोत्री है। संस्कृत व्याकरण, ज्योतिष और गणित का अध्ययन कोलब्रूक ने किया विल्किन्सन ने भारतीय अभिलेखों का तुलनात्मक अध्ययन एवं प्रकाशन किया। यूरोपीय विद्वान भारतीय संस्कृति की महत्ता से जब परिचित हुए तो स्वाभाविक रूप से शिक्षित भारतीय की अभिरुचि प्राचीन संस्कृत साहित्य के अध्ययन की तरफ बढ़ी और वे अपनी प्राचीन गरिमा को याद कर नये समाज एवं धर्म-सुधार की ओर अग्रसर हुए। वस्तुतः एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना से भारतीयों की आँखें खुलीं और वे सुधार की ओर उन्मुख हुए।

5. ईसाई पादरियों का धर्म-प्रचार : अंगरेजों के साथ-साथ ईसाई पादरियों का आगमन भी भारतवर्ष में हुआ। ईसाई पादरी धर्म-प्रचार के सिलसिले में भारतीय सामाजिक ढाँचे की आलोचना करते थे। चार्ल्स ग्रांट, विलियम विल्बरफोर्स, केरी एलेक्जेंडर डफ, एवं दुबोए आदि ने भारतीय सामाजिक ढाँचे तथा हिन्दुओं की तीव्र

आलोचना की। ईसाई पादरियों द्वारा यहाँ के धर्म को झूठा, आडम्बरपूर्ण तथा पाखण्डी बतलाया गया और अपने धर्म की सरलता की तुलनात्मक दृष्टि प्रदर्शित कर वे भारतीयों को ईसाई बनाने लगे। समाज का उपेक्षित वर्ग ईसाई धर्म के प्रति अधिक आकृष्ट हुआ। ईसाई पादरियों की तरह भारत के अंगरेज प्रशासकों के मन में भी भारतीय समाज और संस्कृति के प्रति घोर घृणा का भाव था। ईसाई पादरियों के कार्यव्यापार और अंगरेजी सरकार की नीति ने कट्टर हिन्दुओं की आँखें खोल दीं। उन्होंने देखा कि ईसाई पादरी भारत के धार्मिक संगठन की कमजोरियों का अनुचित लाभ उठा रहे हैं। अतः हिन्दुओं को अपने धर्म में सुधार लाने की आवश्यकता अनुभव हुई। इस सुधार की अनिवार्यता शिक्षित वर्ग ने पहले अनुभव की और धीरे-धीरे यह बात लोगों के मन में बस गयी। इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप से ईसाई पादरियों की आलोचना ने भारतीयो में नवचेतना का संचार किया और वे अपने को सुधारने में संलग्न हो गये।

6. सुधारकों का प्रादुर्भाव : उन्नीसवीं सदी में भारतीय समाज की रूढ़िवादिता को समाप्त करने के लिए भारत में अनेक सुधारकों का प्रादुर्भाव हुआ। राजा राममोहन राय, केशवचन्द्र सेन, देवेन्द्रनाथ ठाकुर, महर्षि दयानन्द, स्वामी रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द आदि सुधारकों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन लोगों के द्वारा भारत की प्राचीन महत्ता का सन्देश जन-जन तक पहुँच सका। सुधारकों ने महत्ता के प्रचार के साथ-साथ बुराइयों को भी दूर करने की चेष्टा की। सुधारकों के प्रयास से यदि एक ओर अपनी संस्कृति का गौरवमय पक्ष उजागर किया गया तो दूसरी ओर बुराइयों से मुक्त रहने की भी प्रेरणा मिली।

7. विचारों के आदान-प्रदान की सुविधा : समाचारपत्रों के प्रकाशन और यातायात की सुवधिा के फलस्वरूप विचारों के आदान-प्रदान में सुविधा मिली। मध्यकाल में भी समाज एवं धर्म के सुधार का प्रयास भारतवर्ष में हुआ था। परन्तु यातायात एवं प्रचार की असुविधा के कारण उसका प्रभाव व्यापक नहीं हो सका। रेल, तार, डाक की व्यवस्था तथा समाचारपत्रों के प्रकाशन से कोई व्यक्ति अपने निबन्ध द्वारा अथवा सुविधा के साथ एक स्थान से दूसरे स्थान में पहुँचकर विचार का आदान-प्रदान कर सकता है। पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से व्यापक प्रचार का काम सरल हो गया।

8. अंगरेज सरकार का दृष्टिकोण : समाज-सुधारकों को अंगरेज सरकार का समर्थन प्राप्त था। अंगरेज भारतीय समाज के पुराने आधार को नष्ट करने के लिए सुधारकों को प्रोत्साहन देते थे। प्रारम्भ में अधिकतर सुधारक अंगरेजी विचारधारा से प्रभावित थे। परन्तु सुधारकों को प्रोत्साहन देकर अंगरेज समाज में अव्यवस्था और मतभेद पैदा करने में अधिक रुचि रखते थे। 19वीं सदी में सरकार द्वारा अनेक नियम

पारित किये गये। वे सुधारकों की इच्छा के प्रतिकूल थे। अंगरेज अपनी जातीय श्रेष्ठता को प्रदर्शित करना चाहते थे। अतः सरकार के दृष्टिकोण की वास्तविक जानकारी के वाद सुधारक खुलकर उसकी आलोचना करने लगे और वे अपनी संस्कृति की महत्ता पर बल देने लगे।

9. नवजागरण का प्रभाव : नवजागरण ने भारतीय संस्कृति के स्वरूप को सशक्त रूप दिया। पश्चिमी संसार की उदारवादी विचारधारा से प्रभावित होकर भारतीय धर्म में अन्धविश्वास, सामाजिक रूढ़ियों और जातीय विषमताओं को दूर करने की प्रेरणा मिली। भारतवर्ष में अनेक संस्थाओं की स्थापना की गयी। उदाहरण के लिए ब्रह्मसमाज, प्रार्थनासमाज, रामकृष्ण मिशन, आर्यसमाज, थियोसोफिकल सोसाइटी आदि के द्वारा धर्म-सुधार का काम प्रारम्भ किया गया। ये संस्थाएँ सामाजिक बुराइयों को दूर करने में सक्रिय सहयोग देने लगीं और भारतीयों को शिक्षित करने के लिए अनेक विद्यालयों एवं महाविद्यालयों की इन्होंने स्थापना की। मानवसेवा का कार्य भी इन संस्थाओं के माध्यम से होता था।

बंगाल में नवचेतना का प्रारम्भ

अंगरेजी साम्राज्य की स्थापना सर्वप्रथम बंगाल में हुई थी। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के कार्यव्यापार का केन्द्र कलकत्ता था। स्वाभाविक रूप से बंगाल के निवासी अंगरेजों के पहले सम्पर्क में आये। अधिकाधिक संख्या में उन्होंने अंगरेजी भाषा, ज्ञान-विज्ञान और दर्शन का ज्ञान अर्जित किया। शिक्षित बंगालियों द्वारा प्राचीन भारतीय परम्परा और पद्धति की सर्वप्रथम आलोचना आरम्भ की गयी। बंगालियों ने 'यंग बंगाल' नामक एक संस्था की स्थापना की। इस संस्था का मुख्य कार्य प्राचीन परम्परा और पद्धति का विरोध करना था। 'यंग बंगाल' के सदस्यों को उत्तेजित करने में कलकत्ता के हिन्दू कॉलेज के अध्यापक हेनरी देरोजियो का बहुत बड़ा योगदान था। पुरानी परम्परा के सम्बन्ध में तार्किक ढंग से प्रश्न करना और उसे शंका की निगाह से देखना 'यंग बंगाल' के सदस्यों की विशेषता थी। वे अपने धर्म की अपेक्षा ईसाई धर्म की श्रेष्ठता को अधिक पसन्द करते थे। पुराने सामाजिक बन्धनों को तोड़कर वे शराब पीने में गौरव अनुभव करते थे। 'यंग बंगाल' के सदस्यों में संख्या और संगठन का अभाव था। बहुसंख्यक रूढ़िवादियों के बीच इनका विरोध सामाजिक परिवर्त्तन की दृष्टि से नकारात्मक महत्व रखता था। परन्तु तार्किक जिज्ञासा की जो प्रक्रिया 'यंग बंगाल' द्वारा प्रारम्भ की गयी उसके सबसे बड़े पृष्ठपोषण राजा राममोहन राय थे। राजा राममोहन राय ने ईसाई पादरियों की कटु आलोचना का जवाब देने के लिए विभिन्न धर्मों का अध्ययन किया और हिन्दू, इस्लाम तथा ईसाई धर्म के बीच एकरूपता लाने का प्रयास किया।

राजा राममोहन राय और ब्रह्मसमाज आन्दोलन

भारत में पुनर्जागरण आन्दोलन के जनक राजा राममोहन राय थे। राजा राममोहन राय का जन्म 1772 ई. को बंगाल में एक सम्पन्न ब्राह्मण परिवार में हुआ था। राममोहन राय ने बनारस से संस्कृत तथा पटना से उर्दू और फारसी की शिक्षा प्राप्त की थी। युवावस्था में पिता से धार्मिक परम्परा पर विरोध होने के कारण राममोहन राय बनारस चले आये और वहाँ उन्होंने अंगरेजी भाषा का अध्ययन प्रारम्भ किया। कुछ ही दिनों में वे अरबी, फारसी, बंगाल, उर्दू, संस्कृत और अंगरेजी भाषा के अच्छे ज्ञाता हो गये । बौद्ध एवं जैन ग्रन्थों का अध्ययन करने के पश्चात् उनका झुकाव पाश्चात्य संस्कृति की तरफ हुआ और वे तार्किक ढंग से उनका विश्लेषण करने लगे। 1803 ई. में राममोहन राय के पिता की मृत्यु हुई और उन्होंने अपना प्रथम ग्रन्थ 'तुहफतुल-मुवहहिदीन' प्रकाशित किया इस ग्रन्थ में उन्होंने मूर्तिपूजा का खण्डन और एकेश्वरवाद के सिद्धान्त की व्याख्या प्रस्तुत की थी। 1804 ई. से 1814 ई. तक राममोहन राय ईस्ट इण्डिया कम्पनी में कर्मचारी थे। सरकारी कर्मचारी के रूप में उन्हें दिगवी के साथ काम करने का अवसर मिला और वे ईसाई धर्म की विशेषताओं से प्रभावित हुए। 'स्थायी प्रबन्ध' के वाद जमींदारी-व्यवस्था को संगठित करन के सिलसिले में राजा राममोहन राय ने इतना अधिक धनसंग्रह कर लिया था कि उससे उन्होंने एक जमींदारी खरीद ली जिसकी वार्षिक आय 10,000 रुपये थी। 1814 ई. में दिगवी के इंगलैण्ड लौट जाने पर राममोहन राय स्थायी रूप से कलकत्ता में रहने लगे।

कलकता में 'यंग बंगाल' के सदस्यों से राममोहन राय की घनिष्ठता बढ़ी। राममोहन राय हिन्दू धर्म के दूषित रूप एवं सामाजिक रूढ़िवादिता से अच्छी तरह परिचित थे। उन्होंने भारत के सामाजिक जीवन-स्तर को उन्नत बनाने के उद्देश्य से पश्चिमी सभ्यता के सद्गुणों को स्वीकार किया और हिन्दू धर्म की विकृतियों को दूर करने का बीड़ा उठाया। अपने विचारों से उन्होंने कुछ मित्रों को प्रभावित किया और 1815 ई. में 'आत्मीय सभा' की स्थापना की। आत्मीय सभा में उदारवादी मध्यम वर्ग और अभिजातवर्ग के सदस्य सम्मिलित थे। इस सभा की साप्ताहिक बैठक होती थी तथा एकेश्वरवाद और धार्मिक सिद्धान्तों की व्याख्या की जाती थी। 1816 ई. में एक वेदांत कॉलेज की स्थापना की गयी। वेदांत और उपनिषदों का अनुवाद किया गया। राममोहन राय ने अद्वैतवाद की शिक्षा पर बल दिया था। 1817-1820 ई. के बीच रूढ़िवादी हिन्दुओं के साथ उनका बाद-विवाद चलता रहा। 1819 ई. में उन्होंने मद्रास के प्रसिद्ध मूर्तिपूजक सुब्रह्मण्यम् शास्त्री को तार्किक ढंग से शास्त्रार्थ में पराजित कर ख्याति अर्जित की। मूर्ति-पूजा और पंडाशाही के विरुद्ध आवाज उठाकर उन्होंने हिन्दुओं के नैतिक जीवन को उन्नत बनाने का प्रयास किया।

राममोहन राय की विरोधी प्रवृत्तियों से उत्साहित होकर ईसाई मिशनरियों ने उन्हें समर्थन देना प्रारम्भ किया। परन्तु ईसाइयों का समर्थन उन्हें अधिक दिनों तक नहीं मिल सका। 1820 ई. में जीसस क्राइस्ट पर उनकी एक पुस्तक प्रकाशित हुई। इस ग्रन्थ में उन्होंने मानवता को सर्वोपरि धर्म माना और कहा कि ईश्वर में विश्वास रखनेवाले सभी व्यक्तियों के बीच भाईचारे का सम्बन्ध रहना चाहिए। सन् 1821 ई. में उन्होंने बैप्टिस्ट मिशनरी विलियम एडम को अद्वैतवाद का समर्थक बना लिया। इसी वर्ष कलकत्ता में यूनिटेरियन कमिटी की स्थापना की गयी। राममोहन राय के व्यवहार से ईसाई पादरियों की अप्रसन्नता वढ़ी और उन्होंने उनके 'ब्रह्मनिकल मैगजीन' का प्रकाशन नहीं होने दिया।

ब्रह्मसमाज की स्थापना : ईसाइयों से तीव्र मतभेद के कारण ही राममोहन राय ने 20 अगस्त, 1828 ई. को ब्रह्मसभा की स्थापना की जो आगे चलकर ब्रह्मसमाज की वैठक के लिए स्वतंत्र मकान किराये पर लिया गया। ब्रह्मसमाज में एक ईश्वर की उपासना पर बल दिया जाता था और बताया जाता था कि ईश्वर विश्वव्यापी है। इसकी बैठक प्रत्येक शनिवार को संध्या समय आयोजित की जाती थी। साधारणः 50-60 सदस्य प्रार्थना में सम्मिलित होते थे। ब्रह्मसमाज की स्थापना का विरोध ईसाइयों ने किया और पिता-पुत्र के बीच मुकदमा दायर करवा दिया। इस मुकदमे में राजा राममोहन राय की क्षमता और समय की वर्बादी अधिक हुई।

1830 ई. में ब्रह्मसमाज के लिए एक स्वतंत्र भवन खरीद लिया गया और वहाँ निराकार ब्रह्म की उपासना की जाने लगी। ईश्वर का न कोई रूप है और न कोई नाम। मूर्त्तिपूजा का वहाँ कोई प्रावधान नहीं था। पशु-वलि भी वर्जित थी। वेद और उपनिषदों के मंत्रों का अनुवाद बंगाल भषा में किया गया। पूजा के लिए पुरोहित और पूजा-विधि की कोई आवश्यकता नहीं थी। अगे चलकर ब्रह्मसमाज के लिए निश्चित विधान और नियम बनाये गये। दो वर्ष बाद राजा राममोहन राय इंगलैण्ड गये और वहीं 1833 ई. में उनकी मृत्यु हो गयी।

ब्रह्मसमाज के मुख्य सिद्धान्त : ब्रह्मसमाज आन्दोलन का मुख्य उद्देश्य भारतीय समाज एवं धर्म की कुरीतियों को दूर करना था। इसमें हिन्दू, मुसलमान और ईसाई धर्म के अच्छे तत्त्वों को सम्मिलित किया गया था। इसके मुख्य सिद्धान्त क्रमशः इस प्रकार थे–

1. ईश्वर एक है। वह विश्व का स्रष्टा, पालक एवं रक्षक है। उसकी शक्ति, प्रेम, न्याय एवं पवित्रता अपरिमित है।

2. जीवात्मा अमर है। उसमें असीम उन्नति करने की क्षमता है और वह अपने कर्मों के लिए भगवान के प्रति उत्तरदायी है।

3. आध्यात्मिक उन्नति के लिए प्रार्थना, भगवान का आश्रय एवं उसके

अस्तित्व की अनुभूति आवश्यक है।

4. किसी भी बनाई हुई वस्तु को ईश्वर समझकर पूजा नहीं करनी चाहिए और न किसी पुस्तक या पुरुष को निर्वाह अथवा मोक्ष का एकमात्र साधन मानना चाहिए।

वस्तुतः ब्रह्मसमाज आन्दोलन के द्वारा किसी नये धर्म की स्थापना का प्रयास, नहीं किया गया था। राममोहन राय ने यह कभी दावा नहीं किया कि उनका धर्म हिन्दू धर्म से अलग है। ब्रह्मसमाज में वर्णित सभी बातें उपनिषद् से मेल खाती हैं। राममोहन राय ने प्रचलित हिन्दू धर्म की धार्मिक एवं सामाजिक प्रथाओं का उल्लंघन किया था। वे जीवन के अन्तिम क्षण तक अपने को हिन्दू मानते रहे। प्रेम, दया, भक्ति और साधुता का प्रचार किया। मूर्त्तिपूजा, बलिप्रथा, भोग या आडम्बर का खुलकर विरोध किया। ब्रह्मसभा की स्थापना कर राजा राममोहन राय ने सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक जीवन में नया मोड़ लाने की चेष्टा की थी।

राममोहन राय और सामाजिक सुधर

राजा राममोहन राय समाजसुधारक थे। भारतीय समाज में अनेक तरह की कुरीतियों का बोलबाला था। बाल-विवाह, सती-प्रथा, कन्या-हत्या, कन्या या वर के विक्रय आदि को धार्मिक रंग देकर सामाजिक जीवन को गतिहीन बना दिया गया था। राममोहन राय ने सामाजिक दोषों और कुरीतियों को समाप्त करने के लिए एक प्रवल आन्दोलन खड़ा किया जिसका असर तात्कालिक सामाजिक जीवन पर पड़ा। भारत में सती-प्रथा सामाजिक जीवन का एक बहुत बड़ा अभिशाप थी। पति की मृत्यु के वाद स्वेच्छा से प्राणत्याग की प्रथा अत्यन्त प्राचीन थी। धीरे-धीरे यह प्रथा आम जीवन का एक अंग बन गयी और वलपूर्वक विधवाओं को नशीली वस्तुएँ पिलाकर चिता में भस्म कर दिया जाता था। 1815-17 ई. में केवल बंगाल में 864 स्त्रियाँ सती हुई थीं। सती-प्रथा का रूप बर्बर एवं अमानुषिक हो गया था। इस प्रथा के विरोध में पहले भी आवाज उठायी गयी थी। लेकिन राजा राममोहन राय ने लॉर्ड विलियम बेन्टिक को प्रभावित कर सती-प्रथा को अवैध घोषित करवाया। 1829 ई. में सती-प्रथा के विरुद्ध कानून पारित हुआ।

बहुविवाह और वेश्यावृत्ति को राममोहन राय समाप्त करना चाहते थे। छुआछूत को दूर कर समाज में समता लाने का प्रयास राममोहन राय ने प्रारम्भ किया था। जातीय भेदभाव के विरुद्ध उन्होंने प्रचार किया था। ब्रह्मसमाज के सदस्य जातीयता को प्रश्रय नहीं देते थे। राममोहन राय ने विधवा-विवाह का समर्थन किया था। वे अंतरजातीय विवाह के पृष्ठपोपक थे। कुछ लोगों की यह धारणा है कि राजा राममोहन राय का योगदान सामाजिक सुधार के क्षेत्र में उतना महत्वपूर्ण नहीं था जितना कि उसका प्रचार किया गया है। सती-प्रथा का विरोध राममोहन के पहले ही प्रारम्भ हो चुका था। राममोहन राय ने सती-प्रथा को गैरकानूनी घोषित कराने में केवल अपना

समर्थन दिया था। विधवा-विवाह, मदिरापान और मांस खाना शास्त्र के अनुसार स्वीकृत था। राममोहन राय ब्राह्मणिक और तांत्रिक विवाह-पद्धति को समान रूप से महत्त्व देते थे। वस्तुतः राजा राममोहन राय ने रूढ़िग्रस्त समाज की बुराइयों को दूर करने का प्रयास कि और बंगाल के सामाजिक जीवन में एक नयी चेतना का विकास किया था।

धार्मिक सुधार : राममोहन राय ने धार्मिक क्षेत्र में भी सुधार लाने का प्रयास किया था। वे मूर्त्तिपूजा का विरोध करते थे और एक ईश्वर की पूजा में विश्वास रखते थे। मूर्त्तिपूजा, अनेकेश्वरवाद एवं जातीय कट्टरता का उन्होंने विरोध किया था। अंतरजातीय विवाह को प्रोत्साहन दिया था। विधवा-विवाह को सामाजिक मान्यता देने के लिए संघर्ष किया था। ब्रह्मसमाजी आत्मा की अमरता में विश्वास रखते थे। पापकर्मों से बचाने का सन्देश देते थे। मानवता की सेवा को सच्चा धर्म और भक्ति मानते थे। संसार के सभी धर्मों में कोई मौलिक भेद नहीं है। राममोहन राय के विचार में—"सभी लोग किसी भेदभाव के बिना, शाश्वत सत्ता की उपासना के लिए इस समाज-भवन का प्रयोग कर सकते हैं.......इसमें किसी प्रकार की मूर्त्ति की स्थापना नहीं होगी.....न इसमें कोई बलिदान होगा.......न किसी धर्म की निंदा की जाएगी।" ये वाक्य ब्रह्मसमाज की 'ट्रस्ट डीड' में अंकित हैं। वस्तुतः राममोहन राय का धार्मिक विश्वास सहयोग की भावभूमि पर आधारित था।

ब्रह्मसमाज हिन्दू धर्म पर आधारित था, परन्तु उस पर विदेशी प्रभाव पर्याप्त मात्रा में था। राममोहन राय पश्चिमी सभ्यता का आकर्षक रूप उनके सामने था। अतएव यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि राजा राममोहन राय हिन्दू धर्म तथा हिन्दू समाज का सुधार कर अपने अनुयायियों को पश्चिमी सभ्यता और भारतीय सभ्यता से मिली-जुली सभ्यता को अपनाने के लिए कहते थे। धार्मिक दृष्टि से राजा साहब का विशेष बल सार्वभौम उपासना पर था—यह उनकी एक विशेषता थी।

शिक्षा एवं साहित्य में सुधार : उन्नीसवीं सदी में नवजागरण और अंगरेजी शिक्षा के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध था। बंगाल में अंगरेजी शिक्षा के प्रचार-प्रसार में हिन्दू कॉलेज का बहुत बड़ा योगदान था। उन्होंने वेदांत कॉलेज की स्थापना की जिसमें भारतीय विद्या के अलावा सामाजिक तथा भौतिक विज्ञानों की भी पढ़ाई होती थी। वे कलकत्ता में एक इंगलिश स्कूल को अपने खर्च से चलाते रहे। राजा राममोहन राय अंगरेजी शिक्षा के प्रचार पर बल दिया था। 1833 ई. में उन्होंने लॉर्ड एमहर्स्ट को स्मरणपत्र देकर अंगरेजी शिक्षा के प्रचार पर बल दिया था। 1830 ई. में एलेक्जेंडर डफ को एक विद्यालय के लिए भवन दिलवाने में राममोहन राय ने सहायता दी थी।

राजा राममोहन राय के विचार हिन्दुओं प्राचीन धर्म-ग्रन्थों और उपनिषदों पर

आधारित थे। अपने विचार का प्रसार करने के लिए उन्होंने समाचारपत्र और बंगाल पुस्तिकाएँ प्रकाशित की थी। बंगाल में गद्य साहित्य का विकास करने के उदेश्य से उन्होंने से उन्होंने वेदांत और उपनिषदों का अनुवाद बंगाल भाषा में करवाया था। 1821 ई. में 'संवाद-कौमुदी' नामक एक साप्ताहिक पत्रिका का प्रकाशन किया था। संयोग से यह पत्रिका एक वर्ष बाद वन्द हो गयी। समाचार-दर्पण, दिग्दर्शन और बंगाल गजेट नामक पत्रिकाओं के प्रकाशन में राजा राममोहन राय का कोई योगदान नहीं था। परन्तु संस्कृत, अरवी फारसी और अंगरेजी भाषा की कई पुस्तकों का बंगाल में अनुवाद कर साहित्य को समृद्ध बनाने में राजा राममोहन राय की देन प्रशंसनीय थी। उन्होंने स्वयं एक बंगला व्याकरण का संकलन किया था। शिक्षा एवं साहित्य के माध्यम से वे स्वतंत्रता का समर्थन करने लगे थे। "स्वतंत्रता की लगान उनकी अन्तरात्मा की सबसे जोरदार लगन थी और यह प्रबल भवना उनके धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक– सभी कार्यों से फूट-फूट कर निकल पड़ती थी।"

राजनीतिक चिंतन : राममोहन राय स्वतंत्रता-प्रेमी थे। स्वतंत्रता की व्याख्या वे दार्शनिक धरातल पर करते थे। अंगरेजी राय की स्थापना को वे भारत के लिए वरदान मानते थे और अंगरेजों भारतीयों के वीच अधिकधिक सम्पर्क को लाभदायक मानते थे। परन्तु अंगरेजों के प्रति श्रद्धा रखते हुए भी उन्होंने उनकी अनुचित नीति की आलोचना करने में कभी संकोच अनुभव नहीं किया। 1823 ई. के प्रेस-अध्यादेश और 1827 ई. के प्रेस-अध्यादेश और 1827 ई. के जूरी ऐक्ट की उन्होंने कटु आलोचना की थी।

राममोहन राय ने कुछ महत्त्वपूर्ण राजनीतिक प्रश्नों को लेकर आन्दोलन चलाया था। नौकरियों में भारतीयों को सर्वाधिक स्थान दिलाने, जमींदारों के शोषण को खत्म करने, आन्दोलन करने के वैधानिक अधिकारों, किसानों की दशा में सुधार, न्याय-विभाग की स्वतंत्रता, जूरियों द्वारा मुकदमों की जाँच, लिखने और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता आदि प्रश्न उठाने का उन्होंने प्रयास किया था। अन्तरराष्ट्रीय प्रश्नों में भी उनकी दिलचस्पी थी। नेपोलियन के अत्याचार का उन्होंने विरोध किया था। इंगलैण्ड में संसदीय सुधार आन्दोलन के प्रति सहानुभति प्रकट की थी। भारतीय जनमानस में अधिकार और दायित्व की भावना जागरित कर उन्होंने राजनीतिक चिंतन की दिशा में एक मोड़ ला दिया था।

राममोहन राय की देन विभिन्न क्षेत्रों में थी। समाज, शिक्षा, साहित्य, धर्म और पत्रकारिता के क्षेत्र में उनकी देन विशेष रूप से उल्लेखनीय थी। राममोहन राय ने विभिन्न क्षेत्रों में अनुभूत किये जा रहे परिवर्त्तनों को एक साथ रखकर एक नयी चेतना का सूत्रपात किया था। वे जीवन के विविध क्षेत्रों में नयी प्रवृत्तियों का समर्थन करते थे। उनके विचारों ने भारत के सर्वांगीण जीवन को प्रभावित किया था। इस

अर्थ में उन्हें 'आधुनिक भारत का मसीहा-हम कह सकते हैं।

ब्रह्मसमाज का विकास : राममोहन राय 1830 ई. में इंगलैण्ड चले गये। उनके स्थान पर ब्रह्मसमाज की देखभाल का दायित्व रामचन्द्र विद्यावागीश ने संभाला। 1833 ई. में राजा रामोहन राय की मृत्यु के बाद ब्रह्मसमाज के विकास में कुछ बाधाएँ उत्पन्न हुई। इसके सदस्यों की संख्या घट गयी। परन्तु 1843 ई. में देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने अपने साथियों के साथ ब्रह्मसमाज की सदस्यता स्वीकार कर ली। ब्रह्मसमाज में सम्मिलित होने के पूर्व देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने 'तत्त्व-बोधिनी सभा' की स्थापना की थी और उनका झुकाव धार्मिक और अध्यात्मिक कार्यों की तरफ अधिक था। कट्टर हिन्दुओं के नेता राधाकान्त देव ने धर्मसभा की स्थापना कर ब्रह्मसमाज के विकास के मार्ग में बाधा उत्पन्न करने की चेष्टा की थी। परन्तु देवेन्द्रनाथ ठाकुर और ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के प्रयास से ब्रह्मसमाज को नवजीवन प्राप्त हुआ और आपसी मतभेद दूर हो गया। ब्रह्मसमाज के अध्यापकों और प्रचारकों के लिए 1840 ई. में एक विद्यालय की स्थापना तत्त्व बोधिनी सभा की देखरेख में की गयी जिसमें विज्ञान और धर्मशास्त्र की शिक्षा दी जाती थी। देवेन्द्रनाथ ठाकुर के द्वारा 'तत्त्वबोधिनी पत्रिका' का प्रकाशन शुरू किया गया। इस पत्रिका के माध्यम से वें ईसाइयों के प्रभाव से भारतीय संस्कृति की रक्षा करना चाहते थे। देवेन्द्रनाथ ठाकुर को . ासमाज को भारतीय परम्परा के आधार पर संगठित करने का श्रेय दिया जाता है। इस कार्य में उन्हें अक्षयकुमार दत्त का सहायोग प्राप्त था। समाजसुधार, विधवा-विवाह, स्त्री-शिक्षा के प्रचार एवं भाषा के विकास आदि के कामों में ब्रह्मसमाज को आशातीत सफलता मिली। 1856 ई. में देवेन्द्रनाथ ठाकुर अध्ययन एवं मनन के लिए पहाड़ों पर चले गये।

देवेन्द्रनाथ ठाकुर के बाद ब्रह्मसमाज को युवक केशवचन्द्र सेन का सहयोग वरदान के रूप में मिला। केशवचन्द्र सेन समाजसेवा और धर्मसुधार में विशेष अभिरुचि रखते थे। जाति-प्रथा के विरुद्ध केशवचन्द्र सेन ने अपनी आवाज बुलन्द की और अन्तरजातीय विवाह और विधवा-विवाह को व्यापक रूप देने का प्रयास किया। केशवचन्द्र सेन जनेऊ-परित्याग की राय देते थे। भारतवर्ष के अनेक क्षेत्रों की यात्रा कर उन्होंने लोक-कल्याण और सार्वजनिक हित के कार्यों का प्रचार प्रारम्भ किया। गरीबों को शिक्षा देने के लिए उन्होंने रात्रि विद्यालय की स्थापना की। केशवचन्द्र सेन कुशल वक्ता थे। 1859 ई. में ब्रह्मविद्यालय और 1860 ई. में संगत सभा की स्थापना की गयी। 1861 ई. में 'इण्डियन मिरर' नामक पत्रिका का प्रकाशन आरम्भ किया गया। केशवचन्द्र सेन ने धार्मिक तत्त्वों अथवा सिद्धान्तों के बदले समाजसुधार को प्राथमिकता दी। फलतः ब्रह्मसमाज दो दलों में विभाजित हो गया।

देवेन्द्रनाथ ठाकुर के अनुयायी वेदों और उपनिषदों को आत्यावश्यक मानते थे।

परन्तु केशवचन्द्र अध्यात्म के बदले समाजसुधार को आवश्यक समझते थे। केशवचन्द्र प्रगतिवादी थे और सामाजिक बुराइयों को दूर करना चाहते थे। केशवचन्द्र के समर्थकों में दुर्गामोहन दास, द्वारकानाथ गांगुली, आनन्दमोहन वोस और शिवनाथ शास्त्री प्रमुख थे। केशवचन्द्र के दल को 'भारतवर्षीय ब्रह्मसमाज' और देवेन्द्रनाथ ठाकुर के दल को 'आदिब्रह्मसमाज' नाम दिया गया। केशवचन्द्र सेन अंगरेजों के भक्त थे। वे 1872 ई. में ब्रह्मविवाह की वैधता दिलाने में सफल हुए। 1872 ई. के कानून द्वारा बाल-विवाह अवैध घोषित किया गया और एक से अधिक पत्नी रखने पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। परन्तु 13 वर्षीय पुत्री का विवाह कुचविहार के अल्पवयस्क राजकुमार से करने के फलस्वरूप केशवचन्द्र का विरोध युवकों द्वारा किया गया और उन्होंने केशवचन्द्र से अलग होकर 'साधारण ब्रह्मसमाज' की स्थापना कर ली। फलतः ब्रह्मसमाज आन्दोलन विभाजन के कारण दुर्वल हो गया।

बंगाल के वाहर ब्रह्मसमाज की कुछ शाखाएँ खोली गयी थीं। 1876 ई. में उत्तरप्रदेश में दो, मद्रास और पंजाव में एक-एक शाखा खोली गयी। परन्तु ब्रह्मसमाज आन्दोलन अखिल स्वरूप नहीं प्राप्त कर सका। केशवचन्द्र सेन की मृत्यु 1884 ई. में हुई।

ब्रह्मसमाज ने बंगाल के शिक्षित वर्ग को सबसे अधिक प्रभावित किया था। इसके सदस्यों की संख्या कम थी, परन्तु उनमें योग्यता अधिक थी। धार्मिक अन्धविश्वास और परम्परागत बन्धनों से मुक्त होने के लिए ब्रह्मसमाजी अधिक जोर देते थे। वे व्यक्तिगत स्वतंत्रता का समर्थन करते थे। वे सत्य की प्राप्ति किसी भी धर्मग्रन्थ से करना चाहते थे। हिन्दू धर्म से वे धीरे-धीरे पृथक् हो गये। ब्रह्मसमाज में तर्क, मानवबुद्धि और अन्तःप्रेरणा को विशेष महत्त्व प्राप्त था। इसके प्रयत्न से पढ़े-लिखे व्यक्ति ईसाई होने से बच गये। ब्रह्मसमाज लोकप्रिय नहीं हो सका। वह पेड़ों से तोड़े हुए फूलों की माला की तरह शीघ्र ही मुरझा गया। लेकिन थोड़े ही वर्षों में उसके द्वारा जो नवचेतना जागरित की गयी उसके फलस्वरूप राजनीतिक एवं सामाजिक जीवन के क्षेत्र में एक नया मोड़ आया। ईसाई धर्म की बढ़ती हुई प्रगति को रोकने में ब्रह्मसमाज का योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था।

प्रार्थना समाज : बंगाल में ब्रह्मसमाज की स्थापना के कारण सामाजिक और धार्मिक जीवन में जो नयी चेतना आयी थी उससे प्रेरणा पाकर महाराष्ट्र में सुधार-आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। ब्रह्मसमाज की तरह 1867 ई. में महाराष्ट्र में प्रार्थना समाज की स्थापना की गयी। प्रार्थना समाज के संस्थापक डॉक्टर आत्माराम पाण्डुरंग थे। आत्माराम पाण्डुरंग को रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर और महादेव गोविन्द राणाडे का सक्रिय सहयोग प्राप्त था। प्रार्थना समाज बंगाल के ब्रह्मसमाज से सर्वथा भिन्न था। प्रार्थना समाज हिन्दूधर्म से पृथक् नहीं था और ईसाई मिशनरियों से उसकी

साठ-गाँठ भी नहीं थी। उसके धार्मिक विचार प्राचीन महाराष्ट्र के सन्तों के अनुकूल थे और वह प्राचीन परम्परा को सुरक्षित रखकर सामाजिक बुराइयों और धार्मिक विसंगतियों को दूर करना चाहता था।

प्रार्थना समाज का मुख्य लक्ष्य जातिभेद की समाप्ति, विधवाओं का पुर्निवावाह, स्त्री-शिक्षा का प्रचार, बाल-विवाह का निषेध, छुआछूत दूर करना, दलितों एवं पीड़ितों का कल्याण आदि था। इस संस्था के प्राण महादेव गोविन्द राणाडे थे जिन्होंने अपना जीवन प्रार्थना समाज की सेवा के लिए अर्पित कर दिया था। वस्तुतः महादेव गोविन्द राणाडे नवजागरण के सबसे उज्ज्वल प्रतिनिधि थे। उनकी देखरेख में कई जनकल्याणकारी संस्थाओं की स्थापना की गयी। पण्ढरपुर में 'फौण्डलिंग एसाइलम' और अनाथालय, विधवाआश्रम, दलित एवं पिछड़ी जाति के लिए सुधारक संस्थाओं, अशिक्षितों के लिए रात्रिपाठशालाओं की स्थापना की गयी। 'डेक्कन एजुकेशन सोसाइटी' की स्थापान राणाडे के प्रयास का ही फल था। राणाडे कट्टर सुधारक थे। वे अतीत की धरोहर को छोड़ना नहीं चाहते थे। समाजसुधार राजनीतिक और आर्थिक स्थिति में परिवर्त्तन के बिना असम्भव था। दूसरी ओर सामाजिक सुधार के बिना राजनीतिक स्वतंत्रता का कोई महत्व नहीं था। यही कारण था कि राणाडे सभी समस्याओं के प्रति जागरूक थे और उनका समाधान अपने विचार के अनुसार करना चाहते थे। वे सभी प्रश्नों को वैज्ञानिक ढंग से सुलझाना चाहते थे। महाराष्ट्र के राजनीतिक और सामाजिक जीवन में राणाडे का योगदान राय और सर सय्यद अहमद की तरह महत्त्वपूर्ण था।

महाराष्ट्र के अन्य सुधारकों में मालाबारी, आगरकर, तिलक, चन्द्रावरकर आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। बालगंगाधर तिलक समाज-सुधारक के साथ राजनीतिक स्वतंत्रता के हिमायती थे। तिलक बाल-विवाह के विरोधी थे और विधवा-विवाह का समर्थन करते थे। दलित वर्ग को गणेश-उत्सव में सम्मिलित होने के लिए प्रोत्साहन देते थे। वे छुआछूत को दूर करना चाहते थे।

1887 ई. 'इंडियन सोशल कांग्रेस' की स्थापना की गयी। स्थापनाकाल से लेकर पूरे चौदह वर्ष तक महादेव गोविन्द राणाडे इस संस्था के सचिव रहे। इसका वार्षिक सम्मेलन होता था और उसमें मतभेदों को दूर करने की चेष्टा की जाती थी। भारत वर्ष के अलग-अलग क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न प्रकार की समस्याएँ थीं। अतः उनका निदान एक प्रकार से सम्भव नहीं थां। 1901 ई. में राणाडे की मृत्यु के बाद इस संस्था का दायित्व तीन व्यक्तियों के हाथ सौंपा गया। वे थे-भण्डारकर, चन्द्रावरकर और नटराज। इस संस्था का लक्ष्य उन बुरी नीतियों को समाप्त करना था जो सामान्य लागों को पूरी क्षमता से काम करने पर रोक लगाती थीं। समाज-सुधार के कार्यक्रम को व्यापक रूप प्रदान करने में इस संस्था का बहुत बड़ा योगदान था। सोशल कांग्रेस

ने एक लोकप्रिय संस्था का रूप धारण कर लिया और तिलक विपिनचन्द्र पाल और लाला लाजपतराय ने समाज-सुधार के साथ-साथ राजनीतिक स्वतंत्रता का पुट जोड़कर इसे और भी लोकप्रिय बना दिया था।

19वीं सदी में समाज-सुधार का मूल्यांकन : प्रारम्भिक अवस्थाओं में समाज-सुधार की गति उन्नीसवीं सदी में धीमी रही। इसका लक्ष्य व्यक्तिगत सुधार से सम्बन्धित था। किन्तु धीरे-धीरे संगठित रूप से समाज-सुधार के प्रयत्न में तीव्रता आयी और व्यक्तिगत स्वीकृति को सामाजिक मान्यता का रूप दिया गया। स्वतंत्रता के प्रति पहले जैसी कठोरता नहीं रही। वाल-विवाह और बहु-विवाह की प्रथा धीरे-धीरे घटने लगी। ईसाइयों द्वारा बहुसंख्यक हिन्दुओं के धर्मपरिवर्त्तन कराने का जो प्रयास आरम्भ हो चुका था उस पर समाज-सुधारकों के प्रयास से स्वाभाविक रूप से प्रतिबन्ध लग गया। उत्तर भारत की तुलना में समाज-सुधार का काम दक्षिण भारत में अधिक कारगर सावित हुआ। दक्षिण के समाज में स्त्रियों की अवस्था वंगाल की तुलना में पहले ही से अधिक उन्नत थी। दक्षिण भारत में जात-पाँत का बन्धन था। लेकिन सुधारकों के प्रयत्न से जातीय बन्धन ढीला पड़ने लगा। दलितवर्ग के उत्थान के लिए ज्योतिबा फूले का प्रयास दक्षिण भारत में प्रशंसनीय था।

उन्नीसवीं सदी के समाज-सुधारकों में सवसे वड़ा दोष यह था कि वे एक प्रश्न पर सहमति प्रकट करते थे और दूसरे पर असहमति जाहिर करते थे। उदाहरण के लिए, स्त्री-शिक्षा का समर्थन करने वाले विधवा-विवाह का विरोध भी करते थे। स्त्री-शिक्षा के सम्बन्ध में सभी सुधारकों के विचार में एकरूपता नहीं थी। समाज-सुधार आन्दोलन संक्रमणकाल में प्रारम्भ किया गया था। मध्यकालीन सामाजिक कुरीतियों को नष्ट कर आधुनिक सामाजिक निर्माण की प्रक्रिया को कुछ वर्षों में पूरा कर लेना कभी सम्भव नहीं था। सामाजिक क्रान्ति सदियों के बाद भी पुरानी सामाजिक रचना को वदलने में अंशतः सफल हुई है। भारतीय समाज की रचना बहुत पुरानी थी। धीरे-धीरे लोगों के दृष्टिकोण में परिवर्त्तन हुआ। पुरानी मान्यताओं को नष्ट कर नयी मान्यताओं को प्रतिष्ठित करने में सुधारकों को कठिन परिश्रम करना पड़ा। फिर भी पूर्ण सफलता का वे दावा नहीं कर सकते थे।

मुसलमानों में समाजसुधर आन्दोलन

हिन्दुओं की तुलना में मुसलमानों की सामाजिक रचना भिन्न प्रकार की थी। मुस्लिम समाज मुख्यतः दो भागों में विभक्त था—उच्चवर्गीय और निम्नवर्गीय मुसलमान। उच्चवर्गीय मुसलमान सदियों से सत्तापक्ष से सम्बन्धित रहे थे। अधिकार, सुविधा और साधन-सम्पन्न रहने के फलस्वरूप उच्च वर्ग के मुसलमानों में अकर्मण्यता की भावना आ गयी थी। अंगरेजी साम्राज्य की स्थापना और विकास के बाद सत्ता धीरे-धीरे मुसलमानों के हाथ से खिसकने लगी और वे पहले जैसे प्रतिष्ठित

नहीं रह सके। निम्नवर्गीय मुसलमानों की अवस्था में कोई परिवर्तन अथवा गतिशीलता नहीं थी। 1857 ई. के विद्रोह में मुसलमानों के योगदान के फलस्वरूप अंगरेजों की नजर में उनकी प्रतिष्ठा घट गई थी और वे क्रान्ति के लिए मुसलमानों को उत्तरदायी मानते थे। प्रतिष्ठित मुसलमान लकीर के फकीर की तरह थे और बदली हुई परिस्थिति का मूल्यांकन नहीं कर पाते थे। मुसलमानों में आर्थिक भिन्नता की खाई दिन-प्रतिदिन गहरी होती जा रही थी। सत्ता से हट जाने के बाद मुसलमानों द्वारा कोई नया व्यवसाय नहीं अपनाया गया। वे परमुखापेक्षी बने हुए थे। अतः मुसलमानों को वास्तविक स्थिति से परिचित कराने के लिए शिक्षित करना आवश्यक था।

अलीगढ आन्दोलन : मुसलमानों को शिक्षित, आत्मनिर्भर एवं स्वावलम्बी बनाने के लिए अलीगढ़ आन्दोलन प्रारम्भ करने का श्रेय सर सय्यद अहमद खां को दिया जाता है। सर सय्यद अहमद खां अतीत में खोये हुए मुसलमानों को वर्तमान स्थिति में सामाजिक एवं धार्मिक विश्वासों में परिवर्तन लाना आवश्यक मानते थे। सर सय्यद अहमद खां अंगरेजी शिक्षा के हिमायती थे। वे मुसलमानों के पवित्र धर्मग्रस्थ कुरान और हदीस की व्याख्या नये सन्दर्भ में करना चाहते थे। उन्होंने 1870 ई. में तहजीवउल कुरान नामक एक पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ किया। कुरान के सिद्धान्तों की व्याख्या करने के लिए उन्होंने तफसीरुल कुरान की रचना प्रारम्भ की जो पूरी नहीं हो सकी। मुसलमानों को सादगी और अच्छाई स्वीकार करनी चाहिए। पश्चिमी शिक्षा के प्रचार के माध्यम से मुसलमानों का बौद्धिक स्तर विकसित हो सकता है तथा वे पूर्वाग्रह का परित्याग कर समय के साथ अपने को संतुलित कर सकते हैं, हज, जकात और मस्जिद बनाने के बदले वे शैक्षिणिक संस्थाओं की स्थापना पर विशेष बल देते थे। वे मुसलमानों का रहन-सहन पश्चिमी पद्धति पर निर्धारित करना चाहते थे। इस्लाम धर्म की कमजोरियों की उन्होंने कटु आलोचना की और तलाक एवं दास-प्रथा की निन्दा की। परदा-प्रथा और बहु-विवाह का विरोध किया। 1875 ई. में इंगलैण्ड से लौटने पर उन्होंने मोहम्मडन ऐंग्लो ओरिएंटल कॉलेज की स्थापना अलीगढ़ में की। यह संस्था कालान्तर में अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के रूप में परिणत हो गयी। सर सय्यद अहमद खां एक महान समाज-सुधारक थे। वे उर्दू भाषा और साहित्य को प्रोत्साहन देते थे।

अलीगढ़ का विद्यालय कुलीन मुसलमानों का केन्द्र बिंदु बन गया। इस संस्था से प्रशिक्षित मुसलमान युवक समाज और धर्म के प्रति एक नया दृष्टिकोण अपनाने लगे। वस्तुतः सर सय्यद ने मुस्लिम संस्कृति को नयी नींव पर खड़ा करने का प्रयास किया था।

अहमदिया आन्दोलन : अहमदिया आन्दोलन के जनक मिर्जा गुलाम अहमद कादियानी थे। उनका जन्म 1839 ई. में हुआ था। वे पंजाब के गुरुदासपुर जिले

के निवासी थे। उनका कहना था कि सभी धर्मों में सुधार आवश्यक हैं उन्होंने कादियानी सम्प्रदाय की नींव डाली और अपने को मुस्लिम मेहदी घोषित किया। उनका कार्यक्षेत्र मुख्यतः पंजाब था। पंजाब के कई अन्य सुधार आन्दोलन प्रारम्भ किये गये जिनमें 1885 ई. के अंजुमने हिमायते इस्लाम का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस संस्था के द्वारा मुसलमानों के सामाजिक, नैतिक और बौद्धिक स्तर को ऊपर उठाने में काफी सहयोग दिया गया। यह संस्था मुल्ला मौलवियों के द्वारा उठाये गये प्रश्नों का समुचित उत्तर भी देती थी। 1895 ई. में लखनऊ में नदवतुल उलेमा नामक एक संस्था की स्थापना की गयी। इस संस्था का मुख्य उद्देश्य मुसलमानों के बीच सामारिक बुराइयों को दूर करना था। खां अब्दुल गफ्फार खां ने समाज-सुधार की दृष्टि से खुदाई खिदमतगार आन्दोलन का सूत्रपात पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त में किया। अब्दुल गफ्फार खां भ्रातृत्व के समर्थक थे। खाकसार आन्दोलन के जन्मदाता इनायतुल्लाह खां थे जिन्हें अल्लामा मश्रिकी कहा जाता था। वे कठोर अनुशासन और सैनिक शिक्षा पर अधिक बल देते थे। सामाजिक भेदभाव मिटाकर वे सेवा के काम को आगे बढ़ाना चाहते थे। यह संस्था देश के विभाजन के साथ समाप्त कर दी गयी। मुस्लिम लीग की स्थापना से भी मुसलमानों में नया जागरण आया।

मुसलमानों में समाज-सुधार का मूल्यांकन : 19वीं सदी में मुस्लिम समाज सुधारकों द्वारा जो प्रयास किया गया उसके फलस्वरूप अंगरेजी शिक्षा का प्रचार केवल पुरुषों तक ही सीमित रहा। सर सय्यद अहमद खां स्वयं मुसलमान स्त्रियों को वैसी शिक्षा दिलाने के पक्षपाती थे जिससे वे कुशल माताएं एवं गृहणियां बन सकें। वे स्त्रियों के द्वारा नौकरी किये जाने का समर्थन नहीं करते थे। स्त्रियों को परदे में रखने का रिवाज मुसलमानों के बीच पूर्ववत कायम रहा। अलीगढ़ आन्दोलन के माध्यम से मुस्लिम समाज में पश्चिमी सभ्यता को अपनाने की चाह बलवती हो गयी। अन्य मुसलमान सुधारकों ने भाईचारे की भावना का प्रचार किया और पुरानी सामाजिक मान्यता को नये परिवेश में सुधारने का प्रयास किया। इस दृष्टि से मुसलमानों का समाज-सुधार आन्दोलन एकांगी था।

अन्य सुधार आन्दोलन : सुधार आन्दोलन का प्रभाव केवल हिन्दू और मुसलमानों तक ही सीमित नहीं रहा। सिख, पारसी और ईसाई समाज भी आन्दोलन से प्रभावित हुए। सिखों ने चीफ खालसा दीवान आरम्भ किया और अमृतसर में खालसा कॉलेज की स्थापना की गयी। गुरुद्वारों में सुधार लाने और महन्थों के भ्रष्टाचार दूर करने के उद्देश्य से शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक सीमिति की नींव डाली गयी और देश के विभिन्न भागों में स्कूल और कॉलेज खोले गये।

पारसी सम्प्रदाय ने भी सुधार आन्दोलन से प्रेरणा ग्रहण की। दादा भाई नौरोजी,

जे. वी. वाचा, एन. एम. जी. बंगाली, नौरोजी फरदोनजी आदि कई पारसी समाज सुधारकों ने पारसी सम्प्रदाय के संगठन एवं सुधार की चेष्टा की। 1851 ई. में पारसियों की सामाजिक अवस्था में सुधार तथा जरथ्रुश्त धर्म को पुनर्जीवित करने के उद्देश्य से धार्मिक सुधार संघ की स्थापना हुई। शिक्षा प्रचार और समाज-सुधार के क्षेत्र में करशेदजी रुस्तमजी तथा बहारामजी एवं मालाबारी के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। 1900 ई. में पारसियों ने एक सम्मेलन का आयोजन किया जिसमें धर्मसुधार पर चर्चा और धाला नामक पुरोहित द्वारा जरथ्रुश्त धर्म का उद्घाटन हुआ।

भारत में ईसाइयों का आगमन फ्रांस, इंगलैण्ड, बेलजियम, नार्वे आदि यूरोपीय देशों से सतरहवीं सदी के बाद ही हो चुका था। ईसाई धर्म प्रचारक व्यापार के साथ-साथ धर्म प्रचार भी करते थे। उनके द्वारा धर्म-संघ, स्कूल एवं जनाना सोसाइटी की स्थापना और मेलों एवं पर्वो के अवसर पर धर्मोपदेश, शास्त्रार्थ, पुस्तक वितरण आदि के द्वारा धर्म प्रचार तथा शिक्षा प्रचार का कार्य शुरू हुआ। ईसाई मिशनरियों द्वारा स्कूल कॉलेज खोलने का एकमात्र उद्देश्य भारतीयों को ईसाई बनाना था। समाज का उपेक्षित वर्ग ईसाई धर्म के प्रति अधिक आकृष्ट हुआ। ईसाइयों के कार्य की तीव्र प्रतिक्रिया हुई और हिन्दुओं में साम्प्रदायिक वन्धन ढीले करने का प्रयास किया अछूतों के प्रति हिन्दुओं के दृष्टिकोण में परिवर्तन आया।

सुधार आन्दोलन के प्रति अंगरेजों का दृष्टिकोण कभी उत्साहवर्द्धक नहीं रहा। अंगरेज जातीय श्रेष्ठता में विश्वास रखते थे। वे प्रारम्भ से ही भारतीयों के प्रति उपेक्षा और असमानता का भाव रखते थे। अंगरेजी क्लबों अथवा सार्वजनिक संस्थाओं में भारतीयों का प्रवेश निषिद्ध था। अधिकारी वर्ग भारतीयों को घृणा से देखता था। पढ़े-लिखे भारतीय योग्यता में अंगरेजों से कई गुण अधिक कुशल रहने पर भी सम्मान के पात्र नहीं समझे जाते थे। राममोहन राय और सय्यद अहमद खां जैसे व्यक्तियों को भी अहंकारी अंगरेजों द्वारा अपमानिक होना पड़ा था।

धर्म-सुधार आन्दोलन की आवश्यकता : तुर्क आक्रमणकारियों द्वारा भारत में साम्राज्य की स्थापना के साथ-साथ धर्म-परिवर्तन की जो प्रक्रिया प्रारम्भ हुई उसके फलस्वरूप भारतीय समाज की रक्षा के लिए कृत्रिम चहारदीवारी खड़ी कर दी गयी। धार्मिक एवं आध्यात्मिक ज्ञान को दन्तकथाओं, विश्वासों, एवं परम्परा पर आधारित रखकर उसे जीवित रखने की चेष्टा की गयी। सामाजिक जीवन में जातिप्रथा के बन्धन कठोर बना दिये गये। स्त्रियों को परदे में रखने तथा बाल-विवाह की प्रथा चल पड़ी। शिक्षा का प्रचार-प्रसार रुक गया। सामाजिक जीवन में कुंठा आ गयी और उसका पुराना रूप विकृत हो गया। अंगरेजों द्वारा अंगरेजी भाषा और साहित्य के प्रचार तथा पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान के आलोक से प्रेरित होकर धार्मिक जीवन में व्याप्त विसंगतियां हटाने की चेष्टा उन्नीसवीं सदी में कुछ भारतीय समाज चिन्तकों द्वारा

प्रारम्भ हुई। तुर्कों की तरह ईसाइयों द्वारा धर्म परिवर्तन का काम अंगरेजी राज्य की स्थापना के साथ शुरू को चुका था। हिन्दू धर्म पर उनका आक्षेप बहुत पैना होता था। ब्रह्मसमाज की स्थापना कर शिक्षित भारतीयों को धर्म परिवर्तन से रोकने का जो प्रयास प्रारम्भ हुआ, उनका असर मुट्ठी भर लोगों तक सीमित रहा। ब्रह्मसमाज सामान्य हिन्दुओं के बीच लोकप्रियता नहीं प्राप्त कर सका।

सामाजिक सुधार के साथ-साथ उन्नीसवीं शताब्दी में धार्मिक सुधार आन्दोलन का भी सूत्रपात हुआ। धार्मिक सुधार आन्दोलन के प्रवर्तक मूलतः भारतीय थे। स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा स्थापित आर्यसमाज ने भारतीय धार्मिक व्यवस्था को सबसे अधिक प्रभावित किया। दयानन्द सरस्वती और स्वामी विवेकानन्द भारतीय पुनर्जागरण के अग्रदूत माने जाते हैं। इन सुधारकों के प्रेरणास्रोत थे स्वामी वृजानन्द और रामकृष्ण परमहंस।

स्वामी दयानन्द सरस्वती और आर्यसमाज

स्वामी दयानन्द सरस्वती आर्यसमाज के संस्थापक थे। इनका जन्म 1824 ई. में गुजरात के टंकारा परगना के जोधपुर गांव में हुआ था। वे धनी ब्राह्मण परिवार के थे। बाल्याकाल से ही सामाजिक कुरीतियों एवं धार्मिक ब्राह्यडम्बरों से इन्हें घृणा थी और प्राचीन भारत के धर्म और संस्कृति में अटूट आस्था थी। ये संस्कृत भाषा के प्रकाण्ड पण्डित थे। ये अंगरेजी भाषा से अनभिज्ञ थे। इनके गुरु मथुरा के स्वामी वृजानन्द जी थे जिनसे इन्हें महाभाष्य (संस्कृत व्याकरण), वेदान्त सूत्र (दर्शन) के अध्ययन का अवसर मिला। 21 वर्ष की आयु में ये संन्यासी हो गये। इनका पारिवारिक नाम मूलशंकर और पिता का नाम अम्बाशंकर था। संन्यासी बनने के बाद 1848 ई. में दण्डीस्वामी परमानन्द द्वारा इनका नाम दयानन्द सरस्वती पड़ा। स्वामी दयानन्द ने 18 वर्षों तक भ्रमण कर विभिन्न स्थानों में अध्ययन किया और नेत्रहीन वृजानन्द की प्रेरणा से वैदिक धर्म के प्रचार का बीड़ा उठाया।

स्वामी दयानन्द ने धर्म प्रचार का काम आगरा से शुरू किया। अप्रैल, 1875 ई. में आर्य समाज की स्थापना बम्बई में हुई। 1877 ई. में लाहौर में आर्यसमाज की शाखा खोली गयीं। स्वामीजी विभिन्न स्थानों में भाषण, शास्त्रार्थ और मौलिक युक्तियों के सहारे वेदों का प्रचार करते थे। उन्होंने कहा था, 'दुष्ट पुरुष, चाहे अत्यन्त शक्तिशाली चक्रवर्ती राजा क्यों न हो, उसका विरोध करो, उसे नीचे गिरा दो और नष्ट कर दो। अनेक कष्टों को सहन करते हुए अपने जीवन को खतरे में डालकर भी हमेशा अन्याय की जड़ उखाड़ने एवं सत्य की प्रतिष्ठा का प्रयत्न करते रहो।' स्वामी दयानन्द हिन्दू धर्म की बुराइयों के कटु आलोचक थे। स्वामी जी वेदों को सर्वगुणसम्पन्न मानते थे और उनके अध्ययन के लिए लोगों को प्रेरित करते थे।

स्वामी जी की लोकप्रियता बढ़ने लगी। कलकत्ता में उनका सम्पर्क देवेन्द्रनाथ ठाकुर और केशवचन्द्र सेन से हुआ। स्वामी जी ने सत्यार्थप्रकाश नामक सुप्रसिद्ध ग्रन्थ की रचना 1874 ई. में की। इस ग्रन्थ में मूर्तिपूजा, जातिप्रथा और छुआछूत का खण्डन किया गया। स्वामी जी के प्रयास से बम्बई, पंजाब, उत्तर भारत, राजस्थान, गुजरात आदि क्षेत्रों में आर्यसमाज की शाखाओं की स्थापना की गयी। पंजाब में तो आर्यसमाज का जाल बिछा दिया गया। एक आततायी द्वारा स्वामी जी की हत्या पूर्ण यौवनकाल में कर दी गयी। एक महाराज की रखेली ने-जिसकी स्वामी जी ने भूरि-भूरि भर्त्सना की थी-उन्हें विष दिलवा दिया और उनका देहान्त 30 अक्टूबर, 1883 ई. को हो गया। श्री अरविन्द घोष के शब्दों में, 'वह परमात्मा की एक विचित्र सृष्टि का एक अद्वितीय योद्धा था तथा मनुष्य और मानवीय संस्थाओं का सत्कार करनेवाला अद्भुत शिल्पी था।' फ्रांस के प्रसिद्ध विद्वान रोम्यां रोलां के अनुसार, दयानन्द अकेले भारत में सिंह की भांति गरजे और उन्होंने अकेले विदेशियों द्वारा फैलाये गये नवीन प्रभाव को रोक दिया।'

आर्य समाज के मुख्य सिद्धान्त : आर्यसमाज के सिद्धान्त निम्नलिखित हैं—

1. ईश्वर एक है। वह सत्य और विद्या का मूलस्रोत है।

2. ईश्वर सर्वशक्तिमान, निराकार, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनादि, सर्वव्यापी, अजर, अमर, नित्यपवित्र और सृष्टिकर्त्ता है। अतः उसकी उपासना करना चाहिए।

3. सच्चा ज्ञान वेदों में निहित है। आर्यों का परम धर्म वेदों का पठन-पाठन है।

4. प्रत्येक व्यक्ति को सदा सत्य ग्रहण करने और असत्य का त्याग करने के लिए प्रस्तुत रहना चाहिए।

5. प्रत्येक कार्य धर्मानुसार करना चाहिए अर्थात् सत्य और असत्य का विचार करें।

6. समस्त समाज का प्रमुख उद्देश्य मनुष्य जाति की शारीरिक, मानसिक एवं सामाजिक उन्नति द्वारा समस्त विश्व का कल्याण और हितसाधन करना है।

7. पारस्परिक सम्बन्ध का आधार प्रेम, न्याय और धर्म होना चाहिए।

8. अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिए।

9. प्रत्येक व्यक्ति को अपनी उन्नति या भलाई में ही सन्तुष्ट नहीं रहना चाहिए, सबकी भलाई में ही अपनी भलाई समझनी चाहिए।

10. प्रत्येक व्यक्ति को व्यक्तिगत मामलों में आचरण की स्वतंत्रता रहनी चाहिए, लेकिन सर्वहितकारी नियमपालन सर्वोपरि रहना चाहिए।

इनमें आठ सामान्य नियम हैं और दो में निराकार ब्रह्म की उपासना और वेदों

के समस्त ज्ञान के स्रोत होने पर बल दिया गया है। आर्यसमाजी वेदों को अमोघ मानते हैं। संसार में ज्ञान-विज्ञान की जितनी बातें अब तक हुई हैं उनका संग्रह वेदों में है। वेदों में एकेश्वरवाद का प्राधान्य है और यज्ञ एवं अन्य संस्कारों का मूल उद्देश्य ज्ञान का प्रसार है। हवन से वायुमण्डल स्वच्छ रहता है और तीर्थयात्रा से सत्संग का लाभ मिलता है। दयानन्द सरस्वती द्वारा की गयी वेदों की व्याख्या से सभी सहमत नहीं हैं। परन्तु अब तक वेदों का अध्ययन ब्राह्मणों तक सीमित था, दयानन्द ने इनके अध्ययन का अधिकार सभी वर्णों को दिया।

आर्यसमाज की स्थापना कर स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भारत के सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक जीवन में नयी गति ला दी थी। जातीयता को समाप्त कर दलितों का उद्धार वे अपना पुनीत कर्तव्य मानते थे। अनाथालयों एवं विधवा आश्रमों की स्थापना की गयी। विवाह सम्बन्धी नियमों को सरल बनाया गया और सामाजिक दोष दूर करने के लिए आन्दोलन किया गया। स्त्रियों की स्थिति में सुधार लाने के लिए स्वतंत्र स्कूलों और कॉलेजों की स्थापना की गयी। स्वामी दयानन्द स्वदेशी राज्य को सर्वोत्तम मानते थे। लाला लाजपत राय और स्वामी श्रद्धानन्द जैसे चोटी के राजनीतिक नेता आर्यसमाज की ही देन थे। भारत की प्राचीन संस्कृति के गौरव को सुरक्षित रखने में आर्यसमाज का योगदान अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती की मृत्यु के बाद आर्यसमाज आन्दोलन को जबर्दसत ध क्का लगा। आर्यसमाज का काम आगे बढ़ाने में धर्मवीर, लेखराम, गुरुदत्त विद्यार्थी, लाला लाजपतराय, महात्मा हेमराज और स्वामी श्रद्धानन्द आदि का प्रयास प्रशंसनीय था। इन लोगों के प्रयत्न के बावजूद 1892 में आर्यसमाज दो दलों में विभक्त हो गया। व्यक्तिगत स्वतंत्रता और विश्वासें के प्रश्न पर मतभेद उत्पन्न हुआ था।

आर्यसमाज के कार्यों का मूल्यांकन

आर्यसमाज के कार्यों का मूल्यांकन कई दृष्टिकोणों से किया जा सकता है। समाज, धर्म, राजनीति और सांस्कृतिक जीवन के क्षेत्र में आर्यसमाज के कार्यों का मूल्यांकन क्रमशः इस प्रकार किया जा सकता है–

1. सामाजिक सुधार : पश्चिम की आंधी से सर्वथा अप्रभावित और पतनोन्मुख हिन्दू समाज को पुनः ऊपर उठाने के लिए कटिबद्ध आर्यसमाज ने हिन्दुओं का प्रच्छन्न ज्ञान रत्न साफ कर सामने ला दिया। इसने अन्धविश्वास, बालविवाह, अशिक्षा, पर्दाप्रथा, छुआछूत एवं समुद्रयात्रा पर निषेध का सख्त विरोध किया तथा विधवा विवाह और स्त्री शिक्षा को प्रोत्साहन दिया। स्वामी दयानन्द ने हिन्दुओं को अपने प्राचीन धर्म की याद दिलाकर स्वावलम्बी बनाने का प्रयास किया। आर्यसमाज के प्रयत्नों से ही हिन्दू धर्म विभिन्न आघातों से अपनी रक्षा कर सका।

स्वामी दयानन्द ने सती-प्रथा को पाप एवं क्रूर बतलाया और स्त्रियों के समान

अधिकार पर बल दिया। उन्होंने कहा कि स्त्रियों को वेदों के अध्ययन एवं अध्यापक की सुविधा मिलनी चाहिए। वे पुरुषों की तरह स्त्रियों को भी यज्ञोपवीत धारण करने का अधिकार देना चाहते थे। आर्यसमाज के द्वारा शुद्धि, संगठन और शिक्षा के प्रचार का आन्दोलन चलाया गया। शुद्धि आन्दोलन द्वारा अछूतों और दलितों को अथवा ईसाई और इस्लाम धर्म स्वीकार कर लेने वाले हिन्दुओं को पुनः हिन्दू धर्म में स्वीकार कर लिया जाता था। हिन्दू धर्म में सम्मिलित इन व्यक्तियों को समानता एवं सम्मान दिया जाता था। इस दृष्टि से स्वामी दयानन्द हिन्दुत्व के प्रबल समर्थक थे।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने साम्राज्ञी विक्टोरिया और लॉर्ड लिटन के उपलक्ष्य में आयोजित दरबार समारोह में उपस्थित होकर भारतवर्ष के सामाजिक जीवन को समुन्नत करने के लिए अखिल भारतीय आन्दोलन का संगठन करना चाहा। परन्तु लाहौर को छोड़कर अन्य स्थानों में सफलता नहीं मिली। उन्होंने आर्यसमाज और थियोसिफिकल सोसाइटी के बीच एकता लाने का प्रयास किया। उनका प्रयत्न सफल नहीं रहा। दि थियोसोफिकल पत्र में उनके प्रयत्न के सम्बन्ध में कहा गया है, 'उन्होंने मानो पवित्र हिन्दुत्व के गतिहीन जनसमूह पर बम फेंक दिया और जिन पर उनकी वक्तृत का प्रभाव पड़ जाता था, उनके हृदय पर ऋषियों के उपदेश के प्रति प्रेम और वैदिक ज्ञान की अमिट छाप लग जाती थी।' स्वामी दयानन्द ने हिन्दुओं में संगठन का बीज बो दिया जिससे उनमें आत्मसम्मान और आत्मविश्वास पनपने लगा। हिन्दू निर्भय होकर मुसलमानों और ईसाइसों के सिद्धान्त की आलोचना करने लगे।

2. धार्मिक सुधार : आर्यसमाज ने हिन्दू धर्म को नया रूप देने का प्रशंसनीय कार्य किया। मध्यकाल के बाद भारतीय धर्म में मिथ्या विश्वासों एवं ब्राह्याडम्बरों का बोलबाला था। वेदों के बदले पुराण, उपनिषद् और कर्मकाण्ड के प्रति लोगों की आस्था बढ़ गयी थी। अनेक धार्मिक सम्प्रदायों की स्थापना हो चुकी थी। हिन्दू धर्म में बहुदेववाद, मूर्त्तिपूजा, छूआछूत, सती-प्रथा, बाल-विवाह तथा एक दूसरे को नीचा दिखाने की प्रवृत्ति बढ़ गयी थी। आर्यसमाज के संस्थापक ने इन धार्मिक कुरीतियों की कटु आलोचना की और वेदों की ओर लौटने का सन्देश दिया। वेदों के प्रति आर्यसमाज की आस्था ब्रह्मसमाजियों की तरह तर्क पर आधारित नहीं थी। इस दृष्टि से आर्यसमाज की तुलना यूरोप के प्रोटेस्टेंट धर्म सुधारकों से की जा सकती है। प्रोटेस्टेंट यदि बाइबिल के पुनः अध्ययन पर बल देते थे तो आर्यसमाजी भी वेदों के अध्ययन मनन पर। ब्राह्मणों का एकाधिकार समाप्त करने में आर्यसमाज की देन महत्वपूर्ण थी। यही कारण है कि आर्यसमाज धर्म के मामले में ब्रह्मसमाज से अधिक लोकप्रिय हुआ।

3. राजनीतिक कार्य : आर्यसमाज का मूल स्वरूप सामाजिक एवं आर्थिक

था। वह कोई राजनीतिक संगठन नहीं था। परन्तु सामाजिक एवं धार्मिक परिवेश में जो परिवर्तन हुआ उसके फलस्वरूप राष्ट्र में एक नयी राजनीतिक चेतना विकसित हुई। राष्ट्रभक्ति, प्राचीन संस्कृति की गौरवमयी परम्परा, चरित्र की दृढ़ता और स्वतंत्रता के प्रति प्रेम से भारतीयों में आत्मविश्वास जगा और उनमें हीनता की भावना नष्ट हो गयी। स्वामी दयानन्द ने सबसे पहले स्वदेशी मंत्र की दीक्षा दी और पश्चिमी विचारों और आदर्शों के अन्धानुकरण के विरुद्ध आन्दोलन आरम्भ किया। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के राजनीतिक कार्यक्रम की रूपरेखा तैयार करने में आर्यसमाज का योगदान महत्वपूर्ण था। आर्यसमाज से सम्बद्ध व्यक्तियों में लाला लाजपत राय और स्वामी श्रद्धानन्द जैसे दो नेताओं ने राजनीतिक क्षेत्र में नया कीर्तिमान स्थापित किया। स्वामी विवेकानन्द की पुस्तक दि कलचरल हेरिटेज ऑफ इण्डिया में आर्यसमाज की सफलताओं का वर्णन इस प्रकार, 'वेदों के प्रति एकाकी दृष्टिकोण के कारण आर्यसमाज में चाहे जो दोष उत्पन्न हो गये हों, फिर भी इस आन्दोलन ने लोगों में हिन्दुत्व का एक नया मंत्र फूंक दिया और इसी कारण हिन्दू जाति में यह इतना लोकप्रिय हुआ। इसके अतिरिक्त, मूर्तिपूजा का खण्डन करके इसने आधुनिक बुनियाद वाले लोगों के विचारों को भी दूर किया। मूर्तिपूजा के स्थान पर वैदिक यज्ञादि के विधान ने आर्यसमाज में कुछ मन लुभानेवाला आकर्षण उत्पन्न कर दिया। अन्त में, सामाजिक रीति-रिवाजों में शीघ्र परिवर्तन लाना भी तो युग की मांग थी। इन सबने मिलकर आर्यसमाज के धर्म परिवर्तन के प्रयत्नों को सफलता प्रदान की। सारे उत्तरी भारत में विशेषता पंजाब में यह नया विश्वास दावाग्नि के समान फैला और कुछ ही वर्षों में कई लाख व्यक्तियों को अपने सिद्धान्त में दीक्षित कर लिया। इस प्रकार आर्यसमाज ने पर्याप्त वृहत क्षेत्र से विदेशी सभ्यता के विनाशकारी प्रभाव समाप्त किये और देश के सांस्कृतिक इतिहास में एक महत्वपूर्ण सफल अध्याय जोड़ा।'

4. साहित्यिक एवं शैक्षणिक सुधार : स्वामी दयानन्द सरस्वती ने हिन्दी भाषा और साहित्य को प्रोत्साहन दिया। हिन्दी भाषा में ग्रन्थों की रचना कर इन्होंने राष्ट्रभाषा का गौरव बढ़ाया था। भारतीय समाज में स्त्री शिक्षा की कोई व्यवस्था नहीं थी। स्त्रियों को पढ़ाना अशुभ माना जाता था। वेद पाठ स्त्रियों के लिए वर्जित था। स्त्रियों को शिक्षित करने की दिशा में दयानन्द ने कारगर कदम उठाये। स्त्रियों को वेद पाठ करने की अनुमति दी। संस्कृत भाषा के महत्व को पुनः स्थापित किया। दयानन्द ने ब्रह्मचर्य और चरित्र निर्माण की दृष्टि से आश्रम व्यवस्था पुनः प्रारम्भ की। प्राचीन गुरुकुल प्रणाली के माध्यम से छात्रों को शिक्षित करने की प्रथा शुरू की गयी। शिक्षित भारतीयों में अंगरेजी भाषा के प्रति मोह व्याप्त था। परन्तु स्वामी दयानन्द अंगरेजी भाषा को कूड़ा करकट का ढेर कहते थे।

आर्यसमाज में दलबन्दी : स्वामी दयानन्द की मृत्यु के वाद आर्यसमाज दो भागों में वंट गया। एक दल का नेतृत्व लाला हरदयाल करते थे जो पश्चिमी शिक्षा के समर्थक थे। लाला हरदयाल के प्रयत्नों से अनेक स्थानों में स्कूल और कॉलेजों की स्थापना की गयी जो आज भी डी. ए. वी. नाम से प्रसिद्ध है। दूसरे दल का नेतृत्व महात्मा मुंशीराम करते थे। मुंशीराम प्राचीन भारतीय शिक्षा-पद्धति के समर्थक थे। उनके द्वारा 1900 ई. में गुरुकुल की स्थापना हरिद्वार में की गयी। महात्मा मुंशीराम आगे चलकर स्वामी श्रद्धानन्द कहलाने लगे और उन्होंने आर्यसमाज के शुद्ध आन्दोलन को लोकप्रिय बनाने की चेष्टा की। उनके प्रयत्न से मुसलमानों के बच्चों में असन्तोष बढ़ा। स्वामी श्रद्धानन्द की हत्या एक मुसलमान के द्वारा कर दी गयी आर्यसमाज के प्रयास से अनेक अनाथालयों, गोशालाओं और विधवा आश्रमों का निर्माण किया गया। ऐसी संस्थाओं में अनाथों और विधवाओं को स्वावलम्वी बनाकर जीवन के क्षेत्र में प्रवेश करने के उपयुक्त वनाया जाना था। गायों का पालन-पोषण गोशालाओं में होता था।

आर्यसमाज ने एक शक्तिशाली आन्दोलन प्रारम्भ किया जिसके कारण हिन्दू समाज में नव चेतना और आत्मसम्मान के भाव जागरित हुए और हिन्दू यह अनुभव करने लगे कि उनमें धर्म और संस्कृति का महत्व अन्य धर्मों से कम नहीं है। आर्यसमाज के द्वारा परस्पर अभिवादन के लिए नमस्ते शब्द का प्रयोग किया गया जो देश एवं विदेश में काफी लोकप्रिय हो गया। स्वामी दयानन्द के पूर्व भारतवासी अपने को भूल चुके थे। परन्तु भारतीय संस्कृति की महत्ता का शंख जव स्वामी दयानन्दजी ने फूंका तो सभी भारतवासी फिर से जाग उठे। भारतीयों में स्वाभिमान और राष्ट्रप्रेम जागरित हुआ। स्वधर्म, स्वभापा और स्वदेश की आवाज से कालान्तर में इस देश में स्वराज्य की आवाज वुलन्द की। आज भी आर्यसमाज एक सतेज और कार्यशील संस्था के रूप में देश में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है।

रामकृष्ण मिशन : श्री रामकृष्ण परमहंस एक उच्चकोटि के संत और साधक थे। कठोर साधना के वल पर उन्हें परमेश्वर के दर्शन हुए। वे कलकत्त के निकट दक्षिणेश्वर के काली मन्दिर के पुजारी थे। रामकृष्ण अधिक पढ़े-लिखे नहीं थे। साधना के सहारे आध्यात्मिक जीवन की उच्चता प्राप्त कर रामकृष्ण परमहंस ने उदार हिन्दुत्व का निरूपण कर लिया था। हिन्दू धर्म, शास्त्र और आदर्शों की व्याख्या में उन्होंने समन्वयवादी दृष्टिकोण अपनाया। वे मौखिक रूप से सीधी-सादी भापा में गूढ़-से-गूढ़ विपयों का ज्ञान अपने शिप्यों को देते। सरल एवं वोधगम्य भापा से प्रभावित होकर अनेक व्यक्ति उनके शिप्य वन गये। उनके शिप्यों में सवसे अधिक प्रतिभाशाली नरेन्द्रनाथ दत्त थे जो कलकत्ता विश्वविद्यालय के स्नातक थे। परमहंस का शिप्य वनने के वाद नरेन्द्रनाथ दत्त का नाम स्वामी विवेकानन्द रखा गया।

1886 ई. में रामकृष्ण परमहंस का देहान्त हो गया। रामकृष्ण के धार्मिक विचार बहुत उदार थे। मानवता की सेवा और विश्व कल्याण उनका मूल सिद्धान्त था। वे सादगी और ब्रह्मचर्य पर अधिक जोर देते थे। परमहंस सभी धर्मों की समानता तथा उनके एक ही लक्ष्य पर पहुंचने की बात मानते थे। भक्ति और ज्ञान के मार्ग में ईश्वर को पहचाना जा सकता है इन दो मार्गों पर परमहंस ने विशेष बल दिया। वे धार्मिक वाद-विवाद को अनावश्यक मानते थे। धर्म प्रचार के लिए सबसे बड़ी आवश्यकता ईश्वर अनुभव की है। रामकृष्ण धर्म के व्यावहारिक पक्ष पर अधिक बल देते थे। परमहंस ने कहा था, 'एक ही राम हजारों नाम से पुकारा जाता है।' रामकृष्ण परमहंस ने मानवता की सेवा और सार्वभौम धर्म के सन्देश के प्रचार का दायित्व अपने शिष्य स्वामी विवेकानन्द पर सौंप दिया।

स्वामी विवेकानन्द और रामकृष्ण मिशन : नरेन्द्रनाथ दत्त उर्फ स्वामी विवेकानन्द का जन्म 1863 ई. में कलकत्ता में हुआ था। वे कलकत्ता विश्वविद्यालय के स्नातक थे। पश्चिमी दर्शन का उन्हें अच्छा ज्ञान थे। वे पहले ब्रह्मसमाज के अनुयायी थे। रामकृष्ण परमहंस के सम्पर्क में आने के बाद उनमें नयी प्रेरणा जागरित हुई और अपने गुरु का सन्देश संसार में फैलाने का उन्होंने निर्णय लिया। स्वामी विवेकानन्द ने कई वर्षों तक भारत के अनेक क्षेत्रों की यात्रा करने के बाद 1893 ई. में कन्याकुमारी पहुंचे और वहां ध्यानावस्थित होकर उन्होंने अनुभव किया कि भारत का उत्थान धर्म एवं दर्शन के प्रचार से सम्भव नहीं है। भारत की गरीबी दूर करने से ही नागरिकों का जीवन स्तर उन्नत किया जा सकता है। स्वामी विवेकानन्द ने अमेरिका, इंगलैण्ड और यूरोप के बहुत से देशों का भ्रमण किया और अमेरिका के शिकागों शहर में आयोजित विश्वधर्म सम्मेलन में भाग लिया। उस सम्मेलन में भाग लेते हुए स्वामी विवेकानन्द ने घोषणा की, वेदांत संसार का भव्य, व्यापक तथा सर्वश्रेष्ठ धर्म है।' अमेरिका में भारतीय संस्कृति की धाक जमाने के बाद 1893 ई. में उन्होंने न्यूयार्क में एक वेदांत सोसाइटी की स्थापना भी की। इस संस्था का मुख्य उद्देश्य वेदांत का प्रचार था। स्वामी विवेकानन्द भारतीय धर्म और दर्शन के प्रचार अमेरिका में करने तथा अमेरिका को वैज्ञानिक उपलब्धियों से भारतीयों को परिचित कराने के लिए दोनों देशों के बीच शिष्ट मण्डल का आदान-प्रदान करना चाहते थे। 1897 ई. में विवेकानन्द भारत लौट आये।

भारत आकर स्वामी विवेकानन्द ने 1897 ई. में बेलूर में एक मठ की स्थापना की जो रामकृष्ण मिशन का मुख्य कार्यालय बन गया। 1899 ई. में विवेकानन्द दूसरी बार अमेरिका गये और 1901 ई. में वे भारत लौटे। 14 जुलाई, 1902 ई. को 39 वर्ष की आयु में स्वामी विवेकानन्द की मृत्यु हो गयी।

विवेकानन्द ने हिन्दूधर्म की व्याख्या विश्वधर्म सम्मेलन में कर यूरोप और

अमेरिकावासियों को चकित कर दिया था। वे सभी धर्मों की सत्यता में विश्वास रखते थे। भारतीय धर्म में कोई भेदभाव नहीं है तथा यहां प्रत्येक धर्म प्रचारक को पूर्ण स्वतंत्रता दी जाती रही। सभी धर्मों का लक्ष्य एक है। अतः धर्म परिवर्तन की कोई आवश्यकता नहीं है। भारतीय संस्कृति अजेय है। धर्म परिवर्तन के बदले औद्योगिक और तकनीकी ज्ञान का प्रचार कर नागरिकों को प्रभावित किया जा सकता है। वेदों के ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग को जानकर ईश्वर तक पहुंचा जा सकता है। पश्चिमी संस्कृति में भौतिक एवं आर्थिक प्रगति के साधन, स्त्रियों की स्वतंत्रता और सामाजिक प्रतिष्ठा, जनकल्याण एवं समाज सेवा से विवेकानन्द अत्यधिक प्रभावित हुए थे और इनकी प्राप्ति के लिए उन्होंने रामकृष्ण मिशन की स्थापना की थी।

विवेकानन्द भारत की दरिद्रता हटाना चाहते थे और उन्होंने गरीबों और बीमारों की सहायता को यज्ञ के समान महत्वपूर्ण बतलाया और मानवसेवा को साधु-संन्यासियों का पुनीत कर्तव्य बतलाया। अन्धविश्वास, छुआछूत और जातीय भेद-भाव की उन्होंने कटु आलोचना की। वे व्यक्ति की स्वतंत्रता के प्रबल समर्थक थे। प्रत्येक व्यक्ति ईश्वर की तरह पूर्ण स्वतंत्र है और उसे अभय रहना चाहिए। शारीरिक एवं मानसिक विकास द्वारा आत्मविश्वास और आत्मसम्मान जागरित किया जा सकता है। उनके विचार से भारतीय देशभक्ति, समाजसेवा और आध्यात्मिक स्वतंत्रता की भावना से ओत-प्रोत होकर राष्ट्रीय चेतना की ओर अग्रसर हुए।

विवेकानन्द भारतीय इतिहास के एक देदीप्यमान नक्षत्र थे। उन्होंने अपने कार्यों से अमरता प्राप्त कर ली। भारतीय संस्कृति के गौरव को पुनर्जीवित करने में उनका अद्वितीय योगदान था। उनके द्वारा स्थापित रामकृष्ण मिशन ने समाज कल्याण और मानवसेवा के क्षेत्र में प्रशंसनीय कार्य किया। इस संस्था द्वारा देश के अनेक भागों में विद्यालयों, अस्पतालों और पुस्तकालयों की स्थापना की गयी। दुर्भिक्ष, महामारी आदि संकटकालीन परिस्थितियों में रामकृष्ण मिशन ने जनता की अपूर्व सेवा की और आज भी कर रहा है। स्वामी विवेकानन्द ने राष्ट्रीय जागरण में भी सक्रिय सहयोग किया। वस्तुत वे जागरित भारत के सर्वश्रेष्ठ प्रतीक थे।

थियोसोफिकल सोसाइटी : आधुनिक भारत के सामाजिक एवं धार्मिक जीवन क्षेत्र में थियोसोफिकल सोसाइटी की देन महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। इसकी स्थापना 1875 ई. में श्रीमती हेलना पेट्रोवना ब्लावात्स्की और कर्नल हेनरी स्टील आलकाट नामक दो व्यक्तियों ने न्यूयार्क में की थी। 1879 ई. वे दोनों भारत आये और 1886 ई. में मद्रास के निकट आदयार नामक स्थान में थियोसोफिकल सोसाइटी की एक शाखा खोली गयी। भारत में थियोसोफिकल सोसाइटी के कार्यों को लोकप्रिय एवं सफल बनाने में श्रीमती एनीबेसेंट का महत्वपूर्ण योगदान था।

श्रीमती एनीबेसेंट आयरलैण्ड की एक प्रतिभासम्पन्न महिला थीं। 1889 ई.

में श्रीमती एनीबेसेंट थियोसोफिकल सोसाइटी में प्रविष्ट हुई और एक सदस्या के रूप में 1893 ई. में भारत आयीं और शेष जीवन के लिए भारत को ही उन्होंने अपना निवास स्थान बना लिया। भारत में उन्होंने एक हिन्दू के समान प्राचीन भारतीय आदर्श एवं परम्परा को पुनजीर्वित करने का प्रयास किया। श्रीमती एनीबेसेंट के प्रयास से बनारस में एक सेन्ट्रल हिन्दू स्कूल की स्थापना की गई जो आगे चलकर हिन्दू विश्वविद्यालय के रूप में परिणत हो गया। थियोसोफिकल सोसाइटी के सदस्य सभी धर्मों की सच्चाई और एकता में विश्वास रखते थे। वे जाति, धर्म अथवा वर्ण के आधार पर किसी प्रकार का भेदभाव नहीं रखते थे। प्राचीन भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के समर्थिन जीवन पर इस आन्दोलन का व्यापक प्रभाव पड़ा था। आगे चलकर श्रीमती एनीबेसेंट ने होमरूल आन्दोलन चलाया। भारत के राष्ट्रीय, सामाजिक और धार्मिक जागरण में भी एनीबेसेंट का योगदान महत्वपूर्ण है।

प्रमुख सुधार आन्दोलनों के अतिरिक्त कई छोटे-छोटे आन्दोलनों का प्रारम्भ हुआ। 1887 ई. में पंडित सत्यानन्द अग्निहोत्री ने लाहौर में देव समाज की स्थापना की। राधास्वामी सत्संग की स्थापना इसी समय की गयी जिसका मुख्य उद्देश्य धर्म प्रचार और समाजसेवा है। इसका प्रधान कार्यालय दयालबाग (आगरा) में है। मुसलमानों के बीच बढ़ती हुई साम्प्रदायिकता के प्रतिक्रियास्वरूप हिन्दू महासभा और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की स्थापना की गयी। हिन्दू महासभा हिन्दू समाज के अधिकारों की रक्षा के लिए संघर्ष करती आयी है। आरम्भ में लाला लाजपत राय, स्वामी श्रद्धानन्द तथा पंडित मदनमोहन मालवीय हिन्दू महासभा के प्रेरकों में से थे। श्री सावरकर और डॉ. श्यामा प्रसाद मुखर्जी के प्रयत्नों के फलस्वरूप इस सभा की काफी प्रगति हुई। उसी तरह राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ भी समाज-सुधार तथा हिन्दुओं में एकता की भावना फैलाने में सचेष्ट रहा, किन्तु यह फौजी प्रशिक्षण पर अधिक जोर देता था। 1948 ई. में महात्मा गांधी की हत्या के बाद कुछ समय के लिए राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ को गैर-कानूनी संस्था घोषित कर दिया गया था।

भारतीय पुनर्जागरण आन्दोलन का स्वरूप और परिणाम : उन्नीसवीं सदी में भारतीय समाज और धर्मव्यवस्था में सुधार आन्दोलन के द्वारा एक नयी लहर आयी। भारत की सुपुप्त आत्मा में नवचेतना जागरित हुई और उनका प्रभाव आर्थिक, साहित्यिक, कला-कौशल एवं राजनीतिक जीवन पर भी पड़ा। वस्तुतः भारतीय जनजीवन की समुन्नति के लिए जिन साधनों की आवश्यकता थी उनकी पृष्ठभूमि उन्नीसवीं सदी में तैयार कर दी गयी और बीसवीं सदी में राष्ट्रीय विकास का काम सरल हो गया।

धर्मसुधार : भारत में अनेक धार्मिक सम्प्रदाय थे। हिन्दू धर्म की तरह मुसलामनों में भी जड़ता आ गयी थी। धर्म सुधार आन्दोलन ने सभी धर्मों की जड़ता

समाप्त कर दी। हिन्दू, इस्लाम, पारसी, ईसाई आदि धर्मों में जागरण की भावना विकसित हुई। नवजागरण ने राष्ट्रीय जीवन को एक नयी दिशा दी। ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज, प्रार्थना समाज, थियोसोफिकल सोसाइटी, रामकृष्ण मिशन ने हिन्दू धर्म की श्रेष्ठता को प्रमाणित किया और सभी धर्मों के बीच समानता का भाव प्रदर्शित किया। संसार के सभी धर्म समान हैं—ऐसा बोध उत्पन्न हो जाने पर धर्म परिवर्तन की प्रक्रिया स्वभावतः रुक गयी। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने हिन्दू धर्म की श्रेष्ठता स्थापित की तो स्वामी विवेकानन्द ने अध्यात्मवाद की भावना। सुधारकों के प्रयास से पश्चिम के विद्वान हिन्दू धर्मग्रन्थों की तरफ आकृष्ट हुए। मैक्समूलर सर विलियम जोन्स, चार्ल्स विलकिन्सन आदि ने हिन्दू धर्मग्रन्थों का अनुवाद अंगरेजी भाषा में कर पश्चिमी संसार को भारत की सांस्कृतिक महत्ता से परिचित करवाया। पाश्चात्य विद्वानों की अभिरुचि और आकर्षण ने भारतीयों को अपने धर्मग्रन्थ पढ़ने और समझने के लिए प्रेरित किया।

हिन्दू धर्म के दोष को दूर करने तथा शाश्वत सत्य के निरूपण में धर्म सुधारकों का महत्वपूर्ण योगदान था। वेद, उपनिषद् आदि ग्रन्थों में सत्य के सिद्धान्त खोजकर धर्म प्रचारकों ने उन्हें न केवल भारत में बल्कि पश्चिमी संसार तथा अमेरिका में भी प्रचारित किया। हिन्दू धर्म के प्रति आत्मविश्वास की भावना भारतीयों में जगी और इनमें साहस का ऐसा संचार हुआ जिसके बल पर वे अन्य धर्मों का प्रहार सहने में समर्थ हुए। मध्यकाल में यदि भक्ति आन्दोलन ने इस्लाम के प्रहारों से देश की रक्षा की तो आधुनिक युग में ईसाइयों के प्रहार से देश के धर्म एवं संस्कृति की रक्षा धर्म सुधारकों ने की। इनमें भारतीय अध्यात्मवाद को विश्व में प्रतिष्ठित करने का श्रेय स्वामी विवेकानन्द को है।

हिन्दुओं की तरह मुसलामानों, पारसियों एवं ईसाइयों ने भी अपनी रूढ़ धार्मिक व्यवस्था में परिवर्तन लाने की चेष्टा की और अनेक सुधारकों ने युग की मांग के अनुसार अपने-अपने धर्म को पुनः संगठित कर उसे नयी दिशा दी।

समाज सुधार : धर्म सुधार के साथ-साथ सामाजिक कुरीति समाप्त करने का भी बीड़ा उठाया गया। सामाजिक कुरीतियों को धार्मिक मान्यता देकर जन-जीवन में हताश की भावना पैदा कर दी गयी थी। साधारण व्यक्ति उन कुरीतियों के विरोध का साहस नहीं कर सकते थे। फलतः समाज का स्वरूप विकृत हो चुका था। धर्म सुधारकों ने जनसाधारण में सामाजिक कुरीति नष्ट करने के साहस का संचार किया। सामाजिक कुरीति नष्ट करना धर्मविरोध नहीं है—ऐसा भाव उत्पन्न करने में सुधारकों को सफलता मिली। ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज, प्रार्थनासमाज, रामकृष्ण मिशन आदि के द्वारा जाति-प्रथा, छुआछूत, बाल-विवाह, पर्दा-प्रथा आदि का विरोध और स्त्री शिक्षा, स्त्रियों के समान अधिकार, अन्तरजातीय विवाह, विधवा-विवाह का समर्थन और

खान-पान पर प्रतिवन्ध दूर करने में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया गया। व्रह्मसमाज ने स्त्रियों को समान अधिकार दिलाने तथा जाति-प्रथा समाप्त करने के लिए जनमत तैयार किया। आर्यसमाज ने शुद्धि आन्दोलन चलाकर जाति-प्रथा की जड़ काट दी और स्त्री शिक्षा के लिए विद्यालयों की स्थापना की। बाल-विवाह लगभग समाप्त कर दिया गया। विधवा विवाह वैध माना जाने लगा। विदेश यात्रा को सामाजिक मान्यता दी गयी। पर्दा-प्रथा मिट गयी। सह-शिक्षा का प्रचार हुआ। वस्तुतः इन परिवर्तनों का आह्वान कर सुधारकों ने आधुनिक भारत को राजनीतिक और सामाजिक जीवन के विकास के द्वार खोल दिये।

बुद्धिवादी विचारधारा : सदियों से भारतवासी अन्धविश्वासी और परम्परावादी थे। भाग्यवादी होने के कारण वे अकर्मण्य था। आंख मूंदकर किसी वस्तु को स्वीकार कर लिया जाता था। सुधारकों ने तर्क एवं बुद्धि के सहारे प्रत्येक वस्तु की विवेचना करने का तरीका प्रारम्भ किया। पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान के प्रयास से भारतीय जड़ता समाप्त हो गयी और भारत के लोग तर्क के आधार पर अच्छाई और बुराई की जांच करने लगे। आस्था के बदले बुद्धिवादी विचारधारा का प्रचार-प्रसार भारतीयों की सार्वजनिक प्रगति में सहायक सिद्ध हुआ।

इतिहास की खोज : भारतीय सुधारकों ने अतीत की खोज कर भारत की प्राचीन संस्कृति के गौरवपूर्ण अध्याय को प्रकाश में लाने की चेष्ठा की। इस दिशा में सुधारकों को पश्चिमी विद्वानों का भी सहयोग प्राप्त हुआ। एशियाटिक सोसाइटी द्वारा प्राचीन भारत के ऐतिहासिक स्थलों की खोज प्रारम्भ की गयी। जेन्स फर्गूसन, डॉ. क्लार्ट, हैवेल पर्सी ब्राउन, डॉ. फूर और सर जॉन मार्शल के द्वारा प्राचीन भारत की गौरवपूर्ण सभ्यता को प्रकाश में लाने की चेप्टा की गयी। सिन्धु घाटी की सभ्यता, मौर्यकालीन अवशेष, अशोक के शिलालेख, गुप्तकालीन संस्कृति, अजन्ता की चित्रकला आदि की खोज कर भारतीय अतीत को उजागर किया गया। भारतवासियों में अतीत के प्रति अन्वेषण की भावना जागरित हुई और डॉ. आनन्द कुमार, भण्डारकर, राणाडे, सरदेसाई आदि विद्वानों ने इतिहास की विस्तृत घटनाओं का एक क्रमबद्ध सिलसिला तैयार कर लिया। भारतीय इतिहास को शृंखलाबद्ध करने में मेकडोनल, स्मिथ, कर्नल टॉड, एलिफिन्स्टन, रेपसन आदि पश्चिम के विद्वानों का बहुत बड़ा योगदान था। भण्डारकर ओरिएण्टल इन्स्टिच्यूट और इतिहास मण्डल जैसी संस्था की स्थापना कर भारतीय इतिहास का नवनिर्माण किया गया। भारतीय इतिहास को पुनर्जीवित कर राष्ट्रनिर्माण का काम पूरा करने में अधिक बल मिला।

प्राचीन साहित्य की प्रगति : भारत की प्राचीन साहित्य संस्कृति एंव पालि भापा में लिखा गया था। धीरे-धीरे प्राचीन भापा के अध्ययन-अध्यापन का क्रम टूट चुका था। भारतवासी अपने प्राचीन साहित्य से स्वयं अनभिज्ञ थे। कुछ यूरोपीय

विद्वानों के द्वारा प्राचीन भारतीय साहित्य की खोज प्रारम्भ की गयी। विलकिन्स ने गीता का अनुवाद किया। जोन्स ने मनुस्मृति, शकुन्तला और संस्कृत भाषा के अनेक नाटकों का संकलन किया। कोलब्रुक ने पाणिनी के व्याकरण ए. एफ. माइकेलक्सी ने अपना सम्पूर्ण जीवन संस्कृत भाषा और प्राचीन साहित्य के अध्ययन में अर्पित कर दिया। पश्चिमी विद्वानों से प्रेरणा पाकर भारतीयों ने भी अन्वेषण के भाव जागरित हुए और धर्म, दर्शन एवं ज्ञान के क्षेत्र में महत्वपूर्ण शोध कार्य सम्पन्न हुए। प्राचीन भारतीय साहित्य की खोज से पश्चिमी संसार में भारत का गौरव बढ़ा।

प्रादेशिक भाषाओं की प्रगति : भारत एक बहुभाषी राष्ट्र है। भारत में हिन्दी, उर्दू के अतिरिक्त बंगाल, उड़िया, तमिल, तेलगु, कन्नड़, मलयाली, गुजराती आदि भाषाएं क्षेत्रीय स्तर पर बोली और लिखी जाती हैं। क्षेत्रीय भाषाओं पर धर्म का गहरा प्रभाव है। इनमें गद्य साहित्य का विकास नहीं के बराबर हो पाया था। परन्तु मुद्रण की सुविधा और समाचार पत्रों के प्रकाशन के फलस्वरूप प्रादेशिक भाषा में गद्य साहित्य की रचना की जाने लगी। पश्चिमी साहित्य के महत्वपूर्ण ग्रन्थों के अनुवाद प्रादेशिक भाषाओं में किये गये। साहित्य के विभिन्न क्षेत्रों में नवीन रचना एवं अनुवाद को प्रोत्साहन दिया जाने लगा।

वैज्ञानिक खोज : अंगरेजों द्वारा अनुसन्धानशाला और विज्ञान के विषयों की पढ़ाई की व्यवस्था के फलस्वरूप भारत में विज्ञान सम्बन्धी खोज की प्रवृत्ति जागरित हुई। गणित में रामानुजम् और भौतिकी एवं वनस्पति विज्ञान मे जगदीशचन्द्र वसु के द्वारा जो अनुसन्धान किये गये, उनसे पश्चिम के वैज्ञानिकों की श्रेणी में इनकी गणना की जाने लगी। सी. वी. रमन, मेघनाद साहा, एम. चन्द्रशेखर ने अनुसंधान और अन्वेषण के क्षेत्र में नये कीर्तिमान की स्थापना की। इन वैज्ञानिक खोजों ने सिद्ध कर दिया कि उपयुक्त अवसर और साधन मिलने पर भारतीय वैज्ञानिक संसार को नयी चीज दे सकते हैं।

कला का विकास : भारतीय कला का स्वरूप विकसित करने की प्रेरणा नवजागरण आन्दोलन से प्राप्त हुई। संगीत, नृत्य, चित्र, वास्तुकला आदि के क्षेत्र में प्रति हुई हैवेल और सिस्टर निवेदिता के प्रयास से भारतीय चित्रकला को नवजीवन मिला। अनेक कलाकेन्द्रों की स्थापना की गयी। बीसवीं सदी में नवनीन्द्र, सुरेन्द्र गांगुली, नन्दलाल बोस, असित कुमार हलदर जैसे व्यक्तियों ने चित्रकला का विकास किया। कला के प्रति नया दृष्टिकोण अपनाकर भारतीय कला को धर्म के प्रभाव से मुक्त किया गया।

औद्योगिक विकास : भारत कृषि प्रधान देश है। कृषि पुरानी पद्धति पर ही चल रही थी। कृषि पर ही निर्भर रहने के कारण भारत में दरिद्रता बढ़ती जा रही थी। अंगरेजों द्वारा भारतीय उद्योग धन्धे भी कुचल डाले गये थे। परन्तु पश्चिमी राष्ट्रों

का अनुकरण कर भारत में उद्योग धन्धे की स्थापना की जाने लगी। औद्योगीकरण ने आर्थिक विकास की सम्भावनाएं सरल कर दीं।

मध्यम वर्ग का उदय : सामाजिक सुधार, धार्मिक आन्दोलन और शिक्षा-प्रचार के फलस्वरूप भारतवर्ष में मध्यम वर्ग की महत्ता बढ़ी। राजनीति, शिक्षा, साहित्य और शासन के क्षेत्र में मध्यम वर्ग ने अनेक विभूतियों को जन्म दिया जिन्होंने अपनी योग्यता और बुद्धि से सारे देश के जन-जीवन को प्रभावित किया। लाला लाजपत राय, गोपाल कृष्ण गोखले, बाल गंगाधर तिलक, सुरेन्द्र नाथ बनर्जी आदि नेता मध्यम वर्ग से ही आये थे। राष्ट्रीय आन्दोलन में इन व्यक्तियों का योगदान अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

राष्ट्रीयता का निर्माण : एक राष्ट्र और उसके गौरव की रक्षा का ज्ञान भारतवासियों को पुनरुद्धार आन्दोलन से ही प्राप्त हुआ। राष्ट्रप्रेम की भावना से राजनीतिक आन्दोलन के लिए आधारशिला का काम किया। भारतवासी दासता के बन्धन से मुक्त होने के लिए सचेष्ट हो गए। उनमें आत्मसम्मान, साहस और दृढ़ता के भाव उत्पन्न हुए।

इस प्रकार उन्नीसवीं सदी में सुधार आन्दोलन ने भारतीय जीवन के विभिन्न अंगों को प्रभावित किया। इन आन्दोलन ने भारत की तात्कालिक जड़ता को समाप्त किया और जन-जीवन को झकझोर दिया। इसने जहां एक ओर धार्मिक और सामाजिक सुधारों का आह्वान किया वहीं दूसरी ओर इसने भारत के अतीत को उजागर कर भारतवासियों के मन में आत्मसम्मान और आत्मगौरव की भावना जगाने की कोशिश की। धार्मिक उपदेशों के साथ-साथ सुधार आन्दोलन के नेताओं ने स्वतंत्रता और समानता का भी उपदेश दिया। लोगों में सामाजिक जागरूकता के साथ-साथ राजनीतिक जागरूकता भी आयी। नवजागरण की पृष्ठभूमि पर ही राष्ट्रीय आन्दोलन का सूत्रपात हुआ और राष्ट्रीय आन्दोलन के माध्यम से भारत की दासता समाप्त की जा सकी।

• • • •



प्रो. देवेन्द्र प्रसाद सिंह

जन्म तिथि : 21 अक्टूबर, 1949

जन्म स्थान : ग्राम-खोड़ी पाकर गोविन्द, पो.-अमनौर, जिला सारण, बिहार

शैक्षिक योग्यताएँ :

उच्चत्तर माध्यमिक 1965 - अररिया जिला स्कूल, अररिया

स्नातक (इतिहास) 1968 - राजेन्द्र महाविद्यालय, छपरा

स्नातकोत्तर (इतिहास) 1970 - एल. एस. कॉलेज, मुजफ्फरपुर

अध्यापन कार्य का अनुभव : 17.12.1982 से व्याख्याता के रूप में कार्य
17.12.1992 से उपाचार्य के पद पर कार्यरत

अन्य उपलब्धियाँ : 1985 से महाविद्यालय के शिक्षक संघ के सचिव के पद पर आसीन। वर्तमान में महाविद्यालय के सूचना पदाधिकारी एवं इतिहास विभाग के विभागाध्यक्ष के रूप में कार्यरत। महाविद्यालय के प्रभारी-प्राचार्य के रूप में कार्यरात रहे। इनकी अभिरुचि शोध कार्य में शुरू से ही रही है। इनके नेतृत्व में कई छात्र शोध कार्य कर रहे हैं। इनकी प्रशासनिक क्षमता प्रशंसनीय है। ये अच्छे प्रवक्ता भी हैं। ये कई सेमिनार एवं गोष्ठियों में भाग ले चुके हैं। इनके संरक्षण में महाविद्यालय प्रगति की सीमाओं को छू रहा है।

संप्रति : उपाचार्य एवं विभागाध्यक्ष - इतिहास विभाग, एच. आर. कॉलेज अमनौर (सारण), बिहार

भारत का आधुनिक इतिहास

प्रो. देवेन्द्र प्रसाद सिंह